ज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो ज्ञानी जनः **सा णिसि मणिवि सुवेइ** तां रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥४६*१॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

**णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।**
**जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥ ४७ ॥**

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ ४७ ॥

**णाणि** इत्यादि । **णाणि** परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **मुएप्पिणु** मुक्त्वा । कम् । **भाउ** भावम् । कथंभूतं भावम् । **समु** उपशमं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलापरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितम् । **कित्थु वि जाइ ण राउ** तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति । कस्मादिति चेत् । **जेण लहेसइ** येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति । कम् । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणं । **तेण जि** तेनैव समभावेन **अप्पसहाउ** निर्दोपिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं विहाय

---

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषय-कषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान ( जागते ) नहीं रहते । इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे मालूम पड़ते हैं । जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषय-कषायरूप प्रपंच मालूम भी नहीं है । उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते, मन वचन कायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योग-निद्रामें मगन हो रहे हैं। सारांश यह है, कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है, और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टी जीव उनको आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचोंमें ( झगड़ोंमें ) लगे हुए है । प्रपंचकी सावधानी रखनेको भूल जाना वही परमार्थ है, तथा बाह्य विषयोंमें जाग्रत होना ही भूल है ॥ ४६*१ ॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें राग नहीं करते, ऐसा दिखलाते हैं—[ **ज्ञानी** ] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी मुनि [ **शमं भावं** ] समभावको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **क्वापि** ] किसी पदार्थमें [ **रागं न याति** ] राग नहीं करता, [ **येन** ] इसी कारण [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानमयी निर्वाणपद [ **प्राप्स्यति** ] पावेगा, [ **तेनैव** ] और उसी समभावसे [ **आत्मस्वभावं** ] केवलज्ञान पूर्ण

बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

**भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।**
**सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥ ४८ ॥**

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ ४८ ॥

भणइ इत्यादि । **भणइ** भणति **नैव भणावइ** नैवान्यं भणन्तं प्रेरयति **णवि थुणइ** नैव स्तौति **णिंदइ णाणि ण कोइ** निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् सन् । **सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ** जानन् । कम् । परं भावं परिणामम् । कथंभूतम् । समं रागद्वेषरहितम् । कारणम् । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं

---

आत्मस्वभावको आगे पावेगा । **भावार्थ**—जो अनंत सिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं, और जो होवेंगे, इसी भावसे होंगे । इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके विना अन्य उपायसे शुद्धात्माका लाभ नहीं हैं । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । **समभाव** उसे कहते हैं, जो पंचेन्द्रीके विषयोंकी अभिलाषासे रहित वीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥ ४७ ॥

आगे कहते हैं, कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है न किसीको पढ़ाता है, न किसीको प्रेरणा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता हैं—[ **ज्ञानि** ] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [ **कमपि न** ] न किसीका [ **भणति** ] शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरु होकर किसीको [ **भाणयति** ] पढ़ाता है, [ **नैव स्तौति निंदति** ] न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता है, [ **सिद्धेः कारणं** ] मोक्षका कारण [ **समं भावं** ] एक समभावको [ **परं** ] निश्चयसे [ **जानन्** ] जानता हुआ [ **तमेव** ] केवल आत्मस्वरूपमें अचल होरहा है, अन्य कुछ भी शुभ अशुभ कार्य नहीं करता। **भावार्थ**—परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ़ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र वही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न

कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्तावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति ॥ ४८ ॥

अथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्छाव्रतादिसंकल्पविकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति—

**गंथहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।**
**गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ४९ ॥**

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ४९ ॥

**गंथहं** इत्यादि । **गंथहं उप्परि** ग्रन्थस्य बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रन्थरचनारूपशास्त्रस्योपरि **परममुणि** परमतपस्वी **देसु वि करइ ण** द्वेषमपि न करोति न **राउ** रागमपि । येन तपोधनेन किं कृतम् । **गंथहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ** ग्रन्थात्सकाशाद्येन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति । तद्यथा । मिथ्यात्वं, स्त्र्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः, क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डरूपा बाह्यपरिग्रहाः इत्थंभूतान् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहा-

---

किसीसे सीखता है, न स्तुति करता है, न निंदा करता है । जिसके शत्रु मित्र सुख दुःख सब एक समान हैं ॥ ४८ ॥

आगे बाह्य अंतरंग परिग्रहकी इच्छासे पाँच इंद्रियोंके विषय-भोगोंका वांछक हुआ देहमें ममता नहीं करता, तथा मिथ्यात्व अव्रत आदि समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा उसे जानता है, वह परिग्रहमें तथा विषय देहसंबंधी व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता, ऐसा चार-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—[ **ग्रंथस्य उपरि** ] अंतरंग बाह्य परिग्रहके ऊपर अथवा शास्त्रके ऊपर जो [ **परममुनिः** ] परम तपस्वी [ **रागं द्वेषमपि न करोति** ] राग और द्वेष नहीं करता है [ **येन** ] जिस मुनिने [ **आत्मस्वभावः** ] आत्माका स्वभाव [ **ग्रंथात्** ] ग्रंथसे [ **भिन्नः विज्ञातः** ] जुदा जान लिया है । **भावार्थ**—मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अंतरंग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु ( घर ), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह—इस प्रकार चौवीस तरहके बाह्य अभ्यंतर परिग्रहोंको तीन जगतमें, तीनों कालोंमें, मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़ और शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप

द्भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥ ४९ ॥

अथ—

**विसयहँ उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ ।**
**विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५० ॥**

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ५० ॥

विसयहं इत्यादि । **विसयहं उप्परि** विषयाणामुपरि **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि करोति न च रागमपि येन किं कृतं **विसयहं जेण वियाणियउ** विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोऽसौ विज्ञातः । **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः । कथंभूतो भिन्न इति । तथा च । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्टश्रुतानुभूतान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मानमनुभवति स मुनिः पञ्चे-

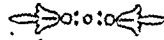
---

वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर परवस्तुसे अपनेको भिन्न जानता है, वो ही परिग्रहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता है । यहाँपर ऐसा व्याख्यान निग्रंथ मुनिको ही शोभा देता है, परिग्रहधारीको नहीं शोभा देता है, ऐसा तात्पर्य जानना ॥ ४९ ॥

आगे विषयोंके ऊपर वीतरागता दिखलाते हैं—[ **परममुनिः** ] महामुनि [ **विषयाणां उपरि** ] पाँच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंपर [ **रागमपि द्वेषं** ] राग और द्वेष [ **न करोति** ] नहीं करता, अर्थात् मनोज्ञ विषयोंपर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयोंपर द्वेष नहीं करता, क्योंकि [ **येन** ] जिनसे [ **आत्मस्वभावः** ] अपना स्वभाव [ **विषयेभ्यः** ] विषयोंसे [ **भिन्नः विज्ञातः** ] जुदा समझ लिया है । इसलिये वीतराग दशा धारण करली है । **भावार्थ**—द्रव्येन्द्री भावेन्द्री और इन दोनोंसे ग्रहण करने योग्य देखे सुने अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अतींद्रियसुखके रसके आस्वादनेसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न अपने आत्माको जो मुनि अनुभवता है, वो ही विषयोंमें राग द्वेष नहीं करता । यहाँपर तात्पर्य यह है, कि जो पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखसे निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्म-सुखमें तृप्त होता है, उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है,

CONTENTS

# प्रकाशकका निवेदन



श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४४२, विं० सं० १९७२, में 'परमात्मप्रकाश' प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन संशोधन स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीने किया था। २१ वर्षके बाद इस ग्रन्थका द्वितीय शुद्ध संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अबकी बार इसमें योगीन्दुदेवका **योगसार** मूलपाठ, संस्कृतछाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका सहित लगा दिया है। इस संस्करणमें कई विशेषतायें हैं, जो पाठकोंको पढ़नेसे ज्ञात होंगी। अबकी बारका संस्करण पहलेसे ड्योढ़ा बड़ा भी है।

'परमात्मप्रकाश' उपलब्ध अपभ्रंश-भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका सम्पादन और संशोधन भाषा-साहित्यके नामी और परिश्रमी विद्वान् प्रो० **ए० एन० उपाध्यायने** किया है। दो वर्ष पूर्व आपके द्वारा 'प्रवचनसार' सम्पादित होकर इसी शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित हो चुका है। जिसकी प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। इस ग्रन्थके अन्तमें जो सम्मतियाँ दी गई हैं, उन्हें पढ़कर उपाध्यायजीके परिश्रमका अनुमान लगाया जा सकता है। यह आपका दूसरा प्रयत्न है। एक जो ग्रन्थकी उत्तमता और फिर उपाध्यायजीका सम्पादन इन दोनों बातोंने मिलकर 'सोनेमें सुगंध' की कहावत चरितार्थ की है।

'प्रवचनसार' की आलोचना करते समय कई विद्वानोंने इस तरफ हमारा ध्यान खींचा कि अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद भी रहे, इसलिये इसमें अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी-सार भी लगा दिया है, जिसे स्याद्वादमहाविद्यालय काशीके अध्यापक पं० **कैलाशचन्द्रजी** शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे लिखा है, जिसके लिये हम उनके अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

इस ग्रंथको शुद्ध और प्रामाणिक बनानेमें हमें अनेक विद्वानोंसे अनेक प्रकारका सहयोग मिला है, जिनके लिये उपाध्यायजीने अपनी प्रस्तावनामें धन्यवाद दिया है। पर मुनि **पुण्यविजयजी** महाराजसे हमारा पूर्व परिचय न होनेपर भी अत्यन्त प्रेमपूर्वक इस कार्यमें जो सहयोग दिया है, उसके लिये हम नहीं जानते कि किन शब्दोंमें मुनिराजका धन्यवाद करें।

जिस महापुरुषकी स्मृतिमें यह शास्त्रमाला निकल रही है, उनके ग्रंथों, लेखों, पत्रों आदिका संग्रह मूल गुजरातीसे हिन्दीमें अनुवादित होकर **श्रीमद्राजचन्द्र** के नामसे शास्त्रमालाद्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है, जो लगभग १००० पृष्ठोंका महान् ग्रंथ होगा और जिसका मूल्य लागतमात्र रखा जायगा। यह ग्रन्थ हर दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हम आशा करते हैं कि शास्त्रमालाके प्रेमी उसे अवश्य अपनायेंगे।

भविष्यमें शास्त्रमालामें, स्वामी समन्तभद्र, महामति सिद्धसेनदिवाकर, भट्टाकलंकदेव, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य आदि महान् आचार्योंके ग्रंथ सुसम्पादित होकर मूल शुद्धपाठ, संस्कृतटीका और प्रामाणिक हिन्दीटीका सहित निकलेंगे। २–३ ग्रंथ तैयार भी कराये जा रहे हैं, जो आगामी साल प्रकट होंगे।

पाठकोंसे निवेदन है कि शास्त्रमालाके ग्रंथ खरीदकर और प्रचारकर हमारी सहायता करें, जिससे हम उपयोगी ग्रन्थ जल्दी जल्दी प्रकट करनेमें समर्थ होवें।

बम्बई—
रक्षाबंधन सं. १९९३

निवेदक— मणिलाल जौहरी

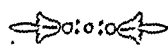
# PREFACE

*Paramātma-prakāśa* is a work of manifold interests : to a student of human culture it is a record of some of the spontaneous expressions of a mystic mind in its attempt to realize the highest reality on the religious plane ; to a linguist it is the earliest work, so far known, in the Apabhraṁśa language the study of which is indispensable in tracing the evolution of New Indo-Aryan Languages ; to a student of comparative religion it sets forth an attempt, without polemics and too many technical details, to harmonise the various shades of some of the dogmatic opinions into the service of spiritual realization ; to a mystic it is a mine of buoyant expressions, full of vigour and insight, that would inspire one for self-realization ; to a student of Indian religious thought this work clearly brings out how mysticism has a legitimate place in a religiously polytheistic and metaphysically dualistic system like Jainism ; and to a pious devotee, especially of Jaina faith, it is a sacred work whose injunctions are to be studied, reflected on and put into practice.

A critical study of some of these aspects was an urgent need for a judicious evaluation of this work. My Introduction is only a modest attempt in this direction. A historical discussion about Jōïndu's date and his predecessors, a list of variant readings etc., or a searching grammatical analysis of various forms is a sheer sacrilege or a wanton vivisection of the mystic harmony and spiritualistic symphony of Jōïndu's utterances which must be studied as a whole : thus a mystic might complain. But he should remember that a linguist, a literary student, or a historian of literature has as much claim on this work as a mystic or a pious devotee. So no apology is needed for a critical study of this work. The editor, however, does not want to conceal that the spiritual solace gained by him is equal, if not superior, to the critical results arrived at in this Introduction.

The Introduction is divided into Five Sections. The First is devoted to the study of the various aspects of *P.-prakāśa*. After a preliminary survey of earlier studies about Yōgīndu and his works, the textual problem of *P.-prakāśa* is studied in the light of fresh facts gathered from ten Mss. Then follows a detailed summary of the contents which is only a modest substitute for an English rendering of the text. Further, critical remarks are added on the literary, metrical and stylistic aspects and the eclectic character of this work. Jōïndu's indebtedness to earlier authors and his influence on the later ones is discussed ; and his spirit is modestly compared with that of other mystics like Kāṇha and Saraha. Then an analytical survey of the philosophy and mysticism of this work is taken under convenient topics. Statements of Jōïndu are constructively presented, and they are followed by critical and comparative remarks. It is perhaps for the first time that an attempt is made here to draw the attention of Orientalists to the elements of mysticism in Jainism. A cautious

# प्रकाशकका निवेदन



श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४४२, विं० सं० १९७२, में 'परमात्मप्रकाश' प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन संशोधन स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीने किया था। २१ वर्षके बाद इस ग्रन्थका द्वितीय शुद्ध संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अबकी बार इसमें योगीन्दुदेवका **योगसार** मूलपाठ, संस्कृतछाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका सहित लगा दिया है। इस संस्करणमें कई विशेषतायें हैं, जो पाठकोंको पढ़नेसे ज्ञात होंगी। अबकी बारका संस्करण पहलेसे ड्योढ़ा बड़ा भी है।

'परमात्मप्रकाश' उपलब्ध अपभ्रंश-भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका सम्पादन और संशोधन भाषा-साहित्यके नामी और परिश्रमी विद्वान् प्रो० **ए० एन० उपाध्यायने** किया है। दो वर्ष पूर्व आपके द्वारा 'प्रवचनसार' सम्पादित होकर इसी शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित हो चुका है। जिसकी प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। इस ग्रन्थके अन्तमें जो सम्मतियाँ दी गई हैं, उन्हें पढ़कर उपाध्यायजीके परिश्रमका अनुमान लगाया जा सकता है। यह आपका दूसरा प्रयत्न है। एक जो ग्रन्थकी उत्तमता और फिर उपाध्यायजीका सम्पादन इन दोनों बातोंने मिलकर 'सोनेमें सुगंध' की कहावत चरितार्थ की है।

'प्रवचनसार' की आलोचना करते समय कई विद्वानोंने इस तरफ हमारा ध्यान खींचा कि अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद भी रहे, इसलिये इसमें अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी-सार भी लगा दिया है, जिसे स्याद्वादमहाविद्यालय काशीके अध्यापक पं० **कैलाशचन्द्रजी** शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे लिखा है, जिसके लिये हम उनके अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

इस ग्रंथको शुद्ध और प्रामाणिक बनानेमें हमें अनेक विद्वानोंसे अनेक प्रकारका सहयोग मिला है, जिनके लिये उपाध्यायजीने अपनी प्रस्तावनामें धन्यवाद दिया है। पर मुनि **पुण्यविजयजी** महाराजसे हमारा पूर्व परिचय न होनेपर भी अत्यन्त प्रेमपूर्वक इस कार्यमें जो सहयोग दिया है, उसके लिये हम नहीं जानते कि किन शब्दोंमें मुनिराजका धन्यवाद करें।

जिस महापुरुषकी स्मृतिमें यह शास्त्रमाला निकल रही है, उनके ग्रंथों, लेखों, पत्रों आदिका संग्रह मूल गुजरातीसे हिन्दीमें अनुवादित होकर **श्रीमद्राजचन्द्र** के नामसे शास्त्रमालाद्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है, जो लगभग १००० पृष्ठोंका महान् ग्रंथ होगा और जिसका मूल्य लागत-मात्र रक्खा जायगा। यह ग्रन्थ हर दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हम आशा करते हैं कि शास्त्र-मालाके प्रेमी उसे अवश्य अपनायँगे।

भविष्यमें शास्त्रमालामें, स्वामी समन्तभद्र, महामति सिद्धसेनदिवाकर, भट्टाकलंकदेव, श्रीहरि-भद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य आदि महान् आचार्योंके ग्रंथ सुसम्पादित होकर मूल शुद्धपाठ, संस्कृतटीका और प्रामाणिक हिन्दीटीका सहित निकलेंगे। २--३ ग्रंथ तैयार भी कराये जा रहे हैं, जो आगामी साल प्रकट होंगे।

पाठकोंसे निवेदन है कि शास्त्रमालाके ग्रंथ खरीदकर और प्रचारकर हमारी सहायता करें, जिससे हम उपयोगी ग्रन्थ जल्दी जल्दी प्रकट करनेमें समर्थ होवें।

बम्बई—<br>रक्षाबंधन सं. १९९३ } निवेदक— **मणिलाल जौहरी**

# PREFACE

*Paramātma-prakāśa* is a work of manifold interests: to a student of human culture it is a record of some of the spontaneous expressions of a mystic mind in its attempt to realize the highest reality on the religious plane; to a linguist it is the earliest work, so far known, in the Apabhraṁśa language the study of which is indispensable in tracing the evolution of New Indo-Aryan Languages; to a student of comparative religion it sets forth an attempt, without polemics and too many technical details, to harmonise the various shades of some of the dogmatic opinions into the service of spiritual realization; to a mystic it is a mine of buoyant expressions, full of vigour and insight, that would inspire one for self-realization; to a student of Indian religious thought this work clearly brings out how mysticism has a legitimate place in a religiously polytheistic and metaphysically dualistic system like Jainism; and to a pious devotee, especially of Jaina faith, it is a sacred work whose injunctions are to be studied, reflected on and put into practice.

A critical study of some of these aspects was an urgent need for a judicious evaluation of this work. My Introduction is only a modest attempt in this direction. A historical discussion about Jōïndu's date and his predecessors, a list of variant readings etc., or a searching grammatical analysis of various forms is a sheer sacrilege or a wanton vivisection of the mystic harmony and spiritualistic symphony of Jōïndu's utterances which must be studied as a whole: thus a mystic might complain. But he should remember that a linguist, a literary student, or a historian of literature has as much claim on this work as a mystic or a pious devotee. So no apology is needed for a critical study of this work. The editor, however, does not want to conceal that the spiritual solace gained by him is equal, if not superior, to the critical results arrived at in this Introduction.

The Introduction is divided into Five Sections. The First is devoted to the study of the various aspects of *P.-prakāśa*. After a preliminary survey of earlier studies about Yōgīndu and his works, the textual problem of *P.-prakāśa* is studied in the light of fresh facts gathered from ten Mss. Then follows a detailed summary of the contents which is only a modest substitute for an English rendering of the text. Further, critical remarks are added on the literary, metrical and stylistic aspects and the eclectic character of this work. Jōïndu's indebtedness to earlier authors and his influence on the later ones is discussed; and his spirit is modestly compared with that of other mystics like Kāṇha and Saraha. Then an analytical survey of the philosophy and mysticism of this work is taken under convenient topics. Statements of Jōïndu are constructively presented, and they are followed by critical and comparative remarks. It is perhaps for the first time that an attempt is made here to draw the attention of Orientalists to the elements of mysticism in Jainism. A [illegible]

statement of WILLIAM JAMES that the 'mystical states of mind in every degree are shown by history, usually though not always, to make for the monistic view' is proved by the fact that Jainism possesses from the very beginning elements of mysticism inseparably connected with its dogmatic apparatus, though as a system it is far off from monism. This part is concluded with a detailed comparison of the dialect of this work with the Apabhraṁśa described in the Prākrit Grammar of Hēmacandra. This line of study has a historical significance, because Hēmacandra quotes some verses from this work in illustrating his rules of Apabhraṁśa grammar. This comparison leads to the conclusion that Hēmacandra might have used another tract of Apabhraṁśa literature which slightly differed from the Apabhraṁśa of *P.-prakāśa* and which preserved unassimilated *r* in a conjunct group etc. Retention of unassimilated *r* was only a regional-and-dialectal difference and not a chronological stage in the growth of Apabhraṁśa as supposed by some scholars. The Second Section is devoted to the study of various works of Jōïndu. This subject was discussed by me some six years back ; so naturally here was an occasion for me to modify some of my earlier statements in the light of new facts and to discuss the views expressed by some of my colleagues working in the field of Apabhraṁśa literature. The second part of this section is devoted to the discussion of Jōïndu's date. The Third Section is wholly devoted to the Commentaries on *P.-prakāśa* : three in Kannaḍa, one in Sanskrit and one in Hindī ; in most cases some light has been thrown on the form and the age etc. of these commentaries. The Fourth Section is occupied by a critical description and a discussion of the mutual relation of the ten Mss. of *P.-prakāśa*. The Fifth Section contains a critical account of the Mss. of *Yōgasāra*. At the close comes the Index to Introduction.

The Apabhraṁśa text presented here is to a great extent the text of Brahmadēva who is the earliest known Sanskrit commentator on these dōhās ; the critical student, however, is supplied with various readings collated from six Mss. The dialectal discussion in the Introduction is based on the study of these variants. Every care is taken for a correct presentation of this useful commentary of Brahmadēva. At the end I have appended a table of various readings, an alphabetical list of dōhās from *P.-prakāśa*, a list of quotations from the Sanskrit commentary with their sources wherever possible.

It was at the eleventh hour that the Publishers decided to include *Yōgasāra* of Jōïndu in this volume. What I could not do in the case of *P.-prakāśa*, it consoles me, I have tried to do with respect to the text of *Yōgasāra*. The text is critically presented with readings from four Mss. which are described in the Fifth Section of the Introduction. The Hindī rendering of it I owe to my friend Pt. JAGADISHCHANDRAJI.

Now I come to the pleasant part of the Preface. I offer my thanks to the late lamented Pt. MANOHARLAL, the first editor of the Sanskrit commentary. I am much indebted to the authorities of Rāyachandra Jaina Śāstra-

mālā, especially to Sheth MANILAL REVASHANKAR JHAVERI and to Mr. KUNDANLAL JAIN ; without the munificent encouragement of the former and the willing coöperation of the latter I do not think I would have been able to publish my studies in *P.-prakāśa* in the present form. I am very much obliged to Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar) and to Pt. LOKANATHA SHASTRI, Vīravāṇīvilāsa Jaina Siddhānta Bhavana, Moodbidri (South Kanara), who kindly lent me some valuable Mss. which enabled me to make the textual study sufficiently exhaustive. I am very thankful to Mr. N. R. ACHARYA, Bombay, who helped me by checking the press-corrections from my proofs ; and often his suggestions were very useful to me. Thanks are also due to Mr. P. K. GODE, Poona ; Prof. HIRALAL, Amraoti ; Pt. JUGALKISHORE, Sarsawa ; Pt. JAGADISHCHANDRAJI, Bombay ; Pt. KAILASCHANDRAJI, Benares ; Prof. M. V. PATWARDHAN, Sangli ; Pt. NATHURAM PREMI, Bombay ; and Pt. PANNALAL SONI, Jhalara Patan, who have been of use to me in various connections.

I am much obliged to Śraddhēya Muni Śri PUNYAVIJAYAJI, Patan, who suggested, with the help of a local Ms., many important corrections in the proofs of the Sanskrit commentary, and who readily sent a Ms. of *Yōgasāra* from the famous Bhaṇḍāra of Patan. I record my obligations to Dr. P. L. VAIDYA, Poona, by whose kind suggestions the shape of the present Introduction is much benefited.

I record my sense of gratitude to Dr. BALKRISHN, Principal, Rajaram College, Kolhapur, whose almost personal interest in my studies has uniformly encouraged me in my work.

I am placing this work of mine in the hands of serious students of Indian literature, I might be allowed to add, with sufficient consciousness of its limitations which are but natural, since much of the field covered is still untrodden. If it is human to err, it is much more human to see one's errors corrected in time. So here I record my thanks to all my readers in anticipation of their encouraging criticism and kind suggestions.

*karmaṇyēvādhikāras tē* :

Kolhapur :
June, 1937.

## IMPORTANT ABBREVIATIONS AND DIACRITICAL POINTS

| | |
|---|---|
| Apabh. : | Apabhraṁśa. |
| B. O. R. I. : | Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. |
| E. C. : | Epigraphia Carnatica. |
| E. R. E. : | Encyclopedia of Religion and Ethics. |
| G. O. S. : | Gaekwad's Oriental Series, Baroda. |
| Hēma. : | Hēmacandra. |
| JBBRAS : | Journal of the Bombay Branch Royal Asiatic Society. |
| K.-Gloss : | The Kannaḍa gloss on P.-prakāśa found in Ms. K. |
| KJS : | Karanja Jaina Series, Karanja. |
| MDJG : | Māṇīkachandra Digambara Jaina Granthamālā, Bombay. |
| P.prakāśa : | Paramātma-prakāśa. |
| Q-Gloss : | The Kannaḍa gloss on P.-prakāśa found in Ms. Q. |
| RJS : | Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay. |
| SBJ : | Sacred Books of the Jainas, Arrah-Lucknow. |
| SJG : | Sanātana Jaina Granthamālā, Bombay-Calcutta. |

| | |
|---|---|
| ē, ō : | Long vowels as in Sanskrit. |
| ĕ, ŏ ; | Short vowels as in Kannaḍa. |
| e, o ; | Natural representation in the extracts from Old-Kannaḍa Mss. where no distinction of short and long is shown. |
| ̐ | The preceding vowel is to be nasalised. |

# INTRODUCTION

## I. PARAMĀTMA-PRAKĀŚA

### a) EARLIER STUDIES AND THE PRESENT EDITION

POPULARITY OF PARAMĀTMA-PRAKĀŚA.—*Paramappapayāsu,* or as it is usually known by the Sk. form of its name, *Paramātma-prakāśa,* is a very popular work with religious-minded Jainas, both monks and laymen. It is mainly addressed to the monks, and it is no wonder that it is read and re-read by them. The discussions are not at all sectarian ; so it is studied by all the Jaina monks, though it is more popular with those of the Digambara section. Various reasons have contributed to the popularity of this work. There is an attraction about its name itself ; the subject-matter is not made heavy with technicalities ; major portions of it are composed in a simple style ; and it is written in a popular dialect like Apabhraṁśa, the predecessor of Old-Hindī, Old-Gujarātī, etc. It is addressed to console and enlighten the suffering soul of Bhaṭṭa Prabhākara. The problem of the misery of life, which was before Bhaṭṭa Prabhākara, faces many aspiring souls ; and as such *P.-prakāśa* is sure to be a favourite book with the believers. Old commentaries in Kannaḍa and Sanskrit also point out to its popularity.

MY STUDY OF YŌGĪNDU'S WORKS.—After discovering a new Apabh. work, viz., *Dōhāpāhuḍa* attributed by the Ms. to Yōgēndra, I wrote a short article in *Anēkānta,* Vol. I, 1930. In an editorial note on this article the learned editor, Pt. JUGALKISHORE, announced the discovery of another work of this author and further indicated that Rāmasiṁha was the author of *Dōhāpāhuḍa* according to a Delhi Ms.[1] Later, I contributed a paper, 'Jōïndu and his Apabhraṁśa works' to the *Annals* in which I took a review of the works of Jōïndu or Yōgīndu and collected some evidence on his date.[2] The publication of this paper was sufficiently fruitful. Two works, viz., *Dōhāpāhuḍa* and *Sāvayadhamma-dōhā* from which lengthy extracts were given in my paper, are edited now with the help of additional material and translated into Hindī by Professor HIRALAL who is doing so much for the publication of Apabh. literature. A few verses from my paper have been translated into Marāṭhī as well.[3]

VALUE OF P.-PRAKĀŚA IN ORIENTAL STUDIES.—The study of Apabh. dialects sheds abundant light on the history and growth of North-Indian languages and [illegible]

1 *Anēkānta,* Vol. I, pp. 544-8 and p. 672.
2 *Annals* of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XII, [illegible] pp. [illegible]
3 P. D. KANITKAR : *Mahārāṣṭra-Sāhitya-patrikā*

Marāṭhī. *P.-prakāśa* is the earliest complete Apabh. work so far known and the first to have been published, though earlier editions did not reach the hands of orientalists. So far as I know, P. D. GUNE was the first to list it as an Apabh. work in his Introduction to *Bhavisayattakahā*. Hēmacandra, whose grammar treats Apabh. exhaustively, quotes from *P.-prakāśa*; thus this work preserves to us specimens of pre-Hēmacandra Apabh. literature actually used by him. Besides this linguistic aspect there is another point of interest in this work. Due to imperfect acquaintance with Jaina literature Jainism is criticised by some scholars as a mere bundle of rules of ascetic discipline or a system metaphysically barren. *P.-prakāśa* clearly shows what part mysticism plays in Jainism and how it is worked out in the back-ground of Jaina metaphysics. The Jaina mysticism is sure to be all the more interesting, if we remember the facts that Jainism is polytheistic and denies the creative function of God. These aspects are discussed in details in this Introduction.

PUBLISHED EDITIONS, ETC., OF P.-PRAKĀŚA.—In 1909 BABU SURYABHANU VAKIL, Devabanda, published *P.-prakāśa* with Hindī translation. The title of the book is : *Śrī Paramātma-prakāśa Prākṛta Grantha Hindībhāṣā arthasahita.* The text is inaccurately printed. The editor says in his Prastāvanā that the Mss. of this work found in Jaina temples are very inaccurate, and it is difficult to restore the correct text by consulting even a score of Mss. An English translation of this work by R. D. JAIN is published from Arrah, 1915; but this translation is far from being faithful and critical. Then *P.-prakāśa* with Brahamadēva's Sk. commentary and Daulatarāma's Bhāṣā-ṭīkā (rewritten into modern Hindī by MANOHARLAL) was published by the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay, 1916. It was a good edition for all practical purposes, though the Apabh. text needed improvements in many ways.

NATURE OF THIS EDITION.—Though officially this is the second edition in the Rāyachandra J. Śāstramālā, it will be seen that it is thoroughly revised and enlarged. This Introduction is an additional speciality of this edition. As desired by the publishers the Apabh. text is given as preserved in the Commentary of Brahmadēva with which it is accompanied. The text and the Sk. commentary are carefully checked with the help of Ms. A; and it will be easily seen that many improvements are made in the text to facilitate an easy understanding. Besides the correction of many slips in the text, hyphens are added in compound words and distinction is made between anunāsika and anusvāra. The Sk. shade in this edition is at times independent of Brahmadēva. Orthographical uniformity, etc., have been introduced in the Commentary. The Hindī portion of the first edition has been retouched here and there.

THE TEXT AND THE LINGUISTIC DEDUCTIONS.—The present edition claims to give the text of Brahmadēva, but it should not be ignored that even the Mss. of the text of Brahmadēva show minor differences. With a view to study the text-tradition of *P.-prakāśa* I have studied some ten Mss. hailing from different parts of India, six of which are collated and their variants are given at the end. Though I have followed the text of Brahmadēva in discussing the philosophy, mysticism, etc., of this work, the linguistic deductions set forth in the Introduction are based more on a close study of the various Mss. and their readings than on the text printed here.

## b) ON THE TEXT OF P.-PRAKĀŚA

BRAHMADĒVA'S TEXT.—Brahmadēva divides *P.-prakāśa* into two Adhikāras. In this edition the verses in each Adhikāra are separately numbered, though Mss. have continuous numbering. Apparently Brahmadēva's text contains 126 verses in the first and 219 in the second book including the interpolatory verses[1] of which he has two classes : one he calls *prakṣēpaka*[2] (included in his numbering) and the other *sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka*[3] (i.e., out of place and not included in his numbering). The text shaped by Brahmadēva has remained intact, as it is borne out by his remarks on the text-analysis and the actual number in Ms. A, etc. His text can be shown thus in a tabular form :

| BOOK I. | Details. | Total. |
|---|---|---|
| Text Regular : | I. 1-27, I. 33-123 | 118 |
| Prakṣēpaka : | I. 28-32 | 5 |
| | | 123 |
| Sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka : | I. 65*1, 123*2 & 123*3 | 3 |
| | | 126 |
| BOOK II. | | |
| Text Regular : | II. 1-214 | 214 |
| Sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka : | II. 46*1, 111*2, 111*3, 111*4 & 137*5 | 5 |
| | | 219 |

All this means that the text of *P.-prakāśa*, which reached Brahmadēva's hands, was much inflated. Five verses (I. 28-32) which he found to be of doubtful authenticity he accepted by calling them Prakṣēpaka. But eight other verses (I. 65*1, 123*2-3, II. 46*1, 111*2-4 and 137*5) he comments on possibly considering them to be useful to the readers ; but he does not include them in his text, because they are not numbered with other dōhās. We do not know the exact extent of the inflated text that was before Brahmadēva ; but it is imaginable that it contained many more verses which Brahmadēva could not include in his either interpolatory group

B, C AND S BASED ON BRAHMADĒVA'S TEXT.—Mss. B, C and S (see section IV below) do not represent any independent text-tradition at all ; they are various attempts to copy out only dōhās of *P.-prakāśa* from Mss. containing the text and Brahmadēva's commentary. When one is copying out only the verses from a crowded Ms. with text and commentary closely written, various errors are likely to be committed : first, due to want of sufficient attentiveness and consequently due to the difficulty of spotting out the text from the body of commentary (for instance II. [illegible] in B); secondly, due to haplographical deception, i.e., when two verses [illegible] similar words either one is missed (for instance II. 16 in B and II. 15 in C), or they interchange their places (for instance II. 64 & 65 and 79 & [illegible] in C), [illegible]

1 See his remarks at the close of the two Adhikāras.

2 See his introductory remarks on I. 28.

3 See his introductory remarks on I. 65*1, etc. and II. [illegible] etc.

Marāṭhī. *P.-prakāśa* is the earliest complete Apabh. work so far known and the first to have been published, though earlier editions did not reach the hands of orientalists. So far as I know, P. D. GUNE was the first to list it as an Apabh. work in his Introduction to *Bhavisayattakahā*. Hēmacandra, whose grammar treats Apabh. exhaustively, quotes from *P.-prakāśa*; thus this work preserves to us specimens of pre-Hēmacandra Apabh. literature actually used by him. Besides this linguistic aspect there is another point of interest in this work. Due to imperfect acquaintance with Jaina literature Jainism is criticised by some scholars as a mere bundle of rules of ascetic discipline or a system metaphysically barren. *P.-prakāśa* clearly shows what part mysticism plays in Jainism and how it is worked out in the back-ground of Jaina metaphysics. The Jaina mysticism is sure to be all the more interesting, if we remember the facts that Jainism is polytheistic and denies the creative function of God. These aspects are discussed in details in this Introduction.

PUBLISHED EDITIONS, ETC., OF P.-PRAKĀŚA.—In 1909 BABU SURYABHANU VAKIL, Devabanda, published *P.-prakāśa* with Hindī translation. The title of the book is : *Śrī Paramātma-prakāśa Prākṛta Grantha Hindībhāṣā arthasahita.* The text is inaccurately printed. The editor says in his Prastāvanā that the Mss. of this work found in Jaina temples are very inaccurate, and it is difficult to restore the correct text by consulting even a score of Mss. An English translation of this work by R. D. JAIN is published from Arrah, 1915; but this translation is far from being faithful and critical. Then *P.-prakāśa* with Brahamadēva's Sk. commentary and Daulatarāma's Bhāṣā-ṭīkā (rewritten into modern Hindī by MANOHARLAL) was published by the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay, 1916. It was a good edition for all practical purposes, though the Apabh. text needed improvements in many ways.

NATURE OF THIS EDITION.—Though officially this is the second edition in the Rāyachandra J. Śāstramālā, it will be seen that it is thoroughly revised and enlarged. This Introduction is an additional speciality of this edition. As desired by the publishers the Apabh. text is given as preserved in the Commentary of Brahmadēva with which it is accompanied. The text and the Sk. commentary are carefully checked with the help of Ms. A; and it will be easily seen that many improvements are made in the text to facilitate an easy understanding. Besides the correction of many slips in the text, hyphens are added in compound words and distinction is made between anunāsika and anusvāra. The Sk. shade in this edition is at times independent of Brahmadēva. Orthographical uniformity, etc., have been introduced in the Commentary. The Hindī portion of the first edition has been retouched here and there.

THE TEXT AND THE LINGUISTIC DEDUCTIONS.—The present edition claims to give the text of Brahmadēva, but it should not be ignored that even the Mss. of the text of Brahmadēva show minor differences. With a view to study the text-tradition of *P.-prakāśa* I have studied some ten Mss. hailing from different parts of India, six of which are collated and their variants are given at the end. Though I have followed the text of Brahmadēva in discussing the philosophy, mysticism, etc., of this work, the linguistic deductions set forth in the Introduction are based more on a close study of the various Mss. and their readings than on the text printed here.

## *b*) ON THE TEXT OF P.-PRAKĀŚA

BRAHMADĒVA'S TEXT.—Brahmadēva divides *P.-prakāśa* into two Adhikāras. In this edition the verses in each Adhikāra are separately numbered, 'though Mss. have continuous numbering. Apparently Brahmadēva's text contains 126 verses in the first and 219 in the second book including the interpolatory verses[1] of which he has two classes : one he calls *prakṣēpaka*[2] (included in his numbering) and the other *sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka*[3] (i.e., out of place and not included in his numbering). The text shaped by Brahmadēva has remained intact, as it is borne out by his remarks on the text-analysis and the actual number in Ms. A, etc. His text can be shown thus in a tabular form :

| | Details. | Total. |
|---|---|---|
| BOOK I. | | |
| Text Regular : | I. 1-27, I. 33-123 | 118 |
| Prakṣēpaka : | I. 28-32 | 5 |
| | | 123 |
| Sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka : | I. 65*1, 123*2 & 123*3 | 3 |
| | | 126 |
| BOOK II. | | |
| Text Regular : | II. 1-214 | 214 |
| Sthala-saṁkhyā-bāhya-prakṣēpaka : | II. 46*1, 111*2, 111*3, 111*4 & 137*5 | 5 |
| | | 219 |

All this means that the text of *P.-prakāśa*, which reached Brahmadēva's hands, was much inflated. Five verses (I. 28-32) which he found to be of doubtful authenticity he accepted by calling them Prakṣēpaka. But eight other verses (I. 65*1, 123*2-3, II. 46*1, 111*2-4 and 137*5) he comments on possibly considering them to be useful to the readers ; but he does not include them in his text, because they are not numbered with other dōhās. We do not know the exact extent of the inflated text that was before Brahmadēva ; but it is imaginable that it contained many more verses which Brahmadēva could not include in his either interpolatory group.

B, C AND S BASED ON BRAHMADĒVA'S TEXT.—Mss. B, C and S (see section IV below) do not represent any independent text-tradition at all ; they are various attempts to copy out only dōhās of *P.-prakāśa* from Mss. containing the text and Brahmadēva's commentary. When one is copying out only the verses from a crowded Ms. with text and commentary closely written, various errors are likely to be committed : first, due to want of sufficient attentiveness and consequently due to the difficulty of spotting out the text from the body of commentary (for instance II. 104, 167 in B); secondly, due to haplographical deception, i.e., when two verses begin with similar words either one is missed (for instance II. 16 in B and II. 15 in C), or they interchange their places (for instance II. 64 & 65 and 79 & 80 in C); and so on.

1 See his remarks at the close of the two Adhikāras.
2 See his introductory remarks on I. 28.
3 See his introductory remarks on I. 65*1, etc., and II. 46*1, etc.

Then there will arise some cases of conscious omission : if a verse is in a different dialect (for instance II. 60 in B, S and C, II. 111*2-3 in B & C), or if it is called Prakṣēpaka, etc., by the commentator (for instance I. 65*1 in B, C & S, II. 137*5 in B, II. 111*2-4 in S). These are not in any way hard and fast rules, but they merely indicate how verses are likely to be dropped by copyists. Then the apparent additions in these Mss. (*akkharaḍā*, etc., after II. 84 in B, C & S, *visayaha*ᵕ *kāraṇi*, etc., after II. 134 in B & C, and *jīvā jiṇavara*, etc., after II. 197 in C alone) are all found to be quotations in Brahmadēva's commentary in those places ; it means that the copyist mistook these quotations, especially the first two being in Apabh., for the text of *P.-prakāśa*. The manner in which our Mss. are written is mainly responsible for such errors. Of these three, S is much carelessly copied, and hence so many verses are omitted but added in the margin possibly by the same copyist at the time of revision.

BĀLACANDRA'S TEXT.—Maladhāre Bālacandra has written a Kannaḍa commentary on *P.-prakāśa* which is represented by Ms. P described below. At the outset he plainly tells us that he has consulted the Sk. Vṛtti of Brahmadēva. Bālacandra's text has six additional verses not found in Brahmadēva's text. As Bālacandra admits his indebtedness to Brahmadēva and still shows these additional verses there are two alternatives : either Brahmadēva's text along with the commentary is pruned further after Bālacandra, or Bālacandra had before him a longer text and quite consciously he retained some more verses[1], though his Kannaḍa commentary was based on Brahmadēva's Sk. one. The first alternative cannot be accepted for the following reasons : first, the text of Brahmadēva's Vṛtti contains many analytical remarks scattered all over[2], and these remarks confirm that the text is not at all mutilated later ; secondly, mere verses can be dropped or missed, but it is least probable that verses with the commentary can be dropped ; and lastly, Brahmadēva, scrutinizing as he is, must have left some verses which he thought spurious but which Bālacandra with more eclectic zeal included in his Kannaḍa Vṛtti. Though Bālacandra included six verses more, it should not be supposed that Bālacandra's is the longest recension of *P.-prakāśa*, and that he did not exclude any verses as spurious. I am inclined to believe that the text of *P.-prakāśa* which was before Bālacandra was longer than the one he accepted, and possibly he too excluded some verses and shaped his text. It will be seen from the genealogy of Mss. given below, that I have postulated a Ms. P′, which was the source of Brahmadēva and Bālacandra ; and each pruned it in his own way. The following are the additional verses of Bālacandra's recension ; they are given here with minor corrections :

1 Generally Bālacandra follows the analysis of Brahmadēva. In the second Adhikāra, however, Bālacandra explicitly admits 224 (225 ?) verses ; he is aware of the additional verses not included by Brahmadēva ; and here his analysis is differently worded : see p. 204 of Ms. P.

2 Some of the important analytical remarks are found in his commentary on the following dōhās : I. 1, I. 25-6, I. 123*3, II. 1, 66, 214, etc. There are some two slips in his analysis : on p. 2 he notes a group of six verses '*atha jīvasya*, etc., *appā jōiya ityādi sūtraṣaṭkam*' ; but in fact the group begins with *ki vi bhaṇaṁti* (I. 50) on p. 53. Then on p. 89 he notes a group '*juvu micchattē ityādi sūtraṣaṭkēna*', but that group begins with *pajjayarattaū* (I. 77) as noted by himself on p. 2. These slips do not affect the total in any way.

1-2. Two verses after II. 36, introduced with the words, *prakṣēpakadvayamaṁ pēḷdaparu* :

कायकिलेसेँ[1] पर तणु झिज्जइ
विणु उवसमेण कसाउ ण खिज्जइ।
ण करहिँ इंदिय मणह णिवारणु
उग्गतवो वि ण मोक्खह कारणु॥ P-II. 36*1.
अप्पसहावे जासु रइ णिच्चुववासउ तासु।
वाहिरदव्वे जासु रइ भुक्खुमारि तासु॥ P-II. 36*2.

3. After II. 134, introduced with the words, *uktaṁ ca* :

अरे जिउ सोक्खे मग्गसि धम्मे अलसिय।
पक्खेँ विणु केँव उड्डण मग्गेसि मेंडय दंडसिय (?)[2]॥ P-II. 134*1.

4. After II. 140 :

पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्टउ चंडालु।
माण ण मारिय अप्पणउ[3] केँव छिज्जइ संसारु॥ P-II. 140*1.

5. After II. 156, introduced with the phrase, *prakṣēpakaṁ* :

अप्पह परह परंपरह परमप्पउह समाणु।
परु करि परु करि परु जि करि जइ[4] इच्छइ णिव्वाणु॥ P-II. 156*1.

6. After II. 203 ; perhaps through oversight it is not numbered but duly commented on :

अंतु वि गंतुवि[5] तिहुवणहँ सासयसोक्खसहाउ।
तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ॥ P-II. 203*1.

SHORTER RECENSION.—It will be seen from the genealogical table of Mss. that T, K and M form a group having their source in a postulate K', which we have called Shorter Recension.[6] So far as the number of verses is concerned they have no disagreement among themselves ; but as compared with Brahmadēva's text, TKM-group has not got the following verses :

BOOK I. 2-11, 16, 20, 22, 28-32, 38, 41, 43-44, 47, 65, 65*1, 66, 73, 80-81, 91-92, 99-100, 104, 106, 108, 110, 118-19, 121, 123*2-3. = 42.

BOOK II. 1, 5-6, 14-16, 44, 46*1, 49-52, 70, 74, 76, 84, 86-87, 99, 102, 111*2-4. 114-16, 128-29, 134-37, 137*5, 138-140, 142, 144-47, 152-55, 157-165, 168, 178-81, 185, 197, 200, 205-12. = 70

Besides the omission of the above verses TKM-group transfers five verses (namely, II. 148, 149, 150, 151 & 182) of the second Adhikāra to the first after I. 71, and some verses interchange their positions (II. 20 & 21, II. 77 & 78, II. 79 & 80 ;

1 P reads *kiḷēsaṁ*.
2 Bālacandra interprets the last two words thus : *dhūrtanī sākesiyī*.
3 P reads *appaṇu*.
4 P reads *jō*, but Comm. *jaī*.
5 P reads *gaṁtu ji*.
6 For the description of these Mss. see below the section IV of this Intro.

II. 141 comes after II. 143). A more significant and important feature of TKM-group is that it contains two verses which are not found either in Brahmadēva's or Bālacandra's recension. I give them here with some minor corrections :

1. After I. 46 :

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ[1] सो पेक्खु ।
अंतुवहुंतु वि जंपु चइ[2] होउण तुहुँ णिरवेक्खु ॥ TKM-I. 46*1.

2. After II. 74 :

भव्वाभव्वह जो चरणु सरिसु ण तेण हि मोक्खु ।
लद्धि ज[3] भव्वह रयणत्तय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥ TKM-II. 76*1.

SOME GENUINENESS OF TKM-GROUP.—The immediate question that confronts us is about the genuineness of this group which is wanting in 112 verses as compared with Brahmadēva's text (including the prakṣēpakas) and 118 as compared with that of Bālacandra. It is not an easy job to explain this difference in a satisfactory manner ; but we can try to gauge the amount of genuineness behind this group. It appears to me that there is some genuine tradition behind TKM-group for the following reasons : first, the Kannaḍa K-gloss which accompanies this Shorter Recension is independent of Brahmadēva and perhaps earlier than his Commentary ; secondly, not even by mistake a single verse called interpolatory by Brahmadēva is accepted by this group ; thirdly, this Shorter Recension contains two more verses not recorded by Brahmadēva and not even by Bālacandra ; and lastly, an alternative reading noted by Brahmadēva is practically identical with the reading preserved in TKM-group ; in II. 143 Brahmadēva accepts the reading *Jiṇu sāmiū sammattu* and records a variant *sivasaṁgamu sammattu*, the reading in TKM-group being *siū-saṁgaū sammattu*. This means that there is an amount of text-tradition behind this group, though this should not be taken to mean in any way the justification of the absence of so many verses in TKM-group.

AN OBJECTIVE SCRUTINY OF THE SO-CALLED INTERPOLATORY VERSES.—In a work like *P.-prakāśa* which is full of repetitions, and which is explicitly meant to be so by the author himself (II. 211), it is very difficult to detect an interpolatory verse on such criteria that it does not suit the context, etc. *P.-prakāśa* is written in Apabh. dialect, but it contains seven verses which are not in Apabh., namely, I. 65*1, II. 60, 111*3, 117, 213, 214. We can understand the change of dialect in II. 213-14, which are concluding verses written in high-flowing Vṛttas.[4] Of the remaining five Brahmadēva considers three to be interpolatory : I. 65*1 is a slight improvement on *Bhāvapāhuḍa* 47 from which source it must have been taken here. II. 60 and 117 are not called interpolatory by Brahmadēva, and especially because TKM-group preserves them it is possible that they were included in *P.-prakāśa* from a pretty long time, and perhaps by the author himself. Beyond this dialectal approach, there is no other objective standard that can be applied to this text with the material that is available to us.

1 K reads *pecchaī.*
2 R reads *jiya.*
3 R reads *atthi laddhi ja.*
4 II. 213 is Sragdharā and II. 214 Mālinī ; II. 174 is called Catuṣpādikā by Brahmadēva.

GENERAL NATURE OF THE VERSES LEFT BY TKM-GROUP AND THE NET EFFECT.— The contents of verses absent in TKM-group deserve careful scrutiny, and I shall make a modest attempt to detect certain underlying tendencies. We may not take into account those verses which are called interpolatory by Brahmadēva and are not found in TKM as well. More than once Brahmadēva mentions the name of Bhaṭṭa Prabhākara to whom, as the text itself admits (II. 211), *P.-prakāśa* was addressed; but by the absence of I. 8, 11, 104, II. 1, 211 in TKM we lose all direct and indirect references to Bhaṭṭa Prabhākara. Then some of the verses so absent mention non-Jaina deities like Śiva, Hari, Hara, Brahman, see for instance: I. 16, 108, 110, 118-19, 121, II. 99, 142, 145-6 & 200. I should not, however, ignore the fact that there are a few verses which have names of non-Jaina deities as above and are still retained by TKM-group, see for instance: I. 109, II. 141. Some of the verses so left have a strong smell of non-Jaina doctrines, see for instance: I. 22 (Tāntricism), I. 41 (Vēdānta), I. 65-66 (Sāṁkhya), II. 99 (Vēdānta), etc., though the application of various Nayas, i.e., the points of view, can explain them in accordance with Jaina tenets. Then some of the absent verses are extremely spiritual (I. 80-1, an attack on caste-exclusion; II. 84, futility of scriptures) and philosophical (I. 99-100) sometimes to the extent of ignoring practical effects. Some of them are deeply mystical (II. 76, 157-65) and some highly cryptic (I. 43, 47, II. 44). Then some apparent repetitions and mechanical compositions that could be left without much loss of contents are also absent, for instance: I. 2-11, II. 49-52, II. 205-12. Some verses might have slipped through haplographical error, for instance: I. 20. In spite of all these explanations there remain still many verses (I. 38, 44, 73, 91-2, 106, II. 5-6, 14-16, 70, 74, 86-7, 102, 114-16, 128-29, 134, 135-37, 138-40, 144, 147, 152-55, 168,[1] 178-81, 185 & 197) for the absence of which no apparent reason could be given. Some of these verses (I. 38, II. 5-6, 74, 114-16, 136, 139-40, 147, etc.) would bring credit to any spiritualistic poet. From all this survey I am inclined to believe that TKM-recension is a mutilated version, though the presence of some two additional verses shows some genuineness behind it. Perhaps a scrupulous commentator, possibly the author of our postulate K', rather of strong Jaina inclinations and poor mystic equipments, prepared a personal digest of *P.-prakāśa*, now represented by TKM-group, by avoiding repetitions that were meant for Bhaṭṭa Prabhākara, by excluding verses containing references to non-Jaina deities and by ignoring extremely spiritualistic, mystical and cryptic verses. No doubt, Yōgīndu's Text has suffered inflation like anything; but it is impossible to believe that TKM-text is the same as that of Jōïndu, because TKM-group shows the absence of some nice verses and some highly mystical and above-sectarian utterances worthy of Jōïndu. That they are worthy of Jōïndu is quite clear from his another work, viz., *Yōgasāra* where he uses the names of non-Jaina deities for his Paramātman[2]; and many of the ideas dropped by TKM-recension are expressed by Jōïndu[3] in that work[4].

ANOTHER TEMPTING THEORY.—Against the above view that the TKM-recension is only a mutilated version of Jōïndu's text, more inflated than original, another

1 II. 138 and 168 do not suit the spiritualistic atmosphere of *P.-prakāśa*

2 See *Yōgasāra* 9, 104.

3 I have used both the forms of his name Jōïndu and Yōgīndu.

4 Compare, for instance, *P.-prakāśa* II. 84 with *Yōgasāra* 52 etc.

theory might be put forth like this : Jōïndu's original text is represented by TKM-group of Mss. ; and the text accepted by Brahmadēva and others is only a redaction of it by some pupil of Jōïndu, possibly by Bhaṭṭa Prabhākara himself, who shaped it to show that it was addressed to him by his Guru. This redaction, it might be further argued, is made probable by the facts that Jōïndu calls himself as Jina (I. 8) and the work is too much glorified in the concluding verses (II. 205-12); and these things cannot be expected from a modest author like Jōïndu. This is a very fascinating theory, but it is not in any way supported by facts. T, K & M are traced back to one source, possibly a South-Karnāṭaka Ms. with a Kannaḍa gloss, our postulate K'; therefore differences especially of omission, can be better explained on the ground of mutilation than of genuine tradition. All this takes for granted, or at least implies, that Jōïndu was southerner and the text went on getting inflated in the North as seen from B, C, etc.; that is no evidence at all to say that he belonged to the South. Then we have seen above that certain tendencies are working under this Shorter Recension shaped possibly by a Kannaḍa commentator ; and these tendencies are not without significance in South India where Jainas had to put a stiff fight against Vedāntic schools and Śaivites at the time of Śaṅkarācārya, Rāmānuja, Basava etc., and where the Jaina community is more for caste-exclusion than in the North. If Jōïndu as a spiritual mystic above sectarianism could use the names of other deities for his Paramātman in his *Yōgasāra*, he must have used the same more freely in *P.-prakāśa* which is a bigger work than *Yōgasāra*. This shows that there is no justification at all for TKM-recension to leave these verses, etc. The name *Śri Yōgīndu-jinaḥ* indicates no vanity to necessitate the hypothesis that it might have been used by some pupil, when we remember that we have many names like Akalaṅka-dēva ending with -dēva ; and further Brahmadēva qualifies him as Bhagavān. *Siri-Jōïndu-ji ṇāü* can be interpreted in another way also : *Śri-Yōgīndu ēva nāmā*, i.e., Śri-Yōgīndu by name ; and this way of interpretation is hinted by Brahmadēva as well (*Śrī-Yōgīndra-dēva-nāmābhagavān*[1]). Then as to the glorification of this work in the concluding verses, I think that this work deserves more praise than that ; and moreover the word *paramappa-payāsu* is used with a double meaning, as it is suggested more than once by Brahmadēva.[2] So however tempting this theory might be, it is not at all backed by any cogent evidences.

ANY LIGHT THROWN BY Q AND R.—Q and R stand midway between the two extremes showing influence from both the sides. Q, for instance, shows two extra-additional verses (*jō jāṇaï* etc. and *bhavvābhavvaha* etc.) which are found only in TKM-group ; and further it shows acquaintance with Brahmadēva's commentary as it carefully leaves all the verses called prakṣēpaka by Brahmadēva and as it includes a verse (*jīvā jiṇavara* etc.) which is a quotation in the Sk. commentary. R occupies a very queer position : it includes two extra-additional verses (*jō jāṇaï* etc. and *bhavvā bhavvaha* etc.) special to TKM-group, also two verses from Bālacandra's recension (*kāyakilēsē* etc. and *appasarūvē* etc.) and a quotation (*pāvēṇa ṇaraya* etc.) from Brahmadēva's commentary. Though by themselves Q and R do not shed much light on the problem, they indicate by their compromising position the existence of other types of Mss. showing different text-traditions.

1 See I. 8 ; further this text gives the form *ṇāü* = *nāma* (I. 19, II. 206).
2 See his remarks on 205-7 etc.

OUR POSITION WITH REGARD TO JŌÏNDU'S TEXT.—It is well nigh impossible, with the material that we have before us, to restore the original text of Jōïndu. Jōïndu's popularity has led to the multiplication of Mss. and to the inclusion of corresponding verses in *P.-prakāśa.* Bālacandra shows one extremity and TKM-group the other. Much more light can be shed on this Text-problem by collating many more Mss. and by the discovery of some pre-Yōgīndu Apabh. works of similar contents. Brahmadēva appears to have had sufficient justification to call some verses prakṣēpaka. Jōïndu's text (so far as the number of verses is concerned) appears to have been nearer the Text (minus prakṣēpaka verses) of Brahmadēva than that preserved by TKM-group.

### *c*) DETAILED SUMMARY OF THE CONTENTS OF P.-PRAKĀŚA

NATURE OF THIS SUMMARY.—This detailed summary of the contents of *P.-prakāśa,* given in the following paragraphs, is expected to be a modest substitute for an English rendering of the Text. In a work like this, repetitions have their significance; and to get an idea of the working of author's mind it is necessary that his various statements should be closely followed. If sometimes I am found to be vague, the reason is that still there are many ideas and expressions which I have not clearly grasped. In such cases I have given a literal translation, so that I might not misrepresent the author. I have confined myself mainly to the text; and it is only in a few places I have adopted some suggestions of Brahmadēva. In the arrangement of paragraphs I am chiefly guided by the analysis of Brahmadēva, though I have made many changes here and there. This free exposition of the contents, I hope, would be of some use when a critical translation of the Text is attempted.

BOOK I.

Salutations to Souls Supreme (Paramātman) that have become eternally stainless and constituted of knowledge after burning the spots of Karman with the fire of meditation.

Then salutations are offered to hosts of Siddhas (i. e., the liberated souls) who are the embodiments of bliss and unparalleled knowledge, who have consumed the fuel of Karmas with the fire of great meditation, who dwell in Nirvāṇa never falling back into the ocean of transmigration though supremely weighty with Knowledge, and who being self-established clearly visualize everything here both the physical and superphysical existence. Then devotional obeisance to great Jinas who are the embodiments of omniscience, omnivision and omnibliss and by whom all the objects of knowledge are enlightened. Lastly salutations to three classes of Saints, viz., Preceptors (Ācārya), Teachers (Upādhyāya) and Monks (Sādhu), who, being absorbed in great meditation, realize the vision of Paramātman. (1-7)

After saluting the five divinities Bhaṭṭa Prabhākara, with a pure mind, addresses Yōgīndu : 'Sir, since infinite time we are in this Saṁsāra, i.e., the round-of-rebirths; not a bit of happiness is attained, but a lot of misery has fallen to our lot. We are tortured by the miseries of the four grades of existence, viz., divine, human, sub-human and hellish states of existence; so you instruct us about Paramātman, i.e., the Soul Supreme or Paramapada, i.e., the lofty status of liberation that would put an end to our miseries.' (8-10)

Then Yōgīndu asks Bhaṭṭa Prabhākara to attend closely to his discourse that follows: The Ātman, i. e., the soul, the principle of life is of three kinds, viz., external soul, internal soul and the supreme soul. One should give up attachment for the external and then by knowing oneself realize the soul supreme which is an embodiment of knowledge. He is an ignoramus who takes the body for the soul. But he is a wise man who considers himself as an embodiment of knowledge distinct from the body and being engrossed in great meditation realizes the Paramātman. Realization of the self as an embodiment of knowledge and as free from Karman after quitting everything external: that is Paramātman. Thus it is the Internal by leaving everything External that becomes the Supreme (11-15).

One should concentrate one's mind on the Soul Supreme that is respected in all the three worlds, that has reached the abode of liberation, and on which meditate Hari and Hara. Paramātman is eternal, untainted by passions and consequent Karman. He is peace, happiness and absolute bliss. He does not leave his nature and get changed into something else. He is Nirañjana, i.e., untainted, having no colour, no smell, no taste, no sound, no touch, no birth and no death. He is not subjected to anger, delusion, deceit and pride; nor is there anything like a specific place and object of meditation for him who is all by himself. He is not amenable to merit and demerit, nor to joy and grief. He has not a single taint or flaw, so he is Nirañjana. He is an eternal divinity in whose case there is no devotional control of breath (*dhāraṇā*), no object of meditation, no mystical diagram, no miraculous spell and no charmed circle. That eternal Paramātman, who is the subject of pure meditation or contemplation, is beyond the comprehension of Vēdas, Śāstras and senses. His is the highest state, dwelling as he is at the summit of three worlds, representing unique or absolute vision, knowledge, happiness and power (16-25).

The divinity that dwells in liberation, being free from Karman and constituted of knowledge, is essentially the same as the spirit or the soul in the body; really speaking there is no difference between the two. It must be known that Paramātman is already there in oneself; and by realizing this the Karmas accumulated since long time are shattered away. The self should be realized as immune from pleasures and pains of senses and mental activities; and everything else must be avoided. Though the soul dwells in the body the former should not be identified with the latter, because their characteristics are essentially different. The soul is mere sentiency, non-corporal and an embodiment of knowledge; it has no senses, no mind, nor is it within sense-perception. The lengthy creeper of the round-of-rebirths is crippled by him who meditates on his self with his mind indifferent to worldly pleasures. One that dwells in the temple of body is doubtlessly the same as Paramātman, the eternal and infinite divinity with his constitution brilliant with omniscience. Though he dwells in the body, there is no mutual identity nor connection between himself and the body. It is Paramātman that is revealed, giving supreme bliss, to saints who are established in equanimity (*sama-bhāva*) (26-33).

It is the ignorant that understand Paramātman as a composite body (*sakala*), but indeed he is one whole, separate from the Karmas, though he is bound by them and though he resides in the body. Like a star in the infinite sky the whole universe is reflected in the omniscience of Paramātman on whom, as an object of meditation,

the saints always concentrate their attention in order to obtain liberation. It is this very Paramātman, when he is in the grips of various Karmas, that assumes various forms of existence and comes to be endowed with three sexes. The universe is there in the Paramātman reflected in his omniscience ; and he is in the universe, but he is not (convertible into the form of) the universe. The Paramātman dwells in the body, but even to this day he is not realized by Hari and Hara, because they are devoid of the highest meditation and austerities (36-42).

So far as modifications are considered Paramātman is said to be coupled with origination and destruction ; but in fact from the realistic point of view he is above them. With his presence the sense-organs function, otherwise the body becomes desolate. Through the sense-organs he knows the objects of senses, but he is not known by them. Really speaking there is no bondage nor transmigration for Paramātman : so the ordinary view-point (*vyavahāra*) should be given up. The supreme characteristic of Paramātman is that his knowledge, like a creeper, stretches as far as the objects of knowledge are there. With reference to him the Karmas fulfil their own functions, but the Paramātman neither loses nor gains anything. Though bound by Karmas, he is never transformed into Karmas (43-49).

Some say that the soul is omnipresent ; some hold it to be devoid of knowledge ; some say that it has bodily size ; and some others say that it is void (*śūnya*). The Ātman is all-pervading in the sense that, when free from Karmas, he comprehends by his omniscience physical and superphysical worlds. Sensitive knowledge no more functions in the case of souls who have realized spiritual light : and in this sense the soul is devoid of knowledge. The pure soul, there being no cause, neither expands nor contracts, but it is of the same size as that of the final body : and in this sense the soul is of the bodily size. He is void in the sense that, in his pure condition, he is not amenable to any of the eight Karmas and eighteen faults (50-56).

The Ātman is not created by anybody, nor is anybody created by the Ātman As a substance the soul is eternal, but only its modifications appear and disappear. Substance is that which is endowed with quality and modification (*guṇa* and *paryāya*). Qualities are co-born (*sahabhuva*) with the substance, while modifications present themselves in succession on the substance. The Ātman or soul is a substance ; insight and knowledge (*darśana* and *jñāna*) are the qualities ; the appearances in the four grades of existence are the modifications caused by Karman (57-8).

The association between Jīva and Karman has no beginning in time, and further one is not created by the other : so both of them have no beginning in time. The embodied soul, because of its previous Karman, develops various conditions, and thus becomes virtuous or otherwise. The soul, thus obscured by eight Karmas, will not realize its own nature. Karman represents (subtle) atoms (of matter) that stick into the space-points (*pradēśa*) of souls that are infatuated and tinted with sense-pleasures and passions. Really speaking the five sense-organs, the mind, the tortures in the four grades of existence and all other conditions (*rāgādi-vibhāva-pariṇāmāḥ*) are, in fact, separate from (the nature of) the soul : they are fashioned by Karman for the soul. Various kinds of pleasures and pains and all the conditions such as bondage and liberation are brought about by Karman ; the soul does nothing beyond mere see-

ing and knowing : that is the realistic view. There is not a single region, in the eighty-four lakhs of births, which has not been visited by the soul wandering without obtaining the instructions of Jina (65*1). The Ātman can be compared to a lame person ; by himself he neither comes nor goes : it is the force of Karman (*vidhi*) that drags about the soul in the three worlds (59-66).

The Ātman is himself, and he can never be anything else : that is a rule. So far as his real nature is concerned, he is not born, he does not die ; nor does he bring about anything like bondage or liberation. Various terms like birth, old age, death, disease, gender and colour do not, in fact, refer to the soul but only to the body (67-70).

Ātman is Brahman without old age and death which refer only to the body : so one should not be afraid of them. To reach the other end of Saṁsāra one should meditate on the pure spirit without minding whether the body is cut, pierced or destroyed. The soul is essentially different from attachment etc. which are occasioned by Karmas and from other insentient substances. The soul is an embodiment of knowledge, and everything else is foreign. The soul must be meditated on as independent of eight Karmas, as free from all the faults and as an embodiment of Darśana, Jñāna and Cāritra (71-75).

When the Ātman realizes himself by himself, he becomes Samyagdṛṣṭi, i. e., possessed of Right Faith or spiritualistic attitude, and gets rid of Karmas ; but if he pursues the modifications his view is perverted, and he incurs the bondage of many Karmas and wanders long in Saṁsāra. Sticky and hard Karmas lead the soul astray in spite of the acquisition of knowledge. When the Ātman develops perverted attitude, he grasps the reality in a perverted manner ; and the conditions created by Karman he begins to identify with himself. Then he begins to say : I am fair, I am black, I am of some other colour ; I am slender, I am fat ; I am a Brāhmaṇa, a Vaiśya, a Kṣatriya or the rest ; I am a man, a neuter, a woman ; I am a Digambara, a Buddhist or a Śvētāmbara : it is an ignorant fellow that speaks thus. Mother, father, wife, home, sons, friends and wealth : this is all a magical network of unreality, and a fool claims all this as his. A being of perverted attitudes does nothing else than enjoying the objects of pleasure which are the cause of misery (76-84).

Samyagdarśana or Right Faith or insight is attained by the Ātman, when, finding an opportune time, delusion is destroyed : thus necessarily the Ātman is realized. The wise man should realize that Ātman is neither fair, nor red, nor black ; he is neither subtle nor gross ; he is neither a Brāhmaṇa, a Vaiśya, a Kṣatriya nor the rest ; he is neither a man, a neuter, nor a woman ; he is neither a Buddhist, a Digambara nor a Śvētāmbara ; and the soul possesses none of the ascetic characteristics. The soul is neither a teacher nor a pupil ; neither a master nor a servant ; neither a hero nor a coward ; neither high nor low ; neither a man, a god, a sub-human being nor a denizen of hell , neither learned nor foolish ; neither rich nor poor ; neither a youth, an old man nor a child (85-91).

Ātman, besides his essential nature of sentiency or consciousness, is not to be identified with merit, demerit, time, space, principle of motion and principle of rest. Ātman is control (*saṁyama*), chastity and austerity ; Ātman is faith and knowledge ;

and Ātman is the seat of eternal liberation, when he is realized. Different from Ātman, there is nothing as faith, knowledge and conduct. Ignoring the pure self one should not search after some holy place, serve some other teacher, and think of some other divinity. Ātman represents absolute Darśana, and all other descriptions are formal, being true from the ordinary point of view only ; when the pure Ātman is realized, the highest state of liberation is reached within a moment. Religious treatises, sacred works and austerities do not bring liberation for him whose mind is not occupied with (the reflections on) the pure self. When the self is known, the whole world is known ; because it becomes reflected in the knowledge of the self. That both physical and super-physical worlds are seen (reflected) in their Ātman is a privilege of those who are merged in self-realization. Undoubtedly it is a natural phenomenon that the Ātman enlightens himself and others like the light of the Sun in the sky. The vision of the world reflected in the self is like that of stars reflected in clear water. The saint by the strength of his knowledge should realize his self whereby he knows himself and others (92-103).

When Prabhākara requests that he should be instructed in the great knowledge, he is thus addressed. Ātman is knowledge ; and he who knows his Ātman pervades the whole space with his knowledge, even though ordinarily he is limited to the body. Whatever is different from the self is not knowledge ; so leaving aside everything one should realize the self which is a fit subject for knowledge. As long as a Jñānin does not know the self, which represents knowledge, by means of knowledge, he will not, being an Ajñānin, realize the highest Brahman who is an embodiment of knowledge. By knowing one's self Para-Brahman is visualized and realized whereby the highest realm of liberation is reached (103-108).

When Brahman is seen and realized, the world other than Saṁsāra (*paralōka*) is reached. The lofty divinity, the embodiment of knowledge, residing therein is meditated on by saints, Hari and Hara. One reaches that condition on which one's mind is set ; one should not, therefore, direct one's attention towards other foreign stuff than the status of Para-Brahman. That which is non-sentient and separate from the self is the foreign stuff consisting of matter, the principle of motion, the principle of rest, space and time. One who is devoted towards Paramātman, even for half a moment, burns the whole lot of sin, as a spark of fire reduces a heap of logs to ashes. Setting aside all thoughts, one should peacefully concentrate on the highest status of liberation and thus realize the divinity. The highest bliss, which is attained by visualizing Paramātman (Śiva) in course of meditation is nowhere attained in the world of Saṁsāra. Even Indra, who sports in the company of crores of nymphs, does not get that happiness which the saints attain when meditating on their self. The soul which is free from attachment, when realizing the self termed as Śiva and Śānta, attains that infinite happiness realized by great Jinas by visualizing the self. Paramātman is visualized in the pure mind like the brilliant Sun in the cloudless sky. As no figure is reflected in a mirror with soiled surface, so indeed the God, the Paramātman, is never visualized in the mind (*hṛdaya*) unclean with attitudes of attachment etc. There can be no place for Brahman, when the mind is occupied by a fawn-eyed one : how can two swords occupy the same scabbard ? It appears to me that the eternal divinity dwell in the clear mind of a Jñānin like a swan on the surface of lake. God is not there

in the temple, in the statue, in the plaster nor in the painting; but he dwells in the equanimous mind as an eternal and stainless embodiment of knowledge. When the mind and Paramēśvara have become identical, nay one, where is the question of any worship? To concentrate the mind that is running towards pleasures and passions on the Paramātman free from the stains of Karman: that is the means of liberation, but not any mystic syllable nor mystic practice (109-123*3).

BOOK II.

Then Prabhākara asks what is Mōkṣa, what are the means and what is the fruit of attaining Mōkṣa. Jōïndu then expounds only the views of Jina. Mōkṣa or Liberation is superior to Dharma, Artha and Kāma which do not give absolute happiness. That the Jinas attain Mōkṣa alone by avoiding the remaining three shows that Mōkṣa is the best of the four. The world or Saṁsāra means bondage. Even beasts in bondage want to get release or Mōkṣa, then why not others? That the realm of liberation is at the top of the world is a sign of its superiority. Mōkṣa represents the best happiness, that is why Siddhas stay in liberation all the time. Hari, Hara, Brahman and Jinavara and great saints: all these meditate on Mōkṣa concentrating their minds on the pure Paramātman. It must be realized that in the three worlds there is nothing else than Mōkṣa which brings happiness to souls. The wise sages have said that Mōkṣa consists in the realization of Paramātman by being free from all the Karman (1-10).

The highest and eternal fruit of Mōkṣa is that there is (infinite) Darśana (faith or vision), knowledge, happiness (and strength) without being lost even for a moment (11).

The souls attain liberation through Right Faith (or vision), Knowledge and Conduct which really speaking consist respectively in seeing, knowing and conducting oneself by oneself. From the ordinary point of view Right Faith, Knowledge and Conduct constitute the means of Mōkṣa, but really speaking the soul itself is all the three. The Ātman sees, knows and realizes himself by himself; therefore the Ātman himself is the cause of Mōkṣa. Proper knowledge of the soul constituted of Right Faith, Knowledge and Conduct leads to spiritual purity (12-14).

Samyagdarśana or Right Faith consists in the steady belief in the true nature of Ātman resulting from the knowledge of various substances exactly as they are in the universe. Those are the six substances which fill these three worlds and which have no beginning and end. Of these six, Jīva or soul is a sentient substance; and the remaining five, namely, Pudgala or matter, Dharma or the principle of motion, Adharma or the principle of rest, Ākāśa or space and Kāla or time are insentient and separate from the soul. Really speaking (so far as its essential nature is concerned) the soul is non-corporal, an embodiment of knowledge, characterised by supreme bliss and (one that can achieve) an eternal condition of purity. Matter, in its six types, is corporal or concrete (*mūrta*, i.e., having sense-qualities and thus amenable to sense-perception; while others, along with Dharma and Adharma or the principles of rest and motion, are non-corporal. That is known as Ākāśa or sky in which all the remaining substances exist, i.e., which gives room to all the remaining substances. Kāla or time is a substance

characterised by *vartanā*, i.e., continuity, being an accessory cause of change when things themselves are undergoing a change; the moments of time are individually separate like jewels in a heap of jewels. Excepting Jīva (soul), Pudgala (matter) and Kāla (time), the remaining substances, namely, Dharma (the principle of motion), Adharma (the principle of rest) and Ākāśa (space) are indivisible and homogeneous wholes. Besides Jīva (soul) and Pudgala (matter), the remaining four substances, namely, Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla have no movement. Dharma, Adharma and a soul occupy innumerable space-points, Ākāśa occupies infinite space-points, and Pudgala or matter has manifold space-points. Though the six substances exist together in the physical space, they exist in fact in their own guṇas or qualities or attributes. These various substances fulfil their own functions for the embodied beings which wander in Saṁsāra suffering the miseries of four grades of existence. The very nature of these substances has been the cause of misery; so one should follow the path of liberation that he might reach that realm other than this Saṁsāra (15-28).

That condition or state of the self which understands the substances exactly as they are is known as knowledge (29).

Cultivation of that genuine and pure state of the self after fully realizing and discriminating the self and the other (than the self) and after giving up (attachment for) the other, is known as Right Conduct (30).

The devotee of the three jewels will not meditate on any other thing than the self which is an abode of great merits. To identify the three jewels with the self is to meditate on oneself with the condition of liberation in view; and gradually meditating on the self day to day they attain liberation (31-33).

Jīvas have first Darśana which consists in the general comprehension of all the things devoid of particular details. Thus clearly Darśana comes first, and then, in the case of Jīvas, authentic knowledge follows when the particulars or particular details are known. The Jīva without any attachment, putting up with pleasures and pains and sunk in the austerity of meditation, becomes the instrument of the shedding of the stock of Karmas. Treating merit and demerit alike (from the point of view of liberation) when the soul is equanimous the fresh influx of Karman is stopped. As long as the saint, with no distractions, remains submerged in meditation on the nature of the self, the fresh Karmas are stopped and the stock is being exhausted. The old Karmas he destroys, and the fresh ones he does not admit: giving up all attachment he cultivates peace. And Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct belong to him who has equanimous peace and to none else: so the great Jina has said. Self-control is possible, where there is peace of mind; self-control is lost when the Jīvas become the victims of passions. Infatuation, which gives rise to passions, must be given up. Knowledge devoid of attachment and aversion is possible, when one is free from delusion and passions. Those, who understand what is real and what is otherwise, and who are equanimous taking pleasure in their spiritual nature, are happy in this world. An equanimous person has two faults: he destroys his *baṁdhu* (meaning brother, also bondage), and makes the world *gahila* (meaning foolish, also possessed). He has a third fault as well: he leaves his enemy [illegible] and becomes engrossed in *para* (enemy, also Paramātman). There is another fault;

being *vikala* (without stains, also without body) he rises up to the top of the earth. And the last fault is that when all the beings are asleep at night, he is awake; and when the world is awake, he sleeps (46*1). He neither speaks nor opens a discussion; he neither praises nor blames anybody; but he realizes equanimous attitude which leads one to liberation. The saint, realized as he has that paraphernalia, pleasures, body, etc., are foreign to his self, has neither attachment nor aversion for (internal and external) paraphernalia, pleasures and body, etc. The great saint feels no attachment and aversion for *vṛtti* and *nivṛtti*, because he knows them to be the cause of bondage (34-52).

Not knowing the causes of bondage and liberation and not realizing Ātman as Right Faith, Knowledge and Conduct, one incurs through delusion both merit and demerit as though they lead one to liberation. The soul that does not treat merit and demerit alike suffers misery all along and wanders in the round-of-rebirths being deluded. The wise say that even demerits or sins (*pāpa*) are beneficial, when they immediately give pain and leave the soul free to attain liberation; and even the Puṇyas are not beneficial when they bestow kingdoms and consequently bring lots of misery. Better court death that leads to self-realization than merits that lead astray. Those that march towards self-realization attain infinite happiness, but others that have missed the same suffer infinite miseries in spite of meritorious deeds. Merits lead to prosperity, prosperity to vanity, and vanity to intellectual perversity which further leads to sin: therefore merits are not desirable (60). Devotion to Gods, scriptures and saints leads one to merit, but never to the destruction of Karman : so says venerable Śānti. Contempt of the same however necessarily leads to sin whereby one wanders in Saṁsāra. Pāpa leads the soul to hell and sub-human world, Puṇya to heaven, and the admixture of both to the human world; but when both are destroyed, there results Nirvāṇa or liberation. Worship, self-reprobation and repentance with correction : all these bring merit or Puṇya; so a man of knowledge will not devote himself to these by leaving meditation on the pure and holy Ātman, the embodiment of knowledge (53-65).

A man of impure manifestation of consciousness has no self-control, and his mind is not pure. Pure manifestation of consciousness is the best, because it is attended by self-control, character, righteousness, Faith, Knowledge and the destruction of Karman. Pure manifestation of consciousness is the Dharma which supports the beings falling in the miseries of four grades of existence. Pure manifestation of consciousness is the unique path leading to liberation : one that goes astray can never be liberated. One may go anywhere and do whatever he likes; but liberation can never be attained unless the mind is pure. Auspicious manifestation of consciousness leads to piety, the inauspicious one to impiety, and the pure one, which is free from both, is immune from Karman (66-71).

Dāna (i.e., donation, or giving gifts to proper persons, etc.) brings pleasures, austerities bring the status of Indra, but knowledge brings that state of existence which is free from birth and death. To know one's self is to get released, otherwise without this knowledge one has to wander in Saṁsāra. Without this knowledge nobody has attained liberation : by churning water the hands would not be greasy. That knowledge, which is not self-knowledge, is of no avail: and even austerities,

which are not conducive to self-knowledge, are simply painful. In the presence of self-knowledge there is no scope for attachment (*rāga*): darkness cannot spread before the rays of sun. For men of knowledge, there is no other object of attachment than the self; so when they realize this reality, their mind finds no pleasure in objects of senses. Their mind cannot be concentrated on any other object than the self: he who knows emerald (*marakata*) attaches no value to a piece of glass (72-78).

When experiencing the fruits of his Karmas, he who entertains, through infatuation (or delusion), auspicious or inauspicious attitude, incurs Karmas again; and if he has no attachment or infatuation the fresh Karman is not incurred and the old stock is exhausted. Though the highest reality is being studied, even a particle of attachment proves a hindrance. If the self is not realized, study of scriptures and the practice of penances will not rescue anyone. A man studying the scriptures may still remain dull, if his doubts are not cleared, as long as he has not realized pure Paramātman residing in the body. Scriptures are studied for self-enlightenment; and if one has not attained that highest knowledge thereby, is he not a fool? A tour to holy places will not rescue anyone from Saṁsāra, if he is devoid of Ātma-jñāna (79-85).

There is a vast difference between foolish and wise saints: the wise forsake the body realizing the soul to be independent thereof, while the foolish wish to possess the whole world with the pretext of practising various virtues. The foolish take pleasure in their pupils—male and female—and in books; but the wise are ashamed of these knowing them to be the cause of bondage. Mat, board (or garment), bowl and male and female disciples attract a monk and carry him astray. It is a self-deception, if a saint wearing the emblem of great Jinas pulls out his hair with ashes but does not give up attachment for paraphernalia. To receive desired paraphernalia even after being a monk (with Jina-liṅg) is to swallow back the vomit. Those monks, that give up the pursuit of liberation for the sake of worldly profit and fame, are burning a temple in fact for a nail. The monk who considers himself great because of his possessions never realizes the reality. To those who have realized reality no one is great or small: all souls are the great Brahman. The devotee of three jewels makes no distinction between souls and souls, whatever bodies they might be occupying. The souls in the three worlds are mutually distinguished by the ignorant, but in omniscience they are of one type. All the souls have knowledge as their essence; they are free from birth and death; they are alike with regard to their spatial extent; and they are similar with regard to their characteristics. Darśana and Jñāna are their essential attributes; if the mind is enlightened, no distinction should be made between various souls. Those that make no distinction between the (potential) Brahmans in this world realize the pure light of Paramātman. By leaving attachment and aversion and (consequently) being established in equanimity (*sama-bhāva*) those that treat all souls alike easily attain liberation. The distinction between various bodies should not be attributed to the souls which are essentially characterised by Darśana, Jñāna and Cāritra. Bodies, small or big, are fashioned by Vidhi, i.e., Karman, but the souls are all alike everywhere and always. He who considers friends, foes, himself, others and the rest all

being *vikala* (without stains, also without body) he rises up to the top of the earth. And the last fault is that when all the beings are asleep at night, he is awake; and when the world is awake, he sleeps (46*1). He neither speaks nor opens a discussion; he neither praises nor blames anybody; but he realizes equanimous attitude which leads one to liberation. The saint, realized as he has that paraphernalia, pleasures, body, etc., are foreign to his self, has neither attachment nor aversion for (internal and external) paraphernalia, pleasures and body, etc. The great saint feels no attachment and aversion for *vṛtti* and *nivṛtti*, because he knows them to be the cause of bondage (34-52).

Not knowing the causes of bondage and liberation and not realizing Ātman as Right Faith, Knowledge and Conduct, one incurs through delusion both merit and demerit as though they lead one to liberation. The soul that does not treat merit and demerit alike suffers misery all along and wanders in the round-of-rebirths being deluded. The wise say that even demerits or sins (*pāpa*) are beneficial, when they immediately give pain and leave the soul free to attain liberation; and even the Puṇyas are not beneficial when they bestow kingdoms and consequently bring lots of misery. Better court death that leads to self-realization than merits that lead astray. Those that march towards self-realization attain infinite happiness, but others that have missed the same suffer infinite miseries in spite of meritorious deeds. Merits lead to prosperity, prosperity to vanity, and vanity to intellectual perversity which further leads to sin: therefore merits are not desirable (60). Devotion to Gods, scriptures and saints leads one to merit, but never to the destruction of Karman: so says venerable Śānti. Contempt of the same however necessarily leads to sin whereby one wanders in Saṁsāra. Pāpa leads the soul to hell and sub-human world, Puṇya to heaven, and the admixture of both to the human world; but when both are destroyed, there results Nirvāṇa or liberation. Worship, self-reprobation and repentance with correction: all these bring merit or Puṇya; so a man of knowledge will not devote himself to these by leaving meditation on the pure and holy Ātman, the embodiment of knowledge (53-65).

A man of impure manifestation of consciousness has no self-control, and his mind is not pure. Pure manifestation of consciousness is the best, because it is attended by self-control, character, righteousness, Faith, Knowledge and the destruction of Karman. Pure manifestation of consciousness is the Dharma which supports the beings falling in the miseries of four grades of existence. Pure manifestation of consciousness is the unique path leading to liberation: one that goes astray can never be liberated. One may go anywhere and do whatever he likes; but liberation can never be attained unless the mind is pure. Auspicious manifestation of consciousness leads to piety, the inauspicious one to impiety, and the pure one, which is free from both, is immune from Karman (66-71).

Dāna (i.e., donation, or giving gifts to proper persons, etc.) brings pleasures, austerities bring the status of Indra, but knowledge brings that state of existence which is free from birth and death. To know one's self is to get released, otherwise without this knowledge one has to wander in Saṁsāra. Without this knowledge nobody has attained liberation: by churning water the hands would not be greasy. That knowledge, which is not self-knowledge, is of no avail: and even austerities,

which are not conducive to self-knowledge, are simply painful. In the presence of self-knowledge there is no scope for attachment (*rāga*): darkness cannot spread before the rays of sun. For men of knowledge, there is no other object of attachment than the self; so when they realize this reality, their mind finds no pleasure in objects of senses. Their mind cannot be concentrated on any other object than the self: he who knows emerald (*marakata*) attaches no value to a piece of glass (72-78).

When experiencing the fruits of his Karmas, he who entertains, through infatuation (or delusion), auspicious or inauspicious attitude, incurs Karmas again; and if he has no attachment or infatuation the fresh Karman is not incurred and the old stock is exhausted. Though the highest reality is being studied, even a particle of attachment proves a hindrance. If the self is not realized, study of scriptures and the practice of penances will not rescue anyone. A man studying the scriptures may still remain dull, if his doubts are not cleared, as long as he has not realized pure Paramātman residing in the body. Scriptures are studied for self-enlightenment; and if one has not attained that highest knowledge thereby, is he not a fool? A tour to holy places will not rescue anyone from Saṁsāra, if he is devoid of Ātma-jñāna (79-85).

There is a vast difference between foolish and wise saints: the wise forsake the body realizing the soul to be independent thereof, while the foolish wish to possess the whole world with the pretext of practising various virtues. The foolish take pleasure in their pupils—male and female—and in books; but the wise are ashamed of these knowing them to be the cause of bondage. Mat, board (or garment), bowl and male and female disciples attract a monk and carry him astray. It is a self-deception, if a saint wearing the emblem of great Jinas pulls out his hair with ashes but does not give up attachment for paraphernalia. To receive desired paraphernalia even after being a monk (with Jina-liṅg) is to swallow back the vomit. Those monks, that give up the pursuit of liberation for the sake of worldly profit and fame, are burning a temple in fact for a nail. The monk who considers himself great because of his possessions never realizes the reality. To those who have realized reality no one is great or small: all souls are the great Brahman. The devotee of three jewels makes no distinction between souls and souls, whatever bodies they might be occupying. The souls in the three worlds are mutually distinguished by the ignorant, but in omniscience they are of one type. All the souls have knowledge as their essence; they are free from birth and death; they are alike with regard to their spatial extent; and they are similar with regard to their characteristics. Darśana and Jñāna are their essential attributes; if the mind is enlightened, no distinction should be made between various souls. Those that make no distinction between the (potential) Brahmans in this world realize the pure light of Paramātman. By leaving attachment and aversion and (consequently) being established in equanimity (*sama-bhāva*) those that treat all souls alike easily attain liberation. The distinction between various bodies should not be attributed to the souls which are essentially characterised by Darśana, Jñāna and Cāritra. Bodies, small or big, are fashioned by Vidhi, i.e., Karman, but the souls are all alike everywhere and always. He who considers friends, foes, himself, others and the rest all

alike knows himself. He who does not realize the one nature of all the souls cannot develop the attitude of equality which is like a boat in the transmigratory ocean. The distinction between souls and souls is occasioned by Karman which is not to be identified with the soul and which will be separated from the soul when there is an opportunity. All the souls should be treated alike without dividing and without distinguishing them according to Varṇas; as is the God Paramātman, so are these three worlds (86-107).

The great saints know what is other than the self and give up their association therewith, because that association distracts their concentration on Paramātman. Association with a person who is not equanimous should be avoided, because that makes him anxious and uneasy. Even the good lose their virtues in the company of the wicked: fire, for instance, is hammered because of its company with iron. Infatuation does no good, and uniformly it brings misery; so one should get rid of it (108-11).

It is a matter of disgrace that a nude monk with hideous physical appearance should desire for sweet dishes. The monk, if he wishes for abundant fruits of his twelve-fold penance, should give up greed for food in thoughts, words and acts. To love savoury food and to detest the tasteless one is gluttony that comes in the way of realizing the reality (111 * 2-4).

Moths, deer, elephants, bees and fish are ruined respectively by light, sound, touch, scent and taste: so one should not be attached to these (112).

Greed and attachment bring no good, and uniformly they bring misery: so one should get rid of them. Fire in the company of Lōha (greed, and also iron) is picked up by a pair of tongs, placed on the anvil and struck by a hammer. Sesame seeds, because of Snēha (oil, and also attachment) are sprinkled with water, pressed under feet and crushed repeatedly. Successful and virtuous are those persons who easily swim across, when they have fallen in the pond of youth. The great Jinas abdicated their thrones and reached liberation, then how is it that persons who are maintaining themselves by begging should not achieve their spiritual good? The souls wandering in Saṁsāra have suffered great miseries, and hence by destroying eight Karmas they should achieve liberation. The beings cannot put up with a bit of misery: then how is it that they can afford to incur Karmas which bring manifold miseries in the four grades of existence? The whole world being entangled in the turmoil foolishly incurs Karman, and not a moment is devoted to the rescue of the self. Till the great knowledge, viz., omniscience is attained the soul, suffering misery and infatuated with sons and wives, wanders in millions of births. The souls should never claim ownership over the house, relations and body: they are the creations of Karman as understood from the scriptures by the saints. Thoughts about residence and relations bring no release: the mind should be applied to austerities (which bring about the destruction of Karmas) that Mōkṣa might be reached (113-124).

One has to suffer for the sins that one has incurred by killing manifold beings for the benefit of his sons and wives. One has to suffer infinitely more pain than that one has inflicted on the beings by crushing and killing them. Harm unto living being leads one to hell and the shelter unto them to heaven; these are the two paths all that are available: one should select whichsoever he likes (125-7).

Everything here is ephemeral: it is of no use to pound the husk; even the body does not accompany the soul; the mind, therefore, should be directed to the pure path of liberation without any attachment for relatives and residence. Temples, (images of) gods, scriptures, Teachers, holy places, Vēdas (religious texts) and poems and the tree that has put forth flowers: all this shall be the fuel (in the fire of time). Excepting one Brahman, (i.e., Paramātman) the whole world is earthly and ephemeral, and this should specially be remembered. Those whom one meets in the morning are no more in the evening: so Dharma should be practised without any greed for youth and wealth. No religious merits are amassed and no austerities practised by this tree covered with skin, (i.e., the embodied being); hell then is the destiny after being eaten by the ants of old age. The soul should be devoted to the feet of Jina; and the relations, even the father, must be abandoned, because they simply drag the soul into Saṁsāra. It is a self-deception if austerities are not practised with a pure mind in spite of one's having obtained human birth. The camels in the form of five senses should not be let loose; after grazing the whole pasture of pleasures they will again hunt the soul into the round-of-rebirths. Unsafe is the course of meditation; the mind cannot be settled at rest as it repeatedly reverts back to the pleasures of senses. The Yōgin cultivates (Right) faith, knowledge and conduct, and being exempt from the influence of five senses meditates on the highest reality. The pleasures of senses last for a couple of days only, and then again follows the stream of misery; one should not be deluded, and one should not flourish the axe on one's neck. That man commands respect who gives up pleasures though they are at his disposal: the bald-headed fellow has his head shaved by destiny (for which he deserves no credit). By capturing the leader, viz., the mind, all others, (i.e., the senses) are captured; the roots being pulled out the leaves necessarily wither. A lot of time is spent in enjoying the pleasures of senses; therefore steady concentration on Śiva, (i.e., Paramātman) is necessary whereby liberation is reached. Those who are engrossed in the concentration on Paramātman are never seen to suffer miseries. Time has no beginning, the soul is eternal, and the round of rebirths has no end; the soul has not secured two: the teacher, Jina and the religious virtue, Right faith (128-143).

Family-life is full of sin; it is indeed a steady net decorated with death. When the body does not belong to oneself, there is no propriety in claiming other things by neglecting the concentration on Paramātman (called Śiva). Concentration on anything other than Śiva will not lead one to the bliss of liberation. Apparently the body looks nice; but (as to its real nature) it gets rotten when buried, and it is reduced to ashes when burnt. Anointing, decorating and sumptuously feeding the body serve no purpose like obligations bestowed on the wicked. This body is like a delapidated Naraka-gṛha (filth-house) full of filth, and as such it deserves no attachment. As if with vengeance the fate has fashioned this body out of all that is miserable, sinful and filthy. It is shameful to enjoy the loathsome body; the wise should take delight in Dharma purifying their selves. The saints should not be attached to this body which brings no good to them: they should realise Ātman which is an embodiment of knowledge separate from the body. Attachment can never bring eternal happiness (144-153).

One should be satisfied with that happiness which entirely depends on one's self; pleasures from external accessories will never remove (further) desires. Ātman should be realized as essentially constituted of knowledge, and there should be no attachment for anything else. If the mental waters are not disturbed by pleasures and passions, the Ātman immediately becomes pure. Of no avail is that Yōga which does not separate the self from others after suppressing or curbing the mind at once. Omniscience cannot be attained by meditating on anything other than the self, the embodiment of knowledge. The saints who meditate on Śūnya-pada (a point of meditation devoid of disturbances), who do not identify themselves with anything foreign, who have neither Puṇya nor Pāpa and who populate the (so far) deserted (attitude) and desert the (so far) inhabited (attitude), deserve all respect (154-160).

In response to Prabhākara's question the author says: There, in that meditation, delusion is smashed to pieces and the mind sets into steadiness, when the breath issuing from the nostrils melts back into Ambara. When one dwells in the Ambara delusion melts, mental activities are no more, inhalation and exhalation are stopped and even omniscience develops. He who concentrates his mind, which is as extensive as the physical and super-physical space, on the Ākāśa, has his delusion destroyed; and he is an authority to others (161-164).

[Then possibly the pupil speaks in a mood of repentance.] The self, the infinite divinity, which is in the body, has not been realized; and it has all been waste to have held the mind in the equanimous Ambara. All the attachments are not given up; the attitude of detachment has not been cultivated; the path of liberation liked by saints has not been understood; severe austerities, which are the essence of self-realization, are not practised; both merit and sin are not consumed; then how can the round-of-rebirths be terminated?

Gifts have not been given to saints, the great Jina is not worshipped and the five-great teachers are not saluted: then how can the liberation be attained (*śiva-lābha*) (168)?

Successful meditation does not consist so much in closing the eyes, half or complete, as in remaining steady, with the mind undisturbed whereby alone liberation, the best state of existence, is attained. If undisturbed concentration is attained, the round-of-rebirths comes to an end; even the great Jina will not achieve Haṁsacāra, if he is liable to disturbances and anxieties. It is indeed foolish to run after the world and its activities. Brahman which is above all this should be realized, and the mind must be set at rest. The mind must be curbed from all the attachments, six tastes and five colours, and then be concentrated on Ātman, the infinite Divinity (165-172).

This infinite Ātman assumes that form in which he is meditated upon like the crystal or Mantra. This Ātman himself is Paramātman; but he remains as Ātman because of special Karmas; as soon as the Ātman is realized by himself, then he is Paramātman, the divinity. One should meditate thus: I am the same as Paramātman, the embodiment of knowledge and the infinite divinity, and the Paramātman is myself. Like the colours reflected in a transparent crystal all the Karmic associations are different from the nature of Ātman. By nature, like crys-

tal, Ātman is pure; the dirty appearance of the body is mistaken for that of the soul. The body should not be considered as red, old and worn out, when the clothes are red, old and worn out. Similarly red colour, old age and destruction of the body have nothing to do with the soul. As clothes are separate from the body so body is separate from the soul. Body is the enemy of the soul, because it produces miseries; then he is a friend who destroys this body. It is indeed a great gain if the Karmas, which are to be made ripe for operation and to give fruit, become automatically ripe and exhausted. If the mind cannot bear harsh words, meditate on the Para-Brahman whereby the mind might be set at rest. Beings that are averse to their spiritual welfare wander in the round-of-rebirths pursued by Karmas; what wonder then, if they escape from Saṁsāra when they establish themselves in themselves. If others take pleasure in finding faults with you, then consider yourself as an object of pleasure for others, and give up anger. The monks, if they are afraid of misery, should not entertain any anxiety, for even a bit of it, like a subtle nail, necessarily causes pain. There should be no anxiety even for Mōkṣa, for anxiety will not bring Mōkṣa: that which has bound the soul will rescue it. Those that sink in the great lake of meditation have their souls rendered pure, and the dirt of round-of-rebirth is washed off. Elimination of all the mental distractions is called the great meditation (Parama-samādhi); the saints, therefore, give up all the auspicious and inauspicious attitudes. Though severe penances are practised and though all the scriptures are understood, the 'Śāntaṁ Śivam' is not realized, if the great meditation is not practised. Realization of Paramātman cannot be accomplished, if meditation is not practised after destroying pleasures and passions. If the Parabrahman is not realized through great meditation, one has to wander infinitely suffering the miseries of Saṁsāra. The omniscient have said that the great meditation is not achieved unless all the auspicious and inauspicious attitudes are annihilated. The Ātman becomes Arahanta when all the mental distractions are stopped, and when, being on the path of liberation, the four (Ghātiya) Karmas are destroyed. Ātman becomes Arahanta, necessarily full of supreme bliss, who continuously knows the physical and super-physical worlds through omniscience. That Jina who is omniscient and whose nature is supreme bliss is the Paramātman, the very nature of Ātman. The Jina who is separate from all the Karmas and blemishes should be understood as the very light of Paramātman. The great saint, Jina, who possesses infinite revelation, knowledge, bliss and strength is the great light. It is the great and pure Jina, the Paramātman, that is variously designated as Parama-pada, Hari, Hara, Brahman, Buddha and the great Light. The Jina, when he is absolutely free from Karmas through meditation, is called the great Siddha (173-201).

Siddha represents self-realization; he is the brother of three worlds; and his nature is eternal happiness. He is not accessible to births and deaths; he is free from the miseries of the four grades of existence; and he is free and blissful being an embodiment of absolute revelation and knowledge (202-3).

The saints that sincerely study Paramātma-prakāśa overcome all delusion and realize the highest reality. The devotees of this Paramātma-prakāśa attain the spiritual light which enlightens the physical and super-physical worlds. Those that daily

meditate on Paramātma-prakāśa have their delusion immediately smashed, and they become the lords of three worlds. The competent students of Paramātma-prakāśa are those who are afraid of the miseries of Saṁsāra, who abstain from the pleasures of senses, whose mind is pure, who are devoted to Paramātman, who are intelligent in self-realization and who wish to obtain liberation (202-9).

This text of *Paramātma-prakāśa*, which is composed not (much) minding the rules of grammar and metrics, if sincerely studied, destroys the misery of the four grades of existence. The learned should not mind here the merit or otherwise of repetition; ideas are repeated for the sake of Bhaṭṭa Prabhākara. The learned, who have realized the highest reality, should forgive the author for whatever is said here, reasonable or otherwise (210-12).

He attains liberation when flashes forth in his mind that Highest Principle, which, as an embodiment of knowledge, is meditated upon by great saints, which having no body dwells in the bodies of embodied beings, which is an embodiment of celestial knowledge, which deserves worship in three worlds, and which represents liberation.

Glory to that blissful omniscience which is a celestial embodiment of effulgence to those that have attained the highest status, which is a celestial and liberating light in the minds of great saints, and which cannot be obtained here by people who are given to pleasures of senses (213-14).

### *d*) CRITICAL ESTIMATION OF P.-PRAKĀŚA

OCCASION OF COMPOSITION AND REFERENCES TO SOME HISTORICAL PERSONS.—Basing our conclusions on Brahmadēva's recension of the text, we find it definitely stated that *P.-prakāśa* was composed by Yōgīndu in response to some questions of Bhaṭṭa Prabhākara (I. 8, II. 211). Once Bhaṭṭa Prabhākara is addressed by name (I. 11) and often as *vaḍha* (= *vatsa* according to Brahmadēva) and *Jōïya* (= *yōgin*); and there are some indirect references to him as well which are made clear by Brahmadēva (I. 104, II. 1). Beyond that he was a pupil of Yōgīndu, we know nothing about Bhaṭṭa Prabhākara. Bhaṭṭa and Prabhākara are not two different names of two separate individuals as Pt. PREMI passingly implied;[1] but it is one name as Bhaṭṭa-Prabhākara, Bhaṭṭa being possibly a title. To quote a parallel case, Akalaṅka, the author of *Śabdānuśāsana*, (1604 A.D.) a Kannaḍa grammar, is uniformly known as Bhaṭṭākalaṅka. Bhaṭṭa Prabhākara's questions and Yōgīndu's address to him indicate that he was a Jaina pupil, necessarily a monk, of Yōgīndu; and his name has nothing to do with Prabhākara Bhaṭṭa (c. 600 A.D.), the famous Pūrva-Mīmāṁsā philosopher. Besides the names of Yōgīndu and Prabhākara, the text quotes the opinion of one Ārya Śānti that devotion to gods, scriptures and saints leads to merit but does not destroy Karmas (II. 61). Q-gloss modifies that name as Śāntanandācārya, while K-gloss[2] takes it as Śāntināthaṁ. No doubt, Śānti is the name of some early author, but in the absence of any more information he cannot be identified with known authors whose names begin with Śānti.

1 MDJG., vol. XXI, p. 17 of the Introduction.

2 For remarks on these Glosses see below the section on the Commentaries on *P.-prakāśa*.

THE AIM OF WRITING THIS WORK AND HOW FAR FULFILLED.—As the text stands, Bhaṭṭa Prabhākara complains that he has suffered a lot in Saṁsāra, and he wants that light which would rescue him therefrom. Yōgīndu first analyses the subjective personality, indicates the need of realizing Paramātman, and gives some symbolical descriptions of mystic-religious experience. Then he explains to him the meaning of liberation, its fruit and its means. Discussing the means he gives many moral and disciplinary lessons with illustrations. What was the need of Bhaṭṭa Prabhākara is the need of many an aspiring soul; and as the title indicates and as the contents show, this work really sheds light on the problem of Paramātman in a popular manner.

METHOD AND MANNER OF SUBJECT-TREATMENT, ETC.—As Brahmadēva's text shows, the work is definitely divided into two parts by the author himself in response to two questions of Prabhākara: first, about Ātman and Paramātman (I. 8-10); the second, about Liberation and its means (II. 2). The first section is built more compactly than the second of which only portions here and there are compact (for instance II. 11-30), but the major portion of it is loosely built with repetitions and side-topics. At times the author himself raises certain questions and answers them by the application of various view-points (see for instance I. 50-54). In some places he shows the tendency of mechanically building the verses with a few words changed (see for instance I. 19-22, I. 80-81 and 87-91, II. 113 and 115, 178-9). *P.-prakāśa* is full of verbal repetitions of which Yōgīndu is quite aware; and he explains his position that he had to say things repeatedly for the sake of Bhaṭṭa Prabhākara (II. 211). Repetitions have a decided value in works of meditational character. There is no question of one argument leading to the other and thus arriving at a conclusion as in logical works. But here the author has at his disposal a capital of ideas, moral and spiritual; and his one aim is to create taste for these ideas in his readers. So he goes on repeating them in different contexts, at times with different similes, to make his appeal effective. Brahmadēva also defends this repetition by saying, '*atra bhāvanāgranthē Samādhiśatakavat*[1] *punaruktadūṣaṇaṁ nāsti*', etc., and further welcomes it as beneficial (see his remarks on II. 211).

SIMILES AND THEIR USE.—A moralist always uses similes, metaphors and illustrations in his discourses to make his lessons very effective; and if these are drawn from every-day life, the readers and hearers feel all the more convinced. That is why Dṛṣṭānta plays an important part in the syllogism of Indian logic. A mystic, by the very nature of his subject, has to use all these more necessarily than a theologian, a moralist or a logician. A mystic attempts to convey to his hearers and readers the glimpses of the incommunicable realization which he himself has experienced. If mystics differ in their modes of expression and methods of exposition, it does not invalidate their experience, but it only proves that this transcendental experience cannot be rightly, and oftentimes adequately, expressed in words. The mystic visions are always symbolically put. This explains very well why works on mysticism are full of parables, similes, metaphors and illustrations. Yōgīndu cannot be an exception to this, as he combines in himself a moralist and a mystic.

1 It is a Sanskrit work of Pūjyapāda; its influence on *P.-prakāśa* is discussed below.

The Great meditation, for instance, Yōgīndu compares with a lake (II. 189), and the vision of Paramātman is like that of a swan on the lake-surface (I. 122.). Once the mystic vision is likened to the light of sun in a cloudless sky (I. 119). Ātman is said to imitate a lame man and it is Vidhi or Karman that leads him everywhere (I. 66). Body is compared once with a temple; once it is called a tree covered with skin: and once it is likened to filth-house (I. 33, II. 133, 149). Family life is called a trap decorated by Death (II. 144). Twice he treats creeper as an object of comparison: when he compares it with Saṁsāra (I. 32) its extensive growth is the common property, and when he compares it with knowledge (I. 47) the common property is that both of them need some support; knowledge being a transitive process needs an object of knowledge. A passionate heart is compared with a mirror of soiled surface (I. 120). Sometimes he develops a Dṛṣṭānta taking advantage of a word with double meaning (*lōha* = greed and iron; *snēha* = attachment and oil); so a greedy man and a man of attachment suffer like iron on the anvil and like sesame seeds in the mortar (II. 112-14). Senses are likened to camels (II. 136); and the author notes the cases of moth, deer, elephant, bees and fish that suffer because of their excessive attachment for respective senses (II. 112). Some of his Dṛṣṭāntas are very vivid and appealing: in I. 121 he says that Brahman and woman cannot occupy the same heart, for two swords are never accommodated in one and the same scabbard; in II. 74 he puts that without real knowledge liberation cannot be attained, for the hand does not become oily, i.e., besmeared with butter, by churning water. The last simile is used by Basavaṇṇa[1] also in a similar context.

STYLE OF P.-PRAKĀŚA.—Barring the repetitions due to which this work, as an academic treatise, gives tiresome reading, it is composed uniformly in an easy and vivid style. In spite of the Jaina technicalities used here and there (especially II. 16-26, etc.) there is a popular flavour about all his discussions. What strikes one is his earnest and spiritualistic enthusiasm and his sincere desire to help Bhaṭṭa Prabhākara, and consequently the readers of *P.-prakāśa* in general, to get out of this Saṁsāra. Most of his utterances are of an objective nature, and as in the Vacanas of Basavaṇṇa[2] and others we do not find here personal complaints and contemporary social and religious touches. At times but rarely Yōgīndu is obscure, and his statements require some additional words for a correct interpretation (I. 43, II. 162, etc.). Not very successfully he uses some words with double meaning to convey significant sense out of apparent contradiction (II. 44-46). Indeed *P.-prakāśa* gives a refreshing reading for a believer; and that is why it has a strong hold on the minds of Jaina monks. Nowhere the author tries to parade his learning;

1 Many of his Vacanas, generally addressed to his personal deity Kūḍala Saṅgamadēva, are included in *Vacanaśāstrasāra*, vol. I. ed. by F. G. HALAKATTI, Belgaum 1923. Recently a small book, *Sayings of Basavanna*, is published from Gadag; it contains the Kannaḍa text of some selected sayings with an English rendering by M. V. IYENGAR. The Vacana referred to above runs thus: "Chew the bamboo leaf; all you get is the chewing itself and no juice. Churn water, all you get is the churning and no butter. Spin sand, all you have is to spin merely; you get no rope. Bend to gods other than God Kudala Sangama; you have merely hurt your hand by pounding much bran". The simile of pounding bran is found also in *P.-prakāśa* II. 128.

2 See *Vacanaśāstrasāra* mentioned in the above note.

and throughout the work he takes the reader into his confidence and sincerely preaches in a homely manner without much arguing. The writer, with a characteristic modesty, requests the reader not to mind his metrical and grammatical slips (II. 210-12).

METRES IN P.-PRAKĀŚA.—A metrical analysis of 345 verses in Brahmadēva's recension shows that five are gāthās (I. 65*1, II. 60, 111*2, 111*3 and 117), one is a Sragdharā (II. 213), one is a Mālinī (II. 214) and their dialect is not Apabh.; one is a Catuṣpādikā (II. 174); and the remaining 337 verses are dōhās. This name does not occur in *P.-prakāśa*; but in *Yōgasāra*, the other work of Jōindu, the word dōhā is used twice (Nos. 3 & 107). *Yōgasāra* contains 104 dōhas, two Sōraṭhas (Nos. 38 & 44) and one Caupāï (No. 39). Both the lines of a dōhā are of uniform constitution; each line is divided into two parts with a definite metrical pause intervening; and an objective scanning of a line shows almost uniformly that the first part contains 13 mātrās and the second 11. But when we read the dōhā, or try to sing it, it appears that we need 14 mātrās, the last mātrā of a part being necessarily lengthened. So it would be more accurate to state that each line of a dōhā contains 14 and 12 mātrās with a definite pause after the 14th mātrā. *P.-prakāśa*, however, shows 31 cases[1] in all where the first part of the line has 13 mātrās even when the last syllable is long. In the light of Virahāṅka's definition, noted below, one will have to accept that some syllable is to be lengthened in these lines. That the dōhā line really contains 14 and 12 mātrās is clear from the following definition given by Virahāṇka.[2]

तिण्णि तुरंगा णेउरओ[3] वि-प्पाइक्का कण्णु ।
दुवहअ-पच्छद्धे वि तह वद लक्खणउ ण अण्णु || IV. 27 ||

Remembering the technical terms of Virahāṅka that *turaṁga* = 4 mātrās, *ṇeüra* = one *guru*, *pāïkka* = 4 mātrās and *kaṇṇa* = two *gurus*, the definition prescribes 14 and 12 mātrās for a dōhā-line. Both the lines have the same structure, and often *e* and *o* are short in Apabh.: thus an objective scanning of even this illustrated dōhā shows 13 and 11 mātrās. So Virahāṅka means that a dōhā line has really 14 and 12 though in writing it might show 13 and 11 mātrās. There are other later metrical works like *Kavidarpaṇa* (II. 15), *Prākṛta Paiṅgala* (I. 66 etc.), *Chandaḥkōśa* (21) etc., which plainly state that a dōhā-line contains 13 and 11 mātrās. Hēmacandra, however, takes 14 and 12 mātrās. This means that Virahāṅka and Hēmacandra take into account the acoustic effect of the flow of a dōhā-line, while others adopt the objective scanning. That dōhā is pre-eminently an Apabh. metre is attested by the facts that Virahāṅka composes his illustration in Apabh. and that Rudraṭa composes his illustrations of ślēṣa of Sanskrit and Apabh. in dōhā metre. The two lines of dōhā exhibit rhyme at their close even in Sanskrit as seen from Rudraṭa's verses.[4] The etymology of the word dōhā needs some reflection. Jōindu, we have seen, calls it dōhā, but Virahāṅka

1 See I. 27c, 32c, 36a, 53c, 61a, 68c, 73a, 77c, 79c, 85a, and 115a, II. [illegible] 103c, 125a, 126a, 127c, 136a, 137c, 138a, 147a, 162a, 165a, 187c, [illegible] 191a and 207a.

2 H. D. VELANKAR: *Vṛttajātisamuccaya* of Virahāṅka *JBBRAS* [illegible] *Chandaḥkōśa* in the appendix to his paper 'Apabhraṁśa Metres' in the *Journal of the University of Bombay*, Nov. 1933; *Kavidarpaṇa* in the *Annals of the B. O. R. I.* 1935.

3 In view of the Nom. Sg. termination in Apabhraṁśa, we expect the reading [illegible]

4 *Kāvyālaṅkāra* IV. 15 and 21.

writes its name Duvahaa. If dōhā (in Hindī, Rājastāni, dūhāa) has a Sanskritic origin, it might be derived from the word *dvidhā* indicating thereby i) that a line of dōhā is definitely divided into two parts or ii) that in dōhā metre the same line occurs twice. Virahāṅka appears to favour the second when he says : *dō pāā bhaṇṇaï duvahaü* (II. 4). So far as we know, Virahāṅka, whom Prof. H. D. VELANKAR puts earlier than 9th century A.D., is the earliest metrician to define dōhā. Later metricians have given some varieties of dōhā as well.

ECLECTIC CHARACTER OF P.-PRAKĀŚA.—Unless there is temperamental handicap, the spiritualistic mystics, as a class, have a very tolerant outlook ; and 'it is thus', as Prof. RANADE puts it 'that the mystics of all ages and countries form an eternal Divine Society'.[1] They may weave out their mysticism with the threads of any metaphysical structure ; but they always try to go behind the words and realize an unity of significance. Yōgīndu is a Jaina mystic as it is clear from the opening Maṅgala and other references ; and from the technical details adopted by him it is seen that he bodily accepts Jaina metaphysics, especially the Jaina concepts of Ātman, Karman, their relation in the light of other substances, Paramātman, etc. But his catholicity of outlook has given an eclectic touch to his work and almost a non-sectarian colour to most of his utterances. Intellectual tolerance is seen at its best in Yōgīndu. Vēdāntins claim that the Ātman is all-pervading (*sarvagata*) ; Mīmāṁsakas say that the soul in liberation exists without cognition ; the Jainas take the soul to be of bodily size ; and Buddhists say that it is Śūnya (I. 50, etc.). Yōgīndu never feels offended by this variety of conflicting views. In the light of Jaina metaphysics and with the help of Nayas he goes behind the words and notes their significance. The interpretations offered by him may not be accepted by those respective schools ; but this way of approach brings before us the personality of Yōgīndu as a patient mystic with a tolerant outlook. Yōgīndu would only smile at polemic logicians like Dharmakīrti, Akalaṅka, Śaṅkara, etc., and pity them that they have in vain wasted their words and energies by raging a warfare of mutual criticism for centuries together. As contrasted with this attitude, Saraha, a Buddhist mystic, who has many ideas common with Yōgīndu, severely attacks the practices of nude Jaina monks.[2] Yōgīndu holds a definite conception of Paramātman, but never does he insist on a particular name thereof. Thus with a non-sectarian spirit he designates his Paramātman as Jinadēva, Brahman, Para-Brahman, Śānta, Śiva, Buddha, etc., (I. 17, 26, 71, 109, 116, 119, II. 131, 142, 200, etc.). Then very often he has harnessed non-Jaina terminology to serve his purpose ; and here we find the echoes of many patent concepts of other systems of Indian philosophy. I shall note here only a few glaring cases. In I. 22 he uses many Tāntric terms like Dhāraṇā, Yantra, Mantra, Maṇḍala, Mudrā and says that the Paramātman is beyond the predication of these. His way of expression in I. 41 and II. 107 approaches very near that of Vēdānta ; and II. 46 * 1, which is considered as interpolatory by Brahmadēva and other Mss., reminds us of a similar verse in *Gītā* (2. 69). Jainism and Sāṁkhya

1 BELVALKAR & RANADE : History of Indian Phil., vol. VII., *Mysticism in Maharashtra*, Preface, p. 2.

2 M. SHAHIDULLA : *Les chants mystiques de Kāṇha et de Saraha. Dōhākōśa* of Saraha verses 6-9.

have many points of similarity,[1] and our author with the help of Niścaya-naya compares Ātman with a lame man and delegates all activity to Karman which is called Vidhi here (II. 65-66).[2] In II. 170 the word Haṁsācāra is used, and Brahmadēva takes Haṁsa to mean Paramātman ; this reminds us of some Upaniṣadic passages where Haṁsa is used in the sense of Ātman and Paramātman.[3] It may be noted here passingly that one of the mystic visions of Paramātman according to Yōgīndu is that of a swan on the surface of lake. This work, leaving aside a few groups of verses that give technical details of Jaina metaphysics, can be read with devotion by all students of mysticism who want to raise their individuality to a higher plane of divinity.

YŌGĪNDU'S PLACE IN JAINA LITERATURE : INFLUENCE OF EARLIER WORKS, ETC., ON HIM.—A mystic is not necessarily a man of learning, and further he is not a professional writer trained for that purpose with years' grounding in grammar, logic, etc. The experience of self-realization forces speech out of him at the sight of suffering humanity ; and he goes on expressing himself not minding the rules of grammar, etc. So it is not without significance that Yōgīndu selects Apabhraṁśa language, the popular speech of his day, ignoring Sanskrit and other Prākrits[4] which were used in learned works ; and this is exactly what is done by some of the later mystics of Mahārāṣṭra and Karnāṭaka. Jñānadēva, Nāmadēva, Ēkanātha,[5] Tukārāma and Rāmadāsa proudly expressed their experiences in Marāṭhī and Basavaṇṇa and scores of Vīraśaiva Vacanakāras in Kannaḍa,[6] so that they might be understood by a larger number of people. What earlier authors expressed in Prākrit and Sanskrit Yōgīndu puts in a popular manner in a popular dialect of his time. It is to Kundakunda and Pūjyapāda, so far as I have been able to study earlier Jaina works, that Yōgīndu is greatly indebted. A few agreements might be noted here. Yōgīndu's discussion of three Ātmans (I. 121-4) closely agrees with that in *Mŏkkhapāhuḍa*[7] 4-8. The definitions of Samyagdṛṣṭi and Mithyā-dṛṣṭi (176-77) almost agree with those given by Kundakunda in *Mŏkkhapāhuḍa* 14-5 ; and rightly indeed Brahmadēva quotes those gāthās in explaining these dōhās. Besides, the following parallels also deserve notice : *Mŏkkha-pāhuḍa* 24 & *P.-prakāśa* I. 86 ; *Mp.* 37 & *Pp.* II. 13 (partly), *Mp.* 51 & *Pp.* II. 176-77 ; *Mp.* 66-69 & *Pp.* II. 81 ; etc. It is not without significance that Śrutasāgara in his Sanskrit commentary on *Mŏkkhapāhuḍa*, etc., quotes many dōhās from *P.-prakāśa* though this may not have historical justification. A closer comparison would reveal that Yōgīndu has inherited many ideas from Kunda-

1 A. N. UPADHYE : *Pravacanasāra* (RJŚ.), Intro. p. 63 etc.

2 This is the famous Sāṁkhya analogy, see *Sāṁkhyakārikā* 21 & 62

3 See for instance *Śvētāśvatarōpaniṣad* i. 6, iii. 18, vi. 15.

4 The two concluding verses are not in Apabh. but I think they are composed by Yōgīndu himself.

5 How proudly and confidently Ēkanātha says :

*mājhī Marāṭhī bhāṣā cōkhaḍī* |
*Para-Brahmī* [illegible] *phalalī gāḍhī* |

6 These Vacanas are beautiful specimens of Kannaḍa prose. They are simple and [illegible] as distinguished from the classical prose passages in other Campū works.

7 Ed. *Ṣaṭ-Prābhṛtādi-saṁgraha*, MDJG., vol. XVII, pp. [illegible] The [illegible] panied by Śrutasāgara's Sk. commentary on six Pāhuḍas.

kunda of venerable name. Turning to *Samādhiśataka*[1] of Pūjyapāda, *P.-prakāśa* agrees with it very closely; and I feel no doubt that Yōgīndu has almost verbally followed that model. For want of space I could not quote the parallel verses here, but I give only references from both the works that have close agreement. *Samādhiśataka* 4-5 & *P.-prakāśa* I. 11-14 ; *Sś.* 31 & *Pp.* II. 175, I. 123*2 ; *Sś.* 64-66 & *Pp.* II. 178-80 (very close agreement); *Sś.* 70 & *Pp.* I. 80 ; *Sś.* 78 & *Pp.* II. 46*1 ; *Sś.* 87-88 & *Pp.* I. 82 (amplified) ; etc. There are many common ideas besides these close agreements. But there is a vast difference between the styles of Pūjyapāda and Yōgīndu. Pūjyapāda is a grammarian ; and we know, as the popular saying goes, that a grammarian is as much happy on the economy of words as on the birth of a son. Pūjyapāda is concise in his expressions, chaste in his language and precise in his thoughts ; but Yōgīndu's style, as seen above, is full of repetitions and general statements. The very virtues of Pūjyapāda have made his work very stiff, and it can be now studied only by men of learning. Perhaps Yōgīndu thought of propounding in a popular language and manner the important ideas of *Samādhiśataka* which, being written in Sanskrit often in sūtra-style, could not be understood by all. Yōgīndu's work appears to have attained sufficient popularity, and commentators like Jayasēna, Śrutasāgara and Ratnakīrti quote from his works.[2] Passingly I might note here that there are some close similarities between *P.-Prakāśa* and *Tattva-sāra*[3] of Dēvasēna : *Pp.* II. 38 & *Ts.* 55 ; *Pp.* II. 79-81 & *Ts.* 51-53 ; *Pp.* II. 97-8 & *Ts.* 37-8 ; *Pp.* II. 156 & *Ts.* 40 ; *Pp.* II. 183 & *Ts.* 50. Here and there Dēvasēna shows Apabhraṁśa influence in his works ; he has put some Apabhraṁśa verses in his *Bhāvasaṁgraha*,[4] and he uses words like *bahirappā* (*Ts.* 40) in spite of the fact that he opens *Tattvasāra* with a slightly different division. For these reasons and in the light of the context, I think, it is Dēvasēna that follows Yōgīndu and not otherwise.

YŌGĪNDU, KĀṆHA AND SARAHA.—Kāṇha and Saraha are Buddhistic mystico-moralists. Their works belong to the later phase of Mahāyāna Buddhism, especially Tāntricism ; and they have some common traditions with Śaivite Yōgins.[5] Dr. M. SHAHIDULLA puts Kāṇha about 700 A.D., while Dr. S. K. CHATTERJI puts him at the end of the 12th century. Saraha lived about 1000 A.D.[6] *Dōhākōśas* of these two authors breathe the same spirit as that of *P.-prakāśa*. Unlike *P.-prakāśa* they are not uniformly composed in dōhās ; but they have a variety of metres, though they are called *Dōhākōśa*. Excepting a few peculiarities, which might be due to local influences, their Apabhraṁśa is similar to that of Yōgīndu though forms here and there show some advancement towards simplification. Mystico-moralists have often inherited a common stock of ideas and terminology which appear and re-appear in the mystical works of different religions. The terms of address Vaḍha, Putta, etc., are found in

1 Ed. SJG., vol. I. Bombay 1905, pp. 281-296.

2 Jayasēna in his commentaries on *Pañcāstikāya* and *Samayasāra*, Śrutasāgara on Sixpāhuḍas and Ratnakīrti on *Ārādhanāsāra* of Dēvasēna (MDJG., vol. VI).

3 Ed. MDJG., vol. XIII, pp. 145-51.

4 Ed. MDJG., vol. XX.

5 S. K. CHATTERJI : *The Origin and the Development of the Bengali Language*, Intro. pp. 110-23.

6 M. SHAHIDULLA : *Les chants mystiques de Kāṇha et de Saraha*, Paris 1928, pp. 28, 31 etc.

these texts as well. Kāṇha and Saraha very often mention their names in their verses, thus stamping them with their individualities. This is conspicuously absent in the verses of Yōgīndu. Marāṭhā saints like Tukārāma have mentioned their names like this, and the Śaivite Vacanakāras of Karṇāṭaka have mentioned their *mudrikās* : for instance, the *mudrikā* of Basavaṇṇa is Kūḍala-saṅgama-dēva, that of Gaṅgamma is Gaṅgēśvaraliṅga and so forth. Especially the *Dōhākōśa* of Saraha has many ideas, phrases and modes of expression common with *P.-prakāśa.* I note here a few parallels selected at random: *P.-prakāśa* I. 22 & *Dōhā-kōśa* of Saraha 25 ; *Pp.* II. 107 & *Dk.* 28 ; *Pp.* II. 112 & *Dk.* 73 ; *Pp.* 161-62 & *Dk.* 48 ; *Pp.* II. 163 & *Dk.* 32 ; *Pp.* II. 174 & *Dk.* 107. Also compare *Pp.* & *Dk.* of Kāṇha 10 ; *Pp.* I. 22 & *Dk.* 28.

### *e*) PHILOSOPHY AND MYSTICISM OF P.-PRAKĀŚA

1. THE TWO POINTS OF VIEW : VYAVAHĀRA AND NIŚCAYA, OR PRACTICAL AND REALISTIC.—The Ātman is really Paramātman (I. 46). It is true from the ordinary or practical point of view that the Ātman, because of Karmic association, undergoes various conditions (I. 60); but from the realistic point of view, upheld by the great Jinas, the Ātman simply sees and knows : Ātman does not bring about bondage and liberation which are caused by Karman for him. (I. 64, 65, 68). Ātman is omniscience ; and every other predication about him is true from the practical point of view (I. 96). Really speaking Ātman himself constitutes Right Faith, Knowledge and Conduct which are ordinarily stated as the means of liberation (II. 12-14, 28, etc.).

AUTHOR'S USE OF THESE POINTS OF VIEW.—It is a patent fact from the history of Indian literature that very often the commentator is a better authority to enlighten us on the contents of a text, howsoever misleading and fantastic his etymological explanations might be. What is true in the case of Sāyaṇa on *Ṛgvēda* is much more true in the case of Brahmadēva on *P.-prakāśa.* In explaining the text Brahmadēva has repeatedly taken resort to Niścaya and Vyavahāra points of view. It is just possible that he might have exaggerated some other subtle differences ; but that such a distinction is accepted by Jōindu himself is clear from the above paragraph. So we cannot ignore these two points of view in studying *P.-prakāśa.*

NECESSITY OF SUCH POINTS OF VIEW.—Taking a synthetic view Dharma or Religion in India embraces in its connotation on the one hand spiritual and transcendental experience of a mystic of rigorous discipline and on the other a set of practical rules to guide a society of people pursuing the same spiritual ideal.[1] It is this aspect of the situation that necessitates such points of view ; and in Jainism, whose approach to reality is mainly analytical, they occupy a consistent position. Vyavahāra viewpoint refers to the loquacious level of rationalism, while Niścaya refers to intuitional experiences arising out of the deeper level of the self. According to Jainism a householder and a recluse have their spheres dependent on each other and supplementing each other's needs with the ultimate spiritual realization in view ; so are Vyavahāra

1 Amṛtacandra, in his Commentary on *Samayasāra* 12, quotes a beautiful verse from an unknown source which indicates the relative importance of these view points :

*jai Jiṇamayaṃ pavajjaha tā mā vavahāra-ṇicchae muyaha*
*ekkeṇa viṇā chijjai titthaṃ aṇṇeṇa uṇa taccaṃ.*

This very verse is quoted by Jayasēna with some dialectal differences on *Samayasāra* (RJS. Ed. p. 328).

and Niścaya points of view. Just as every house-holder submits himself to Sannyāsa or renunciation and realizes his spiritual aim, so ultimately Vyavahāra is discarded in favour of Niścaya.[1]

SIMILARITIES ELSEWHERE.—*Muṇḍakōpaniṣad* (I. 4-5) says that there are two kinds of knowledge : Aparā vidyā and Parā vidyā ; the former consists in the knowledge of Vēdas and the latter in the apprehension of Imperishable Brahman. This distinction amounts to the difference between intellectual and intuitional apprehension of reality, and can be favourably compared with the above points of view. Buddhism accepts the distinction of partial truth (*saṁvṛti-satya* or *vyavahāra-satya*) and absolute truth (*paramārtha-satya*).[2] Śaṅkarācārya too often appeals to Vyavahāra and Paramārtha points of view. Echoes of such a distinction are seen in some modern definitions of religion of which WILLIAM JAMES recognizes two aspects, viz., Institutional and Personal.[3]

THEIR RELATIVE VALUES.—Vyavahāra view-point is useful and essential so far as it leads to the realistic view-point. Vyavahāra by itself is insufficient and can never be sufficient. The simile of a cat can serve our purpose as long as we have not seen the lion. As to their relative value Amṛtacandra nicely puts it thus : Alas, the Vyavahāra point of view may be perchance a support of the hand for those who are crawling on the primary stages of spiritual life, but it is absolutely of no use to those that are inwardly realizing the object, the embodiment of sentiency, independent of anything else.[4]

2. THREE ASPECTS OR KINDS OF ĀTMAN.—Ātman is of three kinds : External (*bahirātman*), Internal (*antarātman*) and Supreme (*paramātman*). It is ignorance to take the body for the soul. So a wise man should consider himself as an embodiment of knowledge distinct from the body, and thus being engrossed in great meditation should realize Paramātman. It is the Internal by leaving everything External that becomes Supreme (I. 11-15).

THE THREEFOLD INDIVIDUALITY.—The subjective personality demands as much patient study from a mystic as the objective existence from a scientist. A mystic projects his process of analysis inwards, and therein he realizes the reality of his self by eschewing everything else that has a mere appearance of it. Taking the individual for analysis what is more patent or what strikes an observer is his physical existence, his body ; but the real individual is not this body. Body is merely a concrete figuration temporarily acquired by the soul or spirit ; it is merely the external of the individuality. To realize the individuality one has to go inwards and try by the process of meditation to apprehend the sentient personality, which is the internal individuality. There is a huge multitude of internal spirits, the destiny of each determined by the Karman which is crippling its abilities. When all the Karmas are completely destroyed by

---

1 In early Jaina literature, both canonical and pro-canonical, this distinction is already accepted (see my Intro. to *Pravacanasāra* p. 86 and foot-notes). Sometimes Yōgīndu uses the word Paramārtha for Niścaya which word is already used by Kundakunda in his *Samayasāra* 8.

2 ERE. IX, p. 849, X. p. 592 ; DASGUPTA : *A History of Indian Phil.*, vol. II, p. 3 etc.

3 *The Varieties of Religious Experience*, p. 28.

4 Samayasāra-kalaśa on *Samayasāra*, 12.

penances, the Ātman, the internal individual, reaches the plane of supreme individual, eternal and characterised by infinite knowledge and bliss. Supreme individuality is a type, a level of spiritual freedom. The various Ātmans retain their individualities even when they reach this level : there is no question of the loss of individuality any time. The body is not Ātman ; and every Ātman when absolutely free from Karman, becomes a Paramātman which condition is the culmination of spiritual evolution never to revert. This three-fold division is based on the idea that spirit and matter are two independent categories though associated with each other since eternity.

EARLIER AUTHORS ON THIS DIVISION.—Yōgīndu is not the first to give this division. In many of his passages Kundakunda (c. beginning of the Christian era) has this division in view which is discussed by him in his *Mŏkkhapāhuḍa*[1]. Then Pūjyapāda (c. last quarter of the 5th century A.D.) discusses this very subject in his *Samādhiśataka* in a very lucid manner.[2] Then many of the later authors like Amṛtacandra, Guṇabhadra, Amitagati etc., have always this division in view in their discussions about Ātmajñāna.

COUNTERPARTS ELSEWHERE.—The doctrine of Ātman plays an important part in Upaniṣads, though it is conspicuously absent in earlier stages of Vedic literature. Outside the circle of the priests, who devoted all their energies to sacrificial ritual, there was a class of hermits and ascetics who devoted much of their time to this Ātmavidyā for which great zeal is shown in Upaniṣads and later literature. An earnest search after Ātman was instituted, and we find various attempts to analyse the individuality. It is in the Upaniṣadic texts of Group Three that a serious pursuit of Ātmavidyā, i.e., the introspective knowledge of Ātman, is seen.[3] *Taittirīyōpaniṣad* speaks of five sheaths, each called an Ātman, one within the other : Annarasamaya, constituted of food-essence ; Prāṇamaya, constituted of vital breath ; Manōmaya, constituted of thought ; Vijñānamaya, constituted of consciousness ; and Ānandamaya, constituted of bliss. Then *Kaṭhōpaniṣad* (I. iii, 13) enumerates three kinds of Ātman : Jñānātman, Mahadātman and Śāntātman possibly with Sāṁkhya terminology in view. DEUSSEN, with *Chāndōgya* 8. 7-12 in view, deduces three positions of the Ātman : the corporeal self, the individual soul and the supreme soul. More than once Upaniṣadic passages distinguish the body from the soul. The distinction of Jīvātman and Paramātman in Nyāya Vaiśēṣika is quite famous. Coming to later period, Rāmadāsa speaks of four kinds of Ātman : Jīvātman, one limited to the body ; Śivātman, one that fills the universe ; Paramātman, one that fills the space beyond universe ; and Nirmalātman, one who is pure intelligence without spatial connotation and without taint of action. But all these, according to Rāmadāsa, are ultimately one.[4]

3. SPIRITUAL KNOWLEDGE.—Knowledge of Ātman, when achieved, puts an end to the round-of-rebirths (I. 10, 32). Everything that is foreign must be given up, and Ātman must be known by Ātman whereby Karman is destroyed (I. 74, 76). By meditating on the pure Ātman liberation is immediately attained. Without self-realisation study of scriptures and practice of penances are of no avail. When the self is [illegible]

1 Ed. MDJG., vol. XVII, pp. 304-79, gāthās 5 8 etc
2 Ed. SJG., vol. I, pp. 281-95.
3 BELVALKAR & RANADE : *History of Indian Phil.*, vol. II, [illegible]
4 Ibidem, vol. VII, *Mysticism in Maharashtra* p. [illegible]

the whole world is known reflected in the self (I. 98, etc.). This knowledge of the self, as an embodiment of knowledge, destroys Karman and leads to infinite happiness (II. 76, 158, etc.).

NATURE OF ĀTMAN OR SPIRIT.—Ātman, though dwelling in the body, is absolutely different from the body : clothes are not the body, so body cannot be the spirit (I. 14, 33, II. 178, etc.). Ātman is nothing but sentiency (I. 92). Of the six substances Jīva or soul is the only sentient entity ; it is non-concrete (*amūrta*), an embodiment of knowledge and of the nature of great bliss (II. 17-8, I. 73). Ātman is eternal and uncreated though undergoing different modifications (I. 56). Ātman is a substance ; Darśana and Jñāna are his qualities ; and the conditions in the four grades of existence are his modifications occasioned by Karman (I. 58). Ātman is like a lame man, it is Vidhi or Karman that sets him in motion. (I. 66). It is the presence of the soul in the body that is the spring of activity of senses (I. 44). Birth, death, disease, gender, caste, colour, etc., belong to the body and not to the soul which is really ageless and deathless (I. 70, etc.). Ātman is omnipresent in the sense that his omniscience functions everywhere ; he is *jaḍa* (i.e., without any functions) in the sense that his senses do not function after self-realization ; he is of the same size as that of the body, because finally he is of the same shape as his last body ; and he is *śūnya* in the sense that he is void of all the Karmas and other faults (I. 50-6). Ātman in view of the space-points is coëxtensive with the body, but by his knowledge he pervades the whole space (I. 105). Ātman should be meditated upon as being outside eight Karmas, as free from all the faults and as an embodiment of Darśana, Jñāna and Cāritra (I. 75). Souls should not be differentiated from each other : all of them are embodiments of knowledge, all of them really free from birth and death, all of them equal so far as their spatial extension is concerned, and all of them are characterised by Darśana and Jñāna (II. 96-8).

NATURE OF PARAMĀTMAN OR SUPER-SPIRIT.—Paramātman dwells in Liberation at the top of three worlds, and Hari and Hara meditate on him : he is eternal, stainless and an embodiment of knowledge and bliss. He is above sense-perception and free from merit and demerit or Puṇya and Pāpa (I. 16, 25 etc.). Pure meditation alone can realize him. The meditating saints, when they are established in equanimity, have this Paramātman revealed to them giving great bliss (I. 35). Paramātman cannot be visualized in a heart or mind tainted with attachment like an image in a mirror with soiled surface (I. 120). He represents infinite vision, knowledge, bliss and power (I. 24). Paramātman is in the world (at the top of it); and the world is there (reflected) in him (i.e., in his omniscience) and thus he visualizes both physical and super-physical worlds (I. 41, 5). There is no difference between Brahmans (Brahman = Paramātman) that form one class or type having the same characteristics such as absolute Darśana and Jñāna (II. 99, 203). Paramātman is neither perceived by senses nor understood by the study of scriptures (Vēda and Śāstra); but he is the subject of pure meditation (I. 23). This Paramātman is also called Brahman, Para-Brahman, Śiva, Śānta, etc. (I. 26, 71, 109, 116, 119, II. 131, 142, etc.).

NATURE OF KARMAN.—Karman represents (subtle) atoms (of matter) that stick into the space-points of souls that are infatuated with and tainted by sense-pleasures and passions (I. 62). Ātman and Karman have not created each other, but they

are there already united from beginningless time (I. 59). It is this Karman that brings about the various conditions like bondage, etc., for the soul ; and it is Karman that fashions body and other accessories of the spirit (I. 60, 63, etc.). There are eight kinds of Karmas that obscure the nature of and mislead the spirit (I. 61, 78). The stains of Karman are burnt by the fire of meditation (I. 1, 3).

THE SPIRIT AND SUPER-SPIRIT.—The Ātman himself is Paramātman, but he remains as Ātman because of special Karmas ; as soon as Ātman is realized by himself, he is Paramātman, the divinity (II. 174). In view of their essential nature the ego and the Paramātman are the same (I. 26, II. 175, etc.). Though Paramātman lives in body, he will never be one with the body (I. 36). When Ātman becomes free from Karman, which is of eight kinds, he develops infinite happiness which is not obtained by Indra even in the company of crores of nymphs (I. 61, 118).

ĀTMAN AND BRAHMAN IN UPANIṢADS.—Ātman, which indicated breath in early Vedic literature, implies in the Upaniṣads a Universal soul of which the individual soul is merely a miniature. Then follows the conception of unitary Ātman which is the source of everything else[1]. Ātman is as much a cosmic principle as the Brahman both of which are used as synonyms in many passages. Ātman is conceived as the Reality, everything besides being an illusion only. At times the actual agency etc. are attributed to Bhūtātman who under the influence of Prakṛti becomes manifold. As a lump of iron, when buried in the bosom of earth, is reduced to earth, so the individual Ātman is merged into Brahman. It is through delusion that the human self, the self within us, considers itself as an individual ; but in fact it is identical with Brahman, the abstract and the impersonal Absolute. There is neither the duality nor the plurality of the self, but every personal self and impersonal Brahman are one and the same. Brahman is a magnanimous and all-pervading presence which permeates the self as well as non-self. Brahman is the only All-personality ; he represents an universal, abstract and impersonal presence. This Brahman originally meant a Vedic hymn, the powerful prayer ; so Brahman later on came to represent a mighty power that creates, pervades and upholds the whole range of universe. Though repeatedly attributes are denied of him, no doubt Brahman is conceived as a pure Being absolute, infinite, immutable and eternal from whom everything else derives its reality. Thus Brahman in turn is Ātman, infinite, ageless and eternal.[2]

YŌGĪNDU'S SUPER-SPIRIT COMPARED WITH UPANIṢADIC BRAHMAN.—Jōindu's reflections on Ātman and Paramātman, which have been constructively summarised above, deserve to be compared with Upaniṣadic utterances whose spirit is sufficiently imbued by our author, even though his details are set in the metaphysical frame-work of a heterodox system like Jainism. The word Brahman has a consistent history in Vedic literature ; and in the Upaniṣads Brahman is conceived as the Absolute, one without a second. Jōindu freely borrows that word and repeatedly uses it in the work. Even Samantabhadra, a staunch propagandist of Jainism, uses the word Brahman in its generalised sense, viz., the highest principle, when he says : *ahiṃsā bhūtānāṃ jagati* [illegible]

1 *Chāndōgya*, VII. 26.

2 ERE., various articles on Ātman, Brahman etc. ; PAUL DEUSSEN : *The Philosophy of the Upanishads* ; HUME : *The Thirteen Principal Upanishads*, Intro. [illegible] ; RANADE : *A constructive survey of Upa. Phil.* etc. etc.

*viditam brahma paramam.*[1] In the Upaniṣads the word Paramātman is not of so much frequent occurrence as the word Brahman, though both are taken as synonyms in texts like *Nṛsiṁhōttaratāpanī*.[2] In Indian philosophical texts identity of words may not necessarily imply the identity of their sense-content. Brahman and Paramātman are used as synonyms, because they represent the concept of an ultimate reality. According to Jainism, Paramātman is a super-spirit representing the ultimate point of spiritual evolution of Ātman by gradual destruction of Karman through penances, etc. Each Ātman becomes a Paramātman and retains his individuality. The Upaniṣadic Brahman is a cosmic principle, which idea is not associated with the Jaina conception of Paramātman. Brahman is one and one only according to Upaniṣads. Jōïndu, however, speaks of many Brahmans, i.e., Paramātmans, which represent a type and therefore should not be distinguished from each other (II. 99). According to Jainism Paramātman has nothing to do with the world beyond that he knows and sees it, because it is his nature to see and to know; while Brahman according to the Upaniṣads is the very source and support of everything else. Though many attributes are common between Upaniṣadic Brahman and Jaina Paramātman their implications often differ. The word Svaymbhū, for instance, means self-created and self-existent in the case of Brahman, but in the case of Paramātman it means self-become, i.e., the Ātman has become Paramātman.[3]

HOW YŌGĪNDU PROPOSES UNITY.—In spite of the above differences Jōïndu speaks, just almost in the Upaniṣadic tone, of the identity between Paramātmans by appealing to aspirants not to distinguish one Paramātman from the other, because they form a type. Upaniṣadic identity is of an uncompromising type, but Jōïndu's identity is only in name. But when Jōïndu speaks of the identity between Ātman and Paramātman he is fully justified, because according to Jainism Ātman is Paramātman. Paramātman was called Ātman only because of Karmic limitations. It is by realizing this essential likeness of all the Ātmans that Jainism has faithfully stood as a champion of Ahiṁsā, Harmlessness, universal compassion in thought, word and deed. In this context the Jainas like the Sāṁkhyas are Satkāryavādins accepting that the effect is potentially present in the material cause. Upaniṣadic Brahman has a monistic and pantheistic grandeur which we miss in the Jaina conception of Paramātman. Jainism looks at the world analytically, and Ātman, moving along with the path of penance and meditation, evolves into Paramātman, where the race of the round-of-rebirths comes to a full stop; while Upaniṣads look at the world as a fundamental unity one with Brahman who is all-in-all.

YŌGĪNDU'S ĀTMAN COMPARED WITH THAT IN UPANIṢADS.—Jōïndu's conception of Ātman, which is the same as that of Kundakunda and other Jaina authors, is like this: Ātman is a migrating entity of sentient stuff associated with Karmic energy since eternity. The world contains infinite Ātmans, the transmigratory destiny of each being determined by its Karmas. Ātman is immaterial as distinguished from Karman which is a form of matter. Though the soul assumes different bodies and acquires other physical accessories, it is essentially eternal and immortal. Its transmigra-

1 *Bṛhat-Svaymbhū-stōtra* 119.
2 G. A. JACOB: *Upaniṣad-vākyakōśaḥ* under Paramātman.
3 See my Intro. to *Pravacanasāra* p. 92, foot-note 2.

tory journey comes to a stop, when the Karmic matter is severed from it through penances, etc., and the Ātman is realized and becomes Paramātman. Even in liberation the soul, with all its potential traits fully developed on account of the absence of Karmic limitations, retains its individuality. So there will be infinite liberated souls. The very idea of the infinity of souls allows no question to be raised that the world might one day be empty when all the souls have attained liberation. All such souls, as dogma would require, which have become light by the destruction of Karmic weight, shoot forth to the top of the universe and stop there permanently in eternal bliss with no possibility of further upward motion as there is no medium of motion in the superphysical space. Though these details touch here and there the Upaniṣadic concepts of Ātman especially in the Group Three, there are fundamental differences. In Jainism both spirit and matter are equally real ; the number of souls is infinite ; and each soul retains its individuality even in Immortality. In the Upaniṣads there is nothing real besides Ātman which is conceived as an impersonal pervasion identical with Brahman, the cosmic substratum. The Ātman in Jainism is not a miniature of any universal soul as in Upaniṣads, but it carries with it the seeds of Paramātman which status it will attain when freed from Karma-matter. In the Upaniṣads and *Bhagavadgītā* Karman stands for good or bad act, while in Jainism it is a subtle type of matter which inflows into the soul and determines its career in the round-of-rebirths. In terms of modern philosophy the soul and God according to Jainism are identical in the sense that they are two stages of the same entity, and thus each and every soul is God ; while the world, which is eternal without being created by any body, is a scene of many souls working out their spiritual destinies. But in Vedānta the soul, the world and the God are all in one, the Brahman.

THE TWO DISTINCT TENDENCIES.--Upaniṣads represent synthetically an 'absolute pantheism' by merging together the Ātman theory and Brahman theory. Really these are two independent tendencies, one pluralistic and the other monistic, and one can hardly develop out of the other. The former accepts an infinite number of souls wandering in Saṁsāra due to certain limitations, but when these limitations are removed and their real nature realized, there is rescue, there is liberation, there is individualistic immortality ; every Ātman becomes a Super-Ātman. Super-Ātmans are infinite, but they represent an uniform type possessing the same characteristics like infinite vision, infinite knowledge, infinite bliss and infinite power. This Super-Ātman enjoys ideal isolation, and he has nothing to do with creation, protection and the destruction of the world. On the other hand Brahma-theory starts with Brahman as a great presence out of which everything comes and into which everything is drawn back like threads in the spider's constitution. The individual souls are merely finite chips of the infinite block of the great Brahman. Sāṁkhya and Jainism preeminently stand for Ātman-theory, while the Vedic religion stands for Brahman-theory. Upaniṣads bring these two together and achieve the unity of Ātman and Brahman, a triumph of monism in the history of Indian religious thought.

4. PARAMĀTMAN OR THE SUPER-SPIRIT AS THE DIVINITY.--Paramātman is the eternal Dēva, divinity, that dwells in liberation at the top of three worlds never to come back in Saṁsāra (I. 4, 25, 33, etc.). There are infinite Siddhas, i.e., the liberated souls, who have attained self-realization and who are to be meditated upon with a

steady mind (I. 2, 16, 39); there are then Arahantas, the same as Tīrthaṅkaras, who are on the point of attaining liberation with their four Karmas destroyed, whose words are to be accepted as authoritative, and who are to be worshipped (I. 62, II. 20, 168, 195-96, etc.); and lastly there are three classes of monks (*muni*) who practise great meditation and realize Paramātman in order to achieve the great bliss (I. 7). It is these five Paramagurus, i.e., the great spiritual preceptors, that are to be saluted, and to whom the prayers are to be offered (I. 11, II. 168).

THE CONCEPTION OF DIVINITY EXPLAINED.—Ātman to Paramātman is a course of spiritual evolution; and it is the duty of every aspiring soul to see that it reaches the stage of Paramātman. There are various stages on the path worked out according to the destruction or partial destruction of different Karmas. Paramātman is the God not as a creative agency, but merely as an ideal to all the aspirants. Paramātman is latent in the Ātman, therefore the Ātman must always meditate on the nature of Paramātman that the potent powers thereof might be fully manifested. Paramātmans form a class, all equal, with no classes among themselves. But a devotee, when he is studying this course of evolution, deifies first a monk, or monks as a class, who has given up the world and its ties and who has completely absorbed himself in the study of and meditation on Ātman; secondly, the teacher who gives the aspirant lessons in the realization of Paramātman; thirdly, the President of an ascetic community; fourthly, an Arhat, a Tīrthaṅkara, who has destroyed the four Ghāti-Karmas, who is an omniscient teacher and who attains liberation and becomes a Siddha at the end of the present life; and lastly the Siddha, the perfect soul, that has reached the spiritual goal[1]. It is to these five collectively or to Arhat, or to Siddha, that the Jainas offer reverence. According to Jaina dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited, i.e., twenty-four. A soul can attain Siddha-hood without being an Arhat. Every Arhat becomes a Siddha, but not that every Siddha was an Arhat. Arhat or Tīrthaṅkara in his life, just preceding liberation where he becomes a Siddha, devotes some of his time to teach the path of liberation to the aspiring souls. That is why the world of aspirants feels more devotion to Arhats. Neither Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating, supporting and destroying the world. The aspirants receive no boons, no favours and no cures from him by way of gifts from the divinity. The aspiring souls pray to him, worship him and meditate on him as an example, as a model, as an ideal that they too might reach the same condition.

5. THE WORLD AND LIBERATION OR SAṀSĀRA AND MŌKṢA.—Since infinite time the soul is dwelling in Saṁsāra experiencing great misery in the four grades of existence (I. 9-10). The association of Karmas has no beginning, and all the while heavy Karmas are leading the soul astray (I. 59, 78). Developing false attitudes the soul incurs Karmic bondage and wanders in Saṁsāra always feeding itself on false notions of reality (I. 77, etc.). It is the Karman that creates various limitations for the soul and brings about pleasures and pain (I. 63, etc.). Mōkṣa, Nirvāṇa or liberation consists in getting released from the Karmas, both meritorious and demeritorious (II. 63). The souls that have attained liberation dwell in the abode of Siddhas at the top of the world (II. 6, 46, etc.). Mōkṣa is the seat of

1 See *Davvasaṁgaha* 50-54, also commentary thereon by S. C. GHOSHAL, SBJ. vol. I, pp. 112 etc.

happiness wherein the liberated soul possesses all-vision, all-knowledge, etc.; and it is the best object of pursuit (II. 3, 9-11, etc.). Saṁsāra is destroyed by the vision of Paramātman and Nirvāṇa attained; so the mind should always be set on Ātman who is potentially (*śaktirūpēṇa*) Paramātman (II. 33, I. 32, I. 26, see also I. 123*3). One must rise above attachment and aversion and be engrossed in one's self to stop the influx of Karmas (II. 38, 100, 141, etc.). Penance is quite necessary to destroy the Karmas (II. 36).

EXPLANATORY REMARKS.—Saṁsāra and Mōkṣa are the two conditions of the Ātman, and they are opposed to each other in character: Saṁsāra represents unending births and deaths, while Mōkṣa is the negation of the same. In the former state the soul being already in the clutches of Karman is amenable to passional and other disturbances; and there is constant influx and bondage of Karman which makes the soul wander in different grades of existence, namely, hellish, sub-human, human and heavenly. As opposed to this there is Mōkṣa, sometimes called the fifth state of existence, which is reached by the soul, passing through the fourteen stages of Guṇasthānas, when all the Karmas are destroyed. In Saṁsāra the various Karmas were obscuring the different potent powers of the self; these powers are manifested in liberation where the Ātman, now called Paramātman, dwells all by himself endowed with infinite vision, knowledge, bliss and power.

6. THE MEANS OF ATTAINING MŌKṢA.—Right faith, Right knowledge and Right conduct really speaking consist respectively in seeing, knowing and pursuing oneself by oneself. Ordinarily these might be taken as the cause of Mōkṣa, but in fact Ātman himself is all the three (II. 12-4). From the practical point of view Right faith consists in steady belief in the true nature of Ātman resulting from the knowledge of various substances exactly as they are in the universe (II. 15); that condition or state of the self which understands the substances exactly as they are is known as knowledge (II. 29); and lastly the cultivation of that genuine and pure state of the self after fully realizing and discriminating the self and the other (than the self) and after giving up (attachment for) the other is known as Right conduct (II. 30). Ultimately these three jewels are to be identified with one's self, and one should meditate on one's self by oneself which results in self-realization amounting to the attainment of liberation (II. 31.).

EXPLANATORY REMARKS.—Here Jōindu mentions the so-called three jewels of Jainism which from the Vyavahāra point of view constitute the path of liberation. These three are to be developed in the Ātman himself and not outside, therefore that condition itself from the Niscaya point of view is the cause of Mōkṣa. This condition is a spiritual attitude which tolerates no more any contact with Karmic matter, and thus the Ātman is Paramātman without being anything else.

7. THE GREAT MEDITATION.—The great Meditation (P[illegible]) [illegible] defined as the elimination of all the mental distractions, and there [illegible] is above auspicious and inauspicious attitudes (II. 190). In the [illegible] great meditation severe practice of penances and the study of [illegible] lead one to self-realization (I. 14, 42, II. 191). By submerging [illegible]

1 Also compare *Davvasamgaha* 37 and GHOSHAL's commentary [illegible]

of great meditation, the Ātman becomes pure, and the dirt of round-of-rebirths, (i.e., Karman) is washed off (II. 189). As long as one is plunged in this meditation there is the stoppage of the influx and the destruction of the stock of Karmas (II. 38). Successful meditation does not so much consist in closing the eyes, half or complete, as in remaining steady without being prone to disturbances (II. 169-170) ; and it should be distinguished from mere utterance of Mantras, etc., (I. 22). The great meditation, which belongs to great saints, is like a huge fire in which are consumed the faggots of Karman (I. 3, 7) ; therein all the anxieties are set at rest and the pure (*nirañjana*) divinity is realized (I. 115). There are two stages of this great meditation: the first that of Arahantas, wherein the four Ghāti Karmas are destroyed and where the soul possesses omniscience and all-bliss, etc. ; and then the second, that of Siddhas, where all the Karmas are destroyed at a stretch, where infinite Darśana, Jñāna, Sukha and Vīrya are developed, and where one deserves such designations as Hari, Hara, Brahman, Buddha, etc., (II. 195-201, etc.).

MYSTIC VISIONS.—Undoubtedly the constitution of Paramātman shines with the light of omniscience like the light of the sun enlightening itself and other objects ; and the saints who are established in equanimity experience great bliss for which there is no parallel elsewhere (I. 33-35, 101, 116). Within a moment after self-realization there flashes forth a great light (I. 104). The speciality of self-realization is that the whole world is seen in the Ātman (I. 100). The great divinity is seen to dwell, like a swan on the surface of lake, in the pure mind of the Jñānin (I. 122). The Paramātman shines forth like the sun in a cloudless sky (I. 119).

EXPLANATORY REMARKS ON THE GREAT-MEDITATION.—Here we get an enthusiastic description of Mahāsamādhi without the technical details which we find in works like *Jñānārṇava, Yōgaśāstra, Tattvānuśāsana*, etc. To achieve such a meditation in which Ātman is realized as Paramātman the steadiness of mind is absolutely necessary: there should be no delusion, no attachment for pleasant feelings and no aversion from unpleasant ones. The mind, speech and body should cease to function, and the Ātman should be concentrated on himself.[1] In this course two stages are noted: Siddhahood and Arhatship. A soul may reach the condition of a Siddha by destroying all the Karmas at once, and majority of souls are destined for this. It is only the Tīrthaṅkaras that pass through the stage of Arhatship. The Tīrthaṅkara devotes some of his time for preaching the religious doctrines, while Siddha has minded his own business of spiritual realization ; the former thus is of greater benefit to the society. The difference between these two types of self-realized souls somewhat corresponds to that between activistic and quitistic tendencies of mystics.

8. SOME ASPECTS OF MYSTICISM.—It is not easy to define mysticism exactly in plain terms. First, to a great extent, it 'denotes an attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God.'[2] It is the direct experience of the mutual response between the human and the divine indicating the identity of the human souls and the ultimate reality. Therein the individual experiences a type of consciousness of perfect personality. In the mystical expe-

1 Compare *Davvasaṁgaha* 48 and 56.
2 R. D. RANADE : *Mysticism in Maharashtra*, Preface.

rience the individual is 'liberated and exalted with a sense of having found what it has always sought and flooded with joy.' Secondly, mysticism, if it is to be appreciated as a consistent whole, needs for its background a metaphysical structure containing a spirit capable of enjoying itself as intelligence and bliss and identifying itself with or evolving into some higher personality, whether a personal or an impersonal Absolute. Thirdly, if mysticism forms a part of a metaphysico-religious system, then the religious system must chalk out a mystic course of attaining identity between the aspirer and the aspired. Fourthly, the mystic shows often a temperamental sickness about the world in general and its temptations in particular. Fifthly, mysticism takes for granted an epistemological apparatus which can immediately and directly apprehend the reality without the help of mind and senses which are the means of temporal knowledge. Sixthly, religious mysticism always prescribes a set of rules, a canon of morality, a code of virtues, which an aspirant must practise. And lastly mysticism involves an amount of regard to the immediate teacher who alone can initiate the pupil in the mystical mysteries which cannot be grasped merely through indirect sources like scriptures, etc.[1]

MYSTICISM IN JAINISM.—An academic question whether mysticism is possible or not in a heterodox system like Jainism is out of court for the simple reason that some of the earliest author-saints like Kundakunda and Pūjyapāda have described transcendental experiences and mystical visions.[2] It would be more reasonable to collect data from earlier Jaina works and see what elements of Jainism have contributed to mysticism, and in what way it is akin to or differs from such a patent mysticism as that of monistic Vēdānta. To take a practical view the Jaina Tīrthankaras like Ṛṣabhadēva, Nēminātha, Pārśvanātha, Mahāvīra, etc., have been some of the greatest mystics of the world; and rightly indeed Professor RANADE designates Ṛṣabhadēva, the first Tīrthaṅkara of the Jainas, as 'yet a mystic of different kind, whose utter carelessness of his body is the supreme mark of his God-realization'[3] and gives details of his mystical life. It would be interesting to note that the details about Ṛṣabhadēva given in *Bhāgavata* practically and fundamentally agree with those recorded by Jaina tradition.

VARIOUS ELEMENTS OF MYSTICISM IN JAINISM.—Monism and theism, rather than theistic monism, have been detected as the fundamental pillars of mysticism. In the transcendental experience the spirit realizes its unity or identity with something essentially divine. 'Mystical states of mind in every degree,' WILLIAM JAMES says, 'are shown by history, usually though not always, to make for the monistic view.' Thus mysticism has a great fancy for monistic temperament; and in Vēdānta it is seen at its best in the conception of [illegible] Brahman, who represents an immanent divinity. Spiritual mysticism of [illegible], however, reconciles both monism and pluralism by preserving 'both the [illegible]

1 WILLIAM JAMES: *The Varieties of Religious Experience*, especially the chapter on Mysticism; ERE, the article on Mysticism etc.; BELVALKAR AND RANADE: *History of Indian Phil.* vol. VII, *Mysticism in Maharashtra*; RUDOLF OTTO: *Mysticism East and West*; etc. etc.

2 Especially in his *Samaya-sāra*; see my remarks on it [illegible]

3 R. D. RANADE: *Mysticism in Maharashtra* p. 9

manyness of experience'.[1] The Jaina mysticism turns round two concepts : Ātman and Paramātman, which we have studied above. It is seen that Paramātman stands for God, though never a creator, etc. The creative aspect of the divinity, I think, is not the sine qua non of mysticism. Ātman and Paramātman are essentially the same, but in Saṁsāra the Ātman is under Karmic limitations, and therefore he is not as yet evolved into Paramātman. It is for the mystic to realize this identity or unity by destroying the Karmic encrustation of the spirit. In Jainism the conception of Paramātman is somewhat nearer that of a personal absolute. The Ātman himself becomes Paramātman, and not that he is submerged in the Universal as in Vēdānta. In Jainism spiritual experience does not stand for a divided self achieving an absolute unification, but the bound individual expresses and exhibits its potential divinity. Early texts like *Kammapayaḍi*, *Kasāya* and *Kamma-pāhuḍa*, *Gŏmmaṭasāra*, etc., (with their commentaries) give elaborate tables with minute details how the soul, following the religious path, goes higher and higher on the rungs of the spiritual ladder called Guṇasthānas, and how from stage to stage the various Karmas are being destroyed. The space does not permit me to give the details here, but I might only note here that the whole course is minutely studied and recorded with marvellous calculations that often baffle our understanding.[2] Some of the Guṇasthānas are merely meditational stages, and the subject of meditation too is described in details. The aspirant is warned not to be misled by certain Siddhis, i.e., miraculous attainments, but go on pursuing the ideal till Ātman is realized. The pessimistic outlook of life, downright denunciation of the body and its pleasures and hollowness of all the possessions which are very common in Jainism indicate the aspirant's sick-minded temperament which is said to anticipate mystical healthy-mindedness. In the Jaina theory of knowledge, three kinds of knowledge are recognised where the soul apprehends reality all by itself and without the aid of senses : first, Avadhi-jñāna is a sort of direct knowledge without spatial limitations, and it is a knowledge of the clairvoyant type ; secondly, Manaḥparyāya-jñāna is telepathic knowledge where the soul directly apprehends the thoughts of others ; and lastly, Kēvala-jñāna is omniscience by the attainment of which the soul knows and sees everything without the limitations of time and space. The last one belongs only to the liberated souls or to the souls who are just on the point of attaining liberation with their Jñānāvaraṇīya-Karman destroyed, and thus it is developed when Ātman is realized. Jainism is preëminently an ascetic system. Though the stage of laity is recognised, everyone is expected to enter the order of monks as a necessary step towards liberation. Elaborate rules of conduct are noted and penancial courses prescribed for a monk ;[3] and it is these that contribute to the purity of spirit. A Jaina monk is asked not to wander alone lest he might be led astray by various temptations. A monk devotes major portion of his time to study and meditation ; and day to day he approaches his teacher, confesses his errors and receives lessons in Ātmavidyā or Ātma-jñāna directly from his teacher. The magnanimous saint, the Jaina Tīrthaṅkara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience, is the greatest and ideal teacher ;

1 *Mysticism in Maharashtra*, p. 179.
2 We can have some idea about these details from GLASENAPPA'S *Die Lehre vom Karman in der Philosophie der Jainas nach den Karmagranthas dargestellt*, Leipzig 1915.
3 In works like *Ācārāṅga*, *Mūlācāra*, *Bhagavatī Ārādhanā* etc.

and his words are of the highest authority. Thus it is clear that Jainism contains all the essentials of mysticism. To evaluate mystical visions rationally is not to value them at all. These visions carry a guarantee of truth undoubtedly with him who has experienced them ; and their universality proves that they are facts of experience. The glimpses of the vision, as recorded by Yōgīndu, are of the nature of light or of white brilliance. Elsewhere too we find similar experiences. It may be noted in conclusion that the excessive rigidity of the code of morality prescribed for a Jaina saint gives no scope for Jaina mysticism to stoop to low levels of degraded Tāntricism.[1] It is for this very reason that we do not find the sexual imagery, so patent in Western mysticism, emphasized in Jainism, though similes like *muktikāntā* are used by authors like Padmaprabha. Sex-impulse is considered by Jaina moralists as the most dangerous impediment on the path of spiritual realization, so sensual consciousness has no place whatsoever in Jaina mysticism.[2] The routine of life prescribed for a Jaina monk does not allow him to profess and practise miracles and magical feats for the benefit of house-holders with whom he is asked to keep very little company.

9. DOGMATICAL AND PHILOSOPHICAL ACCESSORIES OF AUTHOR'S DISCUSSION. —*Jīva and Ajiva are essentially different from each other, and one should not* be identified with the other (I. 30). The pure Jīva has no mind and no senses ; it is mere sentiency and an embodiment of knowledge ; it is non-concrete and above sense-perception ; and different from this is the non-sentient class of substances, namely, matter, Dharma, Adharma, time and space (I. 31, II. 18, I. 113). From eternity the soul in Saṁsāra is in union with Karman (of eight kinds) which represents subtle matter of the non-sentient class (I. 55, 59, 61, 62, 75, 113). There are two kinds of worldly Jīvas : Samyag-dṛṣṭi and Mithyā-dṛṣṭi ; the former, the faithful one, realizes himself by himself and thus becomes free from Karmas ; while the latter, an Ugly soul, is attached to Paryāyas (i.e., modes or appearances of things) and thereby wanders in Saṁsāra incurring the bondage of various Karmas (I. 77, 78). The three worlds stand compact with six substances, namely Jīva, Pudgala, Dharma, *Adharma, Kāla and Ākāśa, which have neither beginning nor end.* Of these Jīva alone is sentient and the rest are non-sentient. Pudgala or matter is concrete and of six kinds, while the remaining are non-concrete. Dharma and Adharma are the neutral causes or conditions of motion and rest of the moving bodies. Nabhas or space accommodates all the substances. Kāla or time is a substance characterised by continuity or being ; it is an accessory cause of change when things themselves are undergoing a change ; and it is of atomic constitution with separate units. Dharma, Adharma, and Ākāśa are indivisible and homogeneous wholes. Jīva and Pudgala alone have movement and the rest are static. Ātman, Dharma and Adharma [illegible] innumerable space-points ; Ākāśa, which gives accommodation to all the substances, has infinite space-points ; while Pudgala or matter has [illegible] space-points [illegible] they exist together in the physical space (*lōkākāśa*), they really exist [illegible]

1 R. D. RANADE : *Mysticism in Mahārāshṭra*, p. 7.

2 Prof. RANADE remarks 'Spirituality is gained not by [illegible] sexuality, but rising superior to it' (Ibid. p. [illegible])

manyness of experience'.[1] The Jaina mysticism turns round two concepts : Ātman and Paramātman, which we have studied above. It is seen that Paramātman stands for God, though never a creator, etc. The creative aspect of the divinity, I think, is not the sine qua non of mysticism. Ātman and Paramātman are essentially the same, but in Saṁsāra the Ātman is under Karmic limitations, and therefore he is not as yet evolved into Paramātman. It is for the mystic to realize this identity or unity by destroying the Karmic encrustation of the spirit. In Jainism the conception of Paramātman is somewhat nearer that of a personal absolute. The Ātman himself becomes Paramātman, and not that he is submerged in the Universal as in Vēdānta. In Jainism spiritual experience does not stand for a divided self achieving an absolute unification, but the bound individual expresses and exhibits its potential divinity. Early texts like *Kammapayaḍi, Kasāya* and *Kamma-pāhuḍa, Gōmmaṭasāra*, etc., (with their commentaries) give elaborate tables with minute details how the soul, following the religious path, goes higher and higher on the rungs of the spiritual ladder called Guṇasthānas, and how from stage to stage the various Karmas are being destroyed. The space does not permit me to give the details here, but I might only note here that the whole course is minutely studied and recorded with marvellous calculations that often baffle our understanding.[2] Some of the Guṇasthānas are merely meditational stages, and the subject of meditation too is described in details. The aspirant is warned not to be misled by certain Siddhis, i.e., miraculous attainments, but go on pursuing the ideal till Ātman is realized. The pessimistic outlook of life, downright denunciation of the body and its pleasures and hollowness of all the possessions which are very common in Jainism indicate the aspirant's sick-minded temperament which is said to anticipate mystical healthy-mindedness. In the Jaina theory of knowledge, three kinds of knowledge are recognised where the soul apprehends reality all by itself and without the aid of senses : first, Avadhijñāna is a sort of direct knowledge without spatial limitations, and it is a knowledge of the clairvoyant type ; secondly, Manaḥparyāya-jñāna is telepathic knowledge where the soul directly apprehends the thoughts of others ; and lastly, Kēvala-jñāna is omniscience by the attainment of which the soul knows and sees everything without the limitations of time and space. The last one belongs only to the liberated souls or to the souls who are just on the point of attaining liberation with their Jñānāvaraṇīya-Karman destroyed, and thus it is developed when Ātman is realized. Jainism is preëminently an ascetic system. Though the stage of laity is recognised, everyone is expected to enter the order of monks as a necessary step towards liberation. Elaborate rules of conduct are noted and penancial courses prescribed for a monk ;[3] and it is these that contribute to the purity of spirit. A Jaina monk is asked not to wander alone lest he might be led astray by various temptations. A monk devotes major portion of his time to study and meditation ; and day to day he approaches his teacher, confesses his errors and receives lessons in Ātmavidyā or Ātma-jñāna directly from his teacher. The magnanimous saint, the Jaina Tīrthaṅkara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience, is the greatest and ideal teacher ;

1 *Mysticism in Maharashtra*, p. 179.

2 We can have some idea about these details from GLASENAPPA'S *Die Lehre vom Karman in der Philosophie der Jainas nach den Karmagranthas dargestellt*, Leipzig 1915.

3 In works like *Ācārāṅga, Mūlācāra, Bhagavatī Ārādhanā* etc.

and his words are of the highest authority. Thus it is clear that Jainism contains all the essentials of mysticism. To evaluate mystical visions rationally is not to value them at all. These visions carry a guarantee of truth undoubtedly with him who has experienced them ; and their universality proves that they are facts of experience. The glimpses of the vision, as recorded by Yōgīndu, are of the nature of light or of white brilliance. Elsewhere too we find similar experiences. It may be noted in conclusion that the excessive rigidity of the code of morality prescribed for a Jaina saint gives no scope for Jaina mysticism to stoop to low levels of degraded Tāntricism.[1] It is for this very reason that we do not find the sexual imagery, so patent in Western mysticism, emphasized in Jainism, though similes like *muktikāntā* are used by authors like Padmaprabha. Sex-impulse is considered by Jaina moralists as the most dangerous impediment on the path of spiritual realization, so sensual consciousness has no place whatsoever in Jaina mysticism.[2] The routine of life prescribed for a Jaina monk does not allow him to profess and practise miracles and magical feats for the benefit of house-holders with whom he is asked to keep very little company.

9. DOGMATICAL AND PHILOSOPHICAL ACCESSORIES OF AUTHOR'S DISCUSSION. —Jīva and Ajīva are essentially different from each other, and one should not be identified with the other (I. 30). The pure Jīva has no mind and no senses ; it is mere sentiency and an embodiment of knowledge ; it is non-concrete and above sense-perception ; and different from this is the non-sentient class of substances, namely, matter, Dharma, Adharma, time and space (I. 31, II. 18, I. 113). From eternity the soul in Saṁsāra is in union with Karman (of eight kinds) which represents subtle matter of the non-sentient class (I. 55, 59, 61, 62, 75, 113). There are two kinds of worldly Jīvas : Samyag-dṛṣṭi and Mithyā-dṛṣṭi ; the former, the faithful one, realizes himself by himself and thus becomes free from Karmas ; while the latter, an Ugly soul, is attached to Paryāyas (i.e., modes or appearances of things) and thereby wanders in Saṁsāra incurring the bondage of various Karmas (I. 77, 78). The three worlds stand compact with six substances, namely Jīva, Pudgala, Dharma, Adharma, Kāla and Ākāśa, which have neither beginning nor end. Of these Jīva alone is sentient and the rest are non-sentient. Pudgala or matter is concrete and of six kinds, while the remaining are non-concrete. Dharma and Adharma are the neutral causes or conditions of motion and rest of the moving bodies. Nabhas or space accommodates all the substances. Kāla or time is a substance characterised by continuity or being ; it is an accessory cause of change when things themselves are undergoing a change ; and it is of atomic constitution with separate units. Dharma, Adharma, and Ākāśa are indivisible and homogeneous wholes. Jīva and Pudgala alone have movement and the rest are static. Ātman, Dharma and Adharma occupy innumerable space-points ; Ākāśa, which gives accommodation to all the substances, has infinite space-points ; while Pudgala or matter has manifold space-points. Though they exist together in the physical space (*lōkākāśa*), they really exist in and through

1 R. D. RANADE : *Mysticism in Maharashtra*, p. 7.

2 Prof. RANADE remarks 'Spirituality is gained not by making common cause with sexuality, but rising superior to it' (Ibid. p. 10)

their attributes and modes. These various substances fulfil their own functions for the embodied souls that are wandering in Saṁsāra (II. 16-26).[1]

10. EVALUATION OF PUṆYA AND PĀPA, OR MERIT AND DEMERIT.—Paramātman is above Puṇya and Pāpa (I. 21). Puṇya results from devotion to deities, scriptures and saints, while Pāpa results from hatred towards the same (II. 61-62). By treating both alike one can stop the influx of Karman; it is infatuation that makes one pursue one or the other (II. 37, 53). Puṇya ultimately results into Pāpa, so one should not be after it (I. 60). Pāpa leads to hell and sub-human births; Puṇya leads to heaven; and the admixture of both leads to human birth. When both Puṇya and Pāpa are destroyed there is Nirvāṇa (II. 63). To choose between the two, Pāpa is preferable, because tortures in hell, etc., might induce one towards liberation; the pleasures given by Puṇya ultimately terminate in misery (II. 56-7, etc.). Repentance, confession, etc., bring only merit (II. 64). Puṇya and Pāpa have their antecedents in the auspicious and inauspicious manifestations of consciousness; but a Jñānin, a man of knowledge, rises above these two and cultivates pure manifestation of consciousness which incurs no Karmic bondage at all (II. 64, 71 etc.).

EXPLANATORY REMARKS.—Activities of mind, speech and body set in a sort of vibration in the very constitution of the self (*ātma-pradeśa-parispandaḥ*) whereby the Karmic matter inflows into the soul. This influx, if it is Śubha or auspicious, brings Puṇya, meritorious Karman;[2] if Aśubha or inauspicious, it brings Pāpa, demeritorious Karman. Whether there is Puṇya or Pāpa, it means that the presence of Karman is there. So the aspirant, who aims at liberation from Karmas by realizing himself, cannot afford to be attached to Puṇya even which leads the soul to heavens that are a part of Saṁsāra. Puṇya is compared with golden fetters and Pāpa with iron ones: it is a very significant comparison. One who hankers after freedom makes no distinction between golden and iron fetters: he must cut both in order to be free. In that temperament which leads to liberation 'the very concert of virtues', in the words of Plotinus, 'is over-passed'.

11. IMPORTANCE OF KNOWLEDGE.—Ātman is an embodiment of knowledge which flashes forth in full effulgence in the state of Paramātman. (I. 15, 33). Knowledge is the differentia of the Ātman (I. 58). When Ātman is known, everything else is known: so Ātman should be realized by the strength of knowledge (I. 103). Ajñāna can never know Paramātman, the embodiment of knowledge. (I. 109). Like stars reflected in clear water the whole universe is reflected in the knowledge of Paramātman (I. 102). No doubt, liberation is attained by knowledge; souls devoid of knowledge wander long in Saṁsāra. The seat of liberation is not accessible without knowledge; the hand can never be greasy by churning water (II. 73-4). Attachment, etc., melt away by the knowledge of self like darkness by sun-rise (II.76). Ātman, the embodiment of knowledge, is the highest object for concentration; he who knows emerald will never pay attention to a piece of glass (II.. 78.)

---

1 For a comparative study of these details with those in other systems of Indian philosophy, see my Intro. to *Pravacanasāra* pp. 62 ff.

2 *Tattvārthasūtra*, VI. 1-4.

ATTITUDE TOWARDS THE FRUIT OF KARMAN.—The various Karmas, when they are ripe, give their fruits. When the fruits are being experienced, he who develops auspicious and inauspicious attitudes incurs the bondage of fresh Karmas. But that equanimous saint, who does not develop any attachment when experiencing the fruits of Karmas, incurs no bondage and his stock of Karman melts away (II. 79-80).

12. MENTAL AND MORAL QUALIFICATIONS OF AN ASPIRANT.—This body, which is absolutely different in nature from the soul, deserves nothing but criticism (I. 13, etc., 71-2). It is all impure and easily perishable : it gets rotten when buried and is reduced to ashes when burnt ; so nourishment and toilet are a mere waste (II. 147-48, etc.). It brings no happiness, but only misery, so an aspirant must be completely indifferent towards this body which is an enemy of the self (II. 151-53, 182, etc.). Attachment for everything external must be given up, and one must be completely engrossed in the nature of Ātman (I. 15, 18). Vanity of physical and communal or social specialities has sway over only a foolish person (I. 80-3). All paraphernalia (*parigraha*), external and internal, like mother, house, pupil, etc., and like infatuation, etc., is a deceptive net-work that entraps and leads the Ātman astray (I. 83, II. 87, etc.). To accept any paraphernalia after once it is given up is like eating the vomit (II. 91). Pursuing the paraphernalia with infatuation, the Ātman revolves in Saṁsāra (II. 122, etc). When the body does not belong to oneself, what to say of other things ; family is a net-work neatly decorated by Death (II. 144-45). Everything else such as body, temple, idol, scripture, youth, house, attendants, etc., besides the Ātman is transitory ; and as such one should not be attached to things other than the self (II. 129-32). Non-attachment is the highest virtue for a spiritual aspirant ; so the mind must be curbed back from attachment, tastes and sights, etc., and concentrated on Paramātman (I. 32, II. 172). The aspirant, the great monk, should be free from attachment and aversion : even a particle of attachment hinders self-realization ; the attitude of equanimity (*sama-bhāva*), which easily leads one to liberation, consists in eschewing these two (II. 52, 80-81, 100, etc.). It is merely a self-deception to pull out hair with ashes, if attachment is not given up (II. 90). Attitude of equanimity is a source of spiritual bliss, and it arises out of right comprehension of reality (II. 43, etc.). One who is endowed with this attitude treats all beings alike (II. 105). Even the company of a person who is not equanimous is harmful (II. 109). Addiction to the pleasures of senses involves Karmic bondage (I. 62). There can be no place for Brahman when the mind is occupied by a fawn-eyed one : two swords cannot occupy the same scabbard (I. 121). Moths, deer, elephants, bees and fish are ruined respectively by light, sound, touch, scent and taste ; so one should not be attached to these (II. 112). The camels of five senses knock the soul down into Saṁsāra after grazing the pasture of pleasures (II. 136). A great monk is absolutely indifferent to sense-pleasures for which he has neither attachment nor aversion (II. 50). These pleasures last for a couple of days only ; so their leader, namely, the mind should be brought under control whereby they are all captured (II. 138, 140, etc.). Pleasures of senses and passions ruffle the mind, and then the pure Ātman cannot be realized (II. 156). The soul under the sway of passions loses all self-control and renders harm unto

living beings which leads the soul to hell (II. 125-27). Infatuation and consequent passions must be given up (II. 41-42). Infatuation and greed are the fertile sources of misery (II. 111-13, etc.). Mere outward practices such as reading scriptures, the practice of austerities and visiting holy places by ignoring self-control, are of no avail (I, 95. II. 82-3, etc.). Dangerous are the activities of mind, speech and body : the mind should be brought under self-control and Bhāvaśuddhi, i.e., the purity of mind, must be cultivated (II. 137). It is by cultivating pure manifestation of consciousness that the soul develops various virtues and ultimately destroys Karman (II. 67). This body is useless if Dharma in its practical and realistic aspects is not practised (II. 133-34).

### *f*) APABHRAṀŚA OF P.-PRAKĀŚA AND HEMA.'S GRAMMAR

APABHRAṀŚA AND ITS GENERAL CHARACTERISTICS.—By the term Apabhraṁśa we mean a typical stage of Indo-Āryan speech, as described by Hēmacandra in his Prākrit grammar, which takes Prākrit for its basis, which is older than Indo-Āryan modern languages, and which possesses many traits that have been inherited by Indo-Āryan speeches of the present-day, though there are no sufficient evidences to suppose that everywhere it was a necessary step towards the formation of modern languages and that there were as many Apabhraṁśas as there are languages at present. From the available specimens of Apabhraṁśa literature it appears that Apabhraṁśa was accepted as a language fit for popular poetry, and as such it appears to have had local variations besides some common characteristics. Hēmacandra optionally accepts many Prākrit features in his Apabhraṁśa. Some of his illustrative quotations in Apabhraṁśa are really in Prākrit excepting for a word or a form.[1] However, there are clear indications that attempts are made in Apabhraṁśa to simplify Prākrit in various ways which would be partly clear by noting the special features of Apabhraṁśa. i) In Apabh. vowels are interchanged and an amount of liberty is taken with regard to the quantity of vowels : this explains the terminations like *ha̐* or *hu̐* and *hē* or *hu* for one and the same case and the shortening of Nom. sg. *ō* of the standard Prākrit into *u* which comes to be added to many words in Apabh. as seen from words like *puṇu*, *viṇu*, *sahu*, etc. ii) There is a less masculine pronunciation of *m* which often becomes nasalised *v*. iii) There is a tendency to change *s* into *h* in the Declensional terminations. This explains some of the queer forms : Nom. pl. form *dēvahō* noted by Mārkaṇḍēya and others is either to be traced back to Vedic *dēvāsaḥ* or it is a generalisation from forms like *candramasaḥ* ; *dēvaha̐* from Pk. *dēvassa* ; *tāha̐* from *tassa* simplified as *tāsa* whose counterpart *tāsu* also is used in Apabh.; *tahi̐* from *taṁsi* ; and *ēhu* from *ēsō*. Sanskrit *s* is seen as *h* in Awesta and in Iranian dialects. This change is noted by Hēmacandra in a few Prākrit words, and it is in Māgadhī alone that it is seen in Gen. terminations.[2] Even at present a Gujarātī dialect uniformly reduces *s* to *h*. It is possible that this change is a racial characteristic that came to be generalised later on. iv) Prākrit conjuncts are often smoothened to simplify pronunciation. v) Case terminations are dropped in Nom. Acc. and Gen.; here is a tendency to become non-inflexi-

---

1 See, for instance, *sōsaü ma*, etc., on iv. 365 ; *khĕḍḍayaṁ*, etc., on iv. 442 ; LUDWIG ALSDORF : Bemerkungen zu Pischel's 'Materialien, etc., in *Festschrift M. Winternitz*, pp. 29-36.

2 See i. 262-3, iv. 229-300 ; PISCHEL : *Grammatik der Prākrit-sprachen* §264.

onal. vi) The phonetic changes influence the conjugational forms which are being simplified and reduced in number. vii) Indeclinables and particles have changed their forms often beyond recognition, and in some cases they cannot be traced back to Sanskrit through Prākrits possibly being drawn from vernaculars or Dēśabhāṣās. viii) Svārthē or pleonastic affixes like *ka, ḍa, la*, etc., are seen in many words. ix) And lastly there is an abundance of Dēśī words and Dhātvādēśas.

ATTRACTION OF APABH. SPEECH.—On the whole there is a liquidity and smoothness about the flow of Apabh. verses which show many new metres based not on the number of syllables but on the quantity of mātrās, which can be better sung and which are characterised by plenty of rhyme.[1] It is no wonder, therefore, that Apabh. was a favourite medium of popular poetry as early as 6th century A.D. if not even earlier. Guhasēna of Valabhī, whose epigraphic records range from 559 to 569 A.D., is said to have composed poems in Sanskrit, Prākrit and Apabh. Uddyōtanasūri (778 A.D.) holds Apabh. in great estimation, and his remarks on these languages are worth noting. In his opinion, Sanskrit with its long compounds, indeclinables, prepositions, cases and genders is dangerous for survey like the heart of a villain. The association with Prākrit, like that with the words of good people, is a happy one : it is an ocean of worldly information crowded with the waves of discussion about various arts ; it is full of nectar-drops that are oozing out on account of its being churned by great persons ; and it is composed with nice arrangements of words. Apabhraṁśa is a balanced and pleasing admixture of the waves of pure and impure Sanskrit and Prākrit words ; it is even (or smooth) as well as uneven (or unsmooth) ; it flows like a mountain river flooded by fresh rains ; and it captures the mind like the words of a beloved when she is coquettishly angry.[2] These remarks of Uddyōtana, himself a classical author having high admiration for earlier Sanskrit writers like Jaṭila and Raviṣēna,[3] clearly show how Apabh. was already considered as an attractive medium of composition as early as 8th century A. D.

HĒMACANDRA INDEBTED TO P.-PRAKĀŚA.—Of all the available Prākrit grammars Hēma.'s grammar deals exhaustively with Apabh., and the speciality of his discussion lies in the fact that he quotes verses after verses to illustrate his rules. For a long time no sources of any of these verses were traced. PISCHEL said, 'One gets the impression that they are taken from an anthology of the kind of Sattasaī.'[4] From the inherent dialectal divergences and the variety of religious terms including the names of deities, etc., exhibited by these quotations it is certain that they are not drawn from a single source but from a wide tract of literature with works belonging to different geographical regions and different religions. It was shown by me that Hēma. is indebted to *P.-prakāśa* for a few quotations,[5] and Prof. HIRALAL has pointed out that

---

1 The Sanskrit style of poets like Jayadēva betrays Apabhraṁśa influence.

2 This is a free rendering of the extracts quoted by L. B. GANDHI in his Intro. to *Apabhraṁśa-kāvyatrayī*, pp. 97-8 (G. O. S. Vol. 37); see also *Apabhraṁśa-pāṭhāvalī* by M. C. MODI, p. 86 of the Notes.

3 See my paper on Varāṅgacarita in the *Annals* of the B. O. R. I., Vol. XIV, i-ii., pp. 61, etc.

4 PISCHEL : *Grammatik*, etc. §29.

5 *Annals* of the B. O. R. I., Vol. XII, ii, p. 159, etc.

some verses are taken from *Dōhāpāhuḍa.*[1] One thing is now clear that these verses are not composed by Hēma. himself, and a study of Apabh. works and a survey of Old-Rājastānī and Old-Gujarātī songs might reveal the sources of other quotations as well. Hēma. draws the following quotations from *P.-prakāśa* :

i) On sūtra iv. 389 Hēma. quotes :

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुंडियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥

This is an intelligent improvement on *P.-prakāśa* II. 139 which runs thus :

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

The change of *kijjaü* to *kīsu* is quite intelligible, if we look at the sūtra and its commentary : *kriyēḥ kīsu* | *kriyē ity ētasya kriyāpadasya apabhraṁśē kīsu ity ādēśō vā bhavati* | *kijjaü* is admitted as an optional form, and we get the illustration : *bali kijjaü sūaṇassu* |

ii) On iv. 427 Hēma. quotes :

जिब्भिंदिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइं ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिँ पण्णइं ॥

In spite of some differences there is no doubt that it is based and improved on *P.-prakāśa* II. 140 which runs thus :

पंचहँ णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥

Some of the differences are caused by the purpose for which it is quoted, and PISCHEL notes a *v. l. mūla* which is the reading of *P.-Prakāśa.* The consecutive numbering of these two dōhās in *P.-prakāśa* is not without some significance ; and if any inference is possible therefrom, it indicates that Hēmacandra has quoted these verses directly from *P.-prakāśa.*

iii) On sūtra iv. 365 Hēma. quotes :

आयहो दड्ढ-कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

The dōhā from *P.-prakāśa* II. 147 runs thus :

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

The second line is exactly the same ; and the first line is changed because the sūtra '*idama āyaḥ*' is to be illustrated.

iv) Then on ii. 80 Hēma. quotes a short sentence '*vōdraha-drahammi paḍiā*' which forms a part of *P-prakāśa* II. 117 that runs thus :

ते च्चिय धण्णा ते च्चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥

It is an important difference that Hēma. retains *r* in the conjunct group which is not shown by any of our Mss. This verse is not in Apabh., and moreover it is

1 See his Intro. of *Pāhuḍadōhā*, pp. 22-3 (KJS. III).

introduced with the words *uktaṁ ca* : so its genuineness in our text can be suspected. I think, it might have been included in the text by Jōïndu himself, because even the shortest recension of *P.-prakāśa* contains this verse.

COMPARISON OF HĒMA.'S APABH. WITH THAT OF P.-PRAKĀŚA.—It is clear from the above paragraph that Hēma. has used *P.-prakāśa*, and forms, etc., from it must have been useful to him in composing his Apabhraṁśa rules. So it will be necessary and interesting to compare and contrast Hēma.'s Apabh. with that of *P.-prakāśa* and see first, what features of the dialect of *P.-prakāśa* are recorded by Hēma. ; secondly, what features of it are not represented in Hēma.'s grammar ; and lastly, what points noted by Hēma. have not got their counterparts in *P.-prakāśa*.

ON THE HOMOGENEITY OF HĒMA.'S APABH.—Hēmacandra does not explicitly mention the dialects of Apabh. as it is done by Mārkaṇḍēya and other later authors. It has been already detected,[1] and a careful study of his remarks and rules would show that his Apabh. is not a homogeneous one and that he has mixed together different dialects. By his remark '*prāyōgrahaṇād yasyāpabhraṁśē viśēṣō vakṣyatē tasyāpi kvacit prākṛtavat śaurasēnīvac ca kāryaṁ bhavati*' (iv. 329) understood in the light of iv. 396 and 446 as distinguished from other features noted throughout, it is clear that he accepts two bases for his Apabh., namely, Prākrit and Śaurasēnī[2] whose characteristics he has discussed in his previous sections. The illustrations on and the sūtras iv. 341, 360, 372, 391, 393, 394, 398 (especially its alternative concession), 399, 414, 438, etc., show elements of an Apabhraṁśa which is not in tune with the dialect described by him in other sūtras. Some of these characteristics, when studied in the light of Prākrit dialects discussed by Hēma., are mutually so conflicted that they are not possible in a homogeneous dialect.

HĒMACANDRA'S APABH. COMPARED AND CONTRASTED WITH THAT OF P.-PRAKĀŚA.—Hēmacandra's sūtra '*svarāṇāṁ svarāḥ prāyo 'pabhraṁśē*' should not be understood as a licence for violent vowel changes ; but it only means that in the Apabh. literature analysed by Hēma. much liberty was taken in vowel-changes which could not be canonised in short, and hence this rule. In *P.-prakāśa* we do not find such vowel-changes as would obscure the sense. A bit of liberty is taken in some forms : *pariṁ* (v. l. *pari*) = *param* (I. 28), *vatthu* as the Loc. or Inst. sg. form (II. 180); at times the case termination *u* appears even where it is not needed as in *viṇu* (II. 59), *sahu* (II. 109); and very often the quantity of vowels, short or long, is ignored as in *jiü* = *jīvaḥ* (I. 40), *ṇiccu* = *ṇīcaḥ* (I. 89), *vivariü* = *viparītaṁ* (I. 79). At times a compensatory long vowel is obtained by simplifying the duplicate remnant of a conjunct group : *īsaru*, *ṇīsu* (I. 91), *būḍhaü* (I. 91), *phāsaï* v. l. *pāsaï* (II. 112); against this tendency we have *kacca* = *kāca* (II. 78), also note *ṇibhaṁtu* (II. 88). Hēma. has noted (iv. 410) that often *e* and *o* are to be pronounced short. In our text they are necessarily short before a conjunct with the effect that North-Indian Mss. show great variations often changing them to *i* and *u*. The Kannaḍa Mss. are uniform

1 PISCHEL : *Grammatik*, etc., §28.

2 Mr. MANOMOHAN GHOSH of the University of Calcutta in his interesting paper 'Mahārāṣṭrī a later form of Śaurasenī' (*Journal* of the Department of Letters Vol XXIII, 1933, Calcutta University) shows that Prākṛta means pre-eminently Śaurasēnī, the language of the Indian Midland, of which Mahārāṣṭrī is only a later phase.

in showing ĕ and ŏ : and that appears to be an earlier feature. It is this tendency that gives rise to forms like *pŏggalu.*

Turning to consonants, Hēma. states (iv. 396) that intervocalic *k, kh, t, th, p* and *ph* are generally changed to *g, gh, d, dh, b* and *bh* in Apabh. ; but this rule is violated by many forms in his illustrations. *P.-prakāśa* does not follow this rule, but the consonantal changes agree with Hēmacandra's rule for Prākrit (i. 177) that intervocalic *k, g, c, j, t, d, p, y* and *v* are generally dropped. *P.-prakāśa* introduces *ya-śruti*[1] if the *udvṛtta* vowel is *a* or *ā*. Some typical illustrations might be noted here. Changes of k : *Pahā(bhā)yara* (I. 11, II. 211), *lōyālōya* (I. 52, II. 205), *viṇāsayaru* (I. 10), *sayalu* (I. 36); in only one word *k* is retained, viz., *ṇāyaku* (II. 140), but it is softened to *g* when Hēmacandra quotes this verse in his Grammar ; once *k* is changed to *g maragaü* (II. 78). Once Brahmadēva reads *āgāsu* (II. 25), but all other Mss. read *āyāsu*. Changes of g : *aṇurāü* (II. 112, 149), *gayaṇa* (I. 39), *jōī* (I. 35, II. 171), *jōĕ*ˇ (II. 157), *bhōya* (I. 32), *virāü* (I. 118), *sāyara* (II. 105). It is only in two cases, namely, *jagu* (I. 40-1, II. 6, 44) and *savvagu* (I. 52) that *g* is retained ; by this retention the author wants perhaps to avoid confusion with other Sk. words like *jaya* and *sarvataḥ*. Changes of c : it is always dropped as in *muya* for *muc* (I. 95, 112, etc.), *viyakkhaṇu* (I. 13, 78); it is only in two words that *c* is seen to be retained : *avicalu* (II. 15, 35, 144) and *asuciyaī*ˇ (II. 150) possibly to avoid confusion with the equivalents of Sk. words like *vikala, śruti,* etc. Changes of j : it is generally dropped as in *ṇiya* (I. 98), *pariyāṇa* (I. 57); only once it is retained *bhajaṁta* (I. 2). Changes of t : it is usually dropped as in *kāyara* (I. 89), *kiyāi*ˇ (I. 27), *gaï* (I. 111), *cēyaṇu* (I. 73, II. 17), etc.; but in *patana,* as in Prākrits, it becomes *ḍ -vaḍaṇa* (II. 114). Changes of d : it is generally dropped as in *kayā* (I. 36), *jaï* (II. 5), *paēsa* (I. 105), *āī* (II. 16). There are some cases of *d* retained : in *padēsa,* v. l. *paēsa* (II. 24) possibly to rhyme with the line-ending *puggaladēsa,* in *padāṇa* (II. 127) perhaps to avoid confusion with *prayāṇa,* and in *saṁjadu* and *asaṁjadu* (II. 41). Changes of p : it is usually changed to *v* as in *ghaṇavaḍaṇa* (II. 114), *vi* from *api* (II. 96). Initial *y* is changed to *j* : *jēṇa, jāma,* etc. Changes of v : it is at times retained and at times dropped as in *kēvala* (II. 96), *jiya* (I. 23, etc.), *tihuyaṇa* (I. 16, II. 16). Generally intervocalic kh, gh, th, dh, ph and bh are changed to *h* : *suhu* (II. 199); *lahu* (II. 100); *uppahi* (I. 78); *ahammu* (I. 60), *samāhi* (I. 14); *ṇahu* (II. 20), *sahāü* (II. 197). It is only in a few cases that *bh* is retained : *abhaya* (II. 127). Thus we see that there is a general tendency to drop the intervocalic consonants rather than to soften them ; and their retention in a few cases is meant perhaps to avoid confusion with similar words. Coming to the treatment of nasals, Hēmacandra's Grammar, according to the editions of PISCHEL,[2] PANDIT-and-VAIDYA,[3] retains initial *n* ; PISCHEL, however uniformly adopts *ṇ,* both initial and medial, in his revised edition of Apabh. verses.[4] Our text uses *ṇ* alone everywhere. It is only Ms. B that retained *n* at times. Kannaḍa Mss. are almost

---

1 There is a case of the development of *v* possibly due to the preceding *u, vari = uvari = udarē* (II. 20).

2 *Hēmacandra's Grammatik der Prākrit-Sprachen,* Halle 1877.

3 *Kumārapālacarita Appendix,* Bombay Sk. and Pk. Series LX, Poona 1936.

4 *Materialien zur Kenntnis des Apabhraṁśa,* Berlin 1902.

uniform in having *ṇ*. Hēma. has generalised the change of *m* into nasalised *v* (iv. 397), for which there is phonetic justification. *P.-prakāśa* has some cases where *m* is shown as *v* ; it should not be ignored that the various readings waver between *m* and *v* : *atthavaṇa* (II. 132), *ṇava* (I. 1), *ṇāü* (I. 19, II. 206).

As to the conjuncts, there is a tendency, already seen even in Prākrits (Hēma. i. 43) to smoothen the double remnant by lengthening the preceding vowel : *īsaru* (I. 91), *kārima* (II. 123), *būḍhaü* (I. 91); at times conjuncts are smoothened without any compensation : *akhaü* (I. 123), *ṇibhaṁtu* (I. 120, II. 88). By some of his rules (iv. 398, etc.) Hēma. allows the retention of *ṛ* and that of *r* as a second member in a conjunct group, but in *P.-prakāśa r* is necessarily assimilated. To show that *r* is retained at times in Prākrit Hēma. quotes a line '*vodraha-drahammi paḍiyā*' (ii. 80) possibly from our text, but all our Mss. uniformly show assimilation. I might note here a few cases of typical conjuncts : *acchī* = *akṣī* (I. 121), *appā* = *ātman* (I. 51, etc.), *kārima* = *kṛtrima* (II. 123) *chāra* = *kṣāra* (II. 90), *jhēu* = *dhyēya* (I. 25), *tiṭṭha* = *tṛṣṇā* (II. 132), *dēsu* = *dvēṣa* (II. 49), *Baṁbhu*, Kannaḍa Mss. uniformly have *Baṁhu* for *Brahman* (I. 13, etc) *rukkha* and *vaccha* = *vṛkṣa* (II. 130, 133).

MORPHOLOGY OR DECLENSION.—As noted by Hēma. (iv. 445), there is much confusion of genders of words ; and the predominant tendency is to reduce all words to the *a*-ending type by adding pleonastic *ka*, etc., for instance, *silaĕ* loc. sg. from *śilā*, (I. 123), *ṇāṇiyahã* = *jñāninām* (I. 122) *dēhiyahã* (II. 26), etc. According to Hēma. the terminations of Nom., Acc. and Gen., both sg. and pl., are often dropped (iv. 344-45). Our text shows some forms of Nom. and Acc. without terminations : Nom. sg. *vihi* (I. 66); pl. *pasuya* (II. 5), *muṇi* (II. 33), *rōya* (I. 69), *liṁga* (I. 69). Acc. sg. *appā* (I. 58), *taṇu* (I. 58), *vēyaṇa* (II. 187), *sayala* (I. 115): pl. *jiṇavara* (I. 6), *rōya* (I. 70). I have not been able to detect any instances where Gen. terminations are dropped. The termination + *u* appears in Nom. & Acc. sg., and once only in Nom. pl. *Hari-Hara-Baṁhu* (II. 8) which is peculiar to our text. Neuter Nom. pl. termination is -*ĩ* as in *davvaĩ* (II. 15), *puṇṇaĩ* (II. 57). In the Inst. sg. *a*-ending nouns show three, if not five, types of terminations : i) + *ēṇa* or + *iṇa* as in *tavēṇa*, v. 1., *tavēṇu* (I. 42), *vavahārēṇa* (II. 28), *kāraṇiṇa* (I. 7); ii) + *ẽ* or + *iṁ* (*ĕṁ*?) as in *appẽ* (I. 99), *ṇiyamẽ* (II. 62), *pariṇāmẽ* (II. 71), *appiṁ* (I. 76, note the variants), *ṇāṇiṁ* (II. 73), *ṇiyamiṁ* (I. 69, 106, etc.), *dāṇiṁ* (II. 72); and iii) what I might call + *aĩ*[1] as in *kammaĩ* (I. 63, 76), *mōhaĩ* (II. 79), *saṁsaggaĩ* (II. 108, note the v. 1.). Nouns ending in *i* show -*ē* or *ẽ* with or without *svārthē ka*, in the Inst. sg. : *aggiyaĕ* (I. 1), *bhattiĕ* (II. 61), *bhattiyaĕ* (I. 6). Hēma. notes the terminations + *ẽ* and + *ēṇa* (iv. 333 & 342), but some of his illustrations show + *iṇa* and + *iṁ* (iv. 357, 366). Inst. pl. termination is -*hĩ* as in *dōhĩ* (II. 71), *paĕsahĩ* (II. 22), *vittiṇivittihĩ* (II. 52). According to Hēmacandra Abl. terminations are : sg. -*hē*, also -*hu* and pl. -*huṁ* (iv. 336, 341, 350); but our text has only *hã* both for singular and plural : *gaṁthahã* (II. 49), [illegible] (II. 86); *sayalahã kammaha dōsahã* (II. 198). Hēma. gives Gen. terminations thus : sg. -*su*, -*ho*, -*ssu* and pl. *hã* for *a*-ending nouns ; but our text uses only *hã* both for sg. and pl.[2] : sg. *cittahã* (II. 70), *dēhahã* (I. 71), [illegible]

1 It might be taken as *iṁ* with *svārthē ka*.

2 Once Brahmadēva wants -*ho* for Gen Sg. (II. 12); and Ms. *B* reads -*ha* in some places (II. 161-62).

(II. 95); pl. *ṇāṇiyaha̐* (I. 122), *jīvaha̐* (II. 106), *mukkaha̐* (I. 47). For pure *i*-stems the Gen. termination is *-hi̐* in *P.-prakāśa* which according to Hēma is *-hē* in sg. and *-hu̐* in pl. : sg. *siddhihi̐* (II. 48, 69); pl. *jōihi̐* (II. 166), *ṇāṇihi̐* (II. 30); also note in this context the forms *jōīyahi̐* (II. 160), *paṁguha* (I. 66). For Loc. sg. and pl. Hēma. has *-e* and *-hi̐* respectively for *a*-stems, and *-hi* and *-hu̐* respectively for *i*-stems and *u*-stems. *P.-prakāśa shows + i*, or *+ e*,[1] or even what might be called *+ aï* in sg. and *hi̐* in pl.: *tihuyaṇi* (I. 4), *saṁsāri* (I. 9); *appaĕ* (I. 102), *silaĕ* (I. 123); pl. *kasāyahi̐* (I. 123*3), *puhavihi̐* (II. 131). *Jōiya* for *yōgin* and *jiya* for *jīva* are the Voc. sg. forms.

We do not get many forms of personal Pronouns in *P.-prakāśa* : *haū̐* and *tuhu̐* are quite usual ; and we get *mahu̐* (Gen. sg.) and *mahu̐ taṇaï = madīyēna* (II. 186). Some important forms of the demonstrative pronouns are noted below for example :

Nom.

sg. *ihu* or *ĕhu*, *ĕhaü* ; *ku* or *kō* ; *ju* or *jō* ; *sō*.

pl. *ē* or *ĕi* ; *jē* ; *tē* ; *ki* or *kē*.

Acc.

sg. *kō* ; *jō* ; *sō*.

Ins.

sg. *jiṁ*, *jē̐*, *jēṇa* ; *tiṁ*, *tē̐* , *tēṇa*.

Gen.

sg. *jasu*, *jāsu* ; *tasu*, *tāsu*, *tahu̐* (II. 78).

pl. *jaha̐* , *jāha̐* ; *taha̐* , *tāha̐* .

*P.-prakāśa* uses *kavuṇa* or *kavaṇu* (II. 171), *kāi̐* (I. 27) and *ki* (I. 98) for Interrogative *kim* ; and *anyat* is changed to *aṇṇu* (II. 45) and *aṇu* (II. 44).

VERBAL FORMS.—Some typical verbal forms may be noted here to get an idea of the forms used in *P.-prakāśa.* Present : 1st p. sg. *vaṁdaü̐* (I. 4), *kahēvi* (*-mi?* I. 11), *bhaṇami* (I. 30); 2nd p. sg. *mĕllahi* (I. 12), *hōhi* (II. 14); 3rd p. sg. *vilāï* (II. 80), *vēï* (II. 82), *havēï* (I. 13), pl. *acchahi̐* (I. 5), *vaccahi̐* (II. 4), *li( lē )ṁti* (II. 91), *huṁti* or *hōṁti* (II. 103). Some Imperative forms that are available : 2nd p. sg. *jāṇi* (I. 107, II. 38), *jōi* (II. 34), *sēvi* (I. 95), *jāṇu* (I. 94, etc.), *laggu* (II. 127). Typical Future forms that are available : 2nd p. sg. *karīsi* (II. 125), *gamīsi* (II. 141), *lahīsi* (II. 141), *sahīsi* (II. 125); 3rd p. sg. *karēsaï* (II. 188), *lahēsaï* (II. 47), *hōsaï* (II. 130, 168). Hēmacandra has noted all the available Present and Imperative forms of this text (iv. 382-3, 385, 387). The so-called 2nd p. sg. forms of the Future noted above are at times treated as those of Present and at times of Future by Brahmadēva. Their nature is much uncertain. If they belong to Present, they are to be deduced from the forms like *karēsi* in Prākrit ; if to Future, they are contractions from forms like *karihisi* of the Prākrit. Though not generalised by him, forms like *karīsu*, *pāvīsu* are met with in Hēma.'s illustrations (iv. 396); and the Sk. shade takes them as Future 1st p. sg. forms. The Absolutive terminations in this text are *-vi*, *+ ivi*, *+ ēvi*, *+ avi*, and *+ ēviṇu* as in *dēvi* (II. 57), *mĕllivi* (I. 92), *dharēvi* (II. 25), *pariharavi* (II. 4), *muēviṇu* and *lahēviṇu* (II. 9, I. 85); and there

1 Kannaḍa Mss. show *e* uniformly.

is only one form showing the termination + *ĕppiṇu, muĕppiṇu* (II. 47). Besides the above ones, Hēma. gives + *i*, *iü*, + *ĕppi*, as the Absolutive terminations, but they are not found in this text. The typical forms of the **Infinitive** of purpose are: *sahaṇa* or *sahaṇu* (II. 120), *saṁṭhavaṇa* (II. 137), *lēṇaha* (II. 87), *muṇahu* (I. 23). Excepting *muṇahu* which occurs only once in our text, all others are generalised by Hēma. (iv. 441) with whom some Gerund terminations also are used for Infinitive.

INDECLINABLES, ETC.—In this paragraph all the Indeclinables, etc., are noted with their Sk. counterparts alphabetically arranged. *atra* = *itthu* or *ĕtthu* (I. 101, II. 211); *īdṛśī* = *ĕhī* (II. 157); *ēva* = *ji* (I. 96, etc.); *ēvam* = *ēmu* (I. 65) or *eü̃* or *iu̇̃* (II. 73); *katham* = *kēma* or *ke̐va* (I. 121); *kiyat* = *kĕttiü* or *kittiü* (II. 141); *kutra* = *kĕtthu* or *kitthu* (II. 47), also *kahi̐* (I. 90); *jhaṭiti* = *jhatti* (II. 184); *naiva* = *ṇavi* (I. 31, etc.); *tatra* = *tĕtthu* or *titthu* (I. 111, II. 137), also *tahi̐* (II. 162); *tathā* = *tēma* or *tima*, *tēmu* or *timu*, or even nasalised *v* for *m* (I. 102, 85, etc.); *tadā* (?) = *tāmaï* or *tā̐vaï* (II. 41, 174); *tādṛśa* = *tĕhaü* (II. 149); *tāvat* = *tā*, *tāma*, also *tā̐va* or *tāmu* (I. 108, II. 81); *tāvanmātra* = *tĕttaḍaü* or *tittiḍaü* (I. 105); *punar* = *puṇu* (II. 211); *mā* = *ma*, *maṁ*, *maṇa* (I. 101, II. 107, 109); *yatra* and *yathā* correspond to *tatra* and *tathā*; *yadā* (?) = *jāmaï*, *jā̐vaï* (II. 41, 174); *yādṛśa* = *jĕhaü* (I. 26); *yāvat* = *jāma*, *jāmu*, *jā̐va* (II. 81, 194); *yāvanmātra* = *jittiu* (II. 38); *vinā* = *viṇu* (I. 42). All these indeclinables, etc., ignoring slight phonetic variations, are found in Hēma.'s illustrations; and for some of them he has special rules. Forms corresponding to Hēma.'s *jĕttula* and *tĕttula* (iv. 435) are not found here. As to the use of *api*, or text once uses *kiṁpi vi* (I. 65); perhaps it is a mistake for *kiṁci vi* which suits the context better. *P.-prakāśa* repeatedly uses *svārthē ka* and *ḍa*, but their combinations (iv. 430) are not met with here; at times *ka* appears doubled as in '*gurukkī vĕllaḍī*' (I. 32). Of the *tādarthya nipātas* (Hēma. iv. 425) only *taṇa* is used here, and the rest are not found in this text. The forms *kēraü*, etc., used by Hēma. in his illustrations on iv. 359 (see also Hēma. ii. 147) are used in this text: *kĕrā* (I. 73, II. 69), *kĕraï* (I. 99), *kēraü* (II. 29). Though *ji*, etc., are repeatedly used, the occurrence of *ca* is a rarity in these dōhās.

IMPORTANT WORDS, ETC.—*P.-prakāśa* uses many words which might be called Dēśī due either to their non-Sanskritic etymology or non-Sanskritic significance. But most of them are already recorded in *Pāiasadda-mahaṇṇavō*; so I shall note only a few of them which are not recorded there or which require some explanation.

*avakkhaḍī* (I. 115)—Brahmadēva explains thus '*dēśa-bhāṣayā cintā*'.

*khaḍillaü* (II. 139)—Brahmadēva equates it with *khalvāṭam*. Hēma. quotes this verse but his reading is *khallihaḍaü̃*. Our form is a case of metathesis from the Prākrit form *khallīḍa* noted by Hēma. (i. 74).

*khavaṇu* or *khavaṇaü* (I. 82, 88)—Brahmadēva equates it with *kṣapaṇakaḥ*, a Digambara. I think, this Sk. rendering has no etymological justification though it occurs in *Pañcatantra*, etc.; the word should be traced back to *samaṇa*, Sk. *śramaṇa*.

*gurau* (I. 88) Brahmadēva remarks '*gurava-śabda-vācyaḥ Śvētāmbarāḥ*.'

*caṭṭa* (II. 89)—Brahmadēva does not explain it, but I think it means in that context 'a mat'; cf. *caṭaï*.

*javalā* (II. 127)—Brahmadēva equates it with Sk. *samīpē*, and the word is current in Marāṭhī in this sense. I think, it should be traced back to Sk. *yamala*, Pk. *jamala*, a pair; and therefore those that are near each other. This sense is more suitable in that context.

*dhaṁdha* (II. 121)—Brahmadēva gives a Sk. word *dhāndha* which is not known to classical Sanskrit. The Kannaḍa gloss reads *daṁdē*, and takes *daṁda* = Sk. *dvandva*. There is a Prākrit word *dhāṁdha* = shame.

*paḍichaṁdā* (II. 129)—It has the sense of similarity, and it is used here for *dṛṣṭānta*.

*paḍiyāra* (I. 121)—A scabbard. Brahmadēva is uncertain about its Sk. equivalent; so he suggests once *pratikāra* and a second time *pratihāra*. Hēmacandra, in his *Abhidhāna-cintāmaṇi*, gives *pratyākāra* = *khaḍga-pidhānakam* which appears to be the correct equivalent of *paḍiyāra*. He gives another word *parivāra* (Martya-kāṇḍa 447).[1]

*vaḍha* (II. 19, 154, etc.)—This word is repeatedly used in this text, and Brahmadēva explains it usually as *vatsa*, but once as *baṭa* (I. 121). Hēma-candra (iv. 420) equates it with *mūḍha* (I think, in the sense of *mōhita*, deluded, misled). It may be noted that *mūḍha* is also used once in our text (II. 128). It is recorded in *Pāiasadda-mahaṇṇavō* as a Dēśi word meaning dumb, one incapable of speech. *vaḍha* or *baḍha* is used as a term of address by Saraha as well; he uses *putta* also (38, 53) as a term of address.

*vali vali* (II. 137)—Brahmadēva takes it as '*punaḥ punaḥ*'; compare *vāraṁ vāram*.

*vōddaha* (II. 117)—Hēma. quotes this phrase but reads *vōdraha* meaning *taruṇa-puruṣa* (ii. 80)[2] Brahmadēva interprets as *yauvanam*; the Kannaḍa K-gloss takes it as *strī-śarīra*; but Q-gloss reads *cōddaha* (perhaps orthographical confusion between *c* and *v* in medieval Dēvanāgarī) and gives the same meaning as that given by Brahmadēva.

*vaṁdaü* (I. 82, 88)—Brahmadēva comments, *vandakaḥ* = *Bauddhaḥ*. The etymology of the word is obscure. Some Kannaḍa Mss. read *Budd(h)aü*.

IMPORTANT ROOTS, ETC.—Many dhātvādēśas are used in this text; but I note here only those which are not directly traced in the list given by Hēmacandra: *Uvvala-ud vart* (II. 148), cf. Hēma. *uvvēlla* = *ud vēṣṭ*. *Guruva* (II. 145) *muh*. *Cūra* (II. 126) to powder from *cūrṇa*. *Chaṁḍa* (I. 74; *Chaḍḍa* according to Hēma.) to abandon. *Jōa* (I. 109, II. 34) to see; it is used in Hēma.'s illustrations (iv. 422). *Jhaṁpa* (I. 61) to cover. *Ḍahula-kṣubh* (II. 156); cf. Marāthī *ḍhavaḷaṇē*. *Pĕkkha* or

1 For this reference I am thankful to Mr. N. R. ACHARYA, Shastri department, Nirnayasagar Press, Bombay.

2 To judge from *Pāiasadda-mahaṇṇavō*, the word is not extensively used in literature. The earliest occurrence, therefore, is in *Pāiyalacchī-nāmamālā* (Ed. by G. BÜHLER, Göttingen 1879), the Prākrit Lexicon of Dhanapāla (972-3 A.D.); and in giving the meaning of this word Hēmacandra has in view Dhanapāla's definition '*bōdrahō taruṇō*' (verse 62).

*Pikkha* (I. 71, II. 114) to see. *Vāha* (II. 142) to see ; it may be derived thus *pāsa* > *pāha* > *vāha*.

Peculiarities of Kannaḍa Mss.—The Kannaḍa Mss., which are described in section IV below, have certain peculiarities some of which such as *d* for *dh*, absence of any discrimination between short and long vowels arise out of the nature of Kannaḍa script. There are others which are uniformly shown by Kannaḍa Mss. (excepting S which is a mechanical copy of Brahmadēva's text, but that also is subjected to some marginal corrections); and they shed some light on the phonology of Apabhraṁśa. The Dēvanāgarī recension, represented by Brahmadēva's text and by the Mss. A, B and C, shows a good deal of vacillation between *i* and *e* in the Inst. sg. forms such as *dēvē*ˇ or *dēviṁ* and *kāraṇēṇa* or *kāraṇina* ; in the Loc. sg. forms such as *dēvē* or *dēvi* ; and in forms like *kĕ vi* or *ki vi, je*ˇ *va* or *jima, te*ˇ*va* or *tima*, etc. But the Kannaḍa Mss. uniformly accept *e* which may be short or long as required in the context. Even Hēmacandra's Grammar shows this vacillation in forms like *hatthiṁ*. Secondly, Dēvanāgarī Mss. vacillate between *i* and *e* before the conjuncts as in *mukkha* or *mŏkkha, ĕkka* or *ikka, bŏlla* or *bulla*, etc..[1] The *Kannaḍa* Mss. uniformly show *e* and *o* and not *i* and *u*. I think, this vacillation is due to the fact that Sanskrit *e, o* are always long ; to show them short, as we want short *e* and *o* in Apabh. (Hēma. iv. 410), they were reduced to *i* and *u*. In Kannaḍa *e* is both short and long, so the Kannaḍa Mss. felt no need of changing it to *i*. If we look to the corresponding counterparts in Sanskrit and Prākrit, we find that *e* is preferred. So *e* appears to be really the earlier stage, and being short in pronunciation it came to be changed to *i*. The same is the case with *o*. Then these Kannaḍa Mss. uniformly read *sŏ ji* and *jŏ ji* as *sŏjji* and *jŏjji* ; *Baṁbhu* is always shown as *Bamhu* which might be allowed by Hēma. (iv 412); but *sŏjji* and *jŏjji* cannot be adequately explained.

Value of their Tradition.—There is another explanation also for this vacillation. Apabhraṁśa was once a popular speech allied to Old-Rājasthānī, Old-Hindī, Old-Gujarātī, etc., which are the earlier stages of the present-day Hindī, etc. So copyists and reciters did make vowel changes, etc., in the light of contemporary pronunciation as it is clear from the manner in which works like *Rāmāyaṇa* of Tulasīdāsa have undergone dialectal changes. What the copyists and even reciters minded were the contents and not the dialectal features. Even the Hindī commentary, printed in this edition, though attributed to Daulatarāma, does not represent the very language of Daulatarāma, as I have shown below. The Kannaḍa Mss., therefore, are likely to be of use for the following reasons : some of the Mss. are sufficiently old and are copied from pretty older Mss.; and as they were preserved in a country where the spoken languages were completely different from Apabh., there was no scope for such changes as it happened in the North. So a critical edition of *P.-prakāśa* should prefer *e* and *o*, short or long as needed by the context, in the above cases, because such readings are supplied by Kannaḍa Mss. some of which preserve text-tradition even earlier than Brahmadēva.

1 In Dēvanāgarī Mss. *o* is often represented by *u* with a vertical stroke on its head and the copyists at times took it for *u* only.

RESULTS OF THE ABOVE COMPARISON AND CONTRAST.—The Apabhraṁśa dialect of *P.-prakāśa* is a homogeneous one. The forms that we have taken for comparison, excepting the Inf. of purpose form *muṇahu* and the Gerund in *ĕppiṇu* which occur only once, are repeatedly met with in our text. Hēmacandra has taken quotations from *P.-prakāśa* with certain improvements; and that he might have analysed our text and incorporated sufficient material from this work is borne out by many com mon points noted in the above paragraphs. Even after ignoring minor variations of vowels and individual forms not recorded by Hēma., there remains a substantial residue of fundamental differences between the Apabhraṁśa of *P.-prakāśa* and that of Hēma.'s grammar despite the majority of common points noted above. The Śaurasēnī basis of Hēmacandra's Apabh. explicitly stated and further confirmed by the softening of consonants in his illustrations is almost completely unknown to our text. Then the retention of *r* and of unassimilated *r*, which is required by some of the rules of Hēma. and which is illustrated by some of his quotations, is unknown to our text. There are some other aspects of Hēma.'s Apabh. not found in this text : dropping of the Gen. termination and the Gen. termination *-hō* ; most of the Abl. terminations noted by Hēma.; absolutive forms in + *i*, + *iu*, + *ĕppi*; majority of the *tādarthya-nipātas* ; the form *sahu* for *sarva* ; many of the equivalents of *iva* ; etc.

ADDITIONAL TRACT OF LITERATURE USED FOR HIS GRAMMAR.—The above points clearly indicate that Hēma. drew his material from many other works whose Apabhraṁśa differed in certain respects from that of *P.-prakāśa.* There is no evidence to say that the conjuncts with *r*, preservation of *r*, Śaurasēnī basis and other dialectal features of *P.-prakāśa* have been modified. The Mss. studied do not warrant any conclusion or conjecture like this. From the comparatively small number of Hēma.'s quotations which have Śaurasēnī characteristics and which retain *r*, as against the features of this text, it appears that many of the works used by Hēma. represented the Apabh. similar to that of *P.-prakāśa* ; and a few works he might have used which retained conjuncts with *r*. Words like *ḍhōlā*, some common verses,[1] the retention of *r* in a conjunct group in early Rājasthānī poems might indicate that Hēma. has drawn some of his illustrations from what might be called Rājasthānī Apabhraṁśa, the predecessor of Old Rājasthānī.

---

1 On iv. 352 Hēma. gives a quotation which runs thus :

वायसु उड्डावंतियए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलय महिहि गय अद्ध फुट्ट तड त्ति ॥

This quotation of Hēma. has not only the common idea but also some common words with the following verse in present-day Rājasthānī ;

काग उडावण धण खडी आयो पीव भडक्क ।
आधी चूडी काग-गळ आधी गई तडक्क ॥

Either these two verses indicate a common source, or the old Apabh. verse gradually drifted to this form passing through dialectal changes (see *Ḍhōlā Mārūra Dūhā*, p. 476).

APABHRAṀŚA WITH UNASSIMILATED R.—Undoubtedly there was a type of Apabhraṁśa which allowed unassimilated *r*. The number of words retaining unassimilated *r* is negligibly small in Prākrit.[1] Some twenty illustrative stanzas of Hēma. preserve *ṛ* or *r* in conjuncts. Turning to other grammarians,[2] Kramadiśvara takes preservation of *r*, when it is the first member of the conjunct group, as the feature of Vrācaṭa Apabh. Mārkaṇḍēya prescribes the retention of *r* optionally for Nāgara and generally, with some exceptions, for Vrācaḍa Apabh. All this means that the grammarians are aware of an Apabh. dialect which retained *ṛ* and conjuncts with *r*. Further Dr. JACOBI has pointed out that two *bhāṣāślēṣa* stanzas from Rudraṭa's *Kāvyālaṅkāra* show that the Apabh. illustrated by Rudraṭa contained unassimilated *r* as a second member of the conjunct.[3]

THIS DIFFERENCE NOT EXACTLY CHRONOLOGICAL BUT REGIONAL-AND-DIALECTAL.—On the basis of the quotations from Rudraṭa and Ānandavardhana Dr. JACOBI concludes that the Apabh. stanzas containing *ṛ* and unassimilated *r* belong to the older stage of Apabh.; and his main argument appears to be that these are the earliest datable relics of Apabh. literature. There is no doubt that Apabh. mainly draws on the Prākrit vocabulary, and the negligibly small number of words with unassimilated *r* in Prākrit militates against taking it as a chronological criterion. Secondly, from the Aśōkan Rock edicts found in seven places it is clear that Prākrit had dialectal differences in different parts of India. Kalsi, Dhauli and Jaugada edicts assimilate or lose *r* in the conjunct group, while those at Mansehra and Shahbazgarhi retain *r* as the second member of the group, the *r* as the first member often changing its place with the preceding vowel. It may be noted that Girnar edict too at times retains *r* either as the first or the second member of the conjunct group. All these edicts are incised at the same time and possibly drafted from the court-language. These differences cannot be taken as chronological but they are regional-and-dialectal. Thirdly, a glance at the works belonging to the earlier stages of present-day spoken languages like the Rāsas in Gujarātī, Mahānubhāva works in Marāṭhī, texts like *Dhōlā- Mārūra dūhā* in Rājasthānī[4] *Kīrtilatā* and *Padāvalī*[5] of Vidyāpati in Maithilī, etc., which belong to different parts of India, show that even Apabhraṁśa might have had slight differences in different regions. Fourthly, Rudraṭa is perhaps a Kashmirian ; so a quotation of his, that too meant to illustrate *bhāṣā-ślēṣa*, should not be taken as a representative of Apabhraṁśa current in different parts of India. Lastly, a good deal of Prākrit literature has come to light, and there is no appreciable tract of Prākrit literature in which conjuncts with *r* are current. External influences may be accepted. but the Prākritic basis of Apabhraṁśa is a fact. Rudraṭa belonged to the 9th century A.D., and we know earlier Apabh. passages in which *r* is assimilated. Apabh. verses from Kālidāsa's *Vikramō-*

1 Hēma. ii. 80 ; PISCHEL : *Grammatik* § 268.

2 See also *Prākṛta Lakṣaṇa* of Caṇḍa III. 37.

3 H. JACOBI : *Sanatkumāracaritam* Intro. Munchen 1921.

4 Published by Nāgarī Pracāriṇī Sabhā, Benares, Saṁvat 1991.

5 Ed. by KUMAR G. SINHA, Patna, Saṁvat 1988.

*vaśīyaṁ*[1] assimilate *r* even in typical words like *priya*, etc., illustrated by Hēma. Prof. HIRALAL puts Svayambhū, the author of *Paümacariü* and *Harivaṁsu* between 700-783 A.D., and so far as I have seen the passages *r* is assimilated. Later Apabhraṁśa works that are recently brought to light assimilate *r*.[2] And we would be only cutting the ground under our feet, if we suppose that all the Mss. are per force subjected to this assimilation at a later stage. So in the light of the above considerations the presence

1 By questioning the genuineness of Apabhraṁśa verses in *Vikramōrvaśīyam* the earlier scholars meant that they could not be attributed to Kālidāsa. The following are the arguments adduced by PANDIT and others: The commentator Kāṭayavēma knows nothing of these verses; the South-Indian Mss. do not include them; the king being an Uttamapātra cannot utter verses in Prākrit; most of the verses are tautological repeating the substance of Sanskrit verses in that context; there is a vagueness of allusions and references in these verses; several of them interrupt the sentiment expressed by Sk. verses; and lastly Apabhraṁśa passages are not found like this in other dramas of Kālidāsa. All these arguments have for their background a hesitation to take back Apabh. verses to such an early age, especially because a scanty amount of Apabh. literature was known to scholars at the beginning of this century. This hesitation must be given up now for the following reasons: Apabhraṁśa forms are traced in *Paümacariya* of Vimala (not later than 3rd century A.D.); we have an epigraphic record that Guhasēna of Valabhī (559-69 A.D.) composed poems in Apabh.; and lastly by the last quarter of the 8th century (see above Uddyōtana's remarks on p. 45) Apabhraṁśa is already recognised as a popular and forceful medium of poetry. In the light of these facts it is not in any way improbable that Kālidāsa (c. 400 A.D.), whose Māhārāṣṭrī songs are some of the best specimens, might have composed some Apabh. verses to be sung by the mad king. That Kāṭayavēma and Southern Mss. do not include these verses is not a conclusive argument. It may be noted that Northern Mss. have got these verses and Raṅganātha does comment on them. The South, it must be remembered, is well-known for its stage-adaptations of Sk. dramas. In the South Apabhraṁśa had no connection, as in the North, with the contemporary popular speech; so naturally these verses must have failed to impress the Dravidian audience: this also might explain the exclusion of these verses. No doubt, the king is an Uttamapātra and he speaks in Sanskrit in all other acts. But in the fourth act the king is gone mad, and *Nāṭyaśāstra* allows *bhāṣā-vyatikrama* for Uttamapātras on certain occasions. It is also suggested by PANDIT himself that these verses were perhaps to be chanted by some one behind the curtain, when the king is moving hither and thither searching for his wife; and there is some justification for these songs that they make the whole 'scene romantic and solemn' and that, as Prof. R. D. KARMARKAR remarks in the Intro. to his edition, they give 'to the actor, representing the king, occasional rest'. As to the arguments of tautology, vagueness and inconsistency, they are subjective considerations; and they can be explained, if we remember that these songs are the out-bursts of a mad monarch. Even in the present-day dramas meaningless songs are introduced; they do not advance the plot in any way, but they are songs merely to amuse the audience. Any one acquainted with the phonology of Apabh. will readily accept that it is perhaps the best medium for songs. The last one is a negative argument and thus it proves nothing. The mad king, with whom the Apabh. songs are associated, does not figure in other dramas of Kālidāsa. Students of Kālidāsa's works will agree that the imagery projected by these verses is worthy of the genius of Kālidāsa. All this means that there is a strong case for the genuineness of these verses, and the question requires to be taken up once more for discussion.

2 Dr. P. L. VAIDYA, whose critical edition of Puṣpadanta's *Mahāpurāṇa* is in the Press, kindly informs me that a family of Mss. retains *r* in some words. When this work is out, it will be a publication of monumental magnitude and importance in Apabhraṁśa literature.

of assimilated or unassimilated *r* is not at all a chronological criterion, but it is only a regional difference which is quite possible in a continent like India. This further shows that Hēma. has based his grammar on works in at least two different dialects possibly from two different regions.

## II. JŌĪNDU : THE AUTHOR OF P.-PRAKĀŚA[1]

### *a*) YŌGĪNDU AND NOT YŌGĪNDRA

JŌĪNDU AND HIS SANSKRIT NAME.—It is to be highly regretted that such a great mystic as Jōïndu has left no details about his personal life. Śrutasāgara calls him a Bhaṭṭāraka which should be taken only as an honorific term. There is not the slightest indication in his works about his age and place. His works reveal him as a mighty spirit resting on a higher latitude of the spiritual realm. He stands for no vanity of learning and no parade of scholarship : he is an embodiment of spiritual earnestness. *P.-prakāśa* mentions his name as Jōïndu. Jayasēna quotes a verse from *P.-prakāśa* with the introductory phrase : '*tathā Yōgīndra-dēvair apyuktam*',[2] Brahmadēva more than once mentions the author's name as Yōgīndra. Śrutasāgara quotes a verse with the phrase : '*Yōgīndradēva-nāmnā Bhaṭṭārakēna.*'[3] Some of the Mss. hesitate between Yōgīndra and Yōgēndra. Thus Yōgīndra as the Sk. form of his name has been pretty popular. As proved by identical spirit, similar ideas and common phrases *Yōgasāra* is another work of Jōïndu. In the concluding verse the name of the author is mentioned as Jōgicaṁda which cannot be equated with Yōgīndra. Therefore I have suggested that the form Jōïndu stands for Yōgīndu which is identical with Yōgicandra ; and we have instances where *indu* and *candra* are interchanged in personal names as in Bhāgēndu and Bhāgacandra, Śubhēndu and Śubhacandra. Through mistake it was Sanskritised as Yōgīndra which has been current now. There are many Prākrit words which have been wrongly, and oftentimes differently, Sanskritised by different authors. The editor of *Yōgasāra* had detected this discrepancy, but funnily he writes a combined name '*Yōgīndra-candrācārya-kṛtaḥ Yōgasāraḥ.*' If we take his name as Yōgīndu, everything will be consistently explained.

### *b*) WORKS OF YŌGĪNDU

VARIOUS WORKS TRADITIONALLY ATTRIBUTED.—The following works are traditionally attributed to Yōgīndu (usually mentioned as Yōgīndra): 1) *P.-prakāśa* (Apabh.) ; 2) *Yōgasāra* (Apabh.) ; 3) *Naukāra-śrāvakācāra* (Apabh.) ; 4) *Adhyātma-saṁdōha* (Sk.); 5)*Subhāṣita-tantra* (Sk.); and 6) *Tattvārthaṭīkā* (Sk.); besides, three more works attributed to Yōgīndra have come to light : (7) *Dōhāpāhuḍa* (Apabh.), 8) *Amṛtāśīti* (Sk.); and 9) *Nijātmāṣṭaka* (Pk.). Of these we do not know anything about Nos. 4 and 5 ; as to No. 6, the name Yōgīndradēva is in all probability confused

1 This section, with additions here and there, is mainly based on my paper 'Jōïndu and his Apabhraṁśa Works' in the *Annals* of the B. O. R. I., XII, ii, pp. [illegible]. The detailed contents of the works and some references that are omitted here will be found in that paper.

2 *Samayasāra* (RJS.) p. 424.

3 *Ṣaṭprābhṛtādi-saṅgraha* (MDJG., Vol. XVII), p. 39.

with that of Yōgadēva who has written a Sk. commentary on *Tattvārthasūtra.*[1]

1) *Paramātma-prakāśa* :

AUTHORSHIP, ETC.—In the preceding section the various aspects of *P.-prakāśa* have been studied in details. Undoubtedly it is the work of Jōindu, and the proposal that it might have been compiled by a pupil of his is already rejected above.[2] Jōindu plainly mentions his name and says that the work was composed for Bhaṭṭa Prabhākara. Then Śrutasāgara, Bālacandra, Brahmadēva and Jayasēna have explicitly attributed the authorship of this work to Jōindu.[3] In fact, this is the biggest known work of Jōindu, and on this rests his fame as a spiritualist.

2) *Yōgasāra* :

CONTENTS, AUTHORSHIP, ETC.—The subject-matter of *Yōgasāra*[4] is the same as that of *P.-prakāśa.* The self is to be realized as completely isolated from everything else. These dōhās, says the author, are composed by the monk Jōgicaṁda to awaken the self of those that are afraid of Saṁsāra and are yearning for liberation (Nos. 3 & 107). The author says that he composed it in dōhās, but in the present text we have one Caupāi (No. 39) and two Sōraṭhas (Nos. 38 & 46): this perhaps indicates that the text is not well preserved. The mention of Jōgicanda (= Jōindu = Yōgīndu) in the last verse, similar opening Maṅgalas, identical subject-matter and the spirit of discussion, and common phrases and lines indicate that one and the same Jōindu is the author of these two works. The text, as it is printed, is not critical ; and there are apparent errors. Making concession to these, even the dialectal form is practically the same. The only points of difference that strike one are : Gen. sg. with *-hu* (and also *-ha*) which is *-haṁ* in *P.-prakāśa* ; Present 2nd p. sg. with *-hu* (and also *-hi*, but which is *-hi* alone in *P.-prakāśa*); and the Absolutive with *-viṇa* which is *-viṇu* in *P.-prakāśa.* All these are slight vowel changes on which no conclusions can be based. Jayasēna quotes a dōhā from this work in his commentary on *Pañcāstikāya.*[5]

3) *Naukāra-Śrāvakācāra*, or *Sāvayadhamma-dōhā.*[6]

CONTENTS, ETC.—It is seen from the analysis[7] that this work deals mainly with

1 There is a Ms. (Dated Saṁvat 1863) of this work in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. In the opening remarks Yōgadēva mentions the names of Pādapūjya and Vidyānanda. In the concluding Praśasti he calls himself a Mahā-bhaṭṭāraka. He was a pupil of Paṇḍita Bandhudēva, a contemporary of king Bhīma and a resident of Kumbhanagara. The name of his commentary is *Sukhabōdha Tattvārthavṛtti.* Mādhava (c. 1350) refers to Yōgadēva and his Vṛtti in his *Sarvadarśana-saṅgraha*, Chap. 3.

2 See p. 8 above.

3 For references see my paper in the *Annals* ; see also the discussion of the date below.

4 MDJG. Vol. XXI, pp. 55-74. The contents are analysed in my paper in the *Annals.* At Karanja there is a Sk. commentary on this work by Indranandi, the pupil of Amarakīrti (*Catalogue of Sk. and Pk. Mss. in C. P. and Berar*, p. 685); and there is a Hindī metrical rendering of it published under the name, *Svānubhava-darpaṇa* by MUNSHI NATHURAM in 1899 A.D. ; and on this Hindī rendering there is an exhaustive Gujarāti commentary by LALAN, Bombay 1905.

5 RJS. ed., p. 61.

6 Critically edited with Intro. and Hindī translation by HIRALAL JAIN (KJS. Vol. II), Karanja 1932 ; the Mss. and the views of Prof. HIRALAL referred to below are from this Intro.

7 Vide my article in the *Annals* XII. ii.

the duties of a house-holder in a popular and attractive style. The exhortations are spiced with nice similes, and as compared with other manuals of this class the treatment is less technical. From the contents and metre it gets the name *Śrāvakācāra-dōhaka*; it is also known as *Nava* (*Nau*) *kāra-Śrāvakācāra* from its opening words; and Prof. HIRALAL calls it *Sāvayadhamma-dōhā* after much consideration.

ITS AUTHORSHIP.—In my paper on Jōïndu I had pointed out how there are three claimants, namely Jōgēndra, Dēvasēna and Lakṣmīcandra or Lakṣmīdhara, for the authorship of this work. Since then some nine Mss. of this work have come to light, and the problem of its authorship has been discussed in details by Prof. HIRALAL in his Introduction. Even as the facts stand Prof. HIRALAL'S view cannot be accepted; so it is necessary to state the position and see what should be the probable conclusion.

JŌÏNDU'S CLAIMS.—His claims rest on these grounds: i) Traditional lists attribute a *Navakāra-Śrāvakācāra* to him; ii) the concluding colophon of Ms. *A* calls it Jōgēndra-kṛta; and a supplementary verse found at the close of Ms. *Bha* (after the concluding colophon) attributes the text to Yōgīndradēva. The forms Jōgēndra and Yōgīndra, it appears, are meant to imply the author of *P.-prakāśa*; and it must be seen how far these claims are justified. As in *P.-prakāśa* and *Yōgasāra* Jōïndu does not mention his name in the body of the text. Secondly, the high flights of spiritualistic fervour of Jōïndu are conspicuously absent here; and the subject-matter of Śrāvakācāra is not quite in tune with the mystic temperament of Jōïndu. Thirdly, Prof. HIRALAL finds this work more profound as a piece of poetry than other works of Jōïndu, and brushes aside the possibility that Jōïndu might have composed it in his younger days. Fourthly, as I have already noted, despite some common ideas there are no striking phraseological similarities between this work and *P.-prakāśa*. Lastly, I might point out that *Sāvayadhamma-dōhā* shows the termination *-hu* in Abl. and Gen. sg.; but we have seen that *P.-prakāśa* uniformly shows *-haṃ* both in the sg. and pl. So there is no strong evidence to attribute this work to Jōïndu. Perhaps it is the common Apabh. dialect and a few similar ideas that might have led some one to put the name of Yōgīndra in the colophon.

DĒVASĒNA'S CLAIMS.—Prof. HIRALAL upholds the claim of Dēvasēna on the following grounds: i) Ms. *Ka* mentions '*Dēvasēnai uvaiṭṭha*' in the last verse; ii) *Sāvayadhamma-dōhā* has many striking similarities with *Bhāvasaṃgraha* of Dēvasēna. iii) Dēvasēna had a liking for composing dōhās, and it was perhaps a new form of metre in his days. Thus he attributes this work to Dēvasēna, the author of *Darśanasāra*. His arguments are not quite sound. i) Ms. *Ka* does not deserve so much reliance: of the nine Mss. it is the longest so far as the number of verses is considered and the latest so far as its age is considered. The text itself (No. 222) says that there should be 220 or 222 verses: the earliest known Ms. contains 224, while Ms. *Ka* contains 235 if not 236 verses. This plainly means that it is an inflated recension. Now the dōhā which mentions the name of Dēvasēna is not only corrupt but contains plain errors: the form *Dēvasēnai* is very queer, and a similar form is not traced in the whole of the text; the phrase *akkharamattā*, etc., is meaningless as it stands; as I understand dōhā, both the lines of this verse are metrically irregular; the concluding rhyme of the two lines, which is a regular feature of dōhā and which is seen throughout the text,

is conspicuously absent in this verse ; and lastly Prof. HIRALAL himself does not include this verse in his settled text. Such a concluding verse, therefore, cannot be attributed to the author of *Sāvayadhamma-dōhā* ; and we cannot believe that Dēvasēna, the author of *Darśanasāra*, might have composed it. Turning to the four Prākrit works of Dēvasēna, in *Bhāvasaṁgraha*[1] he mentions his name as Dēvasēna, the pupil of the preceptor Vimalasēna ; in *Ārādhanāsāra*[2] simply as Dēvasēna ; in *Darśanasāra*[3] as Dēvasēna-gaṇin, residing in Dhārā ; and in *Tattvasāra*[4] as Muninātha Dēvasēna. In the first three works the name Dēvasēna is implied by the word Surasēna in the opening Maṅgala. None of these indications is found in *Sāvayadhamma-dōhā*. Thus the first argument loses its force and the other two can be easily explained. ii) It is a fact that there are some common topics between *Bhāvasaṁgraha* and this work ; but of the 18 parallel passages enumerated by Prof. HIRALAL hardly more than three passages are really parallels. Unless there is a significant phraseological similarity common words and ideas prove nothing in a literature of traditional nature. That one verse is common is important. Some Apabh. verses are found in *Bhāvasaṁgraha* ; Ms. *kha* stamps that verse as *uktaṁ ca* ; and the editor has shown how Mss. of *Bhāvasaṁgraha* have included verses from works even later than Dēvasēna.[5] It is not at all improbable, therefore, that some copyist might have taken this verse from *Sāvayadhamma-dōhā*. iii) The third argument proves nothing. The beginning of the use of dōha is not fully studied as yet. I may, however, point out that Apabh. portions of *Vikramōrvaśīyam* have one dōhā,[6] and that Rudraṭa, when illustrating the *ślēṣa* of Sk. and Apabh. composes two dōhās (IV. 15 & 21) in his *Kāvyālaṅkāra*. Rudraṭa flourished before 900 A.D. or more probably in the earlier part of the 9th century. Ānandavardhana (c. 850) also quotes an Apabh. dōhā in his *Dhvanyālōka*.[7] Even if it is accepted that Dēvasēna had a liking for dōhā, that he is the author of *Sāvayadhamma-dōhā* cannot be proved. Thus the claim that Dēvasēna is the author has to be given up now.

LAKṢMĪCANDRA'S CLAIMS.—The colophons of Mss. *Pa*, *Bha* and *Bha3* attribute this work to Lakṣmīcandra. Śrutasāgara quotes nine verses from this work : one is attributed to Lakṣmīcandra and another to Lakṣmīdhara.[8] Thus Lakṣmīcandra alias Lakṣmīdhara is the author of *Sāvayadhamma-dōhā* according to Śrutasāgara's information. His use of the words Guru and Bhagavān with the name of Lakṣmīcandra, as I now realize,[9] should not be taken with any special significance, because Śruta-

1 Ed. MDJG. Vol. XX, Bombay Saṁvat 1978.

2 Ed. MDJG. Vol. VI, Bombay Saṁvat 1973.

3 Critically edited by me in the *Annals* of the B. O. R. I. XV. iii-iv. Five Mss. read *surasēṇa*, while only one reads *surasēṇi* ; though the latter suits the meaning better, the former should be accepted with the majority of Mss.

4 Ed. MDJG. Vol. XIII, Bombay Saṁvat 1975.

5 See the editor's foot-note on p. 111 (verse No. 516) ; see also the Intro. p. 2.

6 S. P. PANDIT : *Vikramōrvaśīyam*, 3rd Ed., Appendix I, p. 113A a.

7 PISCHEL : *Materialien zur Kenntnis des Apabhraṁśa*, p. 45.

8 *Ṣaṭprābhṛtādi-saṅgraha*, pp. 144. 203, 283, 284, 297, 349, 350 ; the numbers of the verses quoted from this work are : 7, 105, 109, 110, 111, 112, 139, 148, 156. No. 139 on p. 203 is attributed to Lakṣmīcandra and No. 148 on p. 144 to Lakṣmīdhara.

9 In my paper in the *Annals* I had said '....he uses quite familiar terms like Guru, Bhagavān, as though Lakṣmīdhara is his immediate preceptor'.

sāgara mentions Samantabhadra as Guru and Gautama and Pūjyapāda as Bhagavān.[1] Prof. HIRALAL sets aside the claims of Lakṣmīcandra, whom he takes to be the same Lakṣmīcandra, a contemporary of Śrutasāgara, on the following grounds : i) The last verse of Ms. *Bha* attributes the text to Yōgīndra, Pañjikā to Lakṣmīcandra and Vṛtti to Prabhācandra. ii) Lakṣmaṇa, the pupil of Mallibhūṣaṇa, mentioned in the concluding remarks of Ms. *Pa*, is identical with Lakṣmīdhara, Lakṣmaṇa being his name before entering the order of monks. iii) The phrase '*Lakṣmīcandra-viracitē*' in Ms. *Pa* is a scribal error ; and it should have been either '*Śrī-Lakṣmīcandra-likhitē*' or '*Śrī-Lakṣmīcandrārtha-likhitē*. iv) Lastly no other works of Lakṣmīcandra are known to us. It is true that Śrutasāgara attributes this work to Lakṣmīcandra (or -dhara), but there is no evidence at all to identify this name with that of contemporary of his. Jaina hierarchy contains identical names of teachers who lived at different times. i) The verse in Ms. *Bha* is a later addition for the following reasons : it comes after the concluding colophon '*iti Śrāvakācāra-dōhakaṁ Lakṣmīcandra-kṛtaṁ samāptaṁ | śrī*' ; the contents of the verse are inconsistent with this colophon ; a part of the verse claiming Yōgīndra as the author is not at all proved ; and, as Prof. HIRALAL himself has said, nothing is definite about the Pañjikā attributed to Lakṣmīcandra. ii) I have already stated above that there is no evidence to take Lakṣmīcandra to be the same as the contemporary of Śrutasāgara. Even accepting, for the sake of argument, that Lakṣmīcandra (the contemporary of Śrutasāgara) was known as Pt. Lakṣmaṇa in his householder's life, Lakṣmaṇa and Lakṣmīcandra, mentioned at the close of Ms. *Pa*, are not identical. First we get '*iti Upāsakācārē ācārya Śrī Lakṣmīcandraviracitē dōhaka-sūtrāṇi samāptāni*'; then follows that this *Dōhā-śrāvakācāra* was written for Pt. Lakṣmaṇa, the pupil of Mallibhūṣaṇa, in Saṁvat 1555. Pt. Lakṣmaṇa, therefore, was a householder in Saṁvat 1555 ; then how can he mention beforehand his forthcoming ascetic title, Lakṣmīcandra, when he still calls himself Pt. Lakṣmaṇa ? The name, Lakṣmīcandra, is mentioned first ; and then comes the copyist's mention of Pt. Lakṣmaṇa. By comparing Mss. *Pa* and *Bha3* it will be clear that the colophon quoted above belongs to the author himself ; and the following lines in *Pa* are to be attributed to the copyist. iii) When the proposed identity of Lakṣmaṇa and Lakṣmīcandra is not proved, and in fact disproved, there is no point in suggesting a correction in the actual reading. iv) The last argument does not stand by itself, and needs no independent criticism. Prof. HIRALAL'S arguments against Lakṣmīcandra's authorship are not conclusive, and his claim that Dēvasēna is the author is already disproved. So, in conclusion, I have to say that the author of this Śrāvakācāra, in the light of the available material and on the authority of Śrutasāgara's statement, is Ācārya Lakṣmīcandra. There is no evidence to identify him with another Lakṣmīcandra who was a contemporary of Śrutasāgara. All that we know about the age of this Lakṣmīcandra is that he was earlier than Śrutasāgara and Brahma-Nēmidatta (A.D. 1528).

7) *Dōhāpāhuḍa* :[2]

NAME, CONTENTS, ETC.—Of the two Mss. of this work that have come to light one mentions the name as *Dōhāpāhuḍa* and the other *Pāhuḍadōhā*. Prof. HIRALAL

1 *Ṣaṭprābhṛtādi-saṅgraha*, pp. 65, 77 and 93.
2 Critically edited with Intro, Hindi translation, etc., by HIRALAL JAIN, KJS. Vol. [illegible], Karanja 1933 ; see also *Anēkānta* Vol. I and *Annals of the* B O R I XII, pp. [illegible] etc.

has explained the meaning of the title; and even according to his explanation the title should have been *Dōhāpāhuḍa*. Despite his correct interpretation,[1] I fail to understand, why he gave currency to the name *Pāhuḍadōhā*. Like *P.-prakāśa* this is a mystical work in which the author broods on the reality of Ātman. Undoubtedly the text, as it stands, is an inflated one; and that explains the presence of Sk. verses at the close and two gāthās in Māhārāṣṭrī after dōhā No. 211, which mentions the name of Rāmasiṁha who according to the colophon of one Ms. is the author.

JŌĪNDU'S AUTHORSHIP.—The concluding colophon of Ms. *Ka* attributes this to Yōgēndra, and this work has many common verses with *P.-prakāśa* and *Yōgasāra*. But Yōgīndu's authorship is not well founded for the following reasons: i) As in *P.-prakāśa* and *Yōgasāra* he does not mention his name in the body of the text; and moreover verse No. 211 mentions the name of Rāmasiṁha. ii) In many places, even in common verses (Nos. 34, 35, 46, 49, 80, etc.), *Dōhāpāhuḍa* shows terminations *-ho* and *-hu*ˇ in the Gen. sg. of *a*-ending nouns, but *P.-prakāśa* has uniformly *-ha*ˇ; the forms like *tuhāraü, tuhārī, dōhiṁ mi, dēhahaṁ mi, kahim mi* (Nos. 56, 182, 55, 72, 131 and 197) are not found in *P.-prakāśa*. iii) The Ms. *Da* has a colophon attributing this work to Rāmasiṁha, whose name occurs in dōhā No. 211. In the beginning, with the Ms. *Ka* alone before me, I suspected whether the name of Rāmasiṁha, which does not occur in the last verse, might be that of a traditional author like Śānti incidentally mentioned in *P.-prakāśa* (II. 61). But now after a closer study of *Dōhāpāhuḍa* I find that the evidences to prove Jōïndu's authorship are insufficient. So many common verses and the Apabh. dialect have perhaps led some scribe to put Yōgēndra's name in the colophon, though Rāmasiṁha's name is mentioned by the text itself.

RĀMASIṀHA AS THE AUTHOR.—Rāmasiṁha's claim is based on two facts that according to both the Mss. his name is found in one of the verses of the text and one Ms. mentions his name in the colophon. The only apparent objection against his authorship is that his name is not mentioned in the last verse. But I have remarked above that the present text is an inflated one, and many of the verses after 211 appear to have been added later on. Thus in the light of the present material Rāmasiṁha should be accepted as the author. He is much indebted to Jōïndu, and one fifth of his work, as Prof. HIRALAL says, is drawn from *P.-prakāśa*. Rāmasiṁha is plainly a lover of mystic brooding: that might explain his use of verses from earlier authors. As to his age we can say only this much that he flourished between Jōïndu and Hēmacandra. Verses from Dōhāpāhuḍa are quoted by Śrutasāgara, Brahmadēva, Jayasēna and Hēmacandra. That there are two common verses between *Dōhāpāhuḍa* and *Sāvayadhamma-dōhā* is an important fact.[2] But Dēvasēna's authorship of *Sāvayadhamma-dōhā* is disproved; and the compilatory character and the inflated nature of the text of *Dōhāpāhuḍa* do not admit at present any objective criteria of textual criticism. Additional light can be thrown on this problem when more Mss. are available.

8-9) *Amṛtāśīti* and *Nijātmāṣṭaka*:[3]

AMṚTĀŚĪTI.—It is a didactic work containing 82 verses in different metres,

1 Intro. to his Ed. p. 13.
2 Ibidem, p. 21.
3 MDJG. Vol. XXI, pp. 85-101 and 168-9.

groups of verses being devoted to different topics of Jainism. We do not know whether the colophon is added by the Editor or it was there in the Ms. The word Yōgīndra occurring in the last verse can be taken as an adjective of Candraprabha. There is no evidence at all to attribute this work to the author of *P.-prakāśa.* This work includes some verses ascribed to Vidyānandi, Jaṭāsiṁhanandi and Akalaṅkadēva. Some verses are common with the Śatakas of Bhartṛhari. Three verses (Nos. 57, 58 and 59) from this *Amṛtāśīti* are quoted by Padmaprabha Maladhāridēva in his Commentary on *Niyamasāra.*[1] The same Vṛtti quotes one more verse thus :

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः । तथाहि[2]

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम् ॥

But this verse is not found in the present text of *Amṛtāśīti,* and Pt. PREMI conjectures that it might perhaps belong to *Adhyātma saṁdōha,* another work traditionally attributed to Yōgīndra.

NIJÂTMĀṢṬAKA.—This contains eight Prākrit verses in Sragdharā metre glorifying the nature of Siddha in a dignified manner. The text does not mention the name of any author, but it is the concluding colophon in Sanskrit that mentions Yōgīndra's name. This is no sufficient evidence to attribute its authorship to the author of *P.-prakāśa.*

CONCLUSION.—After this long discussion we find that the traditional list of works attributed to Jōïndu is not quite authentic ; and at present *P.-prakāśa* and *Yōgasāra* are the only two works of Jōïndu.

### c) ON THE DATE OF JŌÏNDU

NATURE OF THE EVIDENCES AND THE LATER LIMIT.—From the two works of Jōïndu we get no clue that might shed some light on his age. So the only alternative left before us is to take a survey of the references to and quotations, etc., from the works of Jōïndu as found in other works. The text of *P.-prakāśa* is swollen from time to time ; the editions of the works, in which quotations, etc., are found, are not critical, and even if critical editions are available there is still scope for differences of opinion ; and lastly the periods assigned to these works and authors are often subject to modifications, because the studies in this branch of Indian literature are not much advanced. Thus the very nature of the material puts certain limitations to our conclusions. This attitude of scepticism, though critically justified, should not forbid us from collecting the various pieces of evidence that might be of use, in the long run, to settle the age of Jōïndu more definitely. Let us try to ascertain the later limit for the period of Jōïndu in the light of the following evidences :

i) Śrutasāgara, who flourished about the beginning of the 16th century A.D.

1 *Niyamasāra* (Bombay 1916), pp. 38, 107 and 154.

2 Ibid, p. 86 ; Br. SHITALAPRASADAJI, however, quotes in his Hindi translation [illegible] etc., (*Amṛtāśīti* 21) instead of this verse.

quotes six verses from *P.-prakāśa* (I. 78, 117, 121, II. 46*1, 61 and 117) two of which are explicitly attributed to Yōgīndra.[1]

ii) We have the Kannaḍa commentary of Maladhāre Bālacandra and the Sanskrit commentary of Brahmadēva on *P.-prakāśa*; and we have assigned them to c. 14th and 13th century A.D. respectively.[2]

iii) Jayasēna who has written Sk. commentaries on *Pañcāstikāya, Pravacanasāra* and *Samayasāra* of Kundakunda is sufficiently acquainted with Jōïndu and his two works. In his commentary on *Samayasāra* he mentions *P.-prakāśa* by name and quotes a verse (I. 68) explicitly attributing it to Yōgīndra. In his commentary on *Pañcāstikāya* he quotes a verse which is the same as No. 56 of *Yōgasāra*. Jayasēna belonged c. to the second half of the 12th century A.D.

iv) It is seen above that Hēmacandra is acquainted with *P.-prakāśa*; he has drawn some material from it; and in fact he quotes a few verses from this work with some changes here and there to illustrate his rules of Apabhraṁśa grammar.[3] Hēmacandra was born in A.D. 1089 and died in 1173 A.D. "It is not an unusual phenomenon in the history of any language that extensive grammars come to be composed only after a particular language is fossilised in literary form either in traditional memory or in books. So there is no sufficient justification for the assumption that the Apabhraṁśa treated by Hēmacandra is the same as the current language of his times. It is more reasonable to say that the Apabhraṁśa stage represented by his grammar was altogether fossilised in literary form, and it must have been at least the next previous, or even earlier, stage of the language current in his times. Grammars cannot be based on merely spoken languages: at the most we can appeal to this or that usage in the current language with such phrases as *lōkē*". This means that Jōïndu can be put earlier than Hēmacandra at least by a couple of centuries.

v) Hēmacandra, it has been shown by Prof. HIRALAL,[4] quotes some verses from *Dōhāpāhuḍa* of Rāmasiṁha who in turn has enriched his work by drawing bodily many dōhās from *P.-prakāśa* and *Yōgasāra* of Jōïndu. So Jōïndu is not merely earlier than Hēmacandra, but the periods of these two are intervened by that of Rāmasiṁha.

vi) I have shown above how some verses of *Tattvasāra* have close similarities with the dōhās of *P.-prakāśa.* It is not improbable that both might have drawn from some common source. But as the verses stand, in view of the reasons stated by me above,[5] I think, it is Dēvasēna that follows Yōgīndu. Dēvasēna has often utilised material from earlier works in his compositions. We know Dēvasēna's date definitely. He finished his *Darśanasāra* in Saṁvat 990, i.e., A.D. 933.

vii) The following two verses deserve comparison:

1. *Yōgasāra,* 65:

विरला जाणहिँ तत्तु बुहु विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिँ तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु॥

1 *Ṣaṭprābhṛtādi-saṅgraha*, pp. 39, 297, 234, 315, 325, 332.
2 See section III below.
3 See p. 46 above.
4 Intro. to *Dōhāpāhuḍa*, p. 22.
5 On p. 28.

2. *Kattigēyāṇuppēkkhā*, 279 :

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥

*Kattigēyāṇuppēkkhā*[1] of Kumāra is not written in the Apabh. dialect ; so the Present tense 3rd p. pl. forms, *ṇisuṇahi* and *bhāvahi* (preferably *-hi̐* ) are intruders there, but the same are justified in *Yōgasāra.* The contents of both the verses are identical. The fact that the dōhā is converted into a gāthā does not admit the possibility that some later copyist might have taken it over from *Yōgasāra.* In all probabiliy it is Kumāra that is following the above verse of Jōïndu consciously or unconsciously. The personality of Kumāra is much obscured by certain mythical associations, and his age is not settled as yet. Oral tradition recorded by PANNALAL says that Kumāra flourished some two or three centuries before the Vikrama era[2] and the views of even some modern scholars appear to be influenced by this tradition.[3] The only available Sk. commentary on this work is that of Śubhacandra who composed it in A.D. 1556 ;[4] as yet no references to Kumāra in earlier commentaries are brought to light ; the order of enumeration of 12 Anuprēkṣās followed by Kumāra is that of *Tattvārthasūtra* which is slightly different from that adopted by Vaṭṭakēra, Śivārya and Kundakunda. These points militate against the high antiquity claimed for Kumāra by tradition. There is no critical edition of *Kattigēyāṇuppēkkhā*, but as the text stands the dialectal appearance is not so old as that of *Pravacanasāra.* The reference to Kṣētrapāla in verse No. 25 shows that Kumāra belonged perhaps to the South where the worship of Kṣētrapāla has been more popular. In the South some monks bearing the name Kumārasēna have flourished. In the Mulagund temple inscription (earlier than 903 A.D.) one Kumārasēna is mentioned ;[5] then one Kumārasvāmi is mentioned in an inscription at Bogadi of 1145 A.D.[6] ; but mere similarity of name is not enough for identification. With these facts in view I do not want to assign Kumāra to any definite period, but what I want to point out is that the high antiquity traditionally claimed for Kumāra is not proved as yet ; and there are sufficiently weighty reasons to doubt it. As to the relative periods of Jōïndu and Kumāra, the former in all probability is earlier than the latter.

viii) Caṇḍa quotes the following dōhā in his *Prākṛta-lakṣaṇam*[7] to illustrate his sūtra : '*yathā tathā anayōḥ sthānē jima-timau*' :

कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ ।
तिम तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

1 Published with Jayacandra's Hindi Commentary, Bombay 190[illegible]
2 Ibidem Intro.
3 "The 'twelve Anupreksħās' are a part of Jaina faith. Svāmi Kārtikeya seems to be the first who wrote on them. Other writers have only copied and repeated him. [illegible] 'Dvādaśānuprekshā' of Kundakundāchārya seems to have been written [illegible] No wonder, if Svāmi Kārttikeya preceded Kundakundāchārya. Any way he is an ancient writer".—*Catalogue of Sk. and Pk. Mss. in the C. P. and Berar*, [illegible] WINTERNITZ : *A History of Indian Literature*, Vol. II, p. 577.
4 *Annals*, Vol. XIII, i., pp. 37, etc.
5 *Jounal of the Bombay Branch R. A. S. X*, pp. 2[illegible], 1919.
6 *Epigraphia Carnatica* IV, Nagamangala No. 10[illegible].
7 Ed. by A. F. RUDLOF HOERNLE, Part I, Calcutta 1880

This dōhā is the same as I. 85 of *P.-prakāśa* with the difference that our text reads *jimu* and *timu* for *jima* and *tima*, and *jiü* for *jō* in the second line. It is a sad tale that the text of Caṇḍa's grammar is not well preserved. 'The whole work has the appearance of half-arranged, miscellaneous jottings for a work rather than a well-arranged and finished treatise.'[1] HOERNLE has edited this work as early as 1880, when Prākrit studies were in their infancy, and nothing in fact was known about Apabhraṁśa as a dialect commanding vast literature; his material was scanty; his was a difficult task to rebuild a consistent text, with Pāli language and Aśōkan inscriptions in view, out of bewilderingly chaotic material. His rigorous method, about which he has sufficiently explained and against which PISCHEL and GUNE have rightly complained, has led him to relegate this sūtra and the quotation to the appendix indicating thereby that they belong to Revisionists. The context in the Grammar, where the present sūtra with the illustrative verse occurs in the company of ten other sūtras, all referring to Apabhraṁśa, is not a proper one: this we will have to accept with HOERNLE. But this does not forbid us from accepting them as genuine in other parts of the grammar, remembering that the sūtras appear to have been disturbed in their arrangement. Caṇḍa recognises an Apabhraṁśa dialect in which *r* as the second member of the conjunct group is preserved. That this was a fact of an Apabhraṁśa dialect is seen above. It is illustrated by Rudraṭa's *ślēṣa* verse and by some illustrations of Hēmacandra. We expect that Caṇḍa could not have disposed of Apabhraṁśa in one sūtra; by accepting the above sūtras more information is being added about Apabhraṁśa. It is natural that the grammarian might illustrate his sūtras with quotations from literature. It is significant that this quotation does not occur in Hēmacandra's grammar: that sets aside the suggestion that the Revisionists might have added it from Hēmacandra's work. With GUNE I am inclined to accept that the presence of these sūtras, with the quotation, is quite natural in Caṇḍa's grammar.

Different views are held as to the date of Caṇḍa. HOERNLE thinks that his reconstructed text, which mainly follows Ms. A, presents a very archaic phase of Prākrit language, and therefore Caṇḍa's work is composed probably somewhat later than the 3rd century B.C., the period of Aśōkan inscriptions, and probably earlier than the beginning of the Christian era 'assuming of course that he was contemporary with that language'.[2] According to HOERNLE the present sūtra and the quotation belong to the Revisionists whom he puts later than Vararuci, but how much later he does not say anything. The approximate date assigned to Vararuci is 500 A.D. According to GUNE 'Caṇḍa lived at a time when the Apabhraṁśa had ceased to be a mere dialect of the Ābhīras and become a literary language, i.e., after the sixth century A.D. and not before'. Thus the revised form can be tentatively placed about 700 A.D.[3] So *P.-prakāśa* will have to be put earlier than *Prākṛta-lakṣaṇam*.

EARLIER LIMIT.—It is shown above[4] how Jōïndu inherits much from *Mōkkhapāhuḍa* of Kundakunda and how he closely follows *Samādhi-śataka* of Pūjyapāda.

1 DALAL and GUNE: *Bhavisayattakahā* Intro., p. 62, Baroda 1923.
2 HOERNLE'S Intro. pp. 1, 20, etc.
3 M. GHOSH: *Journal* of the Department of Letters (Calcutta University), Vol. XXIII, p. 17.
4 See pp. 27-8 above.

*P.-prakāśa,* in fact, is a popular elaboration of some of the fundamental ideas of *Samādhi-śataka.* Kundakunda belonged c. to the beginning of the Christian era, and Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th century A.D.

CONCLUSION.—In the light of the above discussion I tentatively put *P.-prakāśa* between *Samādhi-śataka* and *Prākṛta Lakṣaṇa*;[1] and in all probability Jōindu flourished in the 6th century A.D.

## III. COMMENTARIES ON P.-PRAKĀŚA

### 1. A KANNAḌA GLOSS (K-GLOSS) ON P.PRAKĀŚA

BĀḶACANDRA'S COMMENTARY AND THE KANNAḌA GLOSS IN MS K.—It is reported[2] that (Adhyātmi) Bāḷacandra (c. beginning of the 13th century A.D.), who has written Kannaḍa commentaries on the three works of Kundakunda,[3] has commented in Kannaḍa on *P.-prakāśa* as well. The Ms. K, described below, contains a Kannaḍa commentary on *P.-prakāśa*; but one is not in a position to say whether it is the same as that of Bāḷacandra, because the Ms. K supplies no information and Mm. R. NARASIMHACHARYA has not given any extracts with which the commentary in K could have been compared.

NATURE OF THIS KANNAḌA GLOSS.—The Kannaḍa gloss in Ms. K (to be called K-gloss hereafter) is a very modest attempt to explain in Kannaḍa the dōhās of *P.-prakāśa.* Throughout the commentary, so far as I have read it here and there, no Sanskrit equivalents of Apabh. forms are given; but the author takes the Apabh. forms one after the other as Kannaḍa syntax would need, and gives their meaning in Kannaḍa. Some of the interpretations show the linguistic insight of the commentator who is very well grounded in the technicalities of Jaina philosophy. I have come across certain words whose plain and etymological meaning is missed by the commentator. His comments are lucid and simple, and he is very much faithful to the plain meaning of the dōhās. There are no additional philosophical discussions, nor are there any quotations as in the Sk. commentary of Brahmadēva. To give some idea as to what this gloss is like and to facilitate its comparison with other glosses, I give here two dōhās with their comments.[4]

---

1 Mr. M. C. MODI, in his notes (pp. 76-9) on selections from *P.-prakāśa* in *Apabhraṃśa Pāṭhāvali* (Ahmedabad 1935) refers to my paper on Jōindu in the *Annals* and remarks that Jōindu can be placed before Hēmacandra but it is not correct to put him earlier than 10th or 11th century of Vikrama era. The way of putting his conclusion reminds me of a statement of MAX MÜLLER, 'Chronology is not a matter of taste that can be settled by mere impressions'. An argument based on a word or so is not conclusive. Taking into consideration the nature of Apabh. phonology *amva* and *ava* can never be chronological stages. About *javalā,* the meaning *samīpa,* though given by Brahmadēva, does not suit the context as I have shown above. It is to be derived from Sk. *yamala,* pair; and the word *jamala* occurs even in the Ardhamāgadhī Canon. The weakening of *m* into *v* is quite usual in Apabh. The Marāṭhī meaning is a secondary one.

2 R. NARASIMHACHARYA: *Karṇāṭaka Kavicharite,* Vol. I. Revised Ed., p. [illegible]

3 A. N. UPADHYE: *Pravacanasāra* (RJS) Intro. pp. 104-8.

4 These extracts are faithfully reproduced here. It should be noted that no distinction is made here between ĕ and ē and ŏ and ō following the Ms. For the convenience of the reader some hyphens are put; some aspirates are added in square brackets as the Ms. does not distinguish *d* from *dh*; and for mutual distinction Kannaḍa words are not italicised like the Apabh. ones.

*P.-prakāśa* I. 1 :

*je jāyā jhāṇaggiye kamma-kalaṁka ḍahevi* |
*ṇicca ṇiraṁjaṇa ṇāṇamayā te paramappa ṇavevi* | |

*jhāṇaggiye* | nijātma-d[h]yānamembа kiccinimdam | *kamma-kalaṁka* | jñānāvaranādi-karmmagaḷemba puḷigaḷaṁ | *ḍahevi* | suṭṭu | *ṇicca* | nityarum | *ṇiraṁjaṇa* | niraṁjanarum | *ṇāṇamayā* | kevalajñānādi-svarūparum | *jāyā* | ādaru | *je* | ārkkelambaru | *te* | aṁtappa | *paramappa* | paramātmaṁge | *ṇavevi* | poḍavaḍuveṁ | |
Ibidem I. 82 (No. 60 in TKM.) :

*taruṇaü budd[h]aü rūvaḍaü sūraü paṁḍiü dibbu* |
*khamaṇaü*[1] *budd [h]aü sevaḍaü mūḍhaü maṇṇaī sabbu* | |

*taruṇaü* | taruṇane | *budhḍhaü*[2] | vṛdd[h]ane | *rūvaḍaü* | celuvane | *sūraü* sūrane | *dibbu* | atiśayamappa | *paṁḍiyaü*[3] | paṁḍitane | *khamaṇaü* | samaṇane | *budd[h]aü* | baudd[h]ane | *sevaḍaü* | sevakane | *sabu* (*sabbu*?) idellamaṁ | tānemdu | *mūḍhaü* | bahirātmaṁ | *maṇṇaī* | bagegum | |

THIS GLOSS INDEPENDENT OF BRAHMADĒVA'S COMMENTARY.—On many crucial points I have compared this K-gloss with Brahmadēva's Sk. commentary ; and I accept the position that the author of this gloss is not acquainted with and has not used the Sk. commentary of Brahmadēva. If Brahmadēva's commentary was before him, we expected him to follow the longer recension adopted by Brahmadēva, to give Sk. equivalents of Apabh. forms like him, and to add supplementary discussions and quotations in his gloss as Brahmadēva has done in his commentary. To quote a parallel case, Bāḷacandra in his Kannaḍa commentary on *Pravacanasāra* inherits many details from the Sk. commentary of Jayasēna which he is following. Then there are some significant dissimilarities between the K-gloss and Brahmadēva's commentary which confirm the same conclusion. The recension of this K-gloss is very short as compared with that of Brahmadēva ; in fact there is a difference of 112 verses. The K-gloss has preserved many important readings and interpretations independent of Brahmadēva. In the interpretation of the very first dōhā the K-gloss fundamentally differs from Brahmadēva : in the K-gloss *ṇicca, ṇiraṁjaṇa,* and *ṇāṇamayā* are separate words each to be taken in the Nom. plural, while with Brahmadēva they form a compound ; then Brahmadēva takes *ṇavēvi,* as a gerund form (*praṇmya*) and connects this dōhā with the next, while the K-gloss, which does not contain dōhās 2-11, takes *ṇavēvi* as 1st person Sg. of the Present, Sk. *namāmi, vi* being treated as the weak form of *mi.* In dōhā I. 82 Brahmadēva has a word *vaṁdaü* which he equates with *vandakaḥ,* and translates as *Bauddhaḥ* ; but the K-gloss clearly reads *budd* [*h*] *aü,* and renders as *Baudd* [*h*]*ane.* Then in the same dōhā there is a very significant mistake of the K-gloss which renders *sēvaḍaü* as *sēvakaṇe* ; while Brahmadēva rightly translates it as *śvētapaṭaḥ.* In *dōhā* I. 88 *guraü,* (T and K read *guruü.* but in the commentary K has *guraü*) is explained by Brahmadēva as *gurava-śabdavācyaḥ śvētāmbaraḥ* | , but the K-gloss translates it as *gauravanuṁ* (?). This K-gloss on the first line of II. 89 runs thus : '*caṭṭahi* | guṁḍugaḷiṁdamum | *paṭṭahi* | maṇegaḷiṁdamuṁ |

1 TM read *Khavaṇaü.*
2 In the text *ḍ* is doubled, but here *ḍh* : that is due to the peculiarity of writing double consonants with a *nolli.*
3 Note how this form slightly differs from that in the text above.

*gumḍiyahi*ᵒ | gumḍigegaḷimdamum'. Brahmadēva does not explain these words; perhaps they appeared to be quite easy to him being current in the contemporary languages. The Kannaḍa commentator, being of course a southerner, commits a mistake that he renders *caṭṭahi* as *gumḍugalimdamum*. *Caṭṭ* means mat (cf. *caṭaī*) as I understand it; the Kannaḍa commentator has perhaps confused it with a Kannaḍa word *caṭṭigĕ* meaning an earthen pot. In II. 117 Brahmadēva's reading is *vōdahadahammi paḍiyā* for which T, K and M read *cŏddahahadakammc paḍiyā*. Brahmadēva explains it thus: *vōdaha-śabdēna yauvanam sa ēva drahō mahāhradas tatra patitāḥ* |, while the K-gloss runs thus: '*coddaha* | strī-śarīramemba | *dahakamme* (note *hada* is read as *daha*) | karmmada maḍuvinoḷu.' In II. 121 *dhamdhaī* (TKM read *damde* possibly for *dhamdhe*, as these Mss. have *d* often for *dh*) is explained by Brahmadēva as *dhāndē mithyātva-viṣaya-kaṣāya-nimittōtpannē durdhyānārta-raudra-vyāsaṅgē*; but the K-gloss says: '*damde* | parigraha-dvamdvadoḷu' the use of the Sanskrit word *dvandva* shows the insight of the commentator in explaining Apabh. words independently. Instances like these, which show the independence of the K-gloss, can be easily multiplied. If the author of this K-gloss had used Brahmadēva's commentary, he would not have maintained such differences and committed the errors some of which are noted above.

ON THE AGE OF K-GLOSS.—The above conclusion implies another possible deduction that this Kannaḍa gloss will have to be dated earlier than Brahmadēva. And from the following study of other commentaries it will be clear that K-gloss is perhaps the earliest known commentary on *P.prakāśa*. Its antiquity, to a certain extent at least, is confirmed by the comparative old age of the Ms. K and by the presence of the earlier form of *r* in the gloss more regularly than in Q-gloss.

## 2. BRAHMADĒVA AND HIS VṚTTI

BRAHMADĒVA AND HIS WORKS.—Brahmadēva gives no details about his personal history in his commentaries. His colophon of *Dravyasaṁgrahaṭīkā* simply mentions his name, Brahmadēva. JAVAHARLAL,[1] who reads his name as Brahmadēvaji, suggests that Brahma is the title indicating that he was a Brahmacārin, i.e., a celibate, and that Dēvajī was his personal name. Though Nēmidatta,[2] the author of *Ārādhanā-kathākōśa*, Hēmacandra, the author of *Śrutaskandha*[3] in Prākrit etc. have used Brahma as their title, it does not seem probable that Brahma is a title in the name of Brahmadēva, because Dēva is not an usual name but generally a name-ending[4] and because there have been many Jaina authors bearing the names Brahmamuni, Brahmasēna, Brahmasūri etc. So Brahmadēva should be taken as a name. According to a traditional list, noted by JAVAHARLAL, the following works are attributed to Brahmadēva: 1) *Paramātmaprakāśa-ṭīkā*, 2) *Bṛhad-Dravyasaṁgraha-ṭīkā*, 3) *Tattvadīpaka*, 4) *Jñānadīpaka*, 5) *Trivarṇācāra-dīpaka*, 6) *Pratiṣṭhā-tilaka*, 7) [illegible]

---

1 See his Intro. of *Bṛhad-Dravyasaṁgraha* (RJS.) pp. 10-11. Some other views of JAVAHARLAL referred to below are from this Intro.

2 PETERSON, *Reports* V, p. xl.

3 MDJG, Vol. XIII, p. 4 and pp. 152-63.

4 As in Akalaṅkadēva, Sōmadēva, etc.

*Vivāhapaṭala* and 8) *Kathākōśa*.[1] Nothing can be said about Nos. 3, 4 & 7 unless their Mss. are available. Possibly it is due to the presence of the word Brahma in his name that (*Ārādhanā-*)*Kathākōśa* of Brahma-Nēmidatta[2] and *Trivarṇācāra* (*-dīpaka*)[3] and *Pratiṣṭhā-tilaka* of Brahmasūri[4] are attributed to Brahmadēva through mistake. Thus we have before us only two authentic works of Brahmadēva viz., *Paramātma-prakāśa-vṛtti* and *Dravyasaṁgraha-vṛtti*[5]

HIS COMMENTARY ON P.-PRAKĀŚA.—Brahmadēva does not mention his name in the colophon of *P.-prakāśa-vṛtti*. Bālacandra attributes a Sk. commentary to Brahmadēva ; secondly Daulatarāma plainly attributes the vṛtti to Brahmadēva ; and lastly the commentary on *P.-prakāśa* has much in common with the commentary on *Dravyasaṁgraha* where he mentions his name. There are many striking agreements such as almost identical passages, the same quotations, similar illustrations and parallel method of discussion.[6] So there is no doubt that the same Brahmadēva has commented on these two works. Brahmadēva always gives a literal explanation of the dōhās sometimes without repeating the words of the text. His aim is to explain the contents, and in only one or two places he explains grammatical forms.[7] After the literal explanation, he gives some additional discussion rather in a heavy style ; and here and there he quotes early authors. He is quite at home in the application of various Nayas or view-points ; and his enthusiasm for Niścaya-naya and naturally for spiritual knowledge is very great. The commentary on *P.prakāśa* is not heavily loaded with technical details about Jaina dogmas like that on *Dravyasaṁgraha,* whose contents were mainly responsible for this. But for this commentary of Brahmadēva, *P.-prakāśa* would not have been so popular.

JAYASĒNA AND BRAHMADĒVA.—The analysis, introductory remarks, the closing discussions and some other features of Brahmadēva's commentary remind us of Jayasēna's commentaries. Brahmadēva closely follows Jayasēna with whose commentaries he appears to be thoroughly conversant. Some discussions in the commentary of *P.-prakāśa* are almost the same as those in the commentary of Jayasēna on *Pañcāstikāya* ; compare, for instance, *P.-prakāśa* on II. 21 with *Pañcāstikāya* on 23ff ; *Pp.* on II. 33 with *P.* on 152 ; and *Pp.* on II. 36 with *P.* on 146.

BRAHMADĒVA'S DATE.—Nowhere Brahmadēva informs us the age when he composed his works. i) Daulatarāma (2nd half of the 18th century A.D.) bases his Hindī commentary on Brahmadēva's Sk. ṭīkā. ii) JAVAHARLAL has noted that Śubhachandra, in

1 According to PETERSON'S *Reports*, Vol. IV, p. 154, a commentary of *Pañcāstikāya* is attributed to Brahmadēvajī, but I have already pointed (see my Intro. to *Pravacanasāra*, p. 101, Foot-note 5) that it is the same commentary as the one attributed to Jayasēna. The confusion remains still unexplained.

2 PETERSON : *Reports* V, p. 40.

3 *Reports* of Śrī Ailaka Pannālāla Digambara Jaina Saraswatī Bhavana, Vol. I, p. 44.

4 I learn from my friend Pt. A. SHANTIRAJ SHASTRI, Āsthāna Vidvān, Mysore, that Mss. of *Pratiṣṭhā-tilaka* of Brahmasūri are available.

5 Ed. in RJS, Bombay 1919 (2nd Ed.); also in SBJ. Vol. I.

6 Compare, for instance, *Dravya-saṁgraha-vṛtti*, pp. 53-54 etc., with *P.-prakāśa* commentary on II. 21 ; *Ds.* p. 63 with *Pp.* on II 23 ; *Ds.* p. 129 with *Pp.* on I. 9 ; *Ds.* pp. 213-14 with *Pp.* on I. 68 ; *Ds.* p. 215-16 with *Pp.* on II. 99, also II. 94.

7 For instance see his commentary on II. 25.

his commentary on *Kattigeyāṇuppēkkhā* (A.D. 1556) borrows much from Brahmadēva's Vṛtti of *Dravyasaṁgraha*. iii) Bālacandra Maladhāre plainly refers to Brahmadēva's commentary; but the date of Bālacandra cannot be settled on independent grounds. iv) In the Jesalmere[1] Bhaṇḍāra there is a paper Ms. of Brahmadēva's Vṛtti of *Dravyasaṁgraha* copied in saṁvat 1485, i.e., A.D. 1428 at Maṇḍāva in the reign of Rāi Śri Cāndarāya. Thus these external evidences put a later limit to his period that he flourished earlier than 1428 A.D. We shall now see what chronological material we get from his works. i) Taking a review of the various quotations[2] in *P.-prakāśa-ṭīkā* Brahmadēva quotes from *Ārādhanā* of Śivārya; from *Bhāva-* and *Mokkha-pāhuḍa, Pañcāstikāya, Pravacanasāra* and *Samayasāra* of Kundakunda (c. beginning of the Christian era); from *Tattvārthasūtra* of Umāsvāti; from *Ratnakaraṇḍa* of Samantabhadra (c. 2nd century A.D.); from Sk. *Siddhabhakti* and *Iṣṭōpadēśa* of Pūjyapāda (c. 5th century A.D.); from *Kattigēyāṇuppēkkhā* of Kumāra; from *Praśnōttara-ratnamālā* of Amōghavarṣa (c. 815-877 A.D.), from *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra (who finished the *Mahāpurāṇa* on 23rd June 897 A.D.); possibly from *Jīva-kāṇḍa* of Nēmicandra (10th century A.D), and also from his *Dravyasaṁgraha*; from *Puruṣārthasiddhyupāya* of Amṛtacandra (c. close of the 10th century A.D.); from *Yōgasāra* of Amitagati (c. beginning of the 10th century A.D.);[3] from *Yaśastilaka-Campū* of Sōmadēva (959 A.D.); from *Dōhāpāhuḍa* of Rāmasiṁha (earlier than Hēmacandra 1089-1173 A.D.); from *Tattvānuśāsana* of Rāmasēna (earlier than Āśādhara who is put in the first half of the 13th century A.D.); from *Pañcaviṁśati* of Padmanandi (earlier than Padmaprabha who flourished at the close of the 12th century A.D.).[4] From this analysis of quotations what we can definitely state is that Brahmadēva is later than Sōmadēva who flourished in the middle of the 10th century. ii) In his opening remarks of *Dravyasaṁgraha-vṛtti* Brahmadēva narrates how Nēmicandra first composed a small *Dravyasaṁgraha* in 26 verses and the same was enlarged later on for Sōma, a resident of Āśramapura and a royal-treasurer of Śrīpāla Maṇḍalēśvara under the great king Bhōja of Dhārā in Mālava country. As this is not proved to be a contemporary piece of evidence we may not accept as facts that Nēmicandra was a contemporary of Bhōja of Dhārā and that *Dravyasaṁgraha* was firs-

a smaller work; but one thing is evident that Brahmadēva is sufficiently later than Bhōja of Dhārā whom he calls *Kali-kāla-Cakravarti*. Undoubtedly he refers to Bhōjadēva, the Paramāra of Mālwā, the celebrated patron of learning; the period of Bhōjadēva is A.D. 1018-1060. Brahmadēva's reference to Bhōja indicates that he is sufficiently later than 11th century A.D. iii) It is shown above that Brahmadēva is much influenced by the commentaries of Jayasēna, and even some passages of Jayasēna are almost reproduced by our author. Jayasēna belonged to c. second half of the 12th century A.D.[1] So Brahmadēva is later than 12th century. To conclude from these external and internal evidences, Brahmadēva is later than Sōmadēva (959 A.D), king Bhōja of Dhārā (A.D. 1018-60) and Jayasēna (c. 12th century). So Brahmadēva[2] might be tentatively put in the 13th century A.D.[3]

## 3. MALADHĀRE BĀLACANDRA AND HIS KANNAḌA COMMENTARY

EXTRACTS FROM THE COMMENTARY AND ITS AUTHORSHIP.—The Ms. P, which is described belod in Section IV, contains an exhaustive commentary in Kannaḍa on the dōhās of *P.-prakāśa*. I give below the opening portion of the commentary with some corrections:

*nirupanacaritanavyaya-*
*narujananādyaṁtanamalanātmasukhā |*
*karanadvaitanaghakṣaya*
*karanarhaṁ nelasugĕnna hṛtsarasijadoḷ ||*

*śrī Yōgīṁdra-dēvar māḍida Paramātmaprakāśam ĕṁba dōhe cchaṁdada graṁthakk śrī Brahmadēvar māḍida Saṁskṛtada vṛttiyaṁ nōḍiyapratibuddha-bōdhanārthaṁ Karṇāṭa-vṛttiyaṁ peḷvĕ, graṁtha-kartāraṁ graṁthada mŏdalŏḷu iṣṭadēvatānamaskāramaṁ māḍuttam ŏṁdu dōheya sūtramaṁ peḷdaparu || 'Jē jāyā jhāṇaggiyae'* etc. The concluding portion runs thus: *sō' hamĕṁdiṁtu jagattraya kālatrayadŏḷu kāya-vāṅ-mana-karaṇatraya-śuddhiyiṁ niścaya nayadiṁdellā jīvaṁgaḷumiṁtu niraṁtaraṁ bhāvanĕyaṁ māḍi paḍaĕdĕṁbudu śrī Yōgīṁdradēvarabhiprāyaṁ || śrī Kurkkuṭāsana*[4] *Maladhāre Bālacandradēva sthiraṁ jīyāt ||* From these extracts it is clear that this Kannaḍa commentary is mainly based on Brahmadēva's Vṛtti, that there is sufficient reason

1 See my Intro. to *Pravacanasāra*, pp. 101-4.

2 One Brahmadēva of Mūlasaṅgha and Sūrastagaṇa is mentioned in an inscription of 1142 A.D. (*Epigraphia Carnatica* IV, Nāgamaṅgala 94). There is no sufficient evidence to identify this Brahmadēva, with our commentator. The same name is often borne by many Jaina authors and monks.

3 In his commentary on *Dravyasaṁgraha* 49, Brahmadēva refers to a Pañcanamaskāra grantha, of 12 thousand ślōkas. I have not got any information about this work. JAVAHARLAL, however, reads the name as *Pañcanamaskāra Mahātmya;* he attributes its authorship to Siṁhanandi, a Bhaṭṭāraka of Mālava country; and he takes this Siṁhanandi as the one who was a contemporary of Śrutasāgara c. at the close of 15th century A.D. On the basis of this line of arguments JAVAHARLAL puts Brahmadēva at the close of the 15th century A.D. (or in his own words about the middle of the 16th century Vikrama era). This date is now invalidated by the fact that the Jesalmere Ms. of *Dravyasaṁgraha-vṛtti* of Brahmadēva is written in 1428 A.D. JAVAHARLAL gives no authorities for some of his facts; and I think, there must have been some confusion in handling them.

4 Ms. reads *Kurkkuṭāśana.*

to believe that Bālacandra is its author, and that he styles himself as Kukkuṭāsana Maladhāre perhaps to distinguish himself from earlier and contemporary Bālacandras.

COMPARISON WITH BRAHMADĒVA'S COMMENTARY.—Bālacandra plainly tells us that he composed this gloss to enlighten the unenlightened by consulting Brahmadēva's commentary. This frank admission shows that he has mainly followed Brahmadēva. As compared with the text presented in this edition Bālacandra's text contains six verses more.[1] In matters of Apabhraṁśa dialect of the dōhās there is substantial agreement excepting the differences which are common with other Mss. in Kannaḍa script. Brahmadēva's additional details and amplificatory remarks are very often suppressed. Explanation of the dōhā word by word : that appears to be the main aim of Bālacandra ; and it is very rarely that he gives some additional remarks following Brahmadēva. The quotations of Brahmadēva are not included, but in some places Kannaḍa verses are added.[2] Bālacandra at times gives text-analysis as well ; some of his statements are inconsistent with his own numbering. At the close of the work he concentrates more attention on literal explanation ignoring Brahmadēva's supplementary discussions. After the verse *Paṁḍava-Rāmahi* etc., Bālacandra gives another verse :

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं भव्वजीवसरणं[3] णंदउ जिणसासणं सुइरं[4] ॥

Immediately after this there is an additional Kannaḍa verse :

*nirupama-nijātma-sūcaka-*
*vara-Paramātmaprakāśa-vṛttiyanidanā-* |
*daraiṁdōduva vōdipa*
*paramanākulakṣaysukhakkĕ bhājanarappar* ||

MALADHĀRE BĀLACANDRA TO BE DISTINGUISHED FROM OTHER BĀLACANDRAS. Rich contributions to Kannaḍa literature by way of commentaries and original works have been made by many authors bearing the name Bālacandra ; and it is often difficult to distinguish one from the other due to the paucity of information that we get about them. Mm. R. NARASIMHACHARYA shows four Bālacandras.[5] In a detailed discussion about Bālacandramuni, the preceptor of Abhinava Pampa, Mr. M. GOVIND PAI shows some nine Bālacandras.[6] Because of his designation 'Kukkuṭāsana Maladhāre', our Bālacandra will have to be distinguished from other Bālacandras who have not mentioned this whole designation. The title Maladhāre has been used by [illegible]

1 See pp. 4-5 above.

2 For instance on p. 191 of the Ms., i.e., on II. 116. The verse runs thus :

*Annĕvaraṁ jīvaṁ sukhi-*
*yannĕvaraṁ sukhavilla manadŏḷu nattaṁ-*
*tennĕvaraṁ sukhaṁ ni-*
*lkannĕvaraṁ duḥkhaṁ idanadhyātmadiraṁ*

monks to distinguish themselves from others of the same name : Śravaṇa Beḷgoḷ Inscriptions mention monks such as Maladhāri Malliṣēṇa, Maladhāri Rāmacandra, Maladhāri Hēmacandra. This designation was used both by Digambara and Śvētambara monks. There was also one Svētāmbara Maladhāri Hēmacandra to be distinguished from the encyclopediac author Hēmacandra (A.D. 1089-1173).[1]

DATE OF MALADHĀRE BĀLACANDRA.—*Beyond calling himself* Kukkuṭāsana Maladhāre this Bālacandra supplies no information about himself ; and hence to settle his date is all the more difficult. Maladhāridēva or Kukkuṭāsana Maladhāridēva occurs in some inscriptions at Śravaṇa Bēḷgoḷ as a personal name. But there is no doubt that it is designation with the name of our Bālacandra ; perhaps it is the name of a famours preceptor used by the monks of that line. Turning to epigraphic records one Bālēndu (Balēndu ?) Maladhāridēva is mentioned in Amarapuram Pillar Inscription of Śaka 1200 (A.D. 1278) in which some pupils have given a donation to a Jaina temple.[2] Our Bālacandra cannot be identified with this Bālēndu though in personal names *indu* and *candra* are often interchanged, because the title Kukkuṭāsana is not found there and because this date of Bālēndu is rather too early for our commentator.[3] About the period of our author, the earlier limit is definite that he flourished after Brahmadēva whose commentary he follows ; and we have tentatively put Brahmadēva in the 13th century A.D. We will have to take into consideration the conditions of travelling etc. in the 13th century. Bālacandra belongs to Karṇāṭaka, possibly he lived near about Śravaṇa Bēḷgoḷ. Brahmadēva in all probability belongs to the North. So we can expect naturally a difference of half a century at least between the two, so that the Sk. commentary of Brahmadēva might reach the hands of Bālacandra. Thus tentatively Bālacandra might be put in the middle of the 14th century A.D.

ADHYĀTMI BĀLACANDRA'S COMMENTARY.—None of these three Kannaḍa commentaries can be attributed to Adhyātmi Bālacandra (c. beginning of the 13th century) to whom a Kannaḍa commentary on *P.prakāśa* is attributed by Mm. R. NARASIMHACHARYA. He kindly informs me that he possesses no more details than those recorded in *Kavicaritĕ*. It is not at all improbable that adhyātmi Bālacandra might have written a Kannaḍa commentary like his commentaries on the Prākrit works of Kundakunda ; but one should not be dogmatic on this point because the information supplied by *Kavicaritĕ* is very meagre and because there is the possibility of Bālacandra (Maladhāre) being mistaken for Bālacandra (Adhyātmi).

## 4. ANOTHER KANNAḌA GLOSS (Q-GLOSS) ON P.-PRAKĀŚA

THE KANNAḌA GLOSS IN THE MS. Q.—As distinguished from the Kannaḍa gloss contained in the Ms. K, here is another gloss accompanying the text of *P.-prakāśa* in the

1 *Epigraphia Carnatiça*, Vol. II ; PETERSON : Reports Vol. IV, p. 140 ff., Vol. V, p. 85, etc.; C. D. DALAL and L. B. GANDHI : *Catalogue of Mss.* in Jeselmere Bhandars (G. O. S.) pp. 3, 8, 15, 18, 36, etc.; M. D. DESAI : *Jaina Sāhityanō Itihāsa* (in *Gujarātī*), p. 244 ff.

2 M. S. R. AYYANGAR and B. S. RAO : *Studies in South Indian Jainism*, part II, pp. 42, 45 and 50.

3 A. GUÉRINOT in his *Rèpertoire D'Épigraphie Jaina* mentions one Bālacandra Maladhāri ; but the Hire-Avali inscription (*E. Carnatica, VIII*, Sorab No. 117) which he refers to reads Māracandra which I think, is perhaps a mistake for Rāmacandra. I am thankful to Pt. D. L. NARASIMHACHAR, Mysore, who kindly pointed out this error to me.

Ms. Q, which is described below. We do not get any information either about the author or the date of this gloss. There is a salutationary remark, at the close of the Ms., in which it is stated that the auspicious feet of Munibhadrasvāmi are a shelter. This indicates that either the author of this Kannaḍa gloss or the copyist of this Ms. or its earlier original was a pupil of one Munibhadrasvāmi.

Nature of this Gloss and the Need of such Glosses.—This Q-gloss, like the K-gloss, gives merely the Kannaḍa paraphrase of the dōhās with no additional discussions. In matters of faithfulness etc. to the original, K-gloss appears to be superior to Q-gloss. That we come across such anonymous *vṛttis*, as we find in MSS. like K and Q, clearly indicates how *P.-prakāśa* was very popular in the circles of devout Jaina ascetics and laymen ; and it is imaginable that many novices, after they understood the meaning of dōhās from their teachers, had their own study-notes by way of a literal paraphrase in their mother-tongue.

Comparison of Q-gloss with other Commentaries.—A detailed comparison of this gloss with K-gloss on the one hand and with the Sk. commentary of Brahmadēva and its Kannaḍa version by Maladhāre Bālacandra on the other would settle its exact relation with others. I have carefully studied the gloss on some twenty dōhās selected at random, and compared the same with K-gloss and Brahmadēva's commentary. A few typical cases I might note here. On I. 25 K-gloss and Q-gloss agree almost verbally. In I. 26 *dēvu* is rendered by K as *paramātmadēvaṁ*, by Brahmadēva as *paramārādhyaḥ*, and by Q as *paramārādhyanappa Siddha-paramēṣṭhi*. In I. 46 *saṁsāru* is translated by K as *caturgati-saṁsāramuṁ*, by Brahmadēva as *dravya-kṣētra-kāla-bhava-bhāva-rūpaḥ paramāgama-prasiddhaḥ pañca-prakāraḥ saṁsāraḥ*, by Bālacandra as *dravyādi-paṁcavidha-saṁsāramuṁ*, and by Q-gloss as *dravya-kṣētra-bhava-bhāva-rūpamappa caturgati-saṁsāramuṁ*. In I. 46*1, which is not found in Brahmadēva's recension, Q-gloss slightly improves on K-gloss and changes the order of words in the explanation. As against K-gloss on I. 82 noted above, Q reads *vaṁdaü* and explains it as *Baudhanuṁ* ; and *sēvaḍü* is interpreted by Q-gloss as *śrītapaṭanu-meṁde*. In the same dōhā *taruṇaü* is translated by K as *taruṇanu*, by Brahmadēva as *yauvanasthō' ham*, by Bālacandra as *kumāranu*, and by Q as *yauvananu*. To compare with the extracts given in our study of K-gloss, the first words of II. 89 are interpreted by Bālacandra thus : *caṭṭahi* | guḍḍugaḷuṁ | *paṭṭahi* | maṇecakkaḷādigaḷuṁ | *guṁḍi-yahi* | guṁdige-muṁtādupakaraṇagaḷuṁ |, while Q-gloss runs thus : *caṭṭahi* | guḍḍaruṁ | *paṭṭahi* | maṇegaḷuṁ | *guṁḍyahi* | guṁḍigegaḷuṁ.[1] The interpretations of *ḍaḍḍaï dahammi* (II. 117) by Q-gloss as *yauvanameṁba kāladoḷu* and of *dhaṁdhai or dhaṁ-dhē* (read by Kannaḍa MSS. as *daṁde*) in II. 121 as *vyāsaṁgadoḷu* borrow words from and therefore agree with Brahmadēva rather than with K-gloss. Thus from the longer recension adopted by Q-gloss, as against the shorter one adopted by K-gloss, and from the comparisons drawn above I come to the conclusion that the Q-gloss is very much indebted to Brahmadēva's interpretations of the text ; even words are the same sometimes as contrasted with the words in K-gloss etc. As the Q-gloss gives only a literal paraphrase, we do not find Brahmadēva's discussions there. It is just possible that the author of Q-gloss might have used K-gloss as well, as seen from some close agreements between the two. I have not come across any significant errors and differences that

1 To distinguish from Apabh. words the Kannaḍa words are not italicised

might imply the independence of Q-gloss from Brahmadēva's commentary.

ON THE DATE OF Q-GLOSS.—From the above comparison it is clear that this Q-gloss is later than Brahmadēva, and perhaps later than even Maladhāre Bālacandra. If the author of this gloss is proved, with additional evidences, to be a pupil of Munibhadra, and if this Munibhadra is the same as the one whose death is recorded in the Udri inscription of about 1388 A.D.,[1] then the composition of this gloss might be roughly dated in the last quarter of the 14th century A.D. This Munibhadra appears to have had many eminent disciples whose deaths have been recorded in some inscriptions.[2]

## 5. DAULATARĀMA AND HIS HINDĪ BHĀṢĀ-ṬĪKĀ.

THE COMMENTARY AND ITS ORIGINAL DIALECT.—Daulatarāma's Bhāṣā-ṭīkā, which is presented in this edition, is only a substantial paraphrase in modern Hindī of Daulatarāma's original. The Hindī dialect as used by Daulatarāma, and possibly as it was current in his place and at his time, has some differences with the present-day Hindī. With a practical view that it might be useful to Jaina house-holders and monks it was rewritten into modern Hindī by MANOHARALAL for the first edition (by adding Sk. words etc. into brackets), and the same has been slightly revised here and there for the second edition as well. I give here an extract from Daulatarāma's original text of the Commentary on I. 5, which would give us some idea of the form of Hindī used by him :

"वहुरि तिनि सिद्धिनिके समूहिकूं में वंदूं हूं। जे सिद्धिनिके समूहि[3] निश्चयनयकरी अपेने सरूपविपै तिष्टे हैं। अरि विवहारिनयकरि सर्वलोकालोककूं निसंदेहपणें प्रतक्ष देपें हैं। परंतु परिपदार्थनिविपें तनमयी नाहीं। अपने स्वरूपविपें तन्मयी हैं। जो परपदार्थनिविपें तन्मयी होइं तो पराए सुखदुखकरि आप सुखी दुखी होइं। सो कदाचि नाहीं। विवहारिनयकरि स्थूलसूक्ष्मसफलिकूं केवलिज्ञानिकरि प्रतक्ष निसंदेह जाने हैं। काहू पदार्थसूं रागिद्वेप नांही। रागिके हेतु करि जो काहूकूं जानें तौ रागिद्वेपमयी होय। सो इह वडा दूपण है। ता तैं यही निश्चय भया जो निश्चय करि अपने स्वरूपविपै तिष्ठे हैं। परविपें नाहीं। अरि अपनीं ज्ञायकसक्ति करि सविकूं प्रतक्ष देपें हैं जाने है। जो निश्चयकरि अपने स्वरूपविपें निवास कह्या सो अपनां स्वरूपही आरधिवे योग्य है यह भावार्थ है ॥ ५॥."

This extract is copied by me from a recent Ms. from Sholapur, and it is checked by Pt. PREMI with the help of an older Ms. from Bombay. Pt. PREMI kindly informs me that still older Mss. may show certain dialectal differences, because it was always usual with learned copyists to change the dialect of the text here and there to bring it nearer the then current dialect. This gives a very good lesson to students of Apabhraṁśa literature, and very well explains the vowel variations shown by different Mss. of an Apabh. text.

NATURE OF DAULATARĀMA'S COMMENTARY.—Daulatarāma's Hindī ṭīkā has no claim to any originality : it is merely a Hindī translation of Brahmadēva's Sanskrit commentary. Some of the heavy technical details of Brahmadēva have been lucidly summarised in Hindī. Like Brahmadēva he gives first a literal translation, and then adds supplementary discussions in short following Brahmadēva. *It cannot be ignored that it is this Hindī rendering* that has given popularity to Jōïndu and his *P.-prakāśa.*

1 *E. C., VIII,* Sorab No. 146.
2 *E. C., VIII,* Sorab Nos. 107, 116, 118, 119 and 153.
3 Very often the Sholapur Ms. has *i* for *a* correctly shown in the Bombay Ms. I have retained them as they are.

Thus Daulatarāma has done the same service to the study of *P.-prakāśa* as that rendered by Rājamalla and Pāṇḍē Hēmarāja to that of *Samayasāra* and *Pravacanasāra*.[1]

DAULATARĀMA AND HIS DATE.[2]—Daulatarāma belonged to Khaṇḍēlavāla subsect, and his gōtra was Kāśalīvāla. Ānandarāma was the name of his father. He was a native of Basavā, but used to live in Jayapura where he appears to have been an important office-holder of the state. When we look at the nature of the works composed by Daulatarāma, it is clear that he was well-versed in Sanskrit and was an ardent lover of his mother-tongue which he enriched in his own way by some of his translations. In Saṁvat 1795, when he finished his *Kriyākōśa*, he was the Mantri of some king Jayasuta (as Pt. PREMI interprets it, 'son of Jayasiṁha') by name and lived at that time in Udayapura. He mentions in his *Harivaṁśa* that the Diwāns of Jayapura are generally from the Jaina community : and Diwān Ratanachanda was his contemporary. He finished *Kriyākōśa* in Saṁvat 1795 and his *Harivaṁśa* in Saṁvat 1829 ; so the period of his literary activities belongs to the second half of the 18th century A.D.

HIS WORKS AND THEIR IMPORTANCE.—His *Kriyākōśa* is mentioned above. It was at the request of Rāyamalla, a pious house-holder from Jayapura, that he rendered into Hindī prose *Padmapurāṇa* (Saṁvat 1823) *Ādipurāṇa* (Saṁvat 1824) and *Harivaṁśa* (Saṁvat 1829) and *Śrīpālacarita*. Then there is his Hindī commentary on *P.-prakāśa* based on Brahmadēva's Sk. commentary. Besides, he completed in Saṁvat 1827 the Hindī prose commentary on *Puruṣārtha-siddhyupāya* which was left incomplete by Pt. Tōḍaramalla. Pt. Premi remarks that his Hindī translations of the above Purāṇas have not only preserved and propagated Jaina tradition but also have been of great benefit to the Jaina community.

## IV. DESCRIPTION OF MSS. STUDIED AND THEIR MUTUAL RELATION

might imply the independence of Q-gloss from Brahmadēva's commentary.

ON THE DATE OF Q-GLOSS.—From the above comparison it is clear that this Q-gloss is later than Brahmadēva, and perhaps later than even Maladhāre Bālacandra. If the author of this gloss is proved, with additional evidences, to be a pupil of Munibhadra, and if this Munibhadra is the same as the one whose death is recorded in the Udri inscription of about 1388 A.D.,[1] then the composition of this gloss might be roughly dated in the last quarter of the 14th century A.D. This Munibhadra appears to have had many eminent disciples whose deaths have been recorded in some inscriptions.[2]

## 5. DAULATARĀMA AND HIS HINDĪ BHĀṢĀ-ṬIKĀ.

THE COMMENTARY AND ITS ORIGINAL DIALECT.—Daulatarāma's Bhāṣā-ṭīkā, which is presented in this edition, is only a substantial paraphrase in modern Hindī of Daulatarāma's original. The Hindī dialect as used by Daulatarāma, and possibly as it was current in his place and at his time, has some differences with the present-day Hindī. With a practical view that it might be useful to Jaina house-holders and monks it was rewritten into modern Hindī by MANOHARALAL for the first edition (by adding Sk. words etc. into brackets), and the same has been slightly revised here and there for the second edition as well. I give here an extract from Daulatarāma's original text of the Commentary on I. 5, which would give us some idea of the form of Hindī used by him :

"वहुरि तिनि सिद्धिनिके समूहिकूं मैं वंदूं हूं। जे सिद्धिनिके समूहि[3] निश्चयनयकरी अपेने सहपविषें तिष्टै हैं। अरि विवहारिनयकरि सर्वलोकालोककूं निसंदेहपणें प्रतक्ष देषें हैं। परंतु परिपदार्थनिविषें तनमयी नाहीं। अपने स्वरूपविषें तन्मयी हैं। जो परपदार्थनिविषें तन्मयी होइ तो पराए सुखदुखकरि आप सुखी दुखी होई। सो कदाचि नाहीं। विवहारिनयकरि स्थूलसूक्ष्मसफलिकूं केवलिज्ञानिकरि प्रतक्ष निसंदेह जाने हैं। काहू पदार्थसूं रागिद्वेष नांही। रागिके हेतु करि जो काहूकूं जानैं तौ रागिद्वेषमयी होय। सो इह वडा दूषण है। ता तैं यही निश्चय भया जो निश्चय करि अपने स्वरूपविषें तिष्टै हैं। परविषें नाहीं। अरि अपनीं ज्ञायकसक्ति करि सविकूं प्रतक्ष देषें हैं जाने हैं। जो निश्चयकरि अपने स्वरूपविषें निवास कह्या सो अपनां स्वरूपही आरधिवे योग्य है यह भावार्थ है ॥ ५ ॥."

This extract is copied by me from a recent Ms. from Sholapur, and it is checked by Pt. PREMI with the help of an older Ms. from Bombay. Pt. PREMI kindly informs me that still older Mss. may show certain dialectal differences, because it was always usual with learned copyists to change the dialect of the text here and there to bring it nearer the then current dialect. This gives a very good lesson to students of Apabhraṁśa literature, and very well explains the vowel variations shown by different Mss. of an Apabh. text.

NATURE OF DAULATARĀMA'S COMMENTARY.—Daulatarāma's Hindī ṭīkā has no claim to any originality : it is merely a Hindī translation of Brahmadēva's Sanskrit commentary. Some of the heavy technical details of Brahmadēva have been lucidly summarised in Hindī. Like Brahmadēva he gives first a literal translation, and then adds supplementary discussions in short following Brahmadēva. It cannot be ignored that it is this Hindī rendering that has given popularity to Jōindu and his *P.-prakāśa.*

1 *E. C., VIII,* Sorab No. 146.

2 *E. C., VIII,* Sorab Nos. 107, 116, 118, 119 and 153.

3 Very often the Sholapur Ms. has *i* for *a* correctly shown in the Bombay Ms. I have retained them as they are.

Thus Daulatarāma has done the same service to the study of *P.-prakāśa* as that rendered by Rājamalla and Pāṇḍē Hēmarāja to that of *Samayasāra* and *Pravacanasāra.*[1]

DAULATARĀMA AND HIS DATE.[2]—Daulatarāma belonged to Khaṇḍēlavāla sub-sect, and his gōtra was Kāśalīvāla. Ānandarāma was the name of his father. He was a native of Basavā, but used to live in Jayapura where he appears to have been an important office-holder of the state. When we look at the nature of the works composed by Daulatarāma, it is clear that he was well-versed in Sanskrit and was an ardent lover of his mother-tongue which he enriched in his own way by some of his translations. In Saṁvat 1795, when he finished his *Kriyākōśa,* he was the Mantri of some king Jayasuta (as Pt. PREMI interprets it, 'son of Jayasiṁha') by name and lived at that time in Udayapura. He mentions in his *Harivaṁśa* that the Diwāns of Jayapura are generally from the Jaina community : and Diwān Ratanachanda was his contemporary. He finished *Kriyākōśa* in Saṁvat 1795 and his *Harivaṁśa* in Saṁvat 1829 ; so the period of his literary activities belongs to the second half of the 18th century A.D.

HIS WORKS AND THEIR IMPORTANCE.—His *Kriyākōśa* is mentioned above. It was at the request of Rāyamalla, a pious house-holder from Jayapura, that he rendered into Hindī prose *Padmapurāṇa* (Saṁvat 1823) *Ādipurāṇa* (Saṁvat 1824) and *Harivaṁśa* (Saṁvat 1829) and *Śrīpālacarita.* Then there is his Hindī commentary on *P.-prakāśa* based on Brahmadēva's Sk. commentary. Besides, he completed in Saṁvat 1827 the Hindī prose commentary on *Puruṣārtha-siddhyupāya* which was left incomplete by Pt. Tōḍaramalla. Pt. Premi remarks that his Hindī translations of the above Purāṇas have not only preserved and propagated Jaina tradition but also have been of great benefit to the Jaina community.

## IV. DESCRIPTION OF MSS. STUDIED AND THEIR MUTUAL RELATION

A. DESCRIBED.—This is a paper Ms. about 10·7 by 5 inches in size, numbered as 955 of 1892-95, from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. It contains 124 loose folios written on both sides, each page containing 13 lines. It is written in neat Dēvanāgarī hand in black ink ; and the marginal lines, the double strokes on both sides of the numbers etc., the central spot which imitates the string-hole of the palm-leaf Mss., and the two marginal spots, horizontal with the central one, on one side of the folio, possibly for putting page-numbers, are in red ink. It contains dōhās as well as Brahmadēva's Sk. commentary of *Paramātma-prakāśa.* In the Sk. portion the Ms. is fairly accurate, and the Sk. commentary in the present edition is carefully checked with the help of this Ms. Somehow, possibly through oversight, the commentary on dōhās II. 18-19 is lost, but the dōhās are added in the margin in a different hand. There is a good deal of irregularity about the nasals in this Ms. : *anunāsika* and *anusvāra* are represented by the same sign. Sometimes there are dialectal discrepancies between the regular text and the text repeated in the commentary. After the Apabh-

1 See my Intro. to *Pravacanasāra,* p. 110, etc.
2 This biographical information is based on Pt. PREMI'S note on Daulatarāma, see *Jaina Hitaishī,* Vol. XIII, pp. 20-21,

raṁśa verse *paṁḍava-rāmahi* etc., there is this closing passage reproduced as it is :

परमात्मप्रकाशग्रंथस्य विवरणं समाप्तं ॥ ॥ ग्रंथसंख्या ४००० सहस्रचारि ॥ संवत् १६३० मार्गशीर्षे सप्तम्यां रवौ लिपितं रावतगोरा श्रीनोंहाणवंशे लिपत्वा यो दादाति तस्य शुभं ॥ कल्याणमाला करोतु नित्यं ॥ पंडित श्री धनपालेन आत्मपठनार्थं सिष्यार्थाय च सिवमस्तु श्रीचतुर्विधसंघस्य ॥ ॥ श्रीः ॥ ॥

---

B. Described.—It is a paper Ms., about 5·5 by 5 inches in size, belonging to the collection of Mss. of my uncle the late lamented Babaji Upadhye of Sadalga, Dt. Belgaum. (See also *Anekānta* I. P. 545 and *Pāhuḍadōhā* Intro. pp. 10-13). It is included in a *guṭikā*-Ms. of country paper stitched at the left end. The characters are Dēvanāgarī with some lines in red and some in black ink in the major part of it ; and some pages at the end are written in black ink alone. The appearance of the Ms. shows that it is badly handled. The first 8 leaves are lost ; a dozen leaves at the end are half-torn ; and the letters on many pages in the middle are rubbed away and cannot be read. As to the contents of this whole Ms. ; Folios 9-10 : *Bhaktāmarastōtra* of Mānatuṅga ; ff. 10-13 : *Laghu-svayambhū* of Dēvanandi ; ff. 13-16 : *Bhāvanā-battīsi*, i.e., *Dvātriṁśikā* of Amitagati ; ff. 16-18 : *Balabhadrasvāmi-rañvī* (? in old Hindī) ; ff. 18-20 *Śrutabhakti* ; ff. 20-35 : *Tattvārthasūtra* (only sūtras, with some marginal corrections in Kannaḍa characters) ; ff. 35-62 ; enumerative lists of Mārgaṇāsthānas etc. and some notes from *Gōmmaṭasāra* etc. ; ff. 63-81 ; *Dōhāpāhuḍa of Yōgēndra* ; ff. 81-111 : *Paramātma-prakāśa* (only dōhās); ff. (page Nos. are rubbed away) *paḍikkammāmi* and some Bhaktis ; ff. 128-135 (?) : *Ārādhanāsāra* of Dēvasēna (Text only) ; ff. 136-139 : *Yōgabhakti* ; ff. 139-148 : *Jinasahasranāma* of Āśādhara ; then *Sajjanacittavallabha* etc. This Ms. is at least 200 years old. It is fairly accurate excepting for a few scribal errors. Here and there it retains *n* for *ṇ*, but this is ignored in recording the readings. As seen above ff. 81-111 are occupied by the text of *Paramātmaprakāśa*. The opening verse is *cidānandaika* etc., the same as the opening *maṅgala* of Brahmadēva's commentary, in place of the first dōhā, and it is numbered as one. Differences in the strength of the text have been recorded along with the various readings. In the middle there has been some confusion about the numbers, though the total number of dōhās is shown as 342 at the end. Especially in this portion some pages are bored by worms ; many letters have lost their ink ; and many pages are rubbed away and the letters cannot be made out. It closes with the phrase :

इति परमात्मप्रकाशः समाप्तः ॥ ॥ शुभमस्तु ॥

---

C. Described.—This is a paper Ms., about 11 by 4·5 inches in size, numbered as 1446 of 1886-92 from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. It contains 21 loose folios written on both sides, each page containing about 9 lines. It is written in neat Dēvanāgarī hand. It contains only dōhās ; the first two pages are crowded with interlinear and marginal notes giving the Sk. *chāyā* of difficult words. The Ms. is fairly accurate, but the copyist has not been able to read his *ādarśa* correctly : *paru* is once represented by *pattu* and once by *yattu* ; *u* and *o* are interchanged, and there is a good deal of confusion about the presence or otherwise of the sign of

*anusvāra*. In some places there are discrepancies of vowels. Differences in the number of dōhās are noted in the various readings. The Ms. ends thus :

इति श्रीपरमात्मप्रका[श] दोहा समाप्त ॥ ॥ शुभं भवतु ॥ संवत् १७०५ वर्षे आसाडवदि १२ बुधवासरे ॥

---

P. DESCRIBED.—This is a paper Ms., about 12·5 by 6·3 inches in size, with a label '*Paramātmaprakāśa Karnāṭaka ṭikāsahita*', new No. 233, from Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). It covers loose folios Nos. 160-204, so it forms a part of some bigger bundle of Mss. Hand-made paper with water-marks is used. It is written in Kannaḍa characters on both sides of the leaf with some 18 to 20 lines on each page. It is a new Ms., perhaps something like 50 years old. It contains the text and the Kannaḍa commentary of Kurkkuṭāśana Maladhāre) Bālacandradēva which is a Kannaḍa rendering of the Sk. commentary of Brahmadēva.

Compared with Brahmadēva's text presented in this edition, this Ms. contains six additional verses. Two verses (*kāyakiḷesiṁ* etc. and *appasahāve* etc.) after II. 36 ; one dōhā (*are jiū sokkhe* etc.) after II, 134 ; one dōhā (*paṇṇa ṇa māriya* etc.) after II. 140 ; one dōhā (*appaha paraha* etc.) after II. 154 ; and one more (*aṁtu vi gaṁtu vi* etc.) after II. 203. With these six additional verses we have 351 verses in all, and the last verse is serially numbered as 351. In his concluding remark Bālacandra says that there are 350 verses in all, but this is not consistent with his own numbering. One or two such inconsistencies are found in his remarks in other places also.

This Ms. reached my hands very late, so I have not recorded the various readings from it. It has many scribal errors here and there. *Dh* is correctly written in this Ms., though with other Kannaḍa Mss. it has certain common features : the presense of *ḷ*, the use of *nōlli* in the dōhās, absence of any distinction between short and long vowels etc. Practically the text agrees with that of Brahmadēva, but throughout this Ms. there is a decided inclination towards forms like *Bamhu, kāraṇeṇa, bhāveṁ saṁsāre, mellavi, ke vi, jeṁva, poggaḷu, ekka, jojji, sojji* rather than *Baṁbhu, kāraṇiṇa, bhāviṁ, millivi, ki vi, jima, puggalu, ikka, jo ji, so ji* etc.

The Ms. begins thus : *śri Pārśvanāthāya namaḥ* || *Paramātmaprakāśa baruvadakke nirvighnamastu* || *subhamastu* || *nirupaman* etc. The concluding passage runs thus, and it is reproduced without any emendations besides spacing : *iṁti Paramātmaprakāśa mahāśāstra graṁtha samāptaṁ bhūyāt maṁgalamahā śri śri śri jalādrakṣe tailādrakṣe rakṣe śitaḷabaṁdhanāt* | *kaṣṭena likhitaṁ śāstraṁ yatnena pratipālayet* ||

---

Q. DESCRIBED.—This is a palm-leaf Ms., about 20.2 by 2.1 inches in size with a label '*Paramātmaprakāśa vṛtti*' new Nos. 190 and 345, from the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). This Ms. is not carefully preserved : it appears to have been exposed to smoke and moisture ; the edges of some leaves are broken ; and some leaves in the middle are mutilated. I think, it might be about 100 years old. The folios, as we have in it, are numbered 137 to 158 ; so it must have formed originally a part of a bundle of Mss. The first leaf is missing, so we begin from dōhā No. 13. It is written in Kannaḍa characters on both sides of the leaves with eleven lines on each page. It contains dōhās with a Kannaḍa *vṛtti*.

The readings from this Ms. have not been recorded. It has the usual peculiarities of Kannaḍa Mss. (see, for instance T, K and M described below) such as the use of *d* and *p* for *dh* and *ph* etc., the presence of *ḷ* for *l* in dōhās etc. Here *vv* is used as against other Kannaḍa Mss. which prefer *bb*. In the Kannaḍa *vṛtti* some time old form of *r* is used. Excepting a few peculiarities like the inclination towards *e* and *o* rather than *i* and *u* and the forms such as *jojji* and *Bamhu* for *jo ji* and *Baṁbhu* etc., this Ms., on the whole, agrees with Brahmadēva's text. However it has a few important forms, here and there, which are common with the family of Mss. like T, K and M.

As compared with the strength of Brahmadēva's text, this Ms. is wanting in the following dōhās : I. 28-32, I. 65*1, I. 123*2-3, II. 46*1, II. 111*2-4, II.137*5, and II. 185. Then there are some additional verses : one (*jō jāṇaï* etc.) after I. 46 ; one dōhā (*bhavvābhavvaha* etc.) after II. 74 ; and one (*jīvā jiṇavara* etc.) after II. 197. Thus 14 verses are wanting and 3 are additional. So we expect the total number to have been 334, but the Ms. serially numbers the last verse as 333, because No. 179 is numbered twice.

The concluding passage of the Ms., without any corrections, runs thus : *Paramātmaprakāśavṛtti samāptaḥ* || *śri vitarāgāya namaḥ* || *śri sarasvatyai namaḥ śri Munibhadrasvāmigaḷa śri pāda padmaṁgale śaraṇu* | | *maṁgamahā śri śri śri śri.*

---

R. DESCRIBED.—This is a palm-leaf Ms., about 14 by 2 inches in size, with a label '*Paramātmaprakāśa mūla*', new No. 130, from the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). The Ms. is not very old ; so far as I can judge, it does not appear to me older than 75 years. It contains only the dōhās written in Kannaḍa characters on both sides of the leaves with eight lines on each page. It contains leaves Nos. 1-16. The last page is half blank with a table of contents, written in a modern hand, enumerating the names of anuprēkṣās. This Ms., like other Kannaḍa Mss. described below, has *d* for *dh*, *ḷ* for *l*, *bb* for *vv*, and forms like *sojji*, and very often *i* and *hi* are confounded in the dohās. In a modern hand *anvaya* numbers are put between the lines ; and some corrections and additions are made here and there. In the margin some additional verses are written in modern hand, and almost all of these verses are the same as those found in Brahmadēva's commentary.

As compared with Brahmadēva's text presented in this edition, this Ms. interchanges the positions of I. 4 and I. 5, II. 20 and II. 21, II. 77 and II. 78, II. 79 and II. 80, II. 144 and II. 145-46. It does not include dōhās nos. I. 28-32, I. 65*1, II. 46*1, II. 111*2-4, II. 137*5, II. 185, and II. 209. Thus it is wanting in 13 verses as compared with Brahmadēva's text. But there are some additional verses : one dohā (*jō jāṇaï sō jāṇi etc.*) after I. 46 ; two verses (*kāyakiḷēsē*ᵛ etc. and *appasarūvē* etc.) after II. 36 ; one dōhā (*bhabbābhabbaha* etc.) after II. 74 ; and one dōhā (*pāvēṇa naraya* etc.) is introduced with the phrase *uktaṁ ca* after II. 127, and it is serially numbered. With the addition and subtraction of the above verses the total we get is 337 which is the last serial number according to the Ms. as well ; but somehow the copyist adds a remark that the total is 340.

The various readings from this Ms. are not recorded. On the whole, I find, this Ms. agrees with Brahmadēva's text, though there are some cases where it has some

common readings with TKM described below. There are some places where it is corrected with the help of some Ms. belonging to the family of TKM. In matters of dialectal features *e* and *o* are more frequent than *i* and *u* in words like *ke vi, mellavi, beṇṇi, jettiü, ketthu, poggalu* etc. With regard to minor vowel-changes this Ms. has many discrepancies.

It opens with '*śri paṁcagurubhyo namaḥ*', and then the first dōhā follows. It is concluded with a phrase '*aṁtu mūlagraṁtha* 340' at the end of the verse *paramapayagayāṇaṁ* which is numbered as 337.

---

S. Described.—This is a palm-leaf Ms., about 15 by 2·1 inches in size, with a label '*Yōgīndra gāthā*', new Nos. 163 and 1065, from the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). This Ms. may be about 75 years old. It contains leaves Nos. 151 to 160; so it must have formed a part of a bigger bundle of Mss. It has only dōhās written in Kannaḍa characters on both the sides of the leaves with eight to ten lines in a page. Sometimes *anvaya* numbers are put between the lines; and some Sanskrit equivalents taken from the commentary of Brahmadēva are written in the margin. Possibly the copyist himself, when he revised this Ms. with the help of another Ms., has added, in the marginal space, many dōhās which he found missing in the text. In one place a Kannaḍa verse (*annevaraṁ* etc.) is added in the margin; it is taken from the Kannaḍa commentary of Bālacandra. This Ms. is very defective in numbering; sometimes numbers are leaped over, because they are often put after three or five verses.

As in other Kannaḍa Mss. we have here *d* for *dh*, *bb* for *vv* etc. In dialectal details this Ms. very closely agrees with the text of Brahmadēva printed in this edition. As against other Kannaḍa Mss. it has forms like *jēma, tiṁ, millivi, jitthu* etc. Many forms which were first written as *so ji, vaṁdaü* (in I, 82 and 88), *Baṁbhu, ihu, jitthu, tiṁ* have been corrected as *sojji, buddaü, Bamhu, ehu, jetthu, teṁ* etc. Of all the Kannaḍa Mss. examined by me this is the only Ms. that is specially particular about the nasal sign which is represented by a small circular dot placed slightly above the line immediately after the letter to be nasalised. So far as I know, it is an innovation in the Kannaḍa script; and the copyist rightly understood the needs of Apabhraṁśa phonetics, and added this sign closely imitating the sign of *anusvāra* in Dēvanāgarī.

I have no doubt that this Ms. is copied from a Dēvanāgarī Ms. containing the text and the commentary of Brahmadēva; and further possibly by the same copyist it is revised with the help of Kannaḍa Mss., some predecessor of our P containing Maladhāri Bālacandra's commentary and some Ms. of TKM-group.

As compared with our text the following dōhās are missing in this Ms.: I. 33-4, I. 65*1, I. 117, II. 20, II. 60, II. 62, II. 111*2-4, II. 178, II. 180, II. 199; but all these verses are added in the marginal space possibly by the same copyist. There is only one additional verse (*akkharaḍā* etc.) after II. 84 which is serially numbered. Then some additional verses are found in the marginal space: on p. 155, two verses (*kāyakiḷēsē* etc. and *appasahāvē* etc.) possibly after II. 36; then two verses (*pavēṇa naraya*

etc. and *bhabbābhabbalia* etc.) possibly after II. 62; on p. 158 two verses (*visayaha kāraṇe* etc. and *Pañca ṇa* etc.); and lastly on p. 159 one dōhā (*appaha paraha* etc.).

The Ms. is concluded with the words '*Yogīndragāthe samāptaḥ*'.

---

T. DESCRIBED.—This is a palm-leaf Ms., about 17.5 by 2 inches in size, from Śrī Vīra-vāṇī-vilāsa-bhavana, Mūḍabidri, South Kanara. It contains 8 folios written on both sides, and on the second page of the 8th leaf Ms. K, which is described below, begins. There are 9 lines on each page with about 75 to 80 letters in each line. As usual in palm-leaf Mss. we have two string-holes with unwritten space squaring them. These spaces divide the written leaf into three distinct portions. It is written in Old-Kannaḍa characters, and contains only the dōhās of *Paramātma-prakāśa*. The Ms. is carefully inscribed, the letters being uniformly shaped. The edges of leaves are somewhat broken here and there, though the Ms., on the whole, is well preserved. In a few places, not more than three or four, there are blank spaces for individual letters whenever the copyist has not followed his *ādarśa*. The opening phrase is *śrī Śāntināthāya namaḥ*, and then the dōhās follow.

---

K. DESCRIBED.—This is a palm-leaf Ms., about 17·5 by 2 inches in size, from Śri Vīravāṇī-vilāsa-bhavana, Mūḍabidri, South Kanara. It covers leaves 8 to 36, the first 8 leaves being occupied by Ms. T which is described above. This Ms. begins on the second page of the 8th leaf; it ends on the second page of the 36th leaf; and after that we have a few Sanskrit verses written in a different hand. In general appearance, the number of lines etc., K closely agrees with T. The edges of leaves have become smoky, and are broken here and there. From the similarity in hand-writing it is clear that T and K are written by one and the same person. It is plain from the pagination that these two Mss. are expected to stand together. It contains dōhās with Kannaḍa explanation. It is written in Old-Kannaḍa characters. As to orthographical peculiarities, the old *r* is used in the Kannaḍa commentary; sometimes new *r* is written, but it is struck off and again substituted by the old form. The Ms. opens with *śri Śāntināthāya namaḥ*, and ends thus: *Yogeṁdra-gāthe samāpta* || *śri Śāntinathāya namaḥ* || etc. etc.

---

M. DESCRIBED.—This is a palm-leaf Ms., about 17·5 by 2 inches in size. It covers 8 leaves, Nos. 16 to 23. On the first page of leaf No. 16 a Kannaḍa commentary on *Mōkṣaprābhṛta* by Bālacandra is concluded, and then the dōhās of *Paramātma-prakāśa* follow with no introductory remark, not even the opening salutation. This Ms. contains merely the dōhās. The hand-writing is different here from the two previous Mss. It has 9 or 10 lines on each page, with some 75 letters in each line. The second page of leaf No. 23 is almost blank with one fourth of a line. From the uncertain shape of letters it is clear that the copyist is not sufficiently trained in writing on palm-leaves. Very often modern *u* is used in these Kannaḍa characters. The surface of pages is besmeared with black powder making the inscribed letters quite visible. The

text abruptly ends without any significant indication.

---

ADDITIONAL INFORMATION ABOUT T, K AND M.—It is necessary to give some more information about the Mss. T, K and M. When I visited Mūḍabidri, in December 1935, on my way to Mysore to attend the Eighth All-India Oriental Conference, Pt. LOKANATHA SHASTRI took me to the Śrī Vīravāṇī-vilāsa-bhavana, which, though a new Institution, contains many valuable Mss. As I wanted some Kannaḍa Mss. of *Paramātma-prakāśa*, he gave me a bundle of palm-leaves under wooden boards. Though the length is the same, some leaves are of different breadth. It is this bundle that contains the Mss. T, K and M described above. To indicate the heterogeneous character of this bundle, I think I should give here the names of works contained in it. Folios 1-8 dōhās of *P.-prakāśa* (T described above) ; ff. 8-36 : dōhās of the same with Kannaḍa explanation (K. described above) ; ff. 1-15 (different pagination and different hand-writing) : *Nāgakumāracarita* of Malliṣēṇa, and some stray Sk. verses on the remaining space of p. 15 ; ff. 16-7 : *Upāsakasaṁskāra* of Padmanandi ; ff. 18-21 : *Nītisāra-samuccaya,* also called *Samayabhūṣaṇa,* of Indranandi ; ff. 22-5 : a small *upāsakācāra* with religious and didactic contents, the first verse of which runs thus : *śrīmaj Jinēndra-candrasya sāndra-vāk-candrikāśritaḥ, hṛṣiṣṭa (?) duṣṭakarmāṣṭ-gharma-saṁtāpana-śramam|durācāra-cayākrānta-duḥkh-saṁdōhaśāntayē, bravīmyōpāsakācāraṁ cāru-mukti sukhapradam| |*; here some pages are missing; ff. 33-36 (the hand-writing is different here) the same *Upāsakācāra* again ; ff. 1-2 (no pagination) *Praśnōttara-ratnamālikā* of Amōghavarṣa ; ff. 2-4 : *Vrataphala-varṇanam* of Prabhācandra ; then there is the Ms. M, containing the dōhās only of *P.-prakāśa.* Then there are stray leaves irregularly numbered, and they contain portions of *Praśnōttara-ratnamālikā,* the Kannaḍa commentary on *Svarūpa-saṁbōdhana,* some verses on *anuprēkṣā,* some remarks in Kannaḍa on the *lōkasvarūpa.* Thus this bundle is made of Mss. and leaves of Mss. carelessly collected possibly by a copyist and tied between two boards. The stray leaves collected here must have rendered their remaining portions incomplete elsewhere.

This bundle has a modern label in Kannaḍa like this : *No. (20) ke basti* (in Dēvanāgarī) 1) *Nāgakumāra Yōgēndragāthā. mūla tathā, karṇāṭakavyākhyāna.* 2) *Praśnōttararatnamālikā. 'Sanskrita.'* There is another No. 60 (in English) to the left of this label.

COMMON CHARACTERISTICS of TKM.—These three Mss., T K and M, have certain common characteristics which should not be taken as dialectal peculiarities, because they arise out of the nature of the script, viz., Kannaḍa and its phonetic traits, in which they are all written. In these Mss. *l* is uniformly shown as *ḷ* ; initial *l* is often written wrongly as *a* ; no distinction between *anunāsika* and *anusvāra* is made : the script does not possess separate signs for these two ; long and short vowels are not distinguished ; *d* and *dh, p* and *ph* etc. are not distinguished ; *ḍ* and *ḍh* are sometimes distinguished ; very often *i, u* and *e* are represented by *yi, yu* and *ye;* the conjuncts are shown by a *nŏlli,* i.e., a fat zero preceding a consonant indicating that the following consonant is to be duplicated ; in fact the conjuncts, therefore, have values like *ghgh, khkh, thth, dhdh* etc.; very often *v* and *vv* are shown as *b* and *bb.* In noting the variants I have

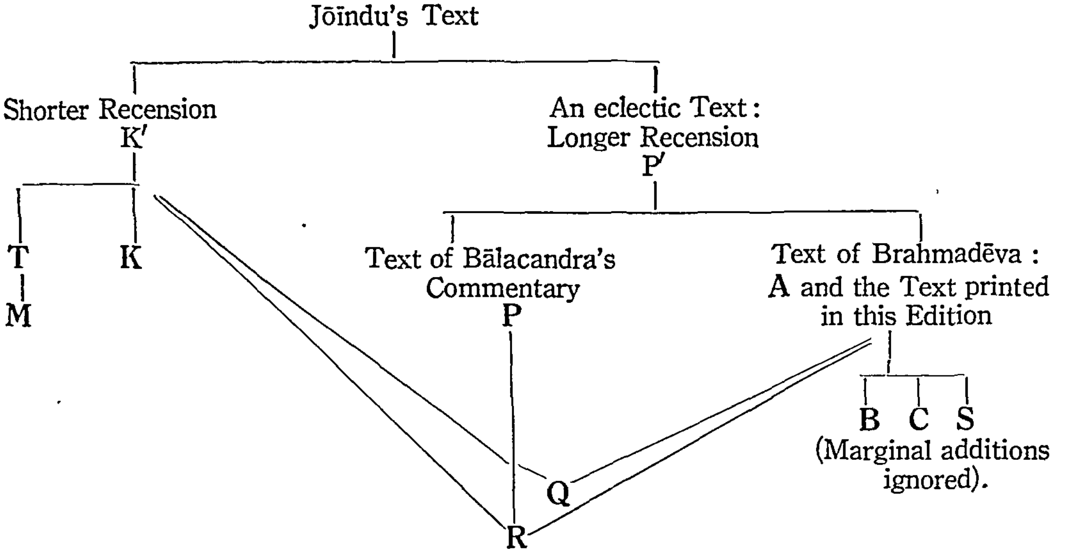
ignored cases of *ḷ*; some important anusvāras have been noted; *d* or *dh* and *p* or *ph* etc. are ignored; long and short vowels are correctly shown; and the conjuncts are written according to Hēmacandra's rule VIII, ii, 90. A few cases of *bb* are noted in the beginning; *sō ji* and *jō ji* are uniformly written in these Mss. as *sōjji* and *jōjji*; so these readings are recorded in a few places in the beginning and then ignored.

RELATION BETWEEN T, K AND M.—As to the relation between these three Mss., they form one family and ultimately, behind some generations of Mss., they are copied from one and the same Ms. preferably with a Kannaḍa commentary, as it is clear from the order and number of dōhās and from their agreement even in errors sometimes. After II. 8 T, K and M have a Kannaḍa phrase: *mōkṣamaṁ pēḷdaparu*. This phrase has some propriety in K, as it contains a Kannaḍa commentary; but its presence in T only shows that it is also copied from an earlier Ms. having a Kannaḍa commentary. Though T and K are written by the same copyist, they do not copy each other, but possibly they follow another Ms. having the text and the text with commentary, (corresponding to T and K), the text in the both being copied from some earlier source. The age of T and K is the same; and so far as I can judge they may be at least 200 years old. The leaves of T and K are brittle and show signs of being exposed to moisture and smoke. T is written first, and then K is written sometimes consulting the former. M is a later Ms., though apparently it looks older because of the blackish colour of its pages. M is a mechanical copy of T even inheriting the errors therein. For instance, in II. 29 T has a decorative zero after the letter *mu*, which comes at the end of a line, in the word *muṇijjaï*; but the copyist of M takes that decorative zero as *nōlli* and writes *muṇṇijjaï*. In II. 203 T writes *caṁ*, then there is space for a letter and then *i*, M writes *caṁi* without blank space, while the reading of K is *caṁgaï*. In II, 27 T leaves blank space for *la* in writing the word *lahuṁ*; M does not leave that space, but *la* is added later on in the interlinear space, while K writes *lahuṁ*. There are one or two cases where M improves on T possibly following K, but usually K is not consulted by M. The dōhās wanting in these Mss, as compared with our text, are noted in the various readings.

RELATION BETWEEN THE MSS. DESCRIBED ABOVE.—It would be a mistake to classify the above Mss. on the basis of locality, script etc., because they show cross influences in the addition and the omission of verses and in important various readings. The omission of dōhās too cannot be a safe criterion, because when the scribes copied only the text from the body of Brahmadēva's commentary, they have committed errors in selecting the various dōhās from a closely written Ms. of the commentary of Brahmadēva. It is always difficult to mark out the verses consecutively and to distinguish a verse of the text from a verse quoted in the commentary. In my classification I am guided by additional verses which are not found quoted in the Sk. commentary and by significant various readings which cannot be explained as due to the peculiarities of script. T, K and M form a distinct group which we might call 'Shorter Recension' for the sake of convenience. M closely follows T, and T and K appear to be copied from an earlier Ms., say a postulate K', containing the text with a Kannaḍa gloss. Maladhāre Bālacandra plainly says that he is following the Vṛtti of Brahmadēva, but the text that was before him contained some more verses not admitted by Brahmadēva.

This leads to the postulation of a Ms. P', containing a longer (and eclectic) recension of the text, which was used by Bālacandra. A and the Text printed in this edition represent a shorter form of P', as accepted by Brahmadēva, by dropping some dōhās. B, C and S (ignoring the marginal additions in S) are various attempts to copy out the bare text alone from the commentary of Brahmadēva. Q is nearer A, but it shows some influence of TKM group. R shows the influence of A, P and TKM.

The relation between the Mss. is shown below in a genealogical form.




## V. CRITICAL ACCOUNT OF THE MSS. OF YŌGASĀRA

DESCRIPTION OF THE MSS.—The critical text of *Yōgasāra,* included in this volume, is based on the following Mss. :

A(अ) : It is a paper Ms., about 14 by 8.5 inches, from Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar), received through the kindness of Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. It contains 10 folios written on both sides, the first and the last sheets being blank on one side. . It is a recent Dēvanāgarī transcript, made in Saṁvat 1992, from an older Ms. belonging to some Bhaṇḍāra in Delhi. It contains verses and interlinear Gujarātī translation (*Ṭabbā*) written in columns of short lines. There are many scribal errors here and there. Even in mistakes this Ms. agrees with P described below. Opening : ॥६०॥ श्री गुरुभ्यो नमः । End : इति श्रीजोगसारग्रंथ समाप्तः ॥

P(प): This is a paper Ms., about 11 by 5 inches, from Patan Bhaṇḍāra received through the kindness of Muni Śrī PUNYAVIJAYAJI MAHARAJ. It has 22 folios written on both sides. It contains verses and interlinear Gujarātī translation written in columns of short lines. With negligible dialectal variations this translation is identical in A and P. In some places this Ms. shows initial *n* and the absence of *ya-śruti.* Dēvanāgarī *e* and *o* are written in the *paḍi-mātrā* form. Separation of words in Dōhās is indicated by small spots in red ink at the top of lines. On the whole this Ms. is

fairly accurate and sufficiently helpful in checking the scribal errors in A. It ends thus : इति योगसार समासम् ॥ The Ṭabbā or the Gujarātī translation gives the age of this Ms.: संवत् १७१२ वर्षे चैत्रशुदि १२ रवौ दिने लपीतं ॥

B( ब ): This is a paper Ms., about 12 by 5.5 inches in size, received from Pt. NATHURAM PREMI, Bombay. It contains only Dōhās written on 4 folios, and the last page is blank. It is closely written in Dēvanāgarī characters each page having some 15 lines. Excepting a few scribal errors and lapses the Ms. is fairly accurate. This Ms. is somewhat particular about *anusvāra*, and shows preferably *u* in the Nom. Sg. while others often have *a*. In some places the order of verses differs from the rest, see for instance verses Nos. 83-84 and 90-91. A portion of No. 48 is missing, but the omitted line is written on the margin in a different hand. The folios are brittle, and the edges are broken here and there. From its appearance it is the oldest Ms. of these four. I am told that the text of *Yōgasāra* printed in Māṇikachandra D. J. Granthamālā was based on this Ms. It ends : इति योगसार समाप्ताः ॥

JH( झ ): This is a paper Ms., about 11 by 5 inches in size, from Śrī Ailaka Pannālāla D. J. Sarasvatī Bhavana, Jhalarapatan, received through the kindness of Pt. PANNALAL SONI. It contains only Dōhās written on 5 folios, the first page being blank. It is written in neat Dēvanāgarī hand with regular red strokes indicating the lines. This Ms. contains many scribal errors. Some of its special readings agree with the printed text noted above.

COMPARATIVE REMARKS.—These four Mss. show two distinct groups : B stands by itself, while A, P and Jh form a family. A and P go back to a common predecessor containing Gujarātī Ṭabbā. Their textual agreements are quite close and the Gujarātī translation is common to both. The dialectal form of this translation in P is older than that in A. As against B, which is the oldest of the four, Mss. A and P show the tendency of having *a* for *u* of the Nom.; they ignore *anusvāra* ; and *aü* is often written as *au*.

PRESENT TEXT AND READINGS.—An intelligent record of text tradition has been my aim in building the text of *Yōgasāra*. In editing an Apabhraṁśa text, especially when there are vowel variations between different Mss., it is often difficult to distinguish genuine variants from scribal errors. In representing the vowels I have mainly followed P and B often preference being shown to the latter. Even earlier Mss. have confused *i* and *h* ; so in spite of their agreement I have made some changes in the text of course with a question mark. I have given more readings merely to shed sufficient light on the textual variations. The readings of the printed text have not been noted for the following reasons : the basic Ms. of the printed text is collated ; I suspect that the printed text has not got the authenticity of an independent Ms., as the text appears to be shaped eclectically without naming the sources of the readings ; and lastly its readings are practically covered by A and P.

SANSKRIT SHADE.—On principle I am against the procedure of giving Chāyā (i.e. Sanskrit Shade) to an Apabhraṁśa text : first, it is a mistaken procedure which has neither linguistic nor historical justification ; secondly, the Chāyā so shaped is

bound to be a specimen of bad Sanskrit, as Apabhraṁśa has developed modes of expression and styles of syntax which are not allowed in classical Sanskrit; and lastly it has a vicious effect that many readers satisfy their thirst for contents by reading Chāyā alone. This habit of giving Chāyā to Prākrit works has done positive harm to the study of Indian linguistics. Prākrit studies were ignored; dramas like *Mṛcchakaṭikam* and *Śākuntalam* are looked upon as Sanskrit works even though their major portion is written in Prākrit by the authors themselves; and lastly as a consequence the modern Indian languages are being nourished with Sanskrit words, etc., ignoring the Prākrits. It is not the mother but the grand-mother that is supplying the milk of words to the present-day languages. However I had to give the Chāyā with due deference to the persistent insistence of the Publisher. In the Chāyā I have given Sanskrit words for those in Apabhraṁśa at times with alternatives in brackets. The Chāyā is not to be judged as an independent piece of Sanskrit, but it is merely the shade of the original Apabhraṁśa. For the convenience of readers Sandhi rules are not observed. In many places my Chāyā differs from the one given with the printed text.

---

Post script:

When this Introduction was nearly complete in print, *Rājasthānarā Dūhā*, part I (Pilāṇī-Rājasthānī Series No. 2, Delhi 1935) compiled and edited by Prof. NAROTTAMDAS SVAMI, M.A. reached my hands. On p. 54 I have suggested that Hēmacandra appears to have drawn some of his illustrative quotations from a tract of literature written in that Apabhraṁśa which was a predecessor of Old-Rājasthānī, say some earlier stage of Diṅgala; and in the foot-note I have quoted a verse from Rājasthānī which has close similarities with a quotation of Hēmacandra. Prof. SVAMI has detected two more verses (*Rājasthānarā Dūhā*, Intro. p. 55) which I give below.

i) Hēmacandra's quotation on VIII, iv, 395:

पुत्तेँ जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा वप्पीकी भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥

The present-day Rājasthānī Dōhā runs thus:

वेटाँ जायाँ कवण गुण अवगुण कवणु धि (मि?) येण।
जाँ ऊभाँ घर आपणी गंजीजै अवरेण ॥

ii) Hēmacandra's quotation on VIII, iv, 379:

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहँ तणा तो तेँ मारिअडेण ॥

The present-day Rājasthānī Dōhā runs thus:—

जो भग्गा पारक्कडा तो सखि मुज्झ पियेण !
जो भग्गा अम्हेतणा तो तिह जुज्झ पडेण ॥

To these one more parallel might be added. The second line is almost identical.

iii) Hēma.'s quotation on VIII, iv., 335 :

गुणहिँ ण संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजंति।
केसरि ण लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिँ घेप्पंति ॥

A Dūhā from *Khīcī Acaḷadāsarī Vacanakā* (Saṁvat 1470) runs thus (*Rājasthānarā Dūhā Intro.* p. 38):

एकइ वन्न वसंतडा एव्वड अंतर काइ ।
सिंघ कवड्डी ना लहइ गयवर लक्ख विकाइ ॥

These verses are enough to indicate that Hēmacandra is indebted to the province of Rājasthān for some of his quotations. If earlier works from Rājasthān and Gujarāt, written in the older stages of Rājasthānī and Gujarātī, are brought to light in plenty, they would shed much more light on the provenance of Hēmacandra's quotations.

# INDEX TO INTRODUCTION

This Index mainly contains informative references to important names of authors and works, and it merely supplements the Table of contents. Though modern publications are excluded, the names of modern scholars referred to are listed. Words are arranged according to the English alphabet. References are to the pages of the Introduction : 73 n6 means p. 73 foot-note No. 6, and 71-n3 means that the occurrence is on p. 71 and also in the foot-note No. 3.

यह याद रक्खें कि जैनधर्म अनेक देवतावादी है और ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानता, तो यह निश्चित है कि जैन गूढ़वाद सभीको विशेष रोचक मालूम होगा।

**परमात्मप्रकाशके पहले संस्करण**—सन् १९०९ ई० में देवबन्दके बाबू सूरजभानुजी वकीलने हिन्दी अनुवादके साथ इस ग्रन्थको प्रकाशित किया था, और उसका नाम रक्खा था 'श्रीपरमात्मप्रकाश प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी-भाषा अर्थसहित'। इस संस्करणमें मूल सावधानीसे नहीं छपाया गया था। प्रस्तावनामें प्रकाशकने लिखा भी था कि जैनमन्दिरोंसे प्राप्त अनेक प्रतियोंकी सहायता लेनेपर भी उसका शुद्ध करना कठिन था। सन् १९१५ ई० में इसका बाबू ऋषभदासजी बी० ए० वकीलका अंग्रेजी अनुवाद आरासे प्रकाशित हुआ। किन्तु यह अनुवाद सन्तोषजनक न था। सन् १९१६ ई० में रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला बम्बईने ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका और पं० मनोहरलालजीके द्वारा आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित, पं० दौलतरामजीकी भाषाटीकाके साथ इसे प्रकाशित किया। यद्यपि इसके मूलमें भी सुधारकी आवश्यकता थी, फिर भी यह एक अच्छा संस्करण था।

**वर्तमान संस्करण**—यद्यपि रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके पूर्वोक्त संस्करणकी ही यह दूसरी आवृत्ति है, फिर भी यह संस्करण पहलेसे परिष्कृत और बड़ा है, और इसकी यह भूमिका तो एक नई वस्तु है। प्रकाशककी इच्छानुसार मूल, ब्रह्मदेवकी टीकावाला ही दिया गया है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे मूल तथा संस्कृतटीकाका संशोधन कर लिया गया है। इसके सिवा समस्त पदोंके मध्यमें संयोजक चिह्न लगाये गये हैं, तथा अनुनासिक और अनुस्वारके अन्तरका ध्यान रक्खा गया है। संस्कृतछायामें भी कई जगह परिवर्तन किया गया है। हिन्दीटीकामें भी जहाँ तहाँ सुधार किया गया है।

**मूल और भाषा सम्बन्धी निर्णय**—इस संस्करणमें मूल ब्रह्मदेवका ही दिया गया है, अर्थात् संस्कृतटीका बनाते समय ब्रह्मदेवके सामने परमात्मप्रकाशके दोहोंकी जो रूपरेखा उपस्थित थी, या जिस रूपरेखाके आधारपर उन्होंने अपनी टीका रची थी, इस संस्करणमें भी उसीका अनुसरण किया गया है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि ब्रह्मदेवके मूलवाली प्रतियोंमें भी पाठ-भेद पाये जाते थे। परमात्मप्रकाशके परम्परागत पाठको जाननेके लिये भारतके विभिन्न प्रान्तोंसे मँगाई गई कोई दस प्रतियोंको मैंने देखा है, और उनमेंसे चुनी हुई छः प्रतियोंके पाठान्तर अन्तमें दे दिये हैं। अतः भाषासम्बन्धी चर्चा अनेक हस्तलिखित प्रतियोंके पाठान्तरोंके आधारपर की गई है।

## परमात्मप्रकाशका मूल

**ब्रह्मदेवका मूल**—ब्रह्मदेवने परमात्मप्रकाशके दो भाग किये हैं। प्रथम अधिकारमें १२६, और द्वितीयमें २१९ दोहे हैं। इनमें क्षेपक भी सम्मिलित हैं। ब्रह्मदेवने क्षेपकके भी दो भाग कर दिये हैं, एक 'प्रक्षेपक' (जो मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है) और दूसरा 'स्थलसंख्या-बाह्य-प्रक्षेपक' (जो मूलमें सम्मिलित नहीं किया गया है) उनका मूल इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| प्रथम अधिकार—मूल दोहे | ११८ |
| प्रक्षेपक | ५ |
| स्थ० बा० प्र० | ३ |
| | १२६ |
| द्वितीय अधिकार—मूल दोहे | २१४ |
| स्थ० बा० प्र० | ५ |
| | २१९ |

इससे पता चलता है कि परमात्मप्रकाशकी जो प्रति ब्रह्मदेवको मिली थी, काफी विस्तृत थी। जिन पाँच दोहोंके (१,२८–३२) योगीन्दुरचित होनेमें उन्हें सन्देह था, उनको उन्होंने अपने क्षेपक माना है।

किन्तु जिन आठ दोहोंको उन्होंने मूलमें सम्मिलित नहीं किया, संभवतः पाठकोंके लिये उपयोगी जानकर ही उन्होंने उनकी टीका की है। ब्रह्मदेवको प्राप्त प्रति कितनी बड़ी थी, यह निश्चित रीतिसे नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना संभव है कि उसमें और भी अधिक दोहे थे, जिन्हें ब्रह्मदेव अपने दोनों प्रकारके प्रक्षेपकोंमें न मिला सके।

**बालचन्द्रका मूल**—मलधारी बालचन्द्रने परमात्मप्रकाशपर कन्नड़में एक टीका लिखी है। आरम्भमें वे कहते हैं कि मैंने ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकासे सहायता ली है। किन्तु बालचन्द्रके मूलमें ६ पद्य अधिक हैं। ब्रह्मदेवका अनुसरण करनेपर भी बालचन्द्रकी प्रतिमें ६ अधिक पद्य क्यों पाये जाते हैं? इस प्रश्नके दो ही समाधान हो सकते हैं। या तो बालचन्द्रके बाद ब्रह्मदेवकी प्रतिमेंसे टीकासहित कुछ पद्य कम कर दिये गये, या बालचन्द्रके सामने कोई अधिक पद्यवाली प्रति उपस्थित थी, जिससे उन्होंने अपनी कन्नड़टीकामें ब्रह्मदेवकी संस्कृतवृत्तिका अनुसरण करनेपर भी कुछ अधिक पद्य सम्मिलित कर लिये। प्रथम समाधान तो स्वीकार करने योग्य नहीं मालूम होता, क्योंकि टीकासहित कुछ पद्योंका निकाल देना संभव प्रतीत नहीं होता। किन्तु दूसरा समाधान उचित जँचता है। वे ६ पद्य इस प्रकार हैं—

१-२—पहला और दूसरा अधिक पद्य २,३६ के बाद आते हैं:—

कायकिलेसँ पर तणु झिज्जइ विणु उवसमेण कसाउ ण खिज्जइ।
ण करहिँ इंदियमणह णिवारणु उग्गतवो वि ण मोक्खह कारणु॥
अप्पसहावे जासु रइ णिच्चुववासउ तासु। बाहिरदव्वे जासु रइ भुक्खुमारि तासु॥

३—यह पद्य २,१३४ के बाद ' उक्तञ्च ' करके लिखा है—

अरे जिउ सोक्खे मग्गासि धम्मे अलसिय। पक्खेँ विणु केँव उड्डुग मग्गेसि मेंडय दंडसिय (?)॥

४—२,१४० के बाद यह दोहा आता है—

पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्ठउ चंडालु। माण ण मारिय अप्पणउ केँव छिज्जइ संसारु॥

५—२,१५६ के बाद यह दोहा ' प्रक्षेपकम् ' करके लिखा है—

अप्पह परह परंपरह परमप्पउह समाणु। परु करि परु करि परु जि करि जइ इच्छइ णिव्वाणु॥

६—२,२०३ के बाद, संभवतः असावधानीके कारण इसपर नम्बर नहीं डाला गया है, किन्तु टीका की है—

अन्नु वि गंतुवि तिहुवणहँ सासयसोक्खसहाउ। तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ॥

' त ' ' क ' और ' म ' प्रति अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा बहुत संक्षिप्त हैं। ब्रह्मदेवके मूलके साथ उनकी तुलना करनेपर उनमें निम्न लिखित दोहे नहीं पाये जाते—

प्रथम अधिकारमें—२-११, १६, २० २२, २८-३२, ३८, ४१, ४३, ४४, ४७, ६५, ६५*१ ६६, ७३, ८०, ८१, ९१, ९२, ९९, १००, १०४, १०६, १०८, ११०, ११८, ११९, १२१, १२३* २-३।

द्वितीय अधिकारमें—१, ५-६, १४-१६, ४४,४६* १, ४९-५२, ७०, ७४, ७६, ८४, ८६-८७, ९९, १०२, १११* २-४, ११४-११६, १२८-१२९, १३४-१३७, १३७* ५, १३८-१४०, १४२, १४४-१४७, १५२-१५५, १५७-१६५, १६८, १७८-१८१, १८५, १९७, २००, २०५-२१२।

किन्तु इन प्रतियोंमें दो दोहे अधिक हैं, जो न तो ब्रह्मदेवकी प्रतिमें पाये जाते हैं, और न बालचन्द्र की ही प्रति में, कुछ संशोधनके साथ दोनों दोहे नीचे दिये जाते हैं—

१—१,४६ के बाद—

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ सो पेक्खु। अंतुमहुतु वि जंपु चइ होउण तुहुँ णिरवेक्खु॥

२—२, २१४ के बाद—

भव्वाभव्वह जो चरणु सरिसु ण तेण हि मोक्खु । लद्धि ज भव्वह रयणत्तय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥

**'त, फ,' और 'म' प्रतियाँ**—इन प्रतियोंमें ब्रह्मदेवके मूलसे (प्रक्षेपकसहित) ११२ और बालचन्द्रके मूलसे ११८ पद्य कम हैं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि इन प्रतियोंके पीछे कोई मौलिक आधार अवश्य है, क्योंकि एक तो 'क' प्रतिकी कन्नडटीका ब्रह्मदेवकी टीकासे स्वतंत्र है, और संभवतः उससे प्राचीन भी है। दूसरे, इसमें ब्रह्मदेवका एक भी क्षेपक नहीं पाया जाता। तीसरे, इसमें ब्रह्मदेव और बालचन्द्रसे दो गाथाएँ अधिक हैं। चौथे, ब्रह्मदेवने २,१४३ में 'जिणु सामिउ सम्मत्तु' पाठ रक्खा है तथा टीकामें दूसरे पाठान्तर 'सिवसंगमु सम्मत्तु' का उल्लेख किया है। उनका दूसरा पाठान्तर 'सिव-संगमु सम्मत्तु' इन प्रतियोंके 'सिउ संगउ सम्मत्तु' पाठसे मिलता है। किन्तु इन प्रतियोंमें अविद्यमान दोहोंका विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि ये प्रतियाँ परमात्मप्रकाशका संक्षिप्त रूप हैं। यह भी कहा जा सकता है कि इन प्रतियोंका मूल ही परमात्मप्रकाशका वास्तविक मूल है, जिसे योगीन्दुके किसी शिष्य, संभवतः स्वयं भट्ट प्रभाकरने ही यह बतानेके लिये कि गुरुने उसे यह उपदेश दिया था, वढ़ा दिया है। यद्यपि यह कल्पना आकर्षक है, किन्तु इसका समर्थन करनेके लिये प्रमाण नहीं हैं। इन प्रतियोंका आधार दक्षिण कर्नाटककी एक प्राचीन प्रति है, अतः इस कल्पनाका यह मतलब हो सकता है कि योगीन्दु दक्षिणी थे, और मूलग्रन्थ उत्तर भारतमें विस्तृत किया गया, क्योंकि ब्रह्मदेव उत्तर प्रान्तके वासी थे। किन्तु योगीन्दुको दाक्षिणी सिद्ध करनेके लिये कोई भी प्रमाण नहीं है। पर इतना निश्चित है कि परमात्मप्रकाशको 'त' 'क' और 'म' प्रतिके रूपमें संक्षिप्त करनेके लिये कोई कारण अवश्य रहा होगा। संभवतः दक्षिण भारतमें, जहाँ शंकराचार्य, रामानुज आदिके समयमें जैनोंको वेदान्त और शैवोंके विरुद्ध वाद-विवाद करना पड़ता था, किसी कन्नडटीकाकारके द्वारा यह संक्षिप्त रूप किया गया है।

**जोइन्दुके मूलपर मेरा मत**—उपलब्ध प्रतियोंके आधारपर यह निर्णय कर सकना असंभव है कि जोइन्दुकृत परमात्मप्रकाशका शुद्ध मूल कितना है? किन्तु दोहोंकी संख्यापर दृष्टि डालनेसे यह जान पड़ता है कि ब्रह्मदेवका मूल ही जोइन्दुके मूलके अधिक निकट है।

## संक्षेपमें परमात्मप्रकाशका विषय-परिचय

**सारांश**—प्रारम्भके सात दोहोंमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। फिर तीन दोहोंमें ग्रन्थकी उत्थानिका है। पाँचमें बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप बताया गया है। इसके बाद दस दोहोंमें विकलपरमात्माका स्वरूप आता है। पाँच क्षेपकों सहित चौबीस दोहोंमें सकलपरमात्माका वर्णन है। ६ दोहोंमें जीवके स्वशरीर-प्रमाणकी चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चयसम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदिकी चर्चा है। दूसरे अधिकारमें, प्रारम्भके दस दोहोंमें मोक्षका स्वरूप, एकमें मोक्षका फल, उन्नीसमें निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग, तथा आठमें अभेदरत्नत्रयका वर्णन है। इसके बाद चौदहमें समभावकी, चौदहमें पुण्य पापकी समानता की, और इकतालीस दोहोंमें शुद्धोपयोगके स्वरूपकी चर्चा है। अन्तमें परमसमाधिका कथन है।

## परमात्मप्रकाशपर समालोचनात्मक विचार

**रचनाकाल तथा कुछ ऐतिहासिक पुरुषोंका उल्लेख**—ब्रह्मदेवके आधारपर हम इस निर्णय-पर पहुँचते हैं कि प्रभाकर भट्टके कुछ प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये योगीन्दुने परमात्मप्रकाशकी रचना की थी[१]। एक स्थलपर प्रभाकर भट्टको उसके नामसे सम्बोधित किया गया है और 'वढ' जिसका अर्थ ब्रह्मदेव 'वत्स' करते हैं, तथा 'जोइय' (योगिन्) शब्दके द्वारा तो अनेकवार उनका उल्लेख आता है। प्रभाकर भट्ट योगीन्दुके शिष्य थे; इसके सिवा उनके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते! भट्ट और प्रभाकर ये दो पृथक् नाम नहीं हैं, किन्तु एक नाम है। संभवतः भट्ट एक उपाधि रही होगी; जैसे कि कन्नडव्याकरण 'शब्दानुशासन' (१६०४ ई.) के रचयिता अकलंक भट्टाकलंक कहे जाते हैं। भट्ट प्रभाकरके प्रश्न और योगीन्दुका उन्हें सम्बोधित करना बतलाते हैं, कि वे योगीन्दुके एक शिष्य थे, और साधु थे; उनका प्रसिद्ध

१-देखो १ अ० ८ दो० और २ अ० २११ दो०। २—देखो १,११।

पूर्वमीमांसक प्रभाकर भट्ट ( लगभग ६०० ई० ) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। योगीन्दु और प्रभाकरके नामके सिवा ग्रन्थमें किन्ही आर्य शान्तिके मतका भी उल्लेख है। निःसन्देह इनसे पहले कोई शान्ति नामके ग्रन्थकार हुए होंगे, किन्तु विशेष प्रमाणोंके अभावमें हम उन ज्ञात ग्रन्थकारोंके साथ इनकी एकता नहीं ठहरा सकते, जिनके नामके प्रारम्भमें 'शान्ति' शब्द आता है।

**ग्रन्थ-रचनाका उद्देश और उसमें सफलता**—जैसा कि ग्रन्थमें उल्लेख है, प्रभाकर शिकायत करता है कि उसने संसारमें बहुत दुःख भोगे हैं; अतः वह उस प्रकाशकी खोजमें है, जो उसे अज्ञानान्धकारसे मुक्त कर सके। इसलिये सबसे पहले योगीन्दु आत्माका वर्णन करते हैं, आत्म-साक्षात्कारकी आवश्यकता बतलाते हैं, और कुछ गूढ़ आत्मिक अनुभवोंकी चर्चा करते हैं। इसके बाद वे मुक्तिका स्वरूप, उसका फल, और उसके उपाय समझाते हैं। मुक्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए वे नीति और अनुशासन सम्बन्धी बहुतसी शिक्षाएँ देते हैं। भट्ट प्रभाकरको जिस प्रकाशकी आवश्यकता थी, बहुतसी आत्माएं उस प्रकाशकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हैं, और जैसा कि ग्रन्थका नाम तथा विषय बतलाते हैं, सचमुच यह ग्रन्थ परमात्माकी समस्यापर बहुत सरल तरीकेसे प्रकाश डालता है।

**विषय-वर्णनकी शैली**—जैसा कि ब्रह्मदेवके मूलसे मालूम होता है, स्वयं ग्रन्थकारने ही प्रभाकर भट्टके दो प्रश्नोंके आधारपर ग्रन्थको दो अधिकारोंमें विभक्त किया था। दूसरे भागकी अपेक्षा पहला भाग अधिक क्रमबद्ध है। कहीं कहीं ग्रन्थकारने स्वयं प्रश्न उठाकर उनका भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे समाधान किया है। इस ग्रन्थमें शाब्दिक पुनरावृत्तिकी कमी नहीं है, किन्तु इस पुनरावृत्तिसे ग्रन्थकार अनजान न था, क्यों कि वह स्वयं कहता है[2] कि भट्ट प्रभाकरको समझानेके लिये अनेक बातें बार बार कही गई हैं। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें किसी बातको बार बार कहनेका विशेष प्रयोजन होता है, वहाँ न्यायशास्त्रके समान युक्तियोंका कोटिक्रम और उसके द्वारा सिद्धान्त-निर्णय अपेक्षित नहीं रहता। वहाँ ग्रन्थकारके पास नैतिक और आध्यात्मिक विचारोंकी पूँजी होती है, और उसके प्रति पाठकोंको रुचि उत्पन्न करना उसका मुख्य उद्देश्य होता है, अतः अपने कथनको प्रभावक बनानेके लिये वह एक बातको कुछ हेर-फेरके साथ दोहराता और उपमाओंसे स्पष्ट करता है। ब्रह्मदेवने भी "अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति" आदि लिखकर पुनरुक्तिका समर्थन किया है।

**उपमाएं और उनका उपयोग**—अपने उपदेशको रोचक बनानेके लिये एक धर्मोपदेष्टा उपमा रूपक आदिका उपयोग करता है। यदि वे ( उपमा रूपक आदि ) दैनिक व्यवहारकी वस्तुओंसे लिये गये हों तो पाठकों और श्रोताओंको प्रकृत विषयके समझनेमें बहुत सुगमता रहती है। यही कारण है कि भारतीय न्यायशास्त्रमें दृष्टान्तको इतना महत्त्व दिया गया है। विषयकी गूढ़ताके कारण एक धर्मोपदेष्टा या तार्किककी अपेक्षा एक गूढ़वादीको इन सब चीजोंका उपयोग करना विशेष आवश्यक होता है। दृष्टान्त आदिकी सहायतासे वह अपने अनुभवोंको पाठकों तथा श्रोताओंतक पहुँचानेमें समर्थ होता है। गूढ़वादी की वर्णन-शैलीमें अन्य शैलियोंसे अन्तर होनेका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके अनुभव अप्रामाणिक हैं, किन्तु इससे यही प्रमाणित होता है कि वे अनुभव शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते। अतः गूढ़वादके ग्रन्थ उपमा रूपक आदिसे भरे होते हैं। 'योगीन्दु' भी इसके अपवाद नहीं हैं, उनके परमात्मप्रकाशमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है। उनमेंसे कुछ तो बड़े ही प्रभावक हैं।

**परमात्मप्रकाशके छन्द**—ब्रह्मदेवके मूलके अनुसार परमात्मप्रकाशमें सब ३४५ पद्य हैं, उनमें ५ गाथाएं, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है, किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। तथा एक चतुष्पादिका और शेष ३३७ अपभ्रंश दोहे हैं। परमात्मप्रकाशमें कहीं भी 'दोहा' शब्द नहीं आया, किन्तु योगीन्दुके दूसरे ग्रन्थ योगसारमें दो बार आया है। दोहेकी दोनों पंक्तियाँ बराबर होती हैं; प्रत्येक पंक्तिमें दो चरण होते हैं। प्रथम चरणमें १३ और दूसरेमें ११ मात्राएं होती हैं। किन्तु जब हम दोहेको पढ़ते

१-देखो २,६१। १ देखो २, २११।

हैं या उसे गानेकी कोशिश करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि हमें १४ मात्राओंकी आवश्यकता है—प्रत्येक चरणकी अन्तिम मात्रा कुछ ज़ोरसे बोली जाती है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें चौदह और बारह मात्राएं होती हैं किन्तु परमात्मप्रकाशके इकतीस दोहोंमें प्रत्येक पंक्तिके प्रथम चरणमें अन्तिम वर्णका गुरु उच्चारण करनेपर भी तेरह मात्राएं ही होती हैं। दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें चौदह और बारह मात्राएं होती हैं, यह बात विरहाङ्क की निम्नलिखित परिभाषासे भी स्पष्ट है।

तिण्णि तुरंगा णेउरओ वि-प्पाइक्का कण्णु। दुवहअ-पच्छद्धे वि तह वद लक्खणउ ण अण्णु॥ ४, २७॥

तुरंग=४ मात्राएँ, णेउर=१ गुरु, पाइक्क=४ मात्रा और कण्ण=२ गुरु, इस प्रकार एक पंक्तिमें १४ और १२ मात्राएं होती हैं। अपभ्रंशमें 'ए' और 'ओ' प्रायः ह्रस्व भी होते हैं, अतः उक्त दोहेके अक्षरशः विभाजन करनेसे प्रकट होता है कि १३ और ११ मात्राएँ होती हैं। कविदर्पण, प्राकृतपिङ्गल, छन्दकोश आदि छन्दशास्त्र बतलाते हैं कि दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें १३ और ११ मात्राएँ होती हैं, किन्तु हेमचन्द्र १४ और १२ ही बताते हैं। सारांश यह है कि विरहाङ्क और हेमचन्द्र दोहाके श्रुतिमाधुर्यका विशेष ध्यान रखते हैं, जब कि अन्य छन्दशास्त्रज्ञ अक्षर-गणनाके नियमका पालन आवश्यक समझते हैं। विरहाङ्कने दोहेका लक्षण अपभ्रंश-भाषामें रचा है, और रुद्रट कवि संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाके श्लेषोंको दोहाछन्दमें लिखते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि दोहा अपभ्रंश भाषाका छन्द है।

यहाँ 'दोहा' शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विचार करना अनुपयुक्त न होगा। जोइन्दु इसे दोहा कहते हैं, किन्तु विरहाङ्क इसका नाम 'दुवहा' लिखते हैं। यदि दोहाका मूल संस्कृत है तो यह 'द्विधा' शब्दसे बना है, जो बतलाता है कि दोहाकी प्रत्येक पंक्ति दो भागोंमें बटी होती है, या दोहाछन्दमें एक ही पंक्ति दो बार आती है। विरहाङ्कका 'दो पाआ भण्णइ दुवहउ' लिखना बतलाता है कि उसे दूसरा अर्थ अभीष्ट है। जहाँतक हम जानते हैं विरहाङ्क–जिसे प्रो० एच० डी० वेलणकर ईसाकी नवमी शताब्दीसे पहलेका बतलाते हैं–दोहेकी परिभाषा करनेवालोंमें सबसे प्राचीन छन्दकार है। बादके छन्दकारोंने दोहेके भेद भी किये हैं।

**आध्यात्मिक सहिष्णुता**—अध्यात्मवादियोंमें एक दूसरेके प्रति काफी सहिष्णुता होती है, और इसलिये–जैसा कि प्रो. रानडेका कहना है–सब युगों और सब देशोंके अध्यात्मवादी एक अनन्त और स्वर्गीय समाजकी सृष्टि करते हैं। वे किसी भी दार्शनिक आधारपर अपने गूढ़वादका निर्माण कर सकते हैं, किन्तु शब्दोंके अन्तस्तलमें घुसकर वे सत्यकी एकताका अनुभवन करते हैं। योगीन्दु एक जैन गूढ़वादी हैं, किन्तु उनकी विशालदृष्टिने उनके ग्रन्थमें एक विशालता ला दी है, और इसलिये उनके अधिकांश वर्णन साम्प्रदायिकतासे अलिप्त हैं। उनमें बौद्धिक सहनशीलता भी कम नहीं हैं। वेदान्तियोंका मत है कि आत्मा सर्वगत है; मीमांसकोंका कहना है कि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता; जैन उसे शरीरप्रमाण बतलाते हैं, और बौद्ध कहते हैं, कि वह शून्यके सिवा कुछ भी नहीं। किन्तु योगीन्दु इस मत-भेदसे बिल्कुल नहीं घबराते, वे जैन अध्यात्मके प्रकाशमें नयोंकी सहायतासे शाब्दिक-जालका भेदन करके सब मतोंके वास्तविक अभिप्रायको समझाते हैं। यद्यपि अन्य दर्शनकार उनकी इस व्याख्याको स्वीकार न कर सकेंगे, फिर भी यह शैली एक शान्त अध्यात्मवादीके रूपमें उन्हें हमारे सामने खड़ा कर देती है। योगीन्दु परमात्माकी एक निश्चित रूपरेखा स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे एक निश्चित नामसे पुकारनेपर जोर नहीं देते। वे अपने परमात्माको जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव, बुद्ध आदि संज्ञाएँ देते हैं। इसके सिवा अपना काम चलानेके लिये वे अजैन शब्दावलीका भी प्रयोग करते हैं। १ अ०, २२ दो० में वे धारणा, यन्त्र, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि शब्दोंका उपयोग करते हैं,

१ एच. डी. वेलनकर—विरहांकका 'वृत्तजाति समुच्चय'

२ बेलवलकर और रानडे, भारतीयदर्शनका इतिहास जिल्द ७, महाराष्ट्रका आध्यात्मिक गूढ़वाद, भूमिका पृष्ठ २

और कहते हैं कि परमात्मा इन सबसे अगोचर है। १, ४१ तथा २, १०७ में उनकी शैली वेदान्तसे अधिकतर मिलती है। २,४६*१ जिसे ब्रह्मदेव तथा अन्य प्रतियाँ प्रक्षेपक बतलाते हैं, गीताके दूसरे अध्यायके ६९ वें श्लोकका स्मरण कराते हैं। २, १७० वे दोहेमें 'हंसाचार' शब्द आता है, और ब्रह्मदेव 'हंस' शब्दका अर्थ परमात्मा करते हैं। यह हमें उपनिषदोंके उन अंशोंका स्मरण कराता है, जिनमें आत्मा और परमात्माके अर्थमें हंस शब्दका प्रयोग किया है। सारांश यह है कि ग्रन्थके कुछ भागको छोड़कर—जिसमें जैन अध्यात्मका पारिभाषिक वर्णन किया है–शेष भागको अध्यात्म-शास्त्रका प्रत्येक विद्यार्थी प्रेमपूर्वक पढ़ सकता है।

**जैन-साहित्यमें योगीन्दुका स्थान**—एक गूढ़वादीके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान् हो, और न वर्षोंतक व्याकरण और न्यायमें सिर खपाकर वह सुयोग्य लेखक बननेका ही प्रयत्न करता है, किन्तु मानव-समाजको दुःखी देख, आत्मसाक्षात्कारका अनुभव ही उसे उपदेश देनेके लिये प्रेरित करता है, और व्याकरण आदिके नियमोंका विशेष विचार किये बिना जनताके सामने वह अपने अनुभव रखता है। अतः उच्चकोटिकी रचनाओंमें प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोड़कर योगीन्दुका उस समयकी प्रचलित भाषा अपभ्रंशको अपनाना महत्त्वसे खाली नहीं है। महाराष्ट्रके ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदासने मराठीमें[1] और कर्नाटकके बसवन्न तथा अन्य वीरशैव वचनकारोंने[2] कन्नड़में बड़े अभिमानके साथ अपने अनुभव लिखे हैं, जिससे अधिक लोग उनके अनुभवोंसे लाभ उठा सकें। प्राचीन ग्रन्थकारोंने जो कुछ संस्कृत और प्राकृतमें लिखा था उसे ही योगीन्दुने बहुत सरल तरीकेसे अपने समयकी प्रचलित भाषामें गूँथ दिया है। प्राचीन जैन-साहित्यके अपने अध्ययनके आधारपर मेरा मत है कि योगीन्दु कुन्दकुन्द और पूज्यपादके ऋणी हैं। योगीन्दुकृत तीन आत्माओंका वर्णन ( १, १२१–४ ) मोक्खपाहुड़ ( ४–८ ) से बिल्कुल मिलता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी परिभाषाएँ भी ( १, ७६–७७ ) साधारणतया कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुड़ ( १४–५ ) में दत्त परिभाषाओं जैसी ही हैं, और ब्रह्मदेवने इन दोहोंकी टीकामें उन गाथाओंको उद्धृत भी किया है। इसके सिवा नीचे लिखी समानता भी ध्यान देने योग्य है—मो० पा० २४ और प० प्र० १,८६; मो० पा० ३७ और प० प्र० २, १३; मो० पा० ५१ और प० प्र० २, १७६–७७; मो० पा० ६६–६९ और प० प्र० २,८१ आदि। मोक्खपाहुड़ आदिकी संस्कृत-टीकामें श्रुतसागरसूरिका परमात्मप्रकाशसे दोहे उद्धृत करना भी निरर्थक नहीं है। इस प्रकार सूक्ष्म छानबीनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि योगीन्दुने कुन्दकुन्दसे बहुत कुछ लिया है।

पूज्यपादके समाधिशतक और परमात्मप्रकाशमें भी घनिष्ठ समानता है। मेरे विचारसे योगीन्दुने पूज्यपादका अक्षरशः अनुसरण किया है। विस्तारके डरसे यहाँ कुछ समानताओंका उल्लेखमात्र करता हूँ। स० श० ४–५ और प० प्र० १, ११–१४; स० श० ३१ और प० प्र० २, १७५, १,१२३*२; स० श० ६४–६६ और प० प्र० २, १७८–८०; स० श० ७० और प० प्र० १, ८०; स० श० ७८ और प० प्र० २, ४६*१; स० श० ८७–८८ और प० प्र० १, ८२ आदि। इन समानताओंके सिवा इन दोनोंमें विचारसाम्य भी बहुत है, किन्तु दोनोंकी शैलीमें बड़ा अन्तर है। वैयाकरण होनेके कारण 'अर्द्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' के अनुसार पूज्यपादके उद्गार संक्षिप्त, भाषा परिमार्जित और भाव व्यवस्थित हैं, किन्तु योगीन्दुकी कृति–जैसा कि पहले कहा जा चुका है–पुनरावृत्ति और इधर उधरकी बातोंसे भरी है। पूज्यपादकी शैलीने उनकी कृतिको गहन बना दिया था, और विद्वान् लोग ही उससे लाभ उठा सकते थे, संभवतः इसी लिये योगीन्दुने समाधिशतकके मन्तव्योंको प्रचलित भाषा और जनसाधारणकी शैलीमें निबद्ध किया था। योगीन्दुकी इस रचनाने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है, और जयसेन, श्रुतसागर और रत्नकीर्ति सरीखे टीकाकारोंने उससे पद्य उद्धृत किये थे।

---

१ माझी मराठी भाषा चोखडी। परब्रह्मीं फळली गाढी॥ २ ये वचन कन्नड गद्यके सुन्दर नमूने हैं।

देवसेनके तत्त्वसार और परमात्मप्रकाशमें भी काफी समानता है। देवसेनके ग्रन्थोंपर अपभ्रंशका प्रभाव है; अपने भावसंग्रहमें उन्होंने कुछ अपभ्रंश पद्य भी दिये हैं, और 'वहिरप्पा' ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है। इन कारणोंसे मेरा मत है कि देवसेनने योगीन्दुका अनुसरण किया है।

**योगीन्दु, काण्ह और सरह**—काण्ह और सरह बौद्ध-गूढ़वादी थे। उनके ग्रन्थ उत्तरकालीन महायान सम्प्रदायसे खासकर तंत्रवादसे सम्बन्ध रखते हैं, और शैव योगियोंके साथ उनकी कुछ परम्पराएँ मिलती जुलती हैं। काण्हका समय डा० शाहीदुल्ला ई० ७०० के लगभग और डा० एस० के० चटर्जी ईसाकी बारहवीं शताब्दीका अन्त बतलाते हैं। सरह ई० १००० के लगभग विद्यमान थे। इन दोनों ग्रन्थकारोंके दोहा-कोशोंका विषय परमात्मप्रकाशके जैसा ही है। यद्यपि उनके ग्रन्थोंका नाम 'दोहा-कोश' है, किन्तु परमात्मप्रकाशकी तरह उनमें केवल दोहा ही नहीं है, बल्कि अनेक छन्द है। प्रान्त-भेदके कारण उत्पन्न कुछ विशेषताओंको छोड़कर उनकी अपभ्रंश भी योगीन्दुके जैसी ही है। गूढ़वादियोंके विचार और शब्द प्रायः समान होते हैं, जो विभिन्न धर्मोंके गूढ़वादके ग्रन्थोंमें देखनेको मिलते हैं। काण्ह और सरहने अपने पद्योंमें प्रायः अपने नाम दिये हैं, पर योगीन्दुने ऐसा नहीं किया। तुकाराम आदि महाराष्ट्र सन्तोंने भी अपनी रचनाओंमें अपने नाम दिये हैं और कर्नाटकके शैव वचनकारोंने अपनी मुद्रिकाओंका उल्लेख किया है। उदाहरणके लिये 'वसवण्ण' की मुद्रिका 'कूडल-संगम-देव है, और गङ्गम्माकी 'गङ्गेश्वरलिङ्ग'। विशेषकर सरहके दोहा-कोशके बहुतसे विचार, वाक्यांश, तथा कहनेकी शैलियाँ परमात्म-प्रकाशके जैसी ही हैं।

## परमात्मप्रकाशके दार्शनिक मन्तव्य और गूढ़वाद।

**व्यवहार और निश्चय**—भारतीय-साहित्यके इतिहासमें यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि ग्रन्थका शुद्ध अर्थ करनेमें प्रायः टीकाकार प्रमाण माने जाते हैं। ऋग्वेदके व्याख्याकार सायनके सम्बन्धमें जो बात सत्य है, परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवके सम्बन्धमें वह बात और भी अधिक सत्य है। ग्रन्थकी व्याख्या करते हुए, ब्रह्मदेवने बार बार निश्चयनय और व्यवहारनयका अवलम्बन लिया है। यह बहुत संभव है कि उन्होंने कुछ अत्युक्ति की हो, किन्तु ग्रन्थके कुछ स्थलोंसे स्पष्ट है कि ये दोनों दृष्टियाँ जोइन्दुको भी इष्ट थीं। अतः परमात्मप्रकाशका अध्ययन करते समय, हम इन दोनों नयोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

**इस प्रकारके नयोंकी आवश्यकता**—भारतवर्षमें एक ओर धर्म शब्दका अर्थ होता है-कठोर संयमके धारी महात्माओंके आध्यात्मिक अनुभव, और दूसरी ओर उन आध्यात्मिक सिद्धान्तोंके अनुयायी समाजका पथ-प्रदर्शन करनेवाले व्यावहारिक नियम। अर्थात् धर्मके दो रूप हैं, एक सैद्धान्तिक या आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक या सामाजिक। इन दो रूपोंके कारण ही इस प्रकारके नयोंकी आवश्यकता होती है; और जैनधर्ममें तो-जहाँ भेदविज्ञानके बिना सत्यकी प्राप्ति ही नहीं होती-वे अपना खास स्थान रखते हैं। व्यवहारनय वाचाल है, और उसका विषय है कोरा तर्कवाद, जब कि निश्चयनय मूक है, और उसका विषय है अन्तरात्मासे स्वयं उद्भूत होनेवाले अनुभव। जैनधर्मानुसार गृहस्थधर्म और मुनिधर्म परस्परमें एक दूसरेके आश्रित हैं, और मोक्षप्राप्तिमें एक दूसरेकी सहायता करते हैं। यही दशा व्यवहार और निश्चयकी है; जैसे प्रत्येक गृहस्थ सन्यास लेता है, और अपने आत्मिक-लक्ष्यको पहचानता है, उसी तरह व्यवहारनय निश्चयकी प्राप्तिके लिये आत्मसमर्पण कर देता है।

**अन्य शास्त्रोंमें इस प्रकारकी दृष्टियाँ**—मुण्डकोपनिषद् (१, ४-५) में विद्याके दो भेद किये हैं-अपरा और परा। पहलीका विषय वेदज्ञान है, और दूसरीका शाश्वत ब्रह्मज्ञान। ये भेद सत्यके तार्किक और आनुभविकज्ञानके जैसे ही हैं, अतः इनकी व्यवहार और निश्चयके साथ तुलना की जा सकती है

बौद्धधर्ममें भी सत्यके दो भेद किये है—संवृतिसत्य या व्यवहारसत्य और परमार्थसत्य। शङ्कराचार्य भी व्यवहार और परमार्थ दृष्टियोंको अपनाते हैं। धर्मकी कुछ आधुनिक परिभाषाओंमें भी इस प्रकारके भेदकी झलक पाई जाती है, जिनमेंसे विलियम जेम्स 'सामाजिक और व्यक्तिगत' इन दो दृष्टियोंको मानते हैं।

**नयोंका सापेक्ष महत्त्व**—व्यवहारनय तभीतक लाभदायक और आवश्यक है, जबतक वह निश्चय की ओर लेजाता है। अकेला व्यवहार अपूर्ण है, और कभी भी पूर्ण नहीं होसकता। बिल्लीकी उपमा तभीतक काम देसकती है, जबतक हमने शेर को नही देखा। दोनों नयोंका सापेक्ष महत्त्व बतलाते हुए अमृतचन्द्र लिखते[1] हैं—व्यवहार उन्हींके लिये उपयोगी होसकता है, जो आध्यात्मिक-जीवनकी पहली सीढ़ीपर रेंग रहे हैं। किन्तु, जो अपने लक्ष्यको जानते हैं, और अपने चैतन्य-स्वरूपका अनुभवन करते हैं, उनके लिये व्यवहार बिल्कुल उपयोगी नहीं है।

**आत्माके तीन भेद**—आत्माके तीन भेद हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा। शरीरको आत्मा समझना अज्ञानता है, अतः एक ज्ञानी मनुष्यको कर्तव्य है कि वह अपनेको शरीरसे भिन्न और ज्ञानमय जाने, और इस तरह आत्म-ध्यानमें लीन होकर परमात्माको पहचाने। समस्त बाहिरी वस्तुओंका त्याग करनेपर अन्तरात्मा ही परमात्मा होजाता है।

**आत्माके भेद और प्राचीन ग्रन्थकार**—सबसे पहले योगीन्दुने ही इन भेदोंका उल्लेख नहीं किया है। किन्तु उससे पहले कुन्दकुन्दने ( ईस्वी सन् का प्रारम्भ ) अपने मोक्खपाहुड़में और पूज्यपादने ( ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम पादके लगभग ) समाधिशतकमें इनकी चर्चा की है। जोइन्दुके बाद अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमितगति आदि अनेक ग्रन्थकारोंने आत्माकी चर्चा करते समय इस भेदको दृष्टिमें रक्खा है।

**अन्य दर्शनोंमें इस भेदकी प्रतिध्वनि**—यद्यपि प्राथमिक वैदिक-साहित्यमें आत्मवादके दर्शन नहीं होते, किन्तु उपनिषदोंमें इसकी विस्तृत चर्चा पाई जाती है। उस समय यजन-याजन आदि वैदिक कृत्यमें संलग्न पुरोहितोंके सिवा साधुओंका भी एक सम्प्रदाय था, जो अपने जीवनका बहुभाग इस आत्म-विद्याके चिन्तनमें ही व्यतीत करता था। उपनिषदों तथा बादके साहित्यमें इस आत्म-विद्याके प्रति बड़ा अनुराग दर्शाया गया है। तैत्तिरीयोपनिषदमें पाँच आवरण बतलाये हैं—अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमेंसे प्रत्येकको आत्मा कहा है। कठोपनिषदमें आत्माके तीन भेद किये हैं—ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा। छान्दोग्य ३०८, ७-१२ को दृष्टिमें रखकर डॉयसन् (Deusson)ने आत्माकी तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—शरीरात्मा, जीवात्मा, और परमात्मा। अनेक स्थलोंपर उपनिषदोंमें आत्मा और शरीरको जुदा जुदा बतलाया है। न्याय-वैशेषिकका जीवात्मा और परमात्माका भेद तो प्रसिद्ध ही है। इसके बाद, रामदास आत्माके चार भेद करते हैं—१ जीवात्मा, जो शरीरसे बद्ध हैं, २ शिवात्मा, जो विश्वव्यापी है, ३ परमात्मा, जो विश्वके और उससे बाहिर भी व्याप्त है, ४ और निर्मलात्मा, जो निष्क्रिय और ज्ञानमय है। किन्तु रामदासका कहना है कि अन्ततोगत्वा ये सब सर्वथा एक ही हैं।

**आत्मिक-विज्ञान**—आत्म-ज्ञानसे संसार-भ्रमणका अन्त होता है। आत्मा उसी समय आत्मा कहा जाता है, जब वह कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे मुक्ति शीघ्र मिलती है। आत्म-ज्ञानके बिना शास्त्रोंका अध्ययन आचारका पालन आदि सब कृत्य-कर्म बेकार हैं।

**आत्माका स्वभाव**—यद्यपि आत्मा शरीरमें निवास करता है, किन्तु शरीरसे बिल्कुल जुदा है। छः द्रव्योंमें केवल यही एक चेतन द्रव्य है, शेष जड़ हैं। यह अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दका भण्डार है,

---

१—समयसार गाथा १२ समयसार कलश।

अनादि और अनन्त है; दर्शन और ज्ञान उसके मुख्य गुण हैं; शरीरप्रमाण है। मुक्तावस्थामें उसे शून्य भी कह सकते हैं, क्योंकि उस समय वह कर्मबन्धनसे शून्य ( रहित ) होजाता है। यद्यपि सब आत्माओंका अस्तित्व जुदा जुदा है, किन्तु गुणोंकी अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है; सब आत्माएं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्यके भण्डार हैं। अशुद्ध दशामें उनके ये गुण कर्मोंसे ढँके रहते हैं।

**परमात्माका स्वभाव**—तीनों लोकोंके ऊपर मोक्ष-स्थानमें परमात्मा निवास करता है। वह शाश्वत ज्ञान और सुखका आगार है, पुण्य और पापसे निर्लिप्त है। केवल निर्मल ध्यानसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार मलिन दर्पणमें रूप दिखाई नहीं देता, उसी तरह मलिन चित्तमें परमात्माका भान नहीं होता। परमात्मा विश्वके मस्तकपर विराजमान है, और विश्व उसके ज्ञानमें, क्योंकि वह सबको जानता है। परमात्मा अनेक हैं,और उनमें कोई अन्तर नहीं है। वह न तो इन्द्रियगम्य है,और न केवल शास्त्राभ्याससे ही हम उसे जान सकते हैं; वह केवल एक निर्मल ध्यानका विषय है। ब्रह्म, परमब्रह्म, शिव, शान्त आदि उसीके नामान्तर हैं।

**कर्मोंका स्वभाव**—राग, द्वेष आदि मानसिक भावोंके निमित्तसे जो परमाणु आत्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। कर्मोंके कारण ही आत्माकी अनेक दशायें होती हैं; कर्मोंके कारण ही आत्माको शरीरमें रहना पड़ता है। ये कर्म-कलङ्क ध्यानरूपी अग्निमें जलकर भस्म हो जाते हैं।

**आत्मा और परमात्मा**—आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मबन्धके कारण वह परमात्मा नहीं बन सकता। ज्यों ही वह अपनेको जान लेता है, परमात्मा बन जाता है। स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षासे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। जब आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, उसके आनन्दका पारावार नहीं रहता।

**उपनिषदोंमें आत्मा और ब्रह्म**—उपनिषदोंमें ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्त्व माना गया है; समस्त जीवात्माएं उसीके अंश हैं। बहुतसे स्थलोंपर आत्मा और ब्रह्म शब्दका एक ही अर्थमें प्रयोग किया है। जैसे लोहेका एक टुकड़ा पृथ्वीके गर्भमें दब जानेके बाद पृथ्वीमें ही मिल जाता है, उसी तरह प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्ममें समा जाता है। अविद्याके प्रभावसे प्रत्येक आत्मा अपनेको स्वतंत्र समझता है, किन्तु वास्तवमें हम सब ब्रह्मके ही अंश हैं। प्रारम्भमें यह ब्रह्म एक शक्तिशाली ऋचाके रूपमें माना जाता था, किन्तु बादमें यह उस महान् शक्तिका प्रतिनिधि बन गया, जो विश्वको उत्पन्न करती और नष्ट करती है। यद्यपि बार बार ब्रह्मको निर्गुण कहा है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे एक स्वतंत्र अनन्त और सनातन तत्त्वके रूपमें माना है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। इस तरह उपनिषदोंमें ब्रह्म ही आत्मा है।

**योगीन्दुके परमात्माकी उपनिषदोंके ब्रह्मसे तुलना**—'ब्रह्म' शब्द वैदिक है, और उपनिषदोंमें ब्रह्मको एक और अद्वितीय लिखा है। जोइन्दुने इस शब्दको वैदिक-साहित्यसे लिया है, और अपने ग्रन्थमें उसका बार बार प्रयोग किया है। "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्" लिखकर स्वामी समन्तभद्रने भी 'ब्रह्म' शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग किया है। उपनिषदोंमें परमात्माकी अपेक्षा ब्रह्म शब्द अधिक आया है, यद्यपि 'नृसिंहोत्तरतापनी' आदि ग्रन्थोंमें दोनोंको एकार्थवाची बतलाया है। उपनिषदोंका ब्रह्म एक है, किन्तु, जोइन्दु बहुतसे ब्रह्म मानते हैं। जैनधर्मके अनुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है, और उसे कुछ करना शेष नहीं रहता; वह विश्वको केवल जानता और देखता है, क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव है। किन्तु, उपनिषदोंका ब्रह्म प्रत्येक वस्तुका उत्पादक और आश्रय है। यद्यपि उपनिषदोंके ब्रह्म और जैनोंके परमात्मामें बहुतसी समानताएं हैं, किन्तु उनके अर्थमें भेद है। उदाहरणके लिये, उपनिषदोंमें 'स्वयंभू' शब्दका अर्थ 'स्वयं पैदा होनेवाला' और 'स्वयं रहनेवाला' है, किन्तु जैनधर्मके अनुसार 'स्वयं परमात्मा होनेवाला' है।

**योगीन्दुकी एकता**—योगीन्दुके परमात्मा और उपनिषदोंके ब्रह्ममें उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी, योगीन्दु बिल्कुल उपनिषदोंके स्वरमें परमात्माओंके एकत्वकी चर्चा करते हैं, और परमात्मपदके अभिलाषियोंसे निवेदन करते हैं कि वे परमात्माओंमें भेद-कल्पना न करें, क्योंकि उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु उपनिषदोंका एकत्व वास्तविक है, और जोइन्दुका केवल आपेक्षिक। किन्तु जब योगीन्दु आत्मा और परमात्माके एकत्वकी चर्चा करते हैं तो वे उसका पूर्णतया समर्थन करते हैं, क्योंकि जैनधर्मके अनुसार आत्मा परमात्मा है; कर्मबन्धके कारण उसे परमात्मा न कहकर आत्मा कहते हैं। सम्पूर्ण आत्माओंकी यह समानता जैनधर्मके प्राणिमात्रके प्रति मानसिक, वाचनिक, और कायिक अहिंसा-वादके बिल्कुल अनुरूप है, इस प्रसङ्गमें सांख्योंकी तरह जैनोंको भी सत्कार्यवादी कहा जा सकता है। उपनिषदोंका ब्रह्म सर्वथा एक और अद्वैत है, किन्तु जैनोंके परमात्मामें यह बात नहीं है। जैनधर्म संसारको भेददृष्टिसे देखता है, और उसका आत्मा तप और ध्यानके मार्गपर चलकर परमात्मा बन जाता है, किन्तु उपनिषद संसारको एक ब्रह्मके रूपमें ही देखते हैं।

**उपनिषदोंके आत्मासे योगीन्दुके आत्माकी तुलना**—जैनधर्ममें आत्मा और पुद्गल दोनों वास्तविक हैं, आत्माएं अनन्त है और मुक्तावस्थामें भी प्रत्येक आत्माका स्वतंत्र अस्तित्व रहता है। किन्तु उपनिषदोंमें आत्माके सिवा—जो कि ब्रह्मका ही नामान्तर है, कुछ भी सत्य नहीं है। जैनधर्ममें, उपनिषदोंकी तरह, आत्मा एक विश्वव्यापी तत्त्वका अंश नहीं है—किन्तु उसके अन्दर परमात्मत्वके बीज वर्तमान रहते हैं और जब वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। उपनिषद तथा गीतामें बुरे और अच्छे कार्योंको कर्म कहा है, किन्तु जैनधर्ममें यह एक प्रकारका सूक्ष्म पदार्थ (matter) है, जो आत्माकी प्रत्येक मानसिक, वाचिक, और कायिक-क्रियाके साथ आत्मासे सम्बद्ध हो जाता है। और उसे जन्म-मरणके चक्रमें घुमाता है। जैनधर्मके अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, क्योंकि ये एक ही वस्तुकी दो अवस्थाएं हैं, और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। तथा संसार अनादि है, और अगणित आत्माओंकी रङ्गभूमि है। किन्तु, वेदान्तमें आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही है।

**दो विभिन्न सिद्धान्त**—आत्मा और ब्रह्मके सिद्धान्तको मिलाकर उपनिषद एक स्वतंत्र अद्वैत-वादकी सृष्टि करते हैं। वास्तवमें आत्मवाद और ब्रह्मवाद ये दोनों ही स्वतंत्र सिद्धान्त हैं, और एकसे दूसरेका विकास नहीं हो सकता। प्रथम सिद्धान्तके अनुसार अगणित आत्माएं संसारमें भ्रमण कर रहे हैं; जब कोई आत्मा बन्धनसे मुक्त होजाता है, परमात्मा बन जाता है। परमात्मा भी अगणित हैं, किन्तु उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है; अतः वे एक प्रकारकी एकताका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये परमात्मा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयमें कोई भाग नहीं लेते। इसके विपरीत, ब्रह्मवादके अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है, और उसीमें लय हो जाती है; विभिन्न आत्माएं एक परब्रह्म के ही अंश हैं। जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवादके सिद्धान्तको मानते हैं, जब कि वैदिक-धर्म ब्रह्मवादको। किन्तु, उपनिषद इन दोनों सिद्धान्तोंको मिला देते हैं, और आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका समर्थन करते हैं।

**संसार और मोक्ष**—संसार और मोक्ष आत्माकी दो अवस्थाएं हैं, और दोनों एक दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध हैं। संसार जन्म और मृत्युका प्रतिनिधि है, तो मोक्ष उनका विरोधी। संसार-दशामें आत्मा कर्मोंके चंगुलमें फँसा रहता है, और नरक, पशु, मनुष्य और देव इन चारों गतियोंमें घूमता फिरता है, किन्तु मोक्ष उससे विपरीत है, उसे पञ्चमगति भी कहते हैं। जब आत्मा चौदह गुणस्थानोंमेंसे होकर समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है, तब उसे पञ्चमगतिकी प्राप्ति होती है। संसार-दशामें कर्म आत्माकी शक्तिको प्रकट नहीं होने देते। किन्तु मुक्तावस्थामें, जहाँ आत्मा परमात्मा बनजाता है, और अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्यका धारक होता है, वे शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

**मोक्षप्राप्तिके उपाय**—व्यवहारनयसे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं, इन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं, और निश्चयनयसे रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ये तीनों ही आत्माके स्वाभाविक गुण हैं।

**महासमाधि**—इस ग्रन्थमें, पारिभाषिक शब्दोंकी भरमारके बिना, महासमाधिका बड़ा ही प्रभावक वर्णन है, जो ज्ञानार्णव, योगसार, तत्त्वानुशासन आदिमें भी पाया जाता है। उस ध्यानकी प्राप्तिके लिये, जिसमें आत्मा परमात्माका साक्षात्कार करता है, मनकी स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। उस समय न तो इष्ट वस्तुओंके प्रति मनमें राग ही होना चाहिये और न अनिष्टके प्रति द्वेष; तथा मन वचन और काय एकाग्र होने चाहिये, और आत्मा आत्मामें लीन होना चाहिये। इस सिलसिलेमें दो अवस्थाएं उल्लेखनीय हैं—एक सिद्ध और दूसरी अर्हत। समस्त कर्मोंका नाश करके प्रत्येक आत्मा सिद्धपद प्राप्त कर सकता है, किन्तु अर्हतपद केवल तीर्थङ्कर ही प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थङ्कर धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रचारमें अपना कुछ समय देते हैं, किन्तु सिद्ध सदा अपनेमें ही लीन रहते हैं। अतः समाजके लिये, तीर्थङ्कर विशेष लाभदायक होते हैं।

**गूढ़वादकी कुछ विशेषताएं**—गूढ़वाद या रहस्यवादकी व्याख्या कर सकना सरल नहीं है। यह मनकी उस अवस्थाको बतलाता है, जो तुरन्त निर्विकार परमात्माका साक्षात दर्शन कराती है। यह आत्मा और परमात्माके बीचमें पारस्परिक अनुभूतिका साक्षात्कार है, जो आत्मा और अन्तिम सत्यकी एकताको बतलाता है। इसमें प्रत्येक जीव अपनी पूर्णता और स्वतंत्रताका अनुभव करता है। दूसरे, इसका अनुभव करनेके लिये ऐसी आत्माकी आवश्यकता है, जो अपनेको ज्ञान और सुखका भण्डार समझे तथा अपनेको परमात्म पदके योग्य जाने। तीसरे, यदि गूढ़वाद आध्यात्मिक और धार्मिक हो तो धर्मको ध्येय और ध्यातामें एकत्व स्थापित करनेका उपाय अवश्य बताना चाहिये। चौथे, गूढ़वाद साधारणतया संसारके सम्बन्धमें और विशेषतया सांसारिक प्रलोभनोंके सम्बन्धमें स्वाभाविक उदासीनता दिखाता है। पाँचवें, गूढ़वादसे उस सामग्रीकी प्राप्ति होती है जो लौकिकज्ञानके साधन मन और इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही पूर्ण सत्यको जान लेती है। छट्टे, धार्मिक गूढ़वादमें कुछ नैतिक नियम रहते हैं, जो एक आस्तिकको अवश्य पालने चाहिये। सातवें, गूढ़वादसम्बन्धी रहस्योंका उपदेश करनेवाले गुरुओंका सन्मान करना भी एक गूढ़वादीका कर्तव्य है।

**जैनधर्ममें गूढ़वाद**—क्या जैनधर्म सरीखे वेदविरोधी धर्ममें गूढ़वादका होना संभव है? कुन्दकुन्द और पूज्यपादके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उक्त शंका निराधार प्रमाणित होती है। यहाँ यह अधिक युक्तिसंगत होगा कि प्राचीन जैनग्रन्थोंसे कुछ बातें ( Data ) सङ्कलित की जावें, और देखा जावे कि जैनधर्मने गूढ़वादको कौनसी मौलिक वस्तु प्रदान की है, और वेदान्तके गूढ़वादसे उसमें क्या समानता या अन्तर है? ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि जैनतीर्थंकर संसारके गिने चुने गूढ़वादियोंमेंसे हैं। जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवके सम्बन्धमें प्रो० रानडे[1]ने ठीक ही लिखा है, कि वे एक भिन्न ही प्रकारके गूढ़वादी थे; उनकी अपने शरीरके प्रति अत्यन्त उदासीनता उनके आत्मसाक्षात्कार को प्रमाणित करती है। पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि भागवतमें प्राप्त ऋषभदेवका वर्णन जैन पौराणिक वर्णनोंसे बिल्कुल मिलता है।

**जैनधर्ममें गूढ़वाद-सम्बन्धी सामग्री**—ईश्वरवादियोंके अद्वैतवादसे कहीं अधिक अद्वैतवाद और ईश्वरवादको गूढ़वादका आधार माना जाता है, अनुभवकी श्रेष्ठ दशामें आत्मा किसी दैवी शक्तिके साथ एकताका अनुभव करता है। विलियम जेम्सका कहना है कि मनकी गूढ़ वृत्तियाँ प्रत्येक मात्रामें सर्वदा नहीं तो प्रायः अद्वैतवादका समर्थन करती हैं, जैसा कि इतिहाससे प्रदर्शित होता है। अतः गूढ़वादमें अद्वैतवादके लिये पर्याप्त स्थान है, और जैसा कि ऊपर कह आये हैं, वेदान्तमें तो ब्रह्म ही सब कुछ है। किन्तु, ज्ञानदेवका आध्यात्मिक गूढ़वाद अद्वैत और द्वैतको मिला देता है, क्योंकि उसमें एकत्व और नानात्व, दोनोंको ही स्थान दिया है। जैन गूढ़वाद दो तत्त्वोंपर अवलम्बित है।

---

१ महाराष्ट्रमें गूढ़वाद, पृ. ९।

वे दो तत्त्व हैं—आत्मा और परमात्मा। किन्तु परमात्मासे मतलब ईश्वर है, न कि जगन्नियंता। जैनदृष्टिसे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है, केवल संसार अवस्थामें आत्मा कर्म-बन्धके कारण परमात्मा नहीं हो सकता। कर्मोंका नाश करके गूढ़वादी इस एकता या समानताका अनुभव करता है। जैनधर्मकी परमात्मासम्बन्धी मान्यता आत्मकैवल्य ( Personal absolute )से कुछ मिलती-जुलती है। जैनधर्ममें आत्मा परमात्मा हो जाता है, किन्तु वेदान्तियोंकी तरह ब्रह्ममें लीन नहीं होता। जैन-धर्ममें आध्यात्मिक अनुभवसे मतलब एक विभक्त आत्माका एकत्वमें मिल जाना नहीं है, किन्तु उसका सीमित व्यक्तित्व उसके सम्भावित परमात्मका अनुभवन करता है। कम्मपयडि, कम्मपाहुड, कसायपाहुड, गोम्मटसार आदि प्राचीन जैनशास्त्रोंमें बतलाया है कि किस तरह आत्मा गुणस्थानोंपर आरोहण करता हुआ उन्नत, उन्नततर होता जाता है और किस तरह प्रत्येक गुणस्थानमें उसके कर्म नष्ट होते जाते हैं। यहाँ उन सब बातोंका वर्णन करनेके लिये स्थान नहीं है।

वास्तवमें जैनधर्म एक तपस्याप्रधान धर्म है। यद्यपि उसमें गृहस्थाश्रमका भी एक दर्जा है, किन्तु मोक्षप्राप्तिके इच्छुक प्रत्येक व्यक्तिको साधु-जीवन बिताना आवश्यक एवं अनिवार्य होता है। साधुओंके आचार विषयक नियम अति कठोर हैं; वे एकाकी विहार नहीं कर सकते, क्योंकि सांसारिक प्रलोभन सब जगह वर्तमान है। वे अपना अधिक समय स्वाध्याय और आत्म-ध्यानमें ही विताते हैं; और प्रतिदिन गुरुके पादमूलमें बैठकर अपने दोषोंकी आलोचना करते हैं, और उनसे आत्म-विद्या या आत्म-ज्ञानका पाठ पढ़ते हैं। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि जैनधर्ममें गूढ़वादके सब आवश्यक अंग पाये जाते हैं।

**पुण्य और पाप**—मानसिक, वाचनिक, और कायिक क्रियासे आत्माके प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है, उससे कर्म-परमाणु आत्माकी ओर आकर्षित होते हैं। यदि क्रिया शुभ होती है, तो पुण्यकर्मको लाती है, और यदि अशुभ हो तो पापकर्मको। किन्तु पुण्य हो या पाप, दोनोंकी उपस्थिति आत्माकी परतंत्रताका कारण है। केवल इतना अन्तर है, कि पुण्य-कर्म सोनेकी बेड़ी है और पापकर्म लोहेकी। अतः स्वतंत्रताके अभिलाषी मुमुक्षु दोनों ही से मुक्त होनेकी चेष्टा करते हैं।

## परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंश और आचार्य हेमचन्द्रका प्राकृत-व्याकरण

**अपभ्रंश और उसकी विशेषता**—अपभ्रंशका आधार प्राकृत भाषा है। यह वर्तमान प्रान्तीय भाषाओंसे अधिक प्राचीन है। उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्यके देखनेसे मालूम होता है कि जनसाधारणमें प्रचलित कविताके लिये इस भाषाको अपनाया गया था, इसीसे इसमें प्रान्तीय परिवर्तनोंके सिवा कुछ सामान्य बातें (Common characteristics) भी पाई जाती हैं। हेमचन्द्रने अपनी अपभ्रंशमें प्राकृतकी कुछ विशेषताओंको भी अपवादरूपसे सम्मिलित कर लिया है। उन्होंने उदाहरणके लिये जो अपभ्रंश-पद्य उद्धृत किये हैं, एक-आध शब्द या रूपको छोड़कर, उनमेंसे कुछ पद्य बिल्कुल प्राकृतमें हैं। कुछ बातोंसे यह स्पष्ट है कि प्राकृतको सरल करनेके लिये अपभ्रंशमें अनेक उपाय किये गये हैं। उदाहरणके लिये, १ अपभ्रंशमें स्वरविनिमय तथा उनके दीर्घ या ह्रस्व करनेकी स्वतंत्रता है; जैसे एक ही कारकमें ‘ हँ ’ या ‘ हुँ ’ और ‘ हे ’ या ‘ हु ’ प्रत्यय पाये जाते हैं; और ‘ ओ ’ प्रत्ययकी जगहमें ‘ उ ’ आता है। २ ‘म’ का बहुत कम उच्चारण होता है, क्योंकि इसके स्थानमें प्रायः ‘ वँ ’ हो जाता है। ३ विभक्तिके अन्तमें ‘ स ’ के स्थानमें ‘ ह ’ हो जाता है, और इससे अनेक विचित्र रूप समझमें आ जाते हैं। यथा, मार्कण्डेय तथा अन्य लेखकोंके द्वारा प्रयुक्त ‘देवहो’ वैदिक ‘ देवासः ’ से मिलता जुलता है। इसी तरह ‘देवहँ’ प्राकृतके ‘ देवस्स ’ से ‘ ताहँ ’ तस्स से ‘तहिँ’ तंसि से और ‘एहु’ ‘ एसो ’से लिया गया है। अवेस्ता तथा ईरानी भाषाओंमें भी संस्कृत ‘ स ’ का ‘ ह ’ में परिवर्तन हो जाता है। वर्तमान गुजरातीमें भी कभी कभी ‘ स ’ का ‘ ह ’ हो जाता है। ४ उच्चारणको सरल बनानेके लिये प्राकृतकी सन्धियाँ प्रायः शिथिल कर दी गई हैं। ५ कभी कभी कर्ता, कर्म, और सम्बन्ध कारकमें प्रत्यय नहीं लगाया जाता। ६ शब्दोंके रूपोंपर

स्वर-परिवर्तनका प्रभाव पड़ता है। ७ अव्ययोंमें इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उनका पहचानना भी कठिन है; उनमेंसे कुछ तो संभवतः देशी भाषाओंसे आये हैं। ८ अनेक शब्दोंमें 'क' 'ड' 'ल' आदि जोड़ दिये गये हैं। ९ और देशी शब्दों और धात्वादेशोंका भी काफी बाहुल्य है।

**अपभ्रंश भाषाकी मोहकता**—अपभ्रंश पद्य कोमलता और माधुर्यसे परिपूर्ण होते हैं। अपभ्रंशमें नये नये छन्दोंकी कमी नहीं है, किन्तु ये छन्द मात्राछन्द होते हैं, और सरलतासे गाये जासकते हैं। अतः अधिक नहीं तो छठी शताब्दीमें, अपभ्रंशका जनसाधारणकी कविताका माध्यम होना कोई अचरजकी बात नहीं है। यह कहा जाता है कि वलभीके गुहसेनने, ई० ५५९ से ५६९ तकके जिनके स्मारक-लेख पाये जाते हैं, संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंशमें पद्य-रचना की थी। उद्योतनसूरि ( ७७८ ई० ) ने भी अपभ्रंशका बहुत कुछ गुण-गान किया है, और भाषाओंके सम्बन्धमें उनकी आलोचना एक महत्त्वकी वस्तु है। उनके विचारसे लम्बे समास, अव्यय, उपसर्ग, विभक्ति, वचन और लिङ्गकाठिन्यसे पूर्ण संस्कृतभाषा दुर्जनके हृदयकी तरह दुरूह है, किन्तु प्राकृत, सज्जनोंके वचनकी तरह आनन्ददायक है। यह अनेक कलाओंके विवेचनरूपी तरंगोंसे पूर्ण सांसारिक अनुभवोंका समुद्र है, जो विद्वानोंसे मथन किये जानेपर टपकनेवाली अमृत की बूंदोंसे भरा है। यह ( अपभ्रंश ) शुद्ध और मिश्रित संस्कृत तथा प्राकृत शब्दोंका समानुपातिक एवं आनन्ददायक सम्मिश्रण है। यह कोमल हो या कठोर, बरसाती पहाड़ी नदियोंकी तरह इसका प्रवाह बेरोक है, और प्रणय-कुपिता नायिकाके वचनोंकी तरह यह शीघ्र ही मनुष्यके मनको वशमें करलेती है। उद्योतनसूरि स्वयं उच्चकोटिके ग्रन्थकार थे, उन्होंने जटिलाचार्य, रविषेण आदि संस्कृत-कवियोंकी बड़ी प्रशंसा की है, अपभ्रंश भाषाके प्रति उनके ये उद्गार स्पष्ट बतलाते हैं कि ईसाकी आठवीं शताब्दीतक वह पद्य-रचनाका एक आकर्षक-माध्यम समझी जाती थी।

**परमात्मप्रकाशके ऋणी हेमचन्द्र**—उपलब्ध प्राकृत व्याकरणोंमें, हेमचन्द्रके व्याकरणमें अपभ्रंशका पूरा विवेचन मिलता है। उनके विवेचनकी विशेषता यह है कि वे अपने नियमोंके उदाहरणमें अनेक पद्य उद्धृत करते हैं। बहुत समयतक उनके द्वारा उद्धृत पद्योंके स्थलोंका पता नहीं लग सका था। डा० पिशलका कहना था कि सतसई जैसे किसी पद्यसंग्रहसे वे उद्धृत किये गये हैं। किन्तु पद्योंकी भाषा और विचारोंमें अन्तर होनेसे यह निश्चित है कि वे किसी एक ही स्थानसे नहीं लिये गये हैं। मैंने यह बतलाया था कि हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे भी कुछ पद्य लिये हैं। वे पद्य निम्न प्रकार हैं।

१. सूत्र ४-३८९ के उदाहरणमें—

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु। तसु दइवेण वि मुंडियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥

परमात्मप्रकाशमें यह पद्य ( २-१३९ ) इस प्रकार है—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु। सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

यदि सूत्र और उसकी व्याख्याको देखा जावे तो 'किज्जउँ' के स्थानमें 'कीसु' का परिवर्तन समझमें ठीक ठीक आ जाता है। क्योंकि 'किज्जउँ' एक वैकल्पिक रूप है, और उसका उदाहरण दिया गया है—"बलि किज्जउँ सुअणस्सु।"

२. सूत्र ४-४२७ में—

जिब्भिंदिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइं। मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिँ पण्णइं ॥

कुछ भेदोंके होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दोहा परमात्मप्रकाशके २-१४० का ही रूपान्तर है, जो इस प्रकार है—

पंचहँ णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण। मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥

इस दोहेमें कुछ परिवर्तन तो सूत्रके नियमोंके उदाहरण देनेके लिये किये गये हैं। तथा परमात्मप्रकाशमें इन दोनों दोहोंकी क्रमागत संख्या भी स्खलित नहीं है, और यदि इससे कोई नतीजा निकालना संभव है, तो वह यह है कि हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे ही इन पद्योंको उद्धृत किया है।

३. सूत्र ४–३६५ में—

आयहो दड्ढकलेवरहो जं वाहिउ तं सारु। जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु॥

परमात्मप्रकाशमें यह दोहा ( २-१४७ ) इस प्रकार है—

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु। जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु॥

दोनोंकी दूसरी पंक्ति बिल्कुल एक है, किन्तु सूत्रका उदाहरण देनेके लिये पहलीमें परिवर्तन किया गया है।

४. सूत्र २–८० के उदाहरणमें, हेमचन्द्र एक छोटासा वाक्य उद्धृत करते हैं—

'बोद्रहद्रहम्मि पडिया'। यह परमात्मप्रकाशके दोहा (२–११७) का अंश है, जो इस प्रकार है–

ते च्चिय धण्णा ते च्चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जियलोए। बोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए॥

हेमचन्द्रने रकारका प्रयोग किया है, किन्तु परमात्मप्रकाशकी किसी भी प्रतिमें हेमचन्द्रका पाठ नहीं मिलता। इस पद्यकी भाषा अपभ्रंश नहीं है, और यह गाथा भी 'उक्तञ्च' करके है, अतः इसके परमात्मप्रकाशका मूल पद्य होनेमें सन्देह है। मेरा विचार है कि स्वयं जोइन्दुने ही इसे अपने ग्रन्थमें सम्मिलित किया होगा, क्योंकि परमात्मप्रकाशकी कमसे कम पद्यसंख्यावाली प्रतियोंमें भी यह पद्य पाया जाता है।

**हेमचन्द्रकी अपभ्रंश**—हेमचन्द्रने अपभ्रंशकी उपभाषाओंका वैसा स्पष्ट निर्देश नहीं किया, जैसा मार्कण्डेय तथा बादके ग्रन्थकारोंने किया है। उनके नियमोंका सावधानीके साथ अध्ययन करनेसे पता चलेगा कि उनकी अपभ्रंश एक ही प्रकारकी नहीं है, किन्तु कई उपभाषाओंका मिश्रण है। हेमचन्द्रके कथन "प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित् प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति।" ( ४–३२९ ) से यह स्पष्ट है कि वे अपनी अपभ्रंशके दो आधार मानते हैं, एक प्राकृत और दूसरा शौरसेनी। चतुर्थपादके सूत्र ३४१, ३६०, ३७२, ३९१, ३९३, ३९४, ३९८, ३९९, ४१४, ४३८ आदि तथा उनके उदाहरण अपभ्रंशके जिन तत्त्वोंको बतलाते हैं, वे उसीके अन्य सूत्रोंसे मेल नहीं खाते। हेमचन्द्रकी प्राकृत भाषाओंके साथ जब हम उनकी कुछ विशेषताओंका अध्ययन करते हैं, तो वे आपसमें इतनी विरुद्ध जान पड़ती हैं कि एक भाषामें उनकी उपस्थिति संभव प्रतीत नहीं होती।

**परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंशके साथ हेमचन्द्रकी अपभ्रंशकी तुलना**—हेमचन्द्रका सूत्र "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" स्वर-परिवर्तनके लिये कोई आवश्यक नियामक नहीं है। किन्तु इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि हेमचन्द्रकी अपभ्रंशमें स्वर-परिवर्तन काफी स्वतंत्र है। परन्तु परमात्मप्रकाशमें हम इस प्रकारकी स्वतंत्रता नहीं देखते। व्यञ्जनोंके परिवर्तनके सम्बन्धमें हेमचन्द्र कहते हैं ( ४–३९६ ) कि असंयुक्त 'क' 'ख' 'त' 'थ' 'प' और 'फ' के स्थानमें क्रमशः 'ग' 'घ' 'द' 'ध' 'ब' और 'भ' होते है, किन्तु हेमचन्द्रके उदाहरणोंमें प्रयुक्त कुछ प्रयोग उनके इस नियमको भंग कर देते है। परमात्मप्रकाशमें भी इस नियमका अनुसरण नहीं किया गया है, किन्तु हेमचन्द्रने प्राकृत भाषाके लिये व्यञ्जनोंके सम्बन्धमें जो नियम निर्धारित किया है कि असंयुक्त 'क' 'ग' 'च' 'ज' 'त' 'द' 'प' 'य' और 'व' का प्रायः लोप होता है ( १–१७७ ) परमात्मप्रकाश उससे सहमत है। अनुनासिक अक्षरोंके सम्बन्धमें, हेमचन्द्रके व्याकरणके अनुसार शब्दके आदिमें 'न' हो तो वह कायम रहता है तथापि अपभ्रंश-पद्योंके अपने नवीन संस्करणमें पिशेलने आदिम तथा मध्यम 'न' के स्थानमें 'ण' को ही रक्खा है। परमात्मप्रकाशमें भी सर्वत्र 'ण' ही आता है, केवल 'व' प्रतिमें कहीं कहीं 'न' पाया जाता है। कन्नड़ प्रतियोंमें सर्वत्र 'ण' ही है। इसके सिवा भी दोनों ग्रन्थोंकी अपभ्रंशमें कई विशेषताएं हैं, जो अंग्रेजी प्रस्तावनासे जानी जा सकती हैं।

**तुलनाका निष्कर्ष**—परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंश सर्वत्र एकसी है; जब कि हेमचन्द्रकी अपभ्रंशमें कमसे कम दो उपभाषाएँ मिश्रित हैं। कुछ हेर-फेरके साथ हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे बहुतसे

दोहे उद्धृत किये हैं, और अपने व्याकरणके लिये उससे काफी सामग्री भी ली है। स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे मोटे भेदोंको भुलाकर भी परमात्मप्रकाश और हेमचन्द्रके व्याकरणकी अपभ्रंशोंमें काफी मौलिक अन्तर पाया जाता है। हेमचन्द्रकी अपभ्रंशका आधार शौरसेनीका परमात्मप्रकाशमें पता भी नहीं मिलता। इसके सिवा हेमचन्द्रकी अपभ्रंशकी और भी बहुतसी बातें परमात्मप्रकाशमें नहीं पाई जातीं।

## २ परमात्मप्रकाशके रचयिता जोइन्दु

## योगीन्द्र नहीं, योगीन्दु

**जोइन्दु और उनका संस्कृत नाम**—यह बड़े ही दुःखकी बात है कि जोइन्दु जैसे महान् अध्यात्मवेत्ताके जीवनके सम्बन्धमें विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। श्रुतसागर उन्हें 'भट्टारक' लिखते हैं, किन्तु इसे केवल एक आदरसूचक शब्द समझना चाहिये। उनके ग्रन्थोंमें भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाएं उन्हें आध्यात्मिक राज्यके उन्नत सिंहासनपर विराजमान एक शक्तिशाली आत्माके रूपमें चित्रित करती हैं। वे आध्यात्मिक उत्साहके केन्द्र हैं। परमात्मप्रकाशमें उनका नाम जोइन्दु आता है। जयसेन 'तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्' करके परमात्मप्रकाशसे एक पद्य उद्धृत करते हैं। ब्रह्मदेवने अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकारका नाम योगीन्द्र लिखा है। 'योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण' लिखकर श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते हैं। कुछ प्रतियोंमें योगेन्द्र भी पाया जाता है। इस प्रकार उनके नामका संस्कृतरूप योगीन्द्र बहुत प्रचलित रहा है। शब्दों तथा भावोंकी समानता होनेसे योगसार भी जोइन्दुकी रचना माना गया है। इसके अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकारका नाम जोगिचन्द लिखा है, किन्तु यह नाम योगीन्द्रसे मेल नहीं खाता। अतः मेरी रायमें योगीन्द्रके स्थानपर योगीन्दु पाठ है, जो योगिचन्द्रका समानार्थक है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जहाँ व्यक्तिगत नामोंमें इन्दु और चन्द्र आपसमें बदल दिये गये हैं जैसे—भागेन्दु और भागचन्द्र तथा शुभेन्दु और शुभचन्द्र। गलतीसे जोइन्दुका संस्कृत रूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित होगया। ऐसे बहुतसे प्राकृत शब्द हैं, जो विभिन्न लेखकोंके द्वारा गलतरूपमें तथा प्रायः विभिन्न रूपोंमें संस्कृतमें परिवर्तित किये गये हैं। योगसारके सम्पादकने इस गलतीका निर्देश किया था, किन्तु उन्होंने दोनों नामोंको मिलाकर एक तीसरे 'योगीन्द्रचन्द्र' नामकी सृष्टि कर डाली, और इस तरह विद्वानोंको हँसनेका अवसर दे दिया। किन्तु, यदि हम उनका नाम जोइन्दु=योगीन्दु रखते हैं, तो सब बातें ठीक ठीक घटित हो जाती हैं।

## योगीन्दुकी रचनाएँ

**परम्परागत रचनाएँ**—निम्नलिखित ग्रन्थ परम्परासे योगीन्दुविरचित कहे जाते हैं—१ परमात्मप्रकाश ( अपभ्रंश ), २ नौकारश्रावकाचार ( अप० ), ३ योगसार ( अप० ), ४ अध्यात्मसंदोह ( सं० ), ५ सुभाषिततंत्र ( सं० ), और ६ तत्त्वार्थटीका ( सं० )। इनके सिवा योगीन्द्रके नामपर तीन और ग्रन्थ भी प्रकाशमें आ चुके हैं—एक दोहापाहुड़ ( अप० ), दूसरा अमृताशीति ( सं० ) और तीसरा निजात्माष्टक ( प्रा० ), इनमेंसे नम्बर ४ और ५ के बारेमें हम कुछ नहीं जानते और नं० ६ के बारेमें योगदेव, जिन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्रपर संस्कृतमें टीका बनाई है, और योगीन्द्रदेव नामोंकी समानता सन्देहमें डाल देती है।

### परमात्मप्रकाश

**परिचय**—इस भूमिकाके प्रारम्भमें, इसके बारेमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इसके जोइन्दु-विरचित होनेमें कोई सन्देह नहीं है। यह कहना कि उनके किसी शिष्यने इसे संगृहीत किया था, ऊपर

किया जा चुका है। इस ग्रन्थमें जोइन्दु अपना नाम देते हैं और लिखते हैं कि भट्ट प्रभाकरके लिये इस ग्रन्थकी रचना की गई है। तथा श्रुतसागर, बालचन्द्र, ब्रह्मदेव और जयसेन जोइन्दुको इस ग्रन्थका कर्ता बतलाते हैं। यथार्थमें यह ग्रन्थ जोइन्दुकी रचनाओंमें सबसे उत्कृष्ट है, और इसीके कारण अध्यात्मवेत्ता नामसे उनकी ख्याति है।

## योगसार

**परिचय**—योगसारका मुख्य विषय भी वही है जो परमात्मप्रकाशका है। इसमें संसारकी प्रत्येक वस्तुसे आत्माको सर्वथा पृथक् अनुभवन करनेका उपदेश दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि संसारसे भयभीत और मोक्षके लिये उत्सुक प्राणियोंकी आत्माको जगानेके लिये जोगिचन्द साधुने इन दोहोंको रचा है। ग्रन्थकार लिखते हैं कि उनने ग्रन्थको दोहोंमें रचा है, किन्तु उपलब्ध प्रतिमें एक चौपाई और दो सोरठा भी हैं, इससे अनुमान होता है कि संभवतः प्रतियाँ पूर्ण सुरक्षित नहीं रही हैं। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकर्ताका नाम जोगिचन्द ( जोइन्दु=योगीन्दु ) का उल्लेख, आरम्भिक मङ्गलाचरणकी सदृशता, मुख्यविषयकी एकता, वर्णनकी शैली, और वाक्य तथा पंक्तियोंकी समानता बतलाती है कि दोनों ग्रंथ एक ही कर्ता जोइन्दुकी रचनाएं हैं। योगसार माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है, किन्तु उसमें अनेक अशुद्धियाँ हैं। यदि उसके अशुद्ध पाठोंको दृष्टिमें न लाया जाये तो भाषाकी दृष्टिसे भी दोनों ग्रन्थोंमें समानता है। केवल कुछ अन्तर, जो पाठकके हृदयको स्पर्श करते हैं, इस प्रकार हैं—योगसारमें एक वचनमें प्रायः 'हु' और 'ह' आता है किन्तु परमात्मप्रकाशमें 'हँ' आता है। योगसारमें वर्तमानकालके द्वितीय पुरुषके एकवचनमें 'हु' और 'हि' पाया जाता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमें केवल 'हि' आता है। पञ्चास्तिकायकी टीकामें जयसेनने योगसारसे एक पद्य भी उद्धृत किया है।

## सावयधम्मदोहा

**परिचय**—इस ग्रन्थमें मुख्यतया श्रावकोंके आचार साधारण किन्तु आकर्षक शैलीमें बतलाये गये हैं। उपमाओंने इसके उपदेशोंको रोचक बना दिया है, और इस श्रेणीके अन्य ग्रन्थोंके साथ इसकी तुलना करनेपर इसमें पारिभाषिक शब्दोंकी कमी पाई जाती है। विषय तथा दोहाछंदके आधारपर इसका नाम श्रावकाचारदोहक है। प्रारम्भके शब्दोंके आधारपर इसे नव ( नौ ) कार श्रावकाचार भी कहते हैं। प्रो० हीरालालजीने बहुत कुछ ऊहापोहके बाद इसका नाम सावयधम्मदोहा रक्खा है।

**इसका कर्ता**—जोइन्दु सम्बन्धी अपने लेखमें मैंने बतलाया था कि जोगेन्द्र, देवसेन, और लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर को इसका कर्ता कहा जाता है, उसके बाद इसकी लगभग नौ प्रतियाँ प्रकाशमें आई हैं। अपनी प्रस्तावनामें इसके कर्ताके सम्बन्धमें प्रो० हीरालालजीने विस्तारसे विचार किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः उसपर विचार करना आवश्यक है।

**जोइन्दु**—जोइन्दुको इसका कर्ता दो आधारपर माना जाता है, एक तो परम्परागत सूचियोंमें जोइन्दुको इसका कर्ता लिखा है, दूसरे 'अ' प्रतिके अन्तमें इसे 'जोगेन्द्रकृत' बतलाया है, और 'भ' प्रतिके एक पूरक पद्यमें योगीन्द्रदेवके साथ इसका नाता जोड़ा गया है। जोगेन्द्र और योगीन्द्रसे परमात्मप्रकाशके कर्ताका ही आशय मालूम होता है। किन्तु परमात्मप्रकाश और योगसारकी तरह इस ग्रन्थमें जोइन्दुने अपना नाम नहीं दिया; दूसरे, जोइन्दुके उन्नत आध्यात्मिक विचारोंका दिग्दर्शन भी इसमें नहीं होता, तथा श्रावकाचारके मुख्य विषयकी तान रहस्यवादी जोइन्दुके स्वरसे मेल नहीं खाती। तीसरे, प्रो० हीरालालजीके मतसे जोइन्दुकी अन्य रचनाओंकी अपेक्षा इसकी कविता अधिक गहन है तथा उनका यह भी कहना है कि यह जोइन्दुकी युवावस्थाकी रचना नहीं है। चौथे, कुछ सामान्य विचारोंके सिवा, इसमें और परमात्मप्रकाशमें कोई उल्लेखनीय शाब्दिक समानता भी नहीं है। पाँचवें, सावयधम्मदोहामें पञ्चमी और षष्ठीके एक वचनमें 'हु' आता है, जब कि परमात्मप्रकाशमें एकवचन और बहुवचन दोनोंमें

'ई.' आता है। अतः इस ग्रन्थको जोइन्दुकृत माननेमें कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। संभवतः इसकी भाषा तथा कुछ विचारोंकी साम्यताको देखकर किसीने जोइन्दुको इसका कर्ता लिख दिया होगा।

**देवसेन**—निम्नलिखित आधारोंपर प्रो० हीरालालजीका मत है कि इसके कर्ता देवसेन हैं।

१ 'क' प्रतिके अन्तिम पद्यमें 'देवसेनें उवदिट्ठ' आता है।

२ देवसेनके भावसंग्रह और सावयधम्मदोहामें बहुत कुछ समानता है।

३ देवसेनको 'दोहा' रचनेकी बहुत चाह थी। और संभवतः उस समय छन्दशास्त्रमें यह एक नवीन आविष्कार था।

किन्तु उनके उक्त आधार प्रबल नहीं हैं। प्रथम, 'क' प्रति विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा उसमें पद्यसंख्या सबसे अधिक है, तथा वह सबके बादकी लिखी हुई है। इसके सिवा, जिस दोहेमें देवसेनका नाम आता है, वह केवल सदोष ही नहीं है किन्तु उसमें स्पष्ट अशुद्धियाँ हैं। उसका 'देवसेनै' पाठ बड़ा ही विचित्र है, और पुस्तकभरमें इस ढँगका दूसरा उदाहरण खोजनेपर भी नहीं मिलता। छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे भी उस दोहेकी दोनों पंक्तियाँ अशुद्ध हैं, और सबसे मजेकी बात तो यह है कि प्रो० हीरालालजीने स्वसंपादित सावयधम्मदोहाके मूलमें उसे स्थान नहीं दिया। अतः इस प्रकारके अन्तिम दोहेका सम्बन्ध सावयधम्मदोहाके कर्ताके साथ नहीं जोड़ा जा सकता, और हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि दर्शनसारके रचयिता देवसेनने इसे रचा है। देवसेनके चार प्राकृत ग्रन्थोंका निरीक्षण करनेपर हम देखते हैं कि भावसंग्रहमें वे अपना नाम 'विमलसेनका शिष्य देवसेन' देते हैं; आराधनासारमें केवल 'देवसेन' लिखा है। दर्शनसारमें 'धारानिवासी देवसेन गणी' आता है, और तत्त्वसारमें 'मुनिनाथ देवसेन' लिखा है। किन्तु सावयधम्मदोहामें इनमेंसे एकका भी उल्लेख नहीं है। अतः पहली युक्ति ठीक नहीं है।

यह सत्य है कि भावसंग्रह और सावयधम्मदोहा की कुछ चर्चाएं मिलती जुलती हैं, किन्तु प्रो० हीरालालजीके द्वारा उद्धृत १८ सदृश वाक्योंमेंसे मुश्किलसे दो तीन वाक्य आपसमें मेल खाते हैं। परम्परागत शैलीके आधारपर रचे गये साहित्यमें कुछ शब्दों तथा भावोंकी समानता कोई मूल्य नहीं रखती। भावसंग्रहमें कुछ अपभ्रंश पद्य पाये जाते हैं, और संपादकने लिखा है कि भावसंग्रहकी प्रतियोंमें देवसेनके बादके ग्रन्थकारोंके भी पद्य पाये जाते हैं, अतः यह असंभव नहीं है कि किसी लेखककी कृपासे सावयधम्मदोहाके पद्य उसमें जा मिले हों।

तीसरे आधारसे भी कोई बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि दोहाछन्द कब प्रचलित हुआ, यह अभीतक निर्णीत नहीं हो सका है। कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें हम एक दोहा देखते हैं; रुद्रटके काव्यालङ्कारमें दो दोहे पाये जाते हैं, और आनन्दवर्धन ( लगभग ८५० ई० ) ने भी अपने ध्वन्यालोकमें एक दोहा उद्धृत किया है। रुद्रटका समय नवीं शताब्दीका प्रारम्भ समझा जाता है। यदि यह मान भी लिया जावे कि देवसेनको दोहा रचनेकी बहुत चाह थी, तो भी उनका सावयधम्मदोहाका कर्ता होना इससे प्रमाणित नहीं होता।

**लक्ष्मीचन्द्र**—'प' 'भ' और 'भ ३' प्रतियाँ इसे लक्ष्मीचन्द्रकृत बतलाती हैं। श्रुतसागरने इस ग्रन्थसे नौ पद्य उद्धृत किये हैं, उनमेंसे एक वह लक्ष्मीचन्द्रका बतलाते हैं, और शेष लक्ष्मीधरके अतः श्रुतसागरके उल्लेखके अनुसार लक्ष्मीचन्द्र उपनाम लक्ष्मीधर सावयधम्मदोहाके कर्ता हैं। किन्तु निम्नलिखित कारणोंसे प्रो० हीरालालजीने लक्ष्मीचन्द्रको इसका कर्ता नहीं माना। १ 'भ' प्रतिके अन्तिम पद्यमें लिखा है कि यह ग्रन्थ योगीन्द्रने बनाया है, इसकी पञ्जिका लक्ष्मीचन्द्रने और वृत्ति प्रभाचन्द्रने। २ मल्लिभूषणके शिष्य लक्ष्मण ही लक्ष्मीधर है। ३ 'प' प्रतिका लेख 'लक्ष्मीचन्द्र विराचिते' लेखककी भूलका परिणाम है, उसके स्थानपर 'लक्ष्मीचन्द्र लिखिते' या 'लक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' होना चाहिए था। ४ लक्ष्मीचन्द्ररचित किसी दूसरे ग्रन्थसे हम परिचित नहीं हैं। इसका समाधान निम्न प्रकार है—१ 'भ'

प्रतिका अन्तिम पद्य बादमें जोड़ा गया है, क्योंकि वह अन्तिम सन्धि 'इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्द्रविरचितं समाप्तम्' के बाद आता है, और उसका अभिप्राय भी सन्धिसे विरुद्ध है। २ 'प' प्रतिके अन्तमें लिखे लक्ष्मण और लक्ष्मीचन्द्र एक ही व्यक्तिके दो नाम नहीं हैं, क्योंकि पहले "इति उपासकाचारे आचार्य श्रीलक्ष्मीचन्द्रविरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि" लिखा है, और फिर लिखा है कि सम्वत् १५५५ में यह दोहाश्रावकाचार मल्लिभूषणके शिष्य पं० लक्ष्मणके लिये लिखा गया। इससे स्पष्ट है कि सन्धिमें ग्रन्थकारका नाम आया है और बादकी पंक्ति लेखकने लिखी है। ३ जब लक्ष्मीचन्द्र और लक्ष्मणकी एकता ही सिद्ध नहीं हो सकी तो 'प' प्रतिके पाठमें सुधार करनेका कारण ही नहीं रहता। ४ अन्तिम आधार भी अन्य तीन आधारोंपर ही निर्भर है, अतः उसके बारेमें अलग समाधान करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह लक्ष्मीचन्द्रके विरुद्ध प्रो० हीरालालजीकी आपत्तियाँ उचित नही हैं, और उनका दावा कि देवसेन इसके कर्ता हैं, प्रमाणित नहीं हो सका, अतः श्रुतसागरके उल्लेख तथा अन्य प्रमाणोंके आधारपर लक्ष्मीचन्द्रको ही सावयधम्मदोहाका कर्ता मानना चाहिये। यह लक्ष्मीचन्द्र श्रुतसागरके समकालीन लक्ष्मीचन्द्रसे जुदे हैं। जहाँतक हम इनके बारेमें जानते हैं, श्रुतसागर और ब्रह्म नेमिदत्त (१५२८ ई०) दोनोंसे यह अधिक प्राचीन हैं।

## दोहापाहुड

**परिचय**—इस ग्रन्थकी उपलब्ध दो प्रतियोंमेंसे एकमें इसका नाम दोहापाहुड़ लिखा है, और दूसरीमें पाहुड़दोहा। प्रो. हीरालालजीने इसकी प्रस्तावनामें इसके नामका अर्थ समझाया है, और उनके बतलाये अर्थके अनुसार भी ग्रन्थका नाम दोहापाहुड़ होना चाहिये। परमात्मप्रकाशकी तरह यह भी एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसमें ग्रन्थकारने आत्मतत्त्वपर विचार किया है। इसकी उपलब्ध प्रति अपनी असली हालतमें नहीं है; उसके अन्तमें दो पद्य संस्कृतमें है, और दोहा नं० २११—जिसमें रामसिंहका नाम आता है, जो एक प्रतिके अन्तिम वाक्यके अनुसार ग्रन्थके रचयिता हैं—के बाद दो गाथाएं महाराष्ट्रीमें हैं।

**जोइन्दु**—'क' प्रतिकी अन्तिम सन्धिमें इसे योगेन्द्रकी रचना बतलाया है, और इसके बहुतसे दोहे परमात्मप्रकाश और योगसारसे मिलते जुलते भी हैं। किन्तु निम्नलिखित कारणोंसे इसको योगीन्द्रकी रचना मानना साधार प्रतीत नहीं होता—१ परमात्मप्रकाश और योगसारकी तरह इसमें उन्होंने अपना नाम नहीं दिया, जबकि पद्य नं० २११ में रामसिंहका नाम आता है। २ दोहापाहुड़में अकारान्त शब्दके षष्ठीके एकवचनमें 'हो' और 'हुँ' प्रत्यय आते हैं, किन्तु परमात्मप्रकाशमें केवल 'हँ' ही पाया जाता है, तथा तुहारउ, तुहारी, दोहिं मि, देहहंमि, कहिंमि आदि रूप परमात्मप्रकाशमें नहीं पाये जाते। ३ 'द' प्रतिके अन्तिम वाक्यमें रामसिंहको इसका कर्ता बतलाया है, जिसका नाम पद्य नं २११ में भी आता है। प्रारम्भमें मुझे सन्देह था कि परमात्मप्रकाशके 'शान्ति'की तरह क्या रामसिंह भी कोई प्राचीन ग्रन्थकार हैं? किन्तु दोहापाहुड़की गहरी छानबीनके पश्चात् मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि इसके जोइन्दुकृत होनेमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। कुछ पद्योंकी समानता और अपभ्रंश भाषाको लक्ष्में रखकर किसीने इसकी सन्धिमें योगीन्द्रका नाम जोड़ दिया है, जबकि ग्रन्थमें रामसिंहका नाम आता है।

**रामसिंह**—दोहापाहुड़के रामसिंह रचित होनेमें दो प्रमाण हैं, एक तो इसकी उपलब्ध दोनों प्रतियोंमें ग्रन्थके अन्दर उनका नाम आता है, दूसरे, एक प्रतिकी सन्धिमें भी उनका नाम आया है। उनके विरुद्ध केवल एक ही बात है कि अन्तिम पद्यमें उनका नाम नहीं आया। किन्तु मैं ऊपर लिख आया हूँ कि उपलब्ध प्रति अपनी असली हालतमें नहीं है, और २११ के बाद बहुतसे पद्य बादके मिलाये जान पड़ते हैं। अतः उपलब्ध सामग्रीके आधारपर रामसिंहको ही इसका कर्ता मानना चाहिये। रामसिंह योगीन्दुके बहुत ऋणी हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थका एक पञ्चमांश–जैसा कि प्रो० हीरालालजी कहते हैं–परमात्मप्रकाशसे लिया गया है। रामसिंह रहस्यवादके प्रेमी थे, और संभवतः इसीसे प्राचीन ग्रन्थकारोंके पद्योंका उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थमें किया है। उनके समयके बारेमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जोइन्दु

और हेमचन्द्रके मध्यमें वे हुए हैं। श्रुतसागर, ब्रह्मदेव, जयसेन, और हेमचन्द्रने उनके दोहापाहुड़से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। दोहापाहुड़ और सावयधम्मदोहामें दो पद्य बिल्कुल समान हैं। किन्तु एक तो देवसेन सावयधम्मदोहाके कर्ता प्रमाणित नहीं हो सके, दूसरे, प्रक्षेपकोंसे पूर्ण दोहापाहुड़की प्रतिके आधारपर उसकी आलोचना भी नहीं की जा सकती। अतः नई प्रतियाँ मिलनेपर इस समस्यापर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा।

## अमृताशीति और निजात्माष्टक

**अमृताशीति**—यह एक उपदेशप्रद रचना है; इसमें विभिन्न छन्दोंमें ८२ पद्य हैं, और जैनधर्मके अनेक विषयोंकी उनमें चर्चा है। हम नहीं जानते कि इसमें सन्धिस्थल सम्पादकने जोड़ा है, या प्रतिमें ही था? अन्तिम पद्यमें योगीन्द्र शब्द आया है, जो चन्द्रप्रभका विशेषण भी किया जा सकता है। परमात्मप्रकाशके कर्त्ताके साथ इसका सम्बन्ध जोड़नेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस रचनामें विद्यानन्दि, जटासिंहनन्दि, और अकलंकदेवके भी कुछ पद्य हैं। कुछ पद्य भर्तृहरिके शतकत्रयसे मिलते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेवने अपनी नियमसारकी टीकामें इससे तीन पद्य (नं. ५७, ५८, और ५९) उद्धृत किये हैं। उसी टीकामें निम्नलिखित एक अन्य पद्य भी उद्धृत है—

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः। तथाहि

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम्।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या सम्मता भवति संयमिनामजस्रम्॥

किन्तु यह पद्य अमृताशीतिमें नहीं है। प्रेमीजीका अनुमान है कि सम्भवतः यह पद्य योगीन्द्ररचित कहे जानेवाले अध्यात्मसंदोहका है।

**निजात्माष्टक**—इसकी भाषा प्राकृत है; इसमें स्रग्धरा छन्दमें आठ पद्य हैं, और उनमें सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप बतलाया है। किसी भी पद्यमें रचयिताका नाम नहीं दिया, किन्तु संस्कृतमें रचित अन्तिम वाक्यमें योगीन्द्रका नाम आया है। परन्तु परमात्मप्रकाशके कर्ताके साथ इसका सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह काफ़ी प्रमाण नहीं है।

**निष्कर्ष**—इस लम्बी चर्चाके बाद हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि जिस परम्पराके आधारपर योगीन्द्रको उक्त ग्रन्थोंका रचयिता कहा जाता है, वह प्रामाणिक नहीं है। अतः वर्तमानमें परमात्मप्रकाश और योगसार ये दो ही ग्रन्थ जोइन्दुरचित सिद्ध होते हैं।

## जोइन्दुका समय

**समयका विचार**—जोइन्दुके उक्त दोनों ग्रन्थोंसे उनके समयके बारेमें कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः अब हमारे सामने एक ही मार्ग शेष रह जाता है, और वह है जोइन्दुके ग्रन्थसे उद्धरण देनेवाले ग्रन्थोंका निरीक्षण। निम्नलिखित प्रमाणोंके आधारपर हम जोइन्दुके समयकी अन्तिम अवधि निर्धारित करनेका प्रयत्न करते हैं—

१ श्रुतसागर, जो ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें हुए हैं, षट्प्राभृतकी टीकामें परमात्मप्रकाशसे ६ पद्य उद्धृत करते हैं।

२ परमात्मप्रकाशपर, मलधारि बालचन्द्रने कनड़ीमें और ब्रह्मदेवने संस्कृतमें टीका बनाई है, और उन दोनोंका समय क्रमशः ईसाकी चौदहवीं और तेरहवीं शताब्दीके लगभग है।

३ जयसेन, जिन्होंने कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, और समयसारपर संस्कृतमें टीकाएँ रची हैं, जोइन्दु और उनके दोनों ग्रन्थोंसे अच्छी तरह परिचित हैं। समयसारकी टीकामें वे परमात्मप्रकाशका

उल्लेख करते हैं, और उससे एक पद्य भी उद्धृत करते हैं। पञ्चास्तिकायकी टीकामें भी वे एक पद्य उद्धृत करते हैं, जो योगसारका ५६ वाँ पद्य है। जयसेनका समय ईसाकी बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धके लगभग है।

४ ऊपर यह बतलाया है कि हेमचन्द्र परमात्मप्रकाशसे परिचित हैं; उन्होंने परमात्मप्रकाशसे कुछ सामग्री ली है; और अपने अपभ्रंश-व्याकरणके सूत्रोंके उदाहरणमें, थोड़े बहुत परिवर्तनके साथ परमात्मप्रकाशसे कुछ दोहे भी उद्धृत किये हैं। हेमचन्द्र १०८९ ई० में पैदा हुए और ११७३ ई० में स्वर्गवासी हुए। किसी भाषाके इतिहासमें यह कोई अनहोनी घटना नहीं है कि साहित्यिक रूपमें अवतरित होनेके बाद ही—चाहे वह साहित्यिकरूप परम्परागत स्मृति रूपमें रहा हो या पुस्तक रूपमें—उस भाषाके विशाल व्याकरणोंकी रचना होती है। अतः इस कल्पनाके लिये पर्याप्त साधन नहीं हैं कि हेमचन्द्रके द्वारा निबद्ध अपभ्रंश ही उस समयकी प्रचलित भाषा थी। यह कहना अधिक युक्तिसङ्गत होगा कि अपने व्याकरणके द्वारा उन्होंने अपभ्रंशके साहित्यिकरूपको निबद्ध किया है, और यह रूप उनके समयमें प्रचलित भाषाके पूर्वका या उससे भी अधिक प्राचीन रहा होगा। क्योंकि व्याकरणका आधार केवल बोलचालकी भाषा नहीं होती। अतः हेमचन्द्रसे कमसे कम दो शताब्दी पूर्व जोइन्दुका समय मानना होगा।

५ प्रो० हीरालालजीने बतलाया है कि हेमचन्द्रने रामसिंहके दोहापाहुड़से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं और रामसिंहने जोइन्दुके योगसार और परमात्मप्रकाशसे बहुतसे दोहे लेकर अपनी रचनाको समृद्ध किया है। अतः जोइन्दु हेमचन्द्रके केवल पूर्ववर्ती ही नहीं है किन्तु उन दोनोंके मध्यमें रामसिंह हुए हैं।

६ ऊपर मैं बतला आया हूँ कि देवसेनके तत्त्वसारके कुछ पद्य परमात्मप्रकाशके दोहोंसे बहुत मिलते हैं। यह भी संभव हो सकता है कि दोनोंके रचयिताओंने किसी एक स्थानसे उन्हें लिया हो। किन्तु पद्योंकी परिस्थिति और ऊपर बतलाये गये कारणोंको दृष्टिमें रखते हुए मेरा मत है कि देवसेनने योगीन्दुका अनुसरण किया है। अपनी रचनाओंमें देवसेनने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थोंका प्रायः उपयोग किया है। उन्होंने वि. सं. ९९० ( ९३३ ई० ) में अपना दर्शनसार समाप्त किया था।

७ नीचेके दो पद्य तुलनाके योग्य हैं—

१ योगसार, ६५—

विरला जाणहिँ तत्तु बुहु विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिँ तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु॥

२ कत्तिगेयाणुप्पेक्खा, २७९—

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि॥

कुमारकी कत्तिगेयाणुप्पेक्खा अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई है, अतः वर्तमानकाल तृतीयपुरुषके बहुवचनके रूप 'णिसुणहि' और 'भावहि' उसमें जबरन घुस गये हैं, किन्तु योगसारमें वे ही रूप ठीक हैं। दोनों पद्योंका आशय एक ही है, केवल दोहेको गाथामें परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह किसी लेखककी सूझ नहीं है, बल्कि, कुमारने ही जान या अनजानमें, जोइन्दुके दोहेका अनुसरण किया है। कुछ दन्तकथाओंने कुमारके व्यक्तित्वको अन्धकारमें डाल दिया है, और उनका समय अभीतक भी निश्चित नहीं हो सका है। मौखिक परम्पराओंके आधारपर यह कहा जाता है कि विक्रमसम्वत्से कोई दो या तीन शताब्दी पहले कुमार हुए हैं, और ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक कुछ विद्वानोंपर इस परम्पराका प्रभाव भी है। कुमारकी कत्तिगेयाणुप्पेक्खाकी केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है, जो १५५६ ई० में शुभचन्द्रने बनाई थी। किन्हीं प्राचीन टीकाओंमें कुमारका उल्लेख भी नहीं मिलता। कुमारने बारह अनुप्रेक्षाओंकी गणनाका क्रम तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार रक्खा है, जो वट्टकेर, शिवार्य, और कुन्दकुन्दके क्रमसे थोड़ा भिन्न है। ये सब बातें कुमारकी परम्परागत प्राचीनताके विरुद्ध जाती हैं। यद्यपि कत्तिगेयाणुप्पेक्खाका कोई शुद्ध संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु गाथाओंके देखनेसे पता

चलता है कि उनकी भाषा प्रवचनसारके जितनी प्राचीन नहीं है। २५ वीं गाथाके 'क्षेत्रपाल' शब्दसे अनुमान होता है कि कुमार दक्षिणप्रान्तके निवासी थे, जहाँ क्षेत्रपालकी पूजाका बहुत प्रचार रहा है। दक्षिणमें कुमारसेन नामके कई साधु हुए हैं। मुलगुन्द मन्दिरके शिलालेखमें, जो ९०३ ई० से पहलेका है, एक कुमारसेनका उल्लेख है; तथा ११४५ ई० के योगदीके शिलालेखमें एक कुमारस्वामीका नाम आता है। किन्तु एकताके लिये केवल नामकी समता ही पर्याप्त नहीं है। अतः इन बातोंको दृष्टिमें रखते हुए मैं कुमारका कोई निश्चित समय ठहराना नहीं चाहता, किन्तु केवल इतना ही कहना है कि परम्पराके आधारपर कल्पित कुमारकी प्राचीनता प्रमाणित नहीं होती, तथा उसके विरुद्ध अनेक ज़ोरदार युक्तियाँ मौजूद हैं। मेरा मत है कि जोइंदु और कुमारमेंसे जोइन्दु प्राचीन हैं।

९ प्राकृतलक्षणके कर्ता चण्डने अपने सूत्र "यथा तथा अनयोः स्थाने" के उदाहरणमें निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ
तिम तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

यह परमात्मप्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वाँ दोहा है। दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मप्रकाशमें 'जिम' के स्थानपर 'जिमु' 'तिम' के स्थानपर 'तिमु' तथा 'जो' के स्थानपर 'जिउ' पाठ है, किन्तु चण्डका प्राकृत-व्याकरण अपनी असली हालतमें नहीं है। यह एक सुव्यवस्थित पुस्तक न होकर एक अर्धव्यवस्थित नोटबुकके जैसा है[1]। १८८० ई० में जब प्राकृतका अध्ययन अपनी बाल्यावस्थामें था, और अपभ्रंश-साहित्यसे लोग अपरिचित थे, हॅर्न्ले (Hoernle) ने इसका सम्पादन किया था। उनके पास साधनोंकी कमी थी, और केवल पालीभाषा तथा अशोकके शिलालेखोंपर दृष्टि रखकर उसका व्यवस्थित संस्करण सम्पादित कर सकना कठिन था। हॅर्न्लेने उसके सम्पादनमें बड़ी कड़ाईसे काम लिया है, और ऐसी कड़ाईके लिये उन्होंने कैफ़ियत भी दी है। किन्तु पिशेल तथा गुणे इसकी शिकायत करते हैं। इसी कड़ाईने उनसे उक्त सूत्र तथा उसके उदाहरणको मूलसे पृथक कराके परिशिष्टमें डलवा दिया है। हॅर्न्लेका कहना है लेखकोंकी कृपासे यह सूत्र मूलमें आ मिला है। वे कहते हैं कि व्याकरणके जिस प्रसंगमें उक्त सूत्र अपने उदाहरणके साथ आता है, वह व्यवस्थित नहीं है। उनके इस मतसे हम भी सहमत हैं। किन्तु इस बातका स्मरण रखते हुए कि सूत्रोंके क्रममें परिवर्तन किया गया है, हम उसकी मौलिकताको अस्वीकार नहीं कर सकते। चण्ड एक अपभ्रंश भाषासे परिचित हैं, जिसमें र, जब वह किसी शब्दमें द्वितीय व्यञ्जनके रूपमें आता हैं, सुरक्षित रहता है। अपभ्रंश भाषामें यह बात पाई जाती है; हेमचन्द्रके कुछ उदाहरणोंमें तथा रुद्रटके श्लेष-पद्योंमें भी इस बातको चित्रित किया गया है। हमें आशा है कि केवल एक सूत्रके द्वारा चण्डने अपभ्रंशका पृथक्करण न किया होगा। अतः अन्य सूत्रोंको भी चण्डकृत स्वीकार करनेपर अपभ्रंशके सम्बन्धमें अधिक जानकारी होजाती है। यह स्वाभाविक है कि अपने सूत्रोंके उदाहरणमें वैयाकरण काव्य-ग्रन्थोंसे पद्य उद्धृत करते हैं। हेमचन्द्रके व्याकरणमें उक्त पद्यका न पाया जाना निरर्थक नहीं हैं; यह इस बातका निराकरण करता है कि हेमचन्द्रके व्याकरणसे लेकर लेखकोंने उसे यहाँ मिला दिया होगा। गुणेका कहना है कि यह सूत्र मूलग्रन्थका ही है और हम इससे सहमत हैं।

चण्डके समयके बारेमें अनेक मत हैं। हॅर्न्लेका कहना है कि ईसासे तीन शताब्दी पूर्वके कुछ बाद और ईस्वी सन्के प्रारम्भसे पहले चण्डका व्याकरण रचा गया है। हॅर्न्लेके अनुसार उक्त सूत्र तथा उसका उदाहरण वररुचिसे भी बादमें ग्रन्थमें सम्मिलित किये गये हैं किन्तु कितने बादमें सम्मिलित किये गये हैं, यह वह नहीं बताते हैं। वररुचिका

---

१ दलाल और गुणे लिखित 'भविसयत्तकहा' की प्रस्तावना, पृ. ६२।

२ हर्न्ले की प्रस्तावना, पृ. १,२०, आदि।

समय ५०० ई० के लगभग बतलाया जाता है। गुणेका कहना है कि चण्ड उस समय हुये हैं, जब अपभ्रंश केवल आभीरोंके बोलचालकी भाषा न थी बल्कि साहित्यिक भाषा हो चुकी थी, अर्थात् ईसाकी छठी शताब्दीके बादमें। इस प्रकार चण्डके व्याकरणके व्यवस्थित (revesid) रूपका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीके लगभग रखा जा सक्ता है, अतः परमात्मप्रकाशको प्राकृतलक्षणसे पुराना मानना चाहिये।

**जोइन्दुके समयकी आरम्भिक अवधि**—ऊपर यह बताया गया है कि जोइन्दु, कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुड़ और पूज्यपादके समाधिशतकके बहुत ऋणी हैं। वास्तवमें परमात्मप्रकाशमें समाधिशतकके कुछ तात्त्विक विचारोंको बड़े परिश्रमसे निबद्ध किया है। कुन्दकुन्दका समय ईस्वी सन्के प्रारम्भके लगभग है, और पूज्यपादका पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम पादसे कुछ पूर्व। इस चर्चाके आधारपर मैं परमात्मप्रकाशको समाधिशतक और प्राकृतलक्षणके मध्यकालकी रचना मानता हूँ। इसलिये जोइन्दु ईसाकी छठी शताब्दीमें हुये हैं[1]।

## ३ परमात्मप्रकाशकी टीकाएँ

### 'क' प्रतिकी कन्नड़टीका

**बालचन्द्रकी टीका और 'क' प्रतिकी कन्नड़टीका**—यह लिखा जा चुका है कि अध्यात्मी बालचन्द्रने, जिनने कुन्दकुन्दत्रयीपर कन्नड़में टीका बनाई है, परमात्मप्रकाशपर भी एक कन्नड़टीका रची है। परमात्मप्रकाशकी 'क' प्रतिमें एक कन्नड़टीका पाई जाती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका बालचन्द्रकी ही है क्योंकि 'क' प्रतिसे इस सम्बन्धमें कोई सूचना नहीं मिलती और म० आर० नरसिंहाचार्यने बालचन्द्रकी टीकाका कुछ अंश नहीं दिया, जिससे 'क' प्रतिकी टीका मिलाई जा सके।

**कन्नड़टीकाका परिचय**—'क' प्रतिकी कन्नड़टीकामें परमात्मप्रकाशके दोहोंकी व्याख्या बहुत अच्छे रूपमें की गई है, जहाँतक मैंने इसे उलट-पलट कर देखा अपभ्रंश शब्दोंका तुल्यार्थक संस्कृत शब्द कहीं भी मेरे देखनेमें नहीं आया, केवल कन्नड़में उनके अर्थ दिये हैं। अनुवादके कुछ अंश टीकाकारके भाषा-पांडित्यका परिचय देते हैं। मुझे कुछ ऐसे शब्द भी मिले, जिनके ठीक ठीक अर्थ टीकाकारने नहीं किये हैं। टीका सरल और सादी है, और दोहोंका अर्थ करनेमें काफी सावधानीसे काम लिया है। ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके समान न तो इसमें विशेष दार्शनिक विवेचन ही है, और न उद्धरण ही।

**इसकी स्वतन्त्रता**—ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके साथ मैंने इसके कई स्थलोंका मिलान किया है, और मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि टीकाकार ब्रह्मदेवकी टीकासे अपरिचित है। यदि उनके सामने ब्रह्मदेवकी टीका होती तो उनके समान वे भी अपभ्रंश शब्दोंके संस्कृत रूप देते और विशेष विवेचन तथा उद्धरणोंसे अपनी टीकाकी शोभा बढ़ाते। इसके सिवा दोनोंमें कुछ मौलिक असमानताएँ भी हैं। ब्रह्मदेवकी अपेक्षा 'क' प्रतिमें ११२ पद्य कम हैं। तथा अनेक ऐसे मौलिक पाठान्तर और अनुवाद हैं, जो ब्रह्मदेवकी टीकामें नहीं पाये जाते।

---

१ अपभ्रंश-पाठावलीमें श्री. एम. सी. मोदीने परमात्मप्रकाशसे भी कुछ पद्य संकलित किये हैं। उनपर टिप्पण करते हुए उन्होंने मेरे 'जोइंदु' विषयक लेखका उल्लेख किया है, और लिखा है कि यद्यपि जोइंदुको हेमचन्द्रका पूर्वज कहा जा सकता है किन्तु उन्हें वि. सं. की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दीसे भी पहलेका बतलाना ठीक नहीं है। श्री. मोदीके निष्कर्ष निकालनेके ढंगको देखकर मुझे मोक्षमूलरके एक वाक्यका स्मरण आता है—"ऐतिहासिक व्यक्तियोंका समय जाननेकी विद्या केवल रुचिकी बात नहीं है, जो केवल स्मरणके प्रभावसे ही निश्चित की जा सके"। अपभ्रंश रूपोंका विचार करनेपर 'अण्णु' और 'अगु' समय निर्णय करनेमें सहायक नहीं हो सकते। यद्यपि ब्रह्मदेवने 'जवलका' अर्थ 'समीपे' किया है, किन्तु यह अर्थ बिल्कुल अप्रासङ्गिक है। यह संस्कृतके 'यमल' शब्दसे बना है, जिसका अर्थ 'जोड़ा' होता है। 'जवल' शब्द श्वेताम्बर आगमोंमें भी आता है। अपभ्रंशमें 'म' का 'व' हो जाता है।

**'क' प्रतिकी टीकाका समय**—इस टीकाके गम्भीर अनुसन्धानके बाद मैंने निष्कर्ष निकाला है कि न केवल ब्रह्मदेवकी टीकासे, बल्कि परमात्मप्रकाशकी करीब करीब सभी टीकाओंसे यह टीका प्राचीन मालूम होती है।

## ब्रह्मदेव और उनकी वृत्ति

**ब्रह्मदेव और उनकी रचनाएं**—अपनी टीकाओंमें ब्रह्मदेवने अपने सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है। द्रव्यसंग्रहकी टीकामें केवल उनका नाम आता है। बृहद्‌द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं० जवाहरलालजीने लिखा है कि ब्रह्म उनकी उपाधि थी, जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे, और देवजी उनका नाम था। यद्यपि आराधनाकथाकोशके कर्ता नेमिदत्तने और प्राकृत श्रुतस्कंधके रचयिता हेमचन्द्रने उपाधिके रूपमें ब्रह्म शब्दका उपयोग किया है किन्तु ब्रह्मदेव नाममें 'ब्रह्म' शब्द उपाधिसूचक नहीं मालूम देता, कारण, जैनपरम्परामें ब्रह्ममुनि, ब्रह्मसेन, ब्रह्मसूरि आदि नामोंके अनेक ग्रन्थकार हुये हैं तथा देव कोई प्रचलित नाम भी नहीं है किन्तु प्रायः नामके अन्तमें आता है। अतः ब्रह्मदेव एक ही नाम है। परम्पराके अनुसार निम्नलिखित रचनाएं ब्रह्मदेवकी मानी जाती हैं—

१–परमात्मप्रकाशटीका २–बृहद्‌द्रव्यसंग्रहटीका ३–तत्त्वदीपक ४–ज्ञानदीपक ५–त्रिवर्णाचारदीपक ६–प्रतिष्ठातिलक ७–विवाहपटल और ८–कथाकोश। जबतक ग्रन्थ न मिलें, तबतक नम्बर ३, ४ और ७ के विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता। संभवतः नामके आदिमें ब्रह्म शब्द होनेके कारण ब्रह्म-नेमिदत्तका कथाकोश और ब्रह्मसूरिके त्रिवर्णाचार (–दीपक) और प्रतिष्ठातिलकको गलतीसे ब्रह्मदेवके नामके साथ जोड़ दिया है। अतः ब्रह्मदेवकी केवल दो ही प्रामाणिक रचनाएं रह जाती हैं, एक परमात्म-प्रकाशवृत्ति, और दूसरी द्रव्यसंग्रहवृत्ति।

**परमात्मप्रकाशवृत्ति**—परमात्मप्रकाशकी वृत्तिमें ब्रह्मदेवने जी अपना नाम नहीं दिया। बालचन्द्र ब्रह्मदेवकी एक संस्कृतटीकाका उल्लेख करते हैं, दूसरे, दौलतरामजी संस्कृतवृत्तिको ब्रह्मदेवरचित कहते हैं, तीसरे परमात्मप्रकाशकी वृत्ति द्रव्यसंग्रहकी वृत्तिसे, जिसमें ब्रह्मदेवने अपना नाम दिया है, बहुत मिलती जुलती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दोनों वृत्तियाँ एक ही ब्रह्मदेवकी हैं। ब्रह्मदेवकी व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या है, वे अर्थपर अधिक जोर देते हैं, इसलिये व्याकरणकी गुत्थियाँ एक दो स्थान-पर ही सुलझाई गई हैं। सबसे पहले वे शब्दार्थ देते हैं, फिर नयोंका–खासकर निश्चयनयका अवलम्बन लेते हुए विशेष वर्णन करते हैं। किन्तु उनके ये वर्णन द्रव्यसंग्रहकी टीकाके वर्णनोंके समान कठिन नहीं हैं। यदि यह टीका न होती तो परमात्मप्रकाश इतना प्रसिद्ध न होता; उसकी ख्यातिका कारण यह टीका ही है।

**जयसेन और ब्रह्मदेव**—पदच्छेद, उत्थानिका, प्रकरणसंगत चर्चा तथा ब्रह्मदेवकी टीकाकी कुछ अन्य बातें हमें जयसेनकी टीकाकी याद दिलाती हैं। ब्रह्मदेवने जयसेनका पूरा पूरा अनुकरण किया है। परमात्मप्रकाशकी टीकाकी कुछ चर्चाएँ जयसेनके पञ्चास्तिकायकी टीकाकी चर्चाओंके समान हैं। उदाहरणके लिये परमात्मप्रकाश २–२१ और पञ्चास्तिकाय २३, प. प्र. २–३३ और पंचा० १५२ तथा प. प्र. २–३६ और पंचा० १४६ की टीकाओंके परस्परमें मिलाना चाहिए।

**ब्रह्मदेवका समय**—ब्रह्मदेवने अपने ग्रन्थोंमें उनका रचना-काल नहीं दिया है। पं० दौलतरामजी (ई० १८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध) कहते हैं कि ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके आधारपर उन्होंने अपनी हिन्दी-टीका बनाई है। पं० जवाहरलालजी लिखते हैं कि शुभचन्द्रने कत्तिगेयाणुप्पेक्खाकी टीकामें ब्रह्मदेवकृत द्रव्य-संग्रहवृत्तिसे बहुत कुछ लिया है। मलधारि बालचन्द्र ब्रह्मदेवकी टीकाका स्पष्ट उल्लेख करते हैं, किन्तु बालचन्द्रका समय स्वतन्त्र आधारोंपर निश्चित नहीं किया जासकता। जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्य-संग्रहवृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो सम्वत् १४८५ (१४२८ ई०) में माण्डवमें लिखी गई थी, उस समय वहाँ राय श्रीचान्दराय राज्य करते थे। इस प्रकार इन बाहिरी प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्मदेवके समयकी

अन्तिम अवधि १४२८ ई० से पहिले ठहरती है। अब हम देखेंगे कि उनकी रचनाओंसे उनके समयके सम्बन्धमें हम क्या जान सक्ते हैं ? परमात्मप्रकाशकी टीकामें ब्रह्मदेवने शिवार्यकी आराधनासे, कुन्दकुन्द ( ई० की प्रथम श० ) के भावपाहुड़, मोक्खपाहुड़, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, और समयसारसे, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे, समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी) के रत्नकरण्डसे, पूज्यपाद ( ५वीं शताब्दीके लगभग) के संस्कृत सिद्धभक्ति और इष्टोपदेशसे, कुमारकी कत्तिगेयाणुप्पेक्खासे, अमोघवर्ष ( ई. ८१५ से ८७७ के लगभग ) की प्रश्नोत्तररत्नमालिकासे, गुणभद्रके ( जिनने २३ जून ८९७ में महापुराण समाप्त किया ) आत्मानुशासनसे, संभवतः नेमिचन्द्र (१० वीं श०)के गोम्मटसार जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहसे, अमृतचन्द्रके ( लगभग १० वीं श० की समाप्ति ) पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे, अमितगति ( लगभग १० वीं श० का प्रारम्भ ) के योगसारसे, सोमदेवके ( ९५९ ई० ) यशस्तिलकचम्पूसे, रामसिंह ( हेमचन्द्रके पूर्व ) के दोहापाहुड़से रामसेन ( आशाधर–१३ वीं श०का पूर्वार्द्धसे पहिलेके ) तत्त्वानुशासनसे और पद्मनन्दिकी ( पद्मप्रभ–१२ वीं श० का अन्तके पहिले) पञ्चविंशतिकासे पद्य उद्धृत किये हैं। उद्धरणोंकी इस छान-बीनसे हम निश्चित तौरपर कह सकते हैं कि ब्रह्मदेव सोमदेवसे ( १० वीं श० का मध्य ) बादमें हुए हैं। द्रव्यसंग्रहवृत्तिकी आरम्भिक उत्थानिकामें ब्रह्मदेव लिखते हैं कि पहिले नेमिचन्द्रने लघुद्रव्यसंग्रहकी रचना की थी, जिसमें केवल २६ गाथाएं थीं। बादको मालवदेशकी धारागनरीके राजा भोजके आधीन मण्डलेश्वर श्रीपालके कोषाध्यक्ष, आश्रमपुर निवासी सोमके लिये इसे बढ़ाया गया। अतः सामयिक प्रमाणोंसे इस बातकी पुष्टि नहीं होती, अतः हम न तो नेमिचन्द्रको धारके राजा भोजका समकालीन ही मान सकते हैं, और न लघुद्रव्यसंग्रहका वृहद्द्रव्यसंग्रहके रूपमें परिवर्तन ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु एक बात सत्य है कि ब्रह्मदेव धाराके राजा भोजसे, जिसे वे कलिकाल चक्रवर्ती बतलाते हैं, बहुत बादमें हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्मदेवके भोज मालवाके परमार और संस्कृत-विद्याके आश्रयदाता प्रसिद्ध भोज ही हैं। भोजदेवका समय ई० १०१८-१०६० है। ब्रह्मदेवका यह उल्लेख बतलाता है कि वे ११ वीं शताब्दीसे भी बहुत बादमें हुए हैं।

ऊपर यह बतलाया गया है कि जयसेनकी टीकाओंका ब्रह्मदेवपर बहुत प्रभाव है। जयसेन ईसाकी बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धके लगभग हुए हैं। अतः ब्रह्मदेव बारहवीं शताब्दीसे बादके हैं। इन अभ्यन्तर और बाहिरी प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्मदेव सोमदेव ( ९५९ ई० ) धाराके राजा भोज ( ई. १०१८–६० ), और जयसेन ( १२ वीं शताब्दीके लगभग ) से बादमें हुए हैं, अतः ब्रह्मदेवको १३ वीं शताब्दीके विद्वान् कहा जासकता है।

## मलधारि बालचन्द्रकी कन्नड़टीका

**मलधारि बालचन्द्र और उनकी कन्नड़टीका**—परमात्मप्रकाशकी 'प' प्रतिमें एक कन्नड़-टीका पाई जाती है, उसके प्रारम्भिक उपोद्घातसे यह स्पष्ट है कि इस टीकाका मुख्य आधार ब्रह्मदेवकी वृत्ति है। तथा इस बातके पक्षमें भी काफ़ी प्रमाण है कि उसके कर्ताका नाम बालचन्द्र है। संभवतः अपने समकालीन अन्य बालचन्द्रोंसे अपनेको जुदा करनेके लिये उन्होंने अपने नामके साथ 'कुक्कुटासन मलधारि' उपाधि लगाई हैं।

**ब्रह्मदेवकी टीकासे तुलना**—बालचन्द्र लिखते हैं कि ब्रह्मदेवकी टीकामें जो विषय स्पष्ट नहीं हो सके हैं, उन्हे प्रकाशमें लानेके लिये उन्होंने यह टीका रची है। यह स्पष्ट उक्ति बतलाती है कि उन्होंने ब्रह्मदेवका अनुसरण किया है। किन्तु ब्रह्मदेवके मूलकी अपेक्षा बालचन्द्रके मूलमें ६ दोहे अधिक हैं। कुछ भेदोंको छोड़कर, जो अन्य कन्नड़ प्रतियोंमें भी पाये जाते हैं, दोहोंकी अपभ्रंशभाषाके सम्बन्धमें दोनों एकमत हैं। किन्तु बालचन्द्रने ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णनोंको संक्षिप्तकर दिया है। दोहोंके प्रत्येक शब्दकी व्याख्या करना ही बालचन्द्रका मुख्य लक्ष्य मालूम होता है, उन्होंने ब्रह्मदेवकी तरह भावार्थ बहुत ही कम दिये हैं। ब्रह्मदेवके उद्धरणोंको भी उन्होंने छोड़ दिया है, किन्तु कुछ स्थलोंपर कन्नड़-पद्य उद्धृत किये

हैं। ग्रन्थके अन्तमें ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णनोंकी उपेक्षा करके उन्होंने केवल शब्दशः अनुवादकी ओर ही विशेष ध्यान दिया है। 'पंडवरामहि' आदि पद्यके बाद बालचन्द्र एक और पद्य देते हैं, जो इस प्रकार है–

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।
तं भव्वजीवसज्झं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥

**बालचन्द्र नामके अन्य लेखक**—कन्नड-साहित्यमें बालचन्द नामके अनेक टीकाकार तथा ग्रन्थकार हुए हैं, और उनके बारेमें जो कुछ सूचनाएं प्राप्त होती हैं, उनके आधारपर एकको दूसरेसे पृथक् करना कठिन है। म० आर० नरसिंहाचार्य बालचन्द्र नामके चार व्यक्तियोंको बतलाते हैं। अभिनव-पम्पके गुरु बालचन्द्र मुनिके बारेमें लिखते हुए श्री एम्० गोविंद पै लगभग नौ बालचन्द्रोंका उल्लेख करते हैं। किन्तु 'कुक्कुटासन मलधारि' पदवीके कारण यह बालचन्द्र अन्य बालचन्द्रोंसे जुदे हो जाते हैं। अपने समाननामा अन्य व्यक्तियोंसे अपनेको जुदा करनेके लिये कुछ साधुजन अपने नामके साथ मलधारि विशेषण लगाते थे। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें ऐसे मुनियोंका उल्लेख मिलता है, जैसे, मलधारि मल्लिषेण, मलधारि रामचन्द्र, मलधारि हेमचन्द्र, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके मुनिजन इस पदवीका उपयोग करते थे। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी एक मलधारि हेमचन्द्र हुए हैं, जो प्रसिद्ध हेमचन्द्रसे जुदे हैं।

**मलधारि बालचन्द्रका समय**—अपनेको 'कुक्कुटासन मलधारि' लिखनेके सिवा इन बालचन्द्रने अपने बारेमें कुछ भी नहीं लिखा। अतः इनका समय निश्चित करना विशेष कठिन है। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें व्यक्तिगत नामोंके रूपमें 'मलधारिदेव' और 'कुक्कुटासन मलधारिदेव' शब्द आते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह हमारे बालचन्द्रकी पदवी है। संभवतः यह किसी प्रसिद्ध आचार्यका नाम था, और उनकी परम्पराके साधुगण इसे पदवीके तौरपर धारण करते थे। शक सं० १२०० (ई० १२७८) के अमरपुरम् समाधि-लेखमें, जिसमें एक जैनमन्दिरको कुछ दान देनेका उल्लेख है, बालेन्दु मलधारिदेवका नाम आता है। यद्यपि नामोंमें इन्दु और चन्द्रका परस्परमें परिवर्तन देखा जाता है, फिर भी वह बालेन्दु हमारे बालचन्द्र नहीं हो सकते, क्योंकि उनके नामके साथ कुक्कुटासन उपाधि नहीं है, तथा उनका समय भी हमारे टीकाकारसे पहले जाता है। हमारे टीकाकारके बारेमें इतनी बात निश्चित है कि वे ब्रह्मदेवके बादमें हुए हैं क्योंकि उन्होंने ब्रह्मदेवकी टीकाका अनुसरण किया है, और जाँच पड़ताल करनेके बाद हमने ब्रह्मदेवका समय ईसाकी तेरहवीं शताब्दी निर्णीत किया है। बालचन्द्र कर्नाटकी थे, संभवतः श्रवणबेलगोलाके निकट किसी स्थानपर वे रहते थे। किन्तु ब्रह्मदेव उत्तरप्रान्तके वासी थे अतः दोनों टीकाकारोंके बीचमें कमसे कम आधी शताब्दीका अन्तर अवश्य मानना होगा, क्योंकि उस समयकी यात्रा आदिकी परिस्थितिको देखते हुए, दक्षिण प्रान्तवासी बालचन्द्रके हाथमें उत्तर प्रान्तवासी ब्रह्मदेवकी टीकाके पहुँचनेमें इतना समय लग जाना संभव है। अतः बालचन्द्रको ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके मध्यका विद्वान् माना जा सकता है।

**अध्यात्मी बालचन्द्रकी टीका**—म०आर० नरसिंहाचार्यका कहना है, कि अध्यात्मी बालचन्द्रने भी परमात्मप्रकाशपर कनडीमें एक टीका बनाई थी, किन्तु इन तीनों कन्नडटीकाओंमेंसे कोई भी उनकी नहीं है। उन्होंने मुझे सूचित किया है कि कविचरितेके उल्लेखोंको छोड़कर उनके पास इस सम्बन्धमें कोई अन्य सामग्री नहीं है। यद्यपि यह कोई अनहोनी बात नहीं है कि अध्यात्मी बालचन्द्रने कुन्दकुन्दके प्राकृत ग्रन्थोंपर अपनी कन्नड़टीकाओंकी तरह परमात्मप्रकाशपर भी टीका लिखी होगी किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक तो कविचरितेका उल्लेख बहुत कमज़ोर है, दूसरे यह भी संभव है कि गलतीसे बालचन्द्र मलधारिके स्थानमें बालचन्द्र अध्यात्मी लिखा गया हो।

## और एक कन्नडटीका

**परमात्मप्रकाशपर दूसरी कन्नड़टीका**—यहाँ परमात्मप्रकाशकी दूसरी कन्नड़टीकाका परिचय दिया जाता है। इस टीकाके समय तथा कर्ताके बारेमें हम कोई बात नहीं जान सके। प्रतिके अंतमें लिखा

है—"मुनिभद्रस्वामीके चरण शरण हैं।" इससे इतना पता चलता है कि इस कन्नड़टीकाका रचयिता या इस प्रति अथवा इस प्रतिकी मूल प्रतिका लेखक मुनिभद्रस्वामीका शिष्य था।

**इस टीकाका परिचय**—'क' टीकाकी तरह इस टीकामें भी दोहोंका केवल शब्दार्थ दिया है; किन्तु इस टीकाकी अपेक्षा 'क' टीकामें मूलका अनुसरण वगैरह अधिक तत्परतासे किया गया है। बिना नामकी इन टीकाओंके देखनेसे पता चलता है कि धार्मिक जैनसाधुओं और गृहस्थोंमें परमात्मप्रकाश कितना अधिक प्रसिद्ध था। ऐसा मालूम होता है कि बहुतसे नये अभ्यासी अपने अध्यापकसे दोहोंका अर्थ समझ लेनेके बाद अपनी मातृभाषामें उनके शब्दार्थ लिख लेते थे।

**अन्य टीकाओंके साथ इस टीकाकी तुलना**—'क' प्रतिकी टीका, ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका और मलधारि बालचन्द्रकी कन्नड़टीकाके साथ इसकी तुलना करनेपर मैं इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि यद्यपि इसके पाठ 'क' टीका आदिके पाठोंसे बहुत मिलते जुलते हैं तथापि यह टीका ब्रह्मदेवकी बहुत कुछ ऋणी है। अतः इस टीकामें केवल शब्दार्थ दिया है, अतः ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णन इसमें नहीं मिलते। 'क' टीका और इस टीकाकी समानताको देखते हुए यह संभव है कि इस टीकाके कर्ताने 'क' टीकासे भी सहायता ली हो। मैंने इस टीकामें ऐसी कोई मौलिक अशुद्धियाँ और पाठान्तर नहीं देखे, जिनके आधारपर इसे ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकासे स्वतंत्र कहा जा सके।

**इस टीकाका समय**—ऊपरकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि यह टीका ब्रह्मदेवसे और संभवतः मलधारि बालचन्द्रसे भी बादकी है। यदि इसके कर्ता मुनिभद्रके शिष्य है, और यदि यह मुनिभद्र वही हैं जिनकी मृत्युका उल्लेख ई० सन् १३८८ के लगभगके उद्री शिलालेखमें पाया जाता है; तो इस टीकाकी रचना ईसाकी १४वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हो सकती है। ऐसा मालूम होता है कि मुनिभद्रके अनेक प्रसिद्ध शिष्य थे, जिनकी मृत्युका उल्लेख कुछ शिलालेखोंमें पाया जाता है।

## पं० दौलतरामजीकृत भाषाटीका

**पं० दौलतरामजी और उनकी भाषाटीका**—पं. दौलतरामजीकी भाषाटीका, जो इस संस्करणमें मुद्रित है, उनकी भाषाका आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित रूप है। दौलतरामजीकी भाषा, जो संभवतः उनके समयमें उनकी जन्मभूमिमें प्रचलित थी, आधुनिक हिन्दीसे भिन्न है। इस विचारसे कि जैनगृहस्थों और साधुओंको यह विशेष उपयोगी होगी। पं. मनोहरलालजीने उसे आधुनिक हिन्दीका रूप दे दिया है। मामूली संशोधनके साथ यही रूपान्तर इस दूसरे संस्करणमें छपा है। यहाँ मैं दौलतरामजीके अनुवादका कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, इससे पाठक उनकी भाषाका अनुमान कर सकेंगे—

"बहुरि तिनि सिद्धनिके समूहिकूं मैं वन्दू हूँ। जे सिद्धिनिकें समूहि निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठे हैं, अरि विवहारिनयकरि सर्व लोकालोककूं निसन्देहपणैं प्रत्तक्ष देखे हैं। परन्तु परिपदार्थनि विषै तन्मयी नाहीं, अपने स्वरूपविषै तन्मयी हैं। जो परपदार्थनिविषै तन्मयी होई तो पराए सुख दुखकरि आप सुखी दुखी होई, सो कदापि नाहीं। विवहारिनयकरि स्थूल सूक्ष्म सकलि कूं केवलिज्ञानि करि प्रतक्ष निसन्देह जानै हैं। काहू पदार्थसुं रागि द्वेष नाहीं। रागिके हेतुकरि जो काहुँको जानै तो राग द्वेषमई होय, सो इह बड़ा दूषण हैं। तातैं यही निश्चयभया जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठै हैं, पर विषैं नाहीं। अरि अपनी ज्ञायक शक्ति करि सबिकूं प्रतक्ष देखै हैं जानै हैं। जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै निवास कह्या सो अपना स्वरूपही आराधिवे योग्य है यह भावार्थ है॥ ५॥"

सोलापुरकी एक नई प्रतिसे मैंने यह अंश उद्धृत किया है, और बम्बईकी एक प्राचीन प्रतिके सहारे श्री०प्रेमीजीने इसका संशोधन किया है। पं०प्रेमीजीका कहना है कि कुछ अन्य प्राचीन प्रतियोंके साथ इसका मिलान करनेपर अब भी भाषासम्बन्धी कुछ भेद निकल सकते हैं। क्योंकि इसे प्रचलित भाषामें लानेके लिये नकल करते समय शिक्षित लेखक यहाँ वहाँ भाषासम्बन्धी सुधार कर सकता है। अपभ्रंश–साहित्यके विद्यार्थियोंको इससे एक अच्छी शिक्षा मिलती है और अपभ्रंश ग्रन्थोंकी विभिन्न प्रतियोंमें जो स्वरभेद देखा जाता है, उसपर भी प्रकाश पड़ता है।

**टीकाका परिचय**—इस टीकामें कोई मौलिकता नहीं है। ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकाका यह अनुवाद-मात्र है। ब्रह्मदेवके कुछ कठिन पारिभाषिक शब्दोंको हिन्दीमें सुगमतासे समझा दिया है। ब्रह्मदेवके सामान दौलतरामजीने भी पहले शब्दार्थ दिया है, और बादको ब्रह्मदेवके अनुसार ही संक्षेपमें भावार्थ दिया है। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इस हिन्दीअनुवादके ही कारण जोइन्दु और उनके परमात्मप्रकाशको इतनी ख्याति मिल सकी है। परमात्मप्रकाशके पठन-पाठनमें दौलतरामजीका उतना ही हाथ है, जितना समयसार और प्रवचनसारके पठन-पाठनमें राजमल्ल और पाण्डे हेमराजका।

**पं. दौलतरामजीका समय**—दौलतरामजी खण्डेलवाल थे उनका गोत्र काशलीवाल था। उनके पिता आनन्दराम थे, जन्मभूमि बसवा थी किन्तु वे जयपुरमें रहते थे, तथा राजाके प्रधान कर्मचारी थे। उनकी रचनाओंको देखनेसे मालूम होता है कि वे संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे, और अपनी मातृभाषासे भी बहुत प्रेम करते थे। सम्वत् १७९५ में जब उन्होंने अपना क्रियाकोश समाप्त किया, वे किसी जयसुत राजाके मंत्री थे, और उदयपुरमें रहते थे। अपने हरिवंशपुराणमें वे लिखते हैं कि जयपुरके दीवान प्रायः जैनसम्प्रदायके होते हैं। उनके समकालीन दीवान रतनचन्द्र थे। उन्होंने सं० १७९५ में क्रियाकोश समाप्त किया, और १८२९ में हरिवंशपुराण, अतः उनका साहित्यिक कार्यकाल ई० की १८ शताब्दीका उत्तरार्द्ध जानना चाहिये।

**उनकी रचनाएँ**—उनके क्रियाकोशका उल्लेख पहिले कर चुके हैं। जयपुरके एक धार्मिक गृहस्थ रायमल्लकी प्रार्थना पर उन्होंने सम्वत् १८२३ में पद्मपुराणकी हिन्दीटीका की थी, इसके बाद १८२४ में आदिपुराण की, १८२९में हरिवंशपुराण और श्रीपालचरित्रका हिन्दी-गद्यमें अनुवाद किया, इसके बाद ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके आधारपर परमात्मप्रकाशकी हिन्दीटीका की। इसके बाद सं० १८२७ में उन्होंने पं० प्रवर टोडरमल्लजी रचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी अपूर्ण हिन्दीटीका को पूर्ण किया। प्रेमीजीका मत है कि पुराणोंके इन हिन्दी-अनुवादोंने जैनपरम्पराका केवल रक्षण और प्रचार ही नहीं किया किन्तु जैनसमाजके लिये ये बहुत लाभदायक सिद्ध हुए।

## ४ इस ग्रन्थके सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

**'ए' प्रति**—यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूनासे प्राप्त हुई थी। इसमें १२४ पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठमें १३ लाइनें हैं। दोहोंके नीचे ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका है, जो बिल्कुल शुद्ध है। इस संस्करणकी सं० टीकाका इसीके आधारसे संशोधन किया है।

**'बी' प्रति**—सदलगानिवासी मेरे काका स्वर्गीय बाबाजी उपाध्येके संग्रहसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। 'अ' प्रति की तरह यह भी देवनागरी अक्षरोंमें लिखी है। किन्तु यह अच्छी हालतमें नहीं है। यह कमसे कम २०० वर्ष प्राचीन है। मध्यमें दोहोंकी क्रम-संख्यामें कुछ भूल होगई है। अन्तिम दोहेपर ३४२ नम्बर पड़ा है।

**'सी' प्रति**—यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की है। इसमें २१ पृष्ठ और हरएक पृष्ठमें ९ लाइनें हैं, सुन्दर देवनागरी अक्षरोंमें लिखी हुई है। इसमें केवल दोहे ही हैं, जो शुद्ध हैं। किन्तु लेखककी भूलसे कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं।

**'पी' प्रति**—यह प्रति जैनसिद्धान्त भवन आरा की है। इसपर लिखा है—'परमात्मप्रकाश कर्नाटक टीकासहित'। यह कन्नड़ अक्षरोंमें लिखी गई है, इसमें कुक्कुटासन मलधारि बालचन्द्रकी कन्नड़-टीका है, यह कोई ५० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। ब्रह्मदेवके मूलसे इसमें ६ पद्य अधिक हैं।

**'क्यू' प्रति**—यह प्रति भी आराके भवनकी है, इसमें भी एक कर्नाटकवृत्ति है, और लिखी भी कन्नड़ अक्षरोंमें है। यह ताड़पत्रपर है, इसके प्रारम्भका एक पत्र खोगया है।

**'आर्' प्रति**—यह भी ताड़पत्रपर है, और आराके भवनकी है, इसमें केवल मूल परमात्मप्रकाश है। और अक्षर कन्नड़ हैं।

**'एस्' प्रति**—जै. सि. भ. आराकी ताड़पत्रकी इस प्रतिपर 'योगीन्द्र गाथा' लिखा है, यह करीब ७५ वर्ष पुरानी है। इसमें कन्नड़ी अक्षरोंमें केवल दोहे ही लिखे हैं।

**'टी' प्रति**—यह प्रति ताड़पत्रपर है। और यह श्रीवीरवाणीविलास-भवन मूड़बिद्रीसे प्राप्त हुई थी। यह पुराने कनड़ी अक्षरोंमें लिखी हुई है। इसमें केवल दोहे ही हैं।

**'के' प्रति**—यह भी मूड़बिद्रीके वीरवाणीविलास-भवनकी प्रति है। हस्ताक्षरोंकी समानतासे यह स्पष्ट है कि 'टी' और 'के' प्रति एक ही लेखककी लिखी हुई हैं। इसकी लिपी पुरानी कन्नड़ी है।

**'एम्' प्रति**—इसमें भी केवल मूल ही है। इसका लेखक ताड़पत्रपर लिखनेमें प्रवीण नहीं था। इसमें नं० १६ से २३ तक केवल आठ पत्रे हैं। पहले पत्रमें 'मोक्षप्राभृत'पर बालचन्द्रकी कन्नड़टीका है उसके बाद विना किसी उत्थानिकाके परमात्मप्रकाशका दोहा लिखा है।

**इन प्रतियोंका परस्परमें सम्बन्ध**—जोइंदुके मूलके दो रूप हैं, एक संक्षिप्त और दूसरा विस्तृत' 'टी' 'के' और 'एम्' प्रति उसके संक्षिप्त रूपके अनुयायी है, और 'पी' 'ए' 'बी' 'सी' और 'एस्। उसके विस्तृत रूपके। 'क्यू' प्रति 'ए' प्रतिसे मिलती है, किन्तु उसपर 'टी' 'के' और 'एम्' के भी प्रभाव है 'आर्' प्रतिपर 'ए' 'पी' 'टी' 'के' और 'एम्' का प्रभाव है।

## ५ योगसारकी प्रतियाँ

**योगसारकी प्रतियोंका तुलनात्मक वर्णन**—इस संस्करणमें मुद्रित योगसारका सम्पादन नीचे लिखी प्रतियोंके आधारपर किया गया है।

'अ'—पं० के० भुजबलि शास्त्रीकी कृपासे जैनसिद्धान्तभवन आरासे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें दस पत्रे हैं, जो दोनों ओर लिखे हुए हैं, केवल पहला और अंतिम पत्र एक ओर ही लिखा है। सम्वत् १९९२ में देहलीके किसी भण्डारकी प्राचीन प्रतिके आधारपर आधुनिक देवनागरी अक्षरोंमें यह प्रति लिखी गई है। इसमें दोहे और उनपर गुजराती भाषाके टब्बे हैं, इसमें अशुद्धियाँ अधिक हैं।

'प'—मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराजकी कृपासे पाटनके भण्डारसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें भी दोहे और उनका गुजराती अनुवाद है। यह अनुवाद 'अ' प्रतिके अनुवादसे मिलता जुलता है। यह प्रति बिल्कुल शुद्ध है और 'अ' प्रतिकी अशुद्धियोंका शोधन करनेमें इससे काफ़ी सहायता मिली है, गुजराती अनुवाद (टब्बे) में इसका लेखन-काल सम्वत् १७१२ चैत्र शुक्ल १२ दिया है।

'ब'—बम्बईके पं० नाथूरामजी प्रेमीसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें केवल दोहे ही हैं, देवनागरी अक्षरोंमें लिखे हैं। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इसके कमज़ोर पत्रों और टूटे किनारोंसे यह प्रति सम्पादनमें उपयुक्त चारों प्रतियोंमेंसे सबसे अधिक प्राचीन मालूम होती है। मालूम हुआ है कि माणिकचन्द्रग्रन्थ-मालामें मुद्रित योगसारका सम्पादन इसी प्रतिके आधारपर किया गया है।

'झ'—पं० पन्नालालजी सोनीकी कृपासे झालरापाटनके श्रीऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें केवल दोहे ही हैं। इसकी लिपि सुन्दर देवनागरी है। इसमें अशुद्धियाँ अधिक हैं। इसके कुछ खास पाठ मा० जैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारसे मिलते हैं।

ये चार प्रतियाँ दो विभिन्न परम्पराओंको बतलाती हैं, एक परम्परामें केवल 'ब' प्रति है, और दूसरीमें 'अ,' 'प' और 'झ'। 'अ' और 'प' का उद्गम एक ही स्थानसे हुआ जान पड़ता है, क्योंकि दोनोंका मूल और गुजराती अनुवाद एकसा ही है। किंतु 'अ' प्रतिसे 'प' प्रतिके गुजराती अनुवादकी भाषा प्राचीन है। 'ब' प्रतिके विरुद्ध जो कि सबसे प्राचीन है, 'अ' और 'प' में कर्ता कारकके एकवचनमें अ के स्थानमें उ पाया जाता है; अनुस्वारकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं है; और 'अउ' के स्थानमें प्रायः ओ लिखा है।

**योगसारका प्राकृत मूल और पाठान्तर**—योगसारके सम्पादनमें परम्परागत मूलका संग्रह करनेकी ओर ही मेरा लक्ष्य रहा है। अपभ्रंश ग्रन्थका सम्पादन करनेमें, विशेषतया जब विभिन्न प्रतियोंमें

स्वरभेद पाया जाता है, लेखकोंकी अशुद्धियोंके बीचमेंसे मौलिकपाठको पृथक् करना प्रायः कठिन होता है। स्वरोंके सम्बन्धमें मैंने 'प' और 'ब' प्रतिका ही विशेषतया अनुसरण किया है। आधुनिक प्रतियोंमें इ और ए में धोखा हो जाता है, अतः मैंने मूलमें कुछ परिवर्तन भी किये हैं, और उनके सामने प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिये हैं। मैंने बहुतसे पाठान्तर केवल मूलके पाठ-भेदोंपर काफ़ी प्रकाश डालनेके लिये ही दिये हैं। किन्तु माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारके पाठान्तर मैंने नहीं दिये, क्योंकि जिस प्रतिके आधारपर इसका मुद्रण हुआ बताया जाता है, उससे मैंने मिलान कर लिया है; तथा किसी स्वतंत्र एवं प्रामाणिक प्रतिके आधारपर उसका सम्पादन होनेमें मुझे सन्देह है, जैसा कि उसमें प्रतियोंके नामके बिना दिये गये पाठान्तरोंसे मालूम होता है।

**संस्कृतछाया**—निम्नलिखित कारणोंसे अपभ्रंश ग्रन्थमें संस्कृतछाया देनेके मैं विरुद्ध हूँ। प्रथम यह एक गलत मार्ग है, जो न तो भाषा और न इतिहास की दृष्टिसे ही उचित है। दूसरे, छाया भद्दी संस्कृतका एक नमूना बन जाती है। क्योंकि अपभ्रंशने वाक्य-विन्यास और वर्णनकी शैलीने उन्नति करली है, जो प्राचीन संस्कृतमें नहीं पाई जाती। तीसरे, उसका दुष्परिणाम यह होता है कि बहुतसे पाठक केवल छाया पढ़कर ही सन्तोष करलेते हैं। प्राकृत ग्रन्थोंमें संस्कृतछाया देनेकी पद्धतिने भारतीय भाषाओंके अध्ययनको बहुत हानि पहुँचाई है, लोगोंने प्राकृतके अध्ययनकी ओरसे मुख फेर लिया है, मृच्छकटिक और शाकुन्तल सरीखे नाटक केवल संस्कृतके ग्रन्थ बन गये हैं, जब कि स्वयं रचयिताओंने उनके मुख्य भागोंको प्राकृतमें रचा था; और परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाएं प्राकृतको भुलाकर केवल संस्कृत शब्दोंसे अपना कलेवर पुष्ट कर रही हैं। तथापि प्रकाशकके आग्रहके कारण मुझे छाया देनी पड़ी है। छायामें अपभ्रंश शब्दोंके संस्कृत शब्द देते हुए कहीं कहीं उनके वैकल्पिक शब्द भी मैंने ब्रेकेट (कोष्टक)में दे दिये हैं। संस्कृतका एक स्वतंत्र वाक्य समझकर छायाका परीक्षण न करना चाहिये, किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह अपभ्रंशकी केवल छायामात्र है। पाठकोंकी सुविधाके लिये सन्धिके नियमोंका ध्यान नहीं रखा गया है। अनेक स्थलोंपर मा० जैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसार की छायासे मेरी छायामें अन्तर है।

श्रीस्याद्वादमहाविद्यालय, काशी
भाद्रपद शुक्ल ५ दशलाक्षणमहापर्व, वीर सं० २४६३

हिन्दी-अनुवादकर्ता—
—**कैलाशचन्द्र शास्त्री**

---

# परमात्मप्रकाशकी विषयानुक्रमणिका

---

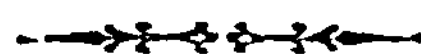


—श्रीपरमात्मने नमः—

श्रीमद्योगीन्दुदेवविरचितः

# परमात्मप्रकाशः ।

(टीकाद्वयोपेतः)



## श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका ।

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

**श्रीयोगीन्द्रदेवकृतपरमात्मप्रकाशाभिधाने दोहकछन्दोग्रन्थे प्रक्षेपकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमुख्यत्वेन 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि**

---

## श्रीपंडित दौलतरामजीकृत भाषाटीका ।

**दोहा—चिदानंद चिद्रूप जो, जिन परमातम देव ।**
**सिद्धरूप सुविसुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ॥ १ ॥**
**परमातम निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।**
**ताहि प्रकासनके निमित, वंदूं देव प्रबुद्ध ॥ २ ॥**

'चिदानंद' इत्यादि श्लोकका अर्थ—श्रीजिनेश्वरदेव शुद्ध परमात्मा आनंदरूप चिदानंदचिद्रूप हैं, उनके लिये मेरा सदाकाल नमस्कार होवे, किस लिये? परमात्माके स्वरूपके प्रकाशनेके लिये । कैसे हैं वे भगवान्? शुद्ध परमात्मस्वरूपके प्रकाशक हैं, अर्थात् निज और पर सबके स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं? 'सिद्धात्मने' जिनका आत्मा कृतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करने योग्य परमात्मा ही है, इसलिये परमात्माको नमस्कार कर **परमात्मप्रकाश**नामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूँ ।

---

श्रीयोगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाश नामा दोहक छंद ग्रंथमें प्रक्षेपक दोहोंको छोड़कर व्याख्यानके लिये अधिकारोंकी परिपाटी कहते हैं—प्रथम ही पंचपरमेष्ठीके नमस्कारकी मुख्यताकर 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि सात दोहे जानना. [illegible]

भवन्ति, तदनन्तरं विज्ञापनमुख्यतया ' भावि पणविवि ' इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं वहिरन्तःपरमभेदेन त्रिधात्मप्रतिपादनमुख्यत्वेन ' पुणु पुणु पणविवि ' इत्यादिसूत्रपञ्चकं, अथानन्तरं मुक्तिगतव्यक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन ' तिहुयणवंदिउ ' इत्यादि सूत्रदशकं, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन ' जेहउ णिम्मलु ' इत्यादि अन्तर्भूतप्रक्षेपपञ्चकसहितचतुर्विंशतिसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेहप्रमितिविषये स्वपरमतविचारमुख्यतया 'अप्पा जोइय ' इत्यादिसूत्रषट्कं , तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुख्यतया ' अप्पा जणियउ ' इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानन्तरं कर्मविचारमुख्यत्वेन ' जीवहं कम्मु अणाइ ' इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनाकथनेन ' अप्पा अप्पु जि ' इत्यादि सूत्रनवकं, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण ' अप्पें अप्पु ' इत्यादि सूत्रमेकं, तदनन्तरं मिथ्याभावकथनमुख्यत्वेन ' पज्जयरत्तउ ' इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टिभावनामुख्यत्वेन ' कालु लहेविणु ' इत्यादिसूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन ' अप्पा संजमु ' इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ॥ इति श्रीयोगीन्द्रदेवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे त्रयोविंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरन्तःपरमात्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता । अथानन्तरं द्वितीयमहाधिकार—

---

की मुख्यताकर ' भावें पणविवि ' इत्यादि तीन दोहे, वहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, इन भेदोंसे तीन प्रकार आत्माके कथनकी मुख्यताकर ' पुणु पुणु पणविवि ' इत्यादि पाँच दोहे, मुक्तिको प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा उनके कथनकी मुख्यताकर ' तिहुयण वंदिउ ' इत्यादि दस दोहे, देहमें तिष्ठे हुए शक्तिरूप परमात्माके कथनकी मुख्यतासे ' जेहउ णिम्मलु ' इत्यादि पाँच क्षेपकों सहित चौवीस दोहे, जीवके निजदेह प्रमाण कथनमें स्वमत—परमतके विचारकी मुख्यताकर ' किवि भणंति जिउ सव्वगउ ' इत्यादि छह दोहे, द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूप कहनेकी मुख्यताकर ' अप्पा जणियउ ' इत्यादि तीन दोहे, कर्म-विचारकी मुख्यताकर ' जीवहं कम्मु अणाइ जिय ' इत्यादि आठ दोहे, सामान्य भेद भावनाके कथन कर ' अप्पा अप्पुजि ' इत्यादि नौ दोहे, निश्चयसम्यग्दृष्टिके कथनरूप ' अप्पे अप्पु जि ' इत्यादि एक दोहा, मिथ्याभावके कथनकी मुख्यताकर ' पज्जयरत्तउ ' इत्यादि आठ दोहे, सम्यग्दृष्टिकी मुख्यता कर " कालु लहेविणु " इत्यादि आठ दोहे और सामान्यभेदभावकी मुख्यताकर ' अप्पा संजमु ' इत्यादि इकतीस दोहे कहे हैं । इस तरह श्रीयोगींद्रदेवविरचित परमात्मप्रकाश ग्रंथमें एकसौ तेईस १२३ दोहों का **पहला प्रकरण** कहा है, इस प्रकरणमें वहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माके स्वरूपके कथनकी मुख्यता है, तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं । अव दूसरे अधिकारमें मोक्ष, मोक्ष-

प्रारम्भे मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते—तत्र प्रथमतस्तावत् 'सिरिगुरु' इत्यादिमोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्राणि दशकं, अत ऊर्ध्वं 'दंसण णाणु' इत्याद्येकसूत्रेण मोक्षफलं, तदनन्तरं 'जीवहं मोक्खहं हेउ वरु' इत्याद्येकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यतया व्याख्यानं, अथानन्तरमभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन 'जो भत्तउ' इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन 'कम्मु पुरक्किउ' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अथानन्तरं पुण्यपापसमानमुख्यत्वेन 'बंधहं मोक्खहं हेउ णिरु' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वं एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपातनिका । तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये 'सुद्धहं संजमु' इत्यादिसूत्रपञ्चकपर्यन्तं शुद्धोपयोगमुख्यतया व्याख्यानं, अथानन्तरं 'दाणिं लब्भइ' इत्यादिपञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं 'लेणहं इच्छइ मूढु' इत्यादिसूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं 'जो भत्तउ रयणत्तयहं' इत्यादि त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणेन समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानम्, इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि । अत ऊर्ध्वं 'परु जाणंतु वि' इत्यादि समाप्तिपर्यन्तं प्रक्षेपकान्

---

फल और मोक्षमार्ग इनका स्वरूप कहा है, उसमें प्रथम ही 'सिरि गुरु' इत्यादि मोक्षरूपके कथनकी मुख्यताकर दस दोहे, 'दंसण णाणु' इत्यादि एक दोहाकर मोक्षका फल, निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यताकर 'जीवहं मोक्खहं हेउ वरु' इत्यादि उन्नीस दोहे, अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर 'जो भत्तउ' इत्यादि आठ दोहे, समभावकी मुख्यताकर 'कम्म पुरक्किउ' इत्यादि चौदह दोहे, पुण्य पापकी समानताकी मुख्यताकर 'बंधहं मोक्खहं हेउ णिरु' इत्यादि चौदह दोहे हैं और शुद्धोपयोगके स्वरूपकी मुख्यताकर प्रक्षेपकोंके विना इकतालीस दोहे पर्यंत व्याख्यान है । उन इकतालीस दोहोंमें से प्रथम ही 'सुद्धह संजमु' इत्यादि पाँच दोहा तक शुद्धोपयोगके व्याख्यानकी मुख्यता है, 'दाणिं लब्भइ' इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यताकर व्याख्यान है, परिग्रह त्यागकी मुख्यताकर 'लेणह इच्छइ' इत्यादि आठ दोहा पर्यंत व्याख्यान है, 'जो भत्तउ रयणत्तयहं' इत्यादि तेरह दोहा पर्यंत शुद्धनयकर सोलहवानके सुवर्णकी तरह सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षणकर समान हैं यह व्याख्यान है । इस तरह इकतालीस दोहोंके व्याख्यानकी विधि कही । उनके चार अधिकार हैं । यहाँतक एकसौ ग्यारह दोहोंका दूसरा महा अधिकार कहा है, उसमें दस अंतर अधिकार हैं । इसके बाद 'पर जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहोंमें ग्रंथकी समाप्ति पर्यंत चूलिका व्याख्यान है ।

विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रैश्चूलिकाव्याख्यानम् । तत्र सप्तोत्तरशतमध्ये अवसाने 'परमसमाहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रेषु सप्तस्थलानि भवन्ति । तस्मिन् प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन 'परमसमाहिमहासरहिं' इत्यादि सूत्रषट्कं, तदनन्तरमर्हत्पदमुख्यत्वेन 'सयलवियप्पहं' इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन 'सयलहं कम्महं दोसहं' इत्यादि सूत्रत्रयं, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन 'झाणें कम्मक्खउ करिवि' इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनन्तरं परमात्मप्रकाशाराधकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन 'जे परमप्पपयास मुणि' इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन 'जे भवदुक्खहं' इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशशास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन तथैवौद्धत्यपरिहारमुख्यत्वेन च 'लक्खणछंद' इत्यादि सूत्रत्रयम् । इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्रैकचूलिकावसाने सप्तस्थलानि गतानि । एवं प्रथमपातनिका समाप्ता । अथवा प्रकारान्तरेण द्वितीया पातनिका कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावद्बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकशतसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ 'जे जाया' इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यन्तं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानं, अथानन्तरं 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणं, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा जोइय

---

इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं । उन एकसौ सात दोहोंमेंसे अंतके 'परम समाहि' इत्यादि चौवीस दोहा पर्यंत परमसमाधिका कथन है, उनमें सात स्थल हैं । उनमेंसे प्रथम स्थलमें निर्विकल्प समाधिकी मुख्यताकर 'परमसमाहिमहासरहिं' इत्यादि छह दोहे, अरहंतपदकी मुख्यताकर 'सयलवियप्पहं' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशनामकी मुख्यताकर 'सयलहं दोसहं' इत्यादि तीन दोहे, सिद्धपदकी मुख्यताकर 'झाणें कम्मक्खउ करिवि' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशके आराधक पुरुषोंको फलके कथनकी मुख्यताकर 'जे परमप्पपयास मुणि' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशकी आराधनाके योग्य पुरुषोंके कथनकी मुख्यताकर 'जो भवदुक्खहं' इत्यादि तीन दोहे, और परमात्मप्रकाशशास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर तथा गर्वके त्यागकी मुख्यताकर 'लक्खण छंद' इत्यादि तीन दोहे हैं । इस प्रकार चूलिकाके अंतमें चौवीस दोहोंमें सात स्थल कहे गये हैं । इस तरह तीन महा अधिकारोंमें अंतर स्थल अनेक हैं । एक तो इस प्रकार पातनिका कही, अथवा अन्य तरह कथनकर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकारमें वहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्माके कथनकी मुख्यताकर क्षेपकोंको छोड़कर एकसौ तेईस दोहे कहे हैं । उनमेंसे 'जे जाया' इत्यादि पच्चीस दोहा पर्यंत तीन प्रकार आत्माके कथनका पीठिका व्याख्यान, 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि चौवीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन, 'अप्पा

सव्वगउ ' इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणं, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा संजमु' इत्याद्येकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं चूलिकाव्याख्यानमिति प्रथममहाधिकारः समाप्तः। अथानन्तरं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयसूत्रपर्यन्तं द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका। तत्रादौ 'सिरि गुरु' इत्यादित्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं पीठिकाव्याख्यानं, तदनन्तरं 'जो भत्तउ' इत्यादिषट्त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणं, अथानन्तरं 'सुद्धहं संजमु' इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणं, तदनन्तरं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतपर्यन्तमभेदरत्नत्रयमुख्यतया चूलिकाव्याख्यानं, इति द्वितीयपातनिका ज्ञातव्या॥

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकसूत्रमेकं प्रतिपादयति—

**जे जाया झाणग्गियए कम्म-कलंक डहेवि।**
**णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि॥ १॥**

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा।
नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा॥ १॥

**जे जाया** ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः। केन कारणभूतेन। **झाणग्गियए** ध्यानाग्निना। किं कृत्वा पूर्वम्। **कम्मलंक डहेवि** कर्मकलङ्कमलान् दग्ध्वा भस्मीकृत्वा। कथंभूताः जाताः। **णिच्चणिरंजणणाणमय** नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः **ते परमप्प णवेवि** तान्परमात्मनः कर्मतापन्नान्नत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदायकथनं संपिण्डितार्थनिरूपणमुपोद्धातः संग्रहवाक्यं वार्तिकमिति यावत्। इतो विशेषः। तद्यथा—ये जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरण-

---

जोइय सव्वगउ ' इत्यादि तेतालीस दोहा पर्यंत विशेष वर्णन और 'अप्पा संजमु' इत्यादि इकतीस दोहा पर्यंत चूलिका व्याख्यान है। इस तरह अंतर अधिकारों सहित 'पहला महाधिकार कहा। इसके बाद मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्गके स्वरूपके कथनकी मुख्यताकर क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा पर्यंत दूसरा महाधिकार है। उसमें 'सिरि गुरु' इत्यादि तीस दोहा पर्यंत पीठिकाव्याख्यान, 'जो भत्तउ' इत्यादि छत्तीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन और 'सुद्धह संजमु' इत्यादि एकतालीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन है, उसके बाद 'उक्तं च' को छोड़कर एकसौ सात दोहा पर्यंत अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर चूलिका व्याख्यान है। इस तरह **दूसरी पातनिका** जाननी चाहिये।

अब प्रथम पातनिकाके अभिप्रायसे व्याख्यान किया जाता है, उसमें ग्रंथकर्ता **श्रीयोगीन्द्राचार्य** ग्रंथके आदिमें मंगलके लिये इष्टदेवता श्रीभगवानको नमस्कार करते हुए एक दोहा छंद कहते हैं—[ **ये** ] जो भगवान् [ **ध्यानाग्निना** ] ध्यानरूपी अग्निसे [ **कर्मकलङ्कानि** ] पहले कर्मरूपी मैलोंको [ **दग्ध्वा** ] भस्म करके [ **नित्य-**

प्रभावत्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनसमर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्यसमयसाररूपपरिणताः । कया नयविवक्षया जाताः । सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तरूपतया धातुपाषाणे सुवर्णपर्यायपरिणतिव्यक्तिवत् । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये—पर्यायार्थिकनयेन "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो", द्रव्यार्थिकनयेन पुनः शक्त्यपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभावस्तिष्ठति धातुपाषाणे सुवर्णशक्तिवत् । तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहे—शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः । केन जाताः । ध्यानाग्निना करणभूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्पशुक्लध्यानं, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्परूपातीतध्यानम् ।तथा चोक्तम्—"पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥" तच्च ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादरूपमिति ज्ञातव्यम् । किं कृत्वा जाताः । कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममलशब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते । पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावकर्माणि । द्रव्यकर्मदहनमुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन, भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन, शुद्धनिश्चयेन,

---

**निरञ्जनज्ञानमयाः जाताः** ] नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, [ **तान्** ] उन [ **परमात्मनः** ] सिद्धोंको [ **नत्वा** ] नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूँ । यह संक्षेप व्याख्यान किया । इसके बाद **विशेष व्याख्यान** करते हैं—जैसे मेघ-पटलसे बाहर निकली हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रबल होती है, उसी तरह कर्मरूप मेघ-समूहके विलय होनेपर अत्यंत निर्मल केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतास्वरूप परमात्मा परिणत हुए हैं । अनंतचतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, ये अनंतचतुष्टय सब प्रकार अंगीकार करने योग्य हैं, तथा लोकालोकके प्रकाशनेको समर्थ हैं । जब सिद्धपरमेष्ठी अनंतचतुष्टयरूप परिणमे, तब कार्य-समयसार हुए । अंतरात्म अवस्थामें कारण-समयसार थे । जब कार्य-समयसार हुए तब सिद्धपर्याय परिणतिकी प्रगटतारूपकर शुद्ध परमात्मा हुए । जैसे सोना अन्य धातुके मिलापसे रहित हुआ, अपने सोलहवानरूप प्रगट होता है, उसी तरह कर्म-कलंक रहित सिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा **पंचास्तिकाय** ग्रंथमें भी कहा है—जो पर्यायार्थिकनयकर 'अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो' अर्थात् जो पहले सिद्धपर्याय कभी नहीं पाई थी, वह कर्म-कलंकके विनाशसे पाई । यह पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे कथन है, और द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा यह जीव सदा ही शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव तिष्ठता है । जैसे धातु पाषाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है, क्योंकि सुवर्ण-शक्ति सुवर्णमें सदा ही रहती है, जब परवस्तुका संयोग दूर हो जाता है, तब वह

वन्धमोक्षौ न स्तः इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कथंभूता जाताः । नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिकैकान्तवादिसौगतमतानुसारिशिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतम् । अथ कल्पशते गते जगत् शून्यं भवति पश्चात्सदाशिवे जगत्करणविषये चिन्ता भवति तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनसंयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति नैयायिका वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतम् । मुक्तात्मनां सुप्तावस्थाद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्या वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्थंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकसंवन्धः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ग्राह्यसद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति, शुद्धनिश्चयनयेन वन्द्यवन्दकभावो नास्तीति । एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः, बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः । अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमा-

व्यक्तिरूप होता है। सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था, लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पानेसे हुआ। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही हैं। ऐसा ही **द्रव्यसंग्रह** में कहा हैं, 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्तिरूप शुद्ध हैं और पर्यायार्थिकनयसे व्यक्तिकर शुद्ध हुए। किस कारणसे? ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्निकर कर्मरूपी कलंकोंको भस्म किया, तब सिद्ध परमात्मा हुए। वह ध्यान कौनसा है? आगमकी अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्मकी अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है। तथा दूसरी जगह भी कहा है— "पदस्थं" इत्यादि, उसका अर्थ यह है, कि णमोकारमंत्र आदिका जो ध्यान है, वह **पदस्थ** कहलाता है, पिंड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है, उसका चिंतवन वह **पिंडस्थ** है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहंतदेव उनका ध्यान वह **रूपस्थ** है, और निरंजन (सिद्धभगवान्) का ध्यान **रूपातीत** कहा जाता है। वस्तुके स्वभावसे विचारा जावे, तो शुद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयरूप जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसी भाव सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है, ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिये। इसी ध्यानके प्रभावसे कर्मरूपी मैल वही हुआ कलंक, उनको भस्मकर सिद्ध हुए। कर्म-कलंक अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म वे द्रव्यकर्म हैं, और रागादिक संकल्प-विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहे जाते हैं। यहाँ भावकर्मका दहन

त्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमयनिरुपमज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह, इत्यनेन क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—

**ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत ।**
**सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥ २ ॥**

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येऽपि अनन्ताः ।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधिं भजन्तः ॥ २ ॥

**ते वंदउं** तान् वन्दे । तान् कान् । **सिरिसिद्धगण** श्रीसिद्धगणान् । ये किं करिष्यन्ति । **होसहिं जे वि अणंत** भविष्यन्त्यग्रे येऽप्यनन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति । **सिवमयणिरुवमणाणमय** शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति । **परमसमाहि भजंत** रागादिविकल्परहितसमाधिं भजन्तः सेवमानाः । इतो विशेषः । तथाहि—तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभबोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिका-

---

अशुद्ध निश्चयनयकर हुआ, तथा द्रव्यकर्मका दहन असद्भूत अनुपचरितव्यवहारनयकर हुआ और शुद्ध निश्चयकर तो जीवके बंध मोक्ष दोनों ही नहीं हैं । इस प्रकार कर्मरूपमलोंको भस्मकर जो भगवान् हुए, वे कैसे हैं ? वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी नित्य निरंजन ज्ञानमई हैं । यहाँपर नित्य जो विशेषण किया है, वह एकान्तवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नहीं मानता क्षणिक मानता है, उसके समझानेके लिये है। द्रव्यार्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है, टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकीकासा घड्या सुघट ज्ञायक एकस्वभाव परम द्रव्य है । ऐसा निश्चय करानेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है । इसके बाद निरंजनपनेका कथन करते हैं । जो नैयायिकमती हैं वे ऐसा कहते हैं " सौ कल्पकाल चले जानेपर जगत् शून्य हो जाता है और सब जीव उस समय मुक्त होजाते हैं तब सदाशिवको जगत्के करनेकी चिंता होती है । उसके बाद जो मुक्त हुए थे, उन सबके कर्मरूप अंजनका संयोग करके संसारमें पुनः डाल देता है ", ऐसी नैयायिकोंके श्रद्धा है । उनके सम्बोधनेके लिये निरंजनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म—द्रव्यकर्म—नोकर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नहीं होता । इसी लिये सिद्धोंको निरंजन ऐसा विशेषण कहा है । अब सांख्यमती कहते हैं— " जैसे सोनेकी अवस्थामें सोते हुए पुरुषको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मुक्तजीवोंको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है । " ऐसे जो सिद्धदशामें ज्ञानका अभाव मानते हैं, उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत् तीनकालवर्ती सब पदार्थोंका एक समयमें ही

दयः। किंविशिष्टा भविष्यन्ति । शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखं ग्राह्यं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं ग्राह्यं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं ग्राह्यम् । किं कुर्वाणाः सन्त इत्थंभूता भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकषायादिरूपसमस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धात्मभावनोत्थसहजानन्दैकरूपसुखामृतविपरीतनरकादिदुःखरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसारसमुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्तः सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः। अत्र शिवमय-निरुपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः॥ २ ॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि—

**ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिँ जे वि हवंत ।**
**परम-समाहि-महग्गियए कम्मिंधणइँ हुणंत ॥ ३ ॥**

तान् अहं वन्दे सिद्धगणान् तिष्ठन्ति येऽपि भवन्तः।
परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि जुह्वन्तः ॥ ३ ॥

---

जानना है, अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोकके जाननेकी शक्ति है, ऐसे ज्ञायकतारूप केवलज्ञानके स्थापन करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया। वे भगवान् नित्य हैं, निरंजन हैं, और ज्ञानमय हैं, ऐसे सिद्धपरमात्माओंको नमस्कार करके ग्रंथका व्याख्यान करता हूँ। यह नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनंत गुणस्मरणरूप भावनमस्कार कहा जाता है। यह द्रव्य-भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधक-दशामें कहा है, शुद्ध-निश्चयनयकर वंद्य-वंदक भाव नहीं है। ऐसे पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभाग-रूप कथनकर नयार्थ भी कहा, तथा बौद्ध, नैयायिक, सांख्यादि मतके कथन करनेसे मतार्थ कहा, इस प्रकार अनंतगुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं, यह सिद्धांतका अर्थ प्रसिद्ध ही है, और निरंजन ज्ञानमई परमात्माद्रव्य आदरने योग्य है, उपादेय है, यह भावार्थ है, इसी तरह शब्द नय, मत, आगम, भावार्थ व्याख्यानके अवसरपर सब जगह जान लेना। ॥ १ ॥ अब संसार-समुद्रके तरनेका उपाय जो वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप जहाज है, उसपर चढ़के जो आगामी कालमें कल्याणमय अनुपम ज्ञानमई होंगे, उनको मैं नमस्कार करता हूँ—[ 'अहं' ] मैं [ तान् ] उन [ सिद्धगणान् ] सिद्ध-समूहोंको [ वन्दे ] नमस्कार करता हूँ; [ येऽपि ] जो [ अनन्ताः ] आगामीकालमें अनंत [ भविष्यन्ति ] होंगे। कैसे होंगे? [ शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः ] परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे। क्या करते हुए? [ परमसमाधिं ] रागादि विकल्प रहित जो परमसमाधि उसको [ भजन्तः ] सेवते हुए। अब विशेष कहते हैं— जो सिद्ध होवेंगे, उनको मैं वन्दता हूँ। कैसे होंगे, आगामी कालमें सिद्ध, केवल-

ते हउं वंदउं सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे। ये कथंभूताः। अत्थ (च्छ) हिं जे वि हवंत इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः सन्तः। किं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति। परमसमाहिमहग्गियए कम्मिंधणइं हुणंत परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनानि होमयन्तः। अतो विशेषः। तद्यथा–तान् सिद्धसमूहानहं वन्दे वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिकसिद्धभक्त्या नमस्करोमि। ये किंविशिष्टाः। इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति श्रीसीमन्धरस्वामिप्रभृतयः। किं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति। वीतरागपरमसामायिकभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिवैश्वानरे कर्मेन्धनाहुतिभिः कृत्वा होमं कुर्वन्त इति। अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वान्निर्विकल्पसमाधिरेवोपादेय इति भावार्थः॥ ३॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संबन्धादनुज्ञानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे—

**ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति।**
**णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति॥ ४॥**

---

ज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों सहित अनंत होंगे। क्या करके सिद्ध होंगे? वीतराग सर्वज्ञदेवकर प्ररूपित मार्गकर दुर्लभ ज्ञानको पाके राजा **श्रेणिक** आदिकके जीव सिद्ध होंगे। पुनः कैसे होंगे? शिव अर्थात् निज शुद्धात्माकी भावना, उसकर उपजा जो वीतराग परमानंद सुख, उस स्वरूप होंगे, समस्त उपमा रहित अनुपम होंगे, और केवलज्ञानमई होंगे। क्या करते हुए ऐसे होंगे? निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मा है, उसके यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अमोलिक रत्नत्रयकर पूर्ण और मिथ्यात्व विषय कषायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो सहजानंदरूप सुखामृत, उससे विपरीत जो नारकादि दुःख वे ही हुए क्षारजल, उनकर पूर्ण इस संसाररूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परमसमाधिरूप जहाज उसको सेवते हुए, उसके आधारसे चलते हुए, अनंत सिद्ध होंगे। इस व्याख्यानका यह भावार्थ हुआ, कि जो शिवमय अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है॥ २॥ आगे परमसमाधिरूप अग्निसे कर्मरूप ईंधनका होम करते हुए वर्तमानकालमें महाविदेहक्षेत्रमें सीमंधरस्वामी आदि तिष्ठते हैं, उनको नमस्कार करता हूँ—[ **अहं** ] मैं [ **तान्** ] उन [ **सिद्धगणान्** ] सिद्ध समूहोंको [ **वन्दे** ] नमस्कार करता हूँ [ **येऽपि** ] जो [ **भवन्तः तिष्ठन्ति** ] वर्तमान समयमें विराज रहे हैं। क्या करते हुए? [ **परमसमाधिमहाग्निना** ] परम समाधिरूप महा अग्निकर [ **कर्मेन्धनानि** ] कर्मरूप ईंधनको [ **जुह्वन्तः** ] भस्म करते हुए। अत्र विशेष व्याख्यान है—

तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान् ये निर्वाणे वसन्ति ।
ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ॥ ४ ॥

**ते पुणु वंदउं सिद्धगण** तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । किंविशिष्टान् । **जे णिव्वाणि वसंति** ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये । **णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति** ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति । अत ऊर्ध्वं विशेषः । तथाहि—तान् पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थंकरपरमदेवभरतराघवपाण्डवादयः पूर्वकाले वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मक्षयं कृत्वेदानीं निर्वाणे तिष्ठन्ति सदापि न संशयः । तानपि कथंभूतान् । लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानस्वसंवेदनत्रिभुवनगुरून् । त्रैलोक्यालोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयकेवलज्ञानप्रकाशेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः ततस्तन्निर्वाणपदमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठन्तीति कथयति—

**ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।**
**लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ॥ ५ ॥**

---

उन सिद्धोंको मैं वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं वे ? अब वर्तमान समयमें पंच महाविदेहक्षेत्रोंमें श्रीमंधरस्वामी आदि विराजमान हैं । क्या करते हुए ? वीतराग परमसामायिकचारित्रकी भावनाकर संयुक्त जो निर्दोष परमात्माका यथार्थ श्रद्धान—ज्ञान—आचरणरूप अभेद रत्नत्रय उस मई निर्विकल्पसमाधिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईंधनको होम करते हुए तिष्ट रहे हैं । इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी प्राप्तिका उपायभूत निर्विकल्प समाधि उपादेय ( आदरने योग्य ) है, यह भावार्थ हुआ ॥ ३ ॥ आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाके सम्यग्ज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाणमें वस रहे हैं, उनको मैं वन्दता हूँ—[ **पुनः** ] फिर [ **‘ अहं ’** ] मैं [ **तान्** ] उन [ **सिद्धगणान्** ] सिद्धोंको [ **वन्दे** ] वंदता हूँ. [ **ये** ] जो [ **निर्वाणे** ] मोक्षमें [ **वसन्ति** ] तिष्ट रहे हैं । कैसे हैं, वे [ **ज्ञानेन** ] ज्ञानसे [ **त्रिभुवने गुरुका अपि** ] तीनलोकमें गुरु हैं, तो भी [ **भवसागरे** ] संसार-समुद्रमें [ **न पतन्ति** ] नहीं पड़ते हैं । **भावार्थ**—जो भारी होता है, वह गुरुतर होता है, और जलमें डूब जाता है, वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु हैं, परंतु भव-सागरमें नहीं पड़ते हैं । उन सिद्धोंको मैं वंदता हूँ, जो तीर्थंकर परमदेव, तथा भरत, सगर, राघव, पांडवादिक पूर्वकालमें वीतराग-निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाके, कर्मोंका क्षयकर, परमसमाधानरूप निर्वाण-पदमें विराज रहे हैं । उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥ ४ ॥

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।
लोकालोकमपि सकलं इह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः ॥ ५ ॥

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान्। जे अप्पाणि वसंत लोयालोउ वि सयलु इहु अत्थ ( च्छ ) हिं विमलु णियंत ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं सततस्वरूपपदार्थं निश्चयन्त इति । इदानीं विशेषः। तद्यथा—तान् पुनरहं वन्दे सिद्धगणान् सिद्धसमूहान् वन्दे कर्मक्षयनिमित्तम् । पुनरपि कथंभूतं सिद्धस्वरूपम् । चैतन्यानन्दस्वभावं लोकालोकव्यापिसूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । निश्चय एकीभूतव्यवहाराभावे स्वात्मनि अपि च सुखदुःखभावाभावयोरेकीकृत्य स्वसंवेद्यस्वरूपे स्वयत्ने तिष्ठन्ति । उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति, आत्मस्वरूपकैवल्यज्ञानोपशमं यथा पुरुपार्थपदार्थदृष्टो भवति तेषां वाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानमेव जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुखदुःखपरिज्ञाने सुखदुःखानुभवः प्राप्नोति, परकीयरागद्वेषहेतुपरिज्ञाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महद्दूषणम् । अत्र यत् निश्चयेन स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ५ ॥

---

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए मोक्षमें तिष्ठ रहे हैं, लोकके शिखर ऊपर विराजते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।—[ 'अहं' ] मैं [ **पुनः** ] फिर [ **तान्** ] उन [ **सिद्धगणान्** ] सिद्धोंके समूहको [ **वन्दे** ] वंदता हूँ [ **ये** ] जो [ **आत्मनि वसन्तः** ] निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए व्यवहारनयकर [ **सकलं** ] समस्त [ **लोकालोकं** ] लोक अलोकको [ **विमलं** ] संशय रहित [ **पश्यन्तः** ] प्रत्यक्ष देखते हुए [ **तिष्ठन्ति** ] ठहर रहे हैं। **विशेष**—मैं कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर उन सिद्धोंको नमस्कार करता हूँ, जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित हैं, और व्यवहारनयकर सब लोकालोकको निःसंदेहपनेसे प्रत्यक्ष देखते हैं, परंतु पदार्थोंमें तन्मयी नहीं हैं, अपने स्वरूपमें तन्मयी हैं। जो परपदार्थोंमें तन्मयी हो, तो परके सुख दुःखसे आप सुखी दुःखी होवे, ऐसा उनमें कदाचित् नहीं है। व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं, किसी पदार्थसे राग द्वेष नहीं है। यदि रागके हेतुसे किसीको जाने, तो वे राग द्वेषमयी होवें, यह बड़ा दूषण हैं, इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें निवास करते हैं परमें नहीं, और अपनी ज्ञायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते हैं जानते हैं। जो निश्चयकर अपने स्वरूपमें निवास कहा, इसलिये वह अपना स्वरूप ही आराधने योग्य है, यह भावार्थ हुआ ॥ ५ ॥ आगे निरंजन, निराकार, निःशरीर सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार करता हूँ—[ **केवलदर्शनज्ञानमयाः** ] जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी हैं, [ **केवलसुखस्वभावाः** ] तथा जिनका केवलसुख ही स्वभाव है और [ **यैः** ] जिन्होंने

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वेदानीं तस्य सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च प्रतिपादकं सकलात्मानं नमस्करोमि—

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्ख-सहाव ।
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिँ पयासिय भाव ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयान् केवलसुखस्वभावान् ।
जिनवरान् वन्दे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं वन्दे । कया । भक्त्या । यैः किं कृतम् । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभशत्रुमित्रसमानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिनोपदेशं लब्ध्वा पश्चादनन्तचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतम् । यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपलाभात्मको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वन्दे । अत्रार्हद्गुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथानन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्नमस्करोमि—

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥ ७ ॥

ये परमात्मानं पश्यन्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।
परमानन्दस्य कारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥ ७ ॥

---

[ **भावाः** ] जीवादिक सकल पदार्थ [ **प्रकाशिताः** ] प्रकाशित किये, उनको मैं [ **भक्त्या** ] भक्तिसे [ **वंदे** ] नमस्कार करता हूँ । **विशेष**—केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है, उसके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव, इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय वह जिनका स्वभाव है, और सुख-दुःख, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, सबमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनंतचतुष्टयरूप हुए, तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वही केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया, उनको मैं नमस्कार करता हूँ । इस व्याख्यानमें अरहंतदेवके केवलज्ञानादि गुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है, वही आराधने योग्य है, यह भावार्थ जानना ॥ ६ ॥

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः। किं कृत्वा पूर्वम्। परमसमाहि धरेवि रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा। केन कारणेन। परमाणंदह कारणिण निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्दपरमसमरसीभावसुखरसास्वादनिमित्ते न तिण्णि वि ते वि णवेवि त्रीनप्याचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः। अतो विशेषः। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं तथैवाशुद्धनिश्चयसंबन्धः मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धाशुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपसमयसारशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति। चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयविपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः, तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति निश्चयपञ्चाचाराः। निःशङ्काद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्रा-

---

आगे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ—[ ये मुनयः ] जो मुनि [ परमसमाधिं ] परमसमाधिको [ धृत्वा ] धारण करके सम्यग्ज्ञानकर [ परमात्मानं ] परमात्माको [ पश्यन्ति ] देखते हैं। किस लिए [ परमानंदस्य कारणेन ] रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके रसका अनुभव करनेके लिये [ तान् अपि ] उन [ त्रीन् अपि ] तीनों आचार्य, उपाध्याय, साधुओंको भी [ नत्वा ] मैं नमस्कार करके परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूँ। विशेष—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है, इसीसे अनादि संबंध है, परंतु असद्भूत ( मिथ्या ) है, ऐसा व्यवहारनयकर द्रव्यकर्म, नोकर्मका संबंध होता है, उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनयकर रागादिकका संबंध है, उससे तथा मतिज्ञानादि विभावगुणके संबंधसे रहित और नर नारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायोंसे रहित ऐसा जो चिदानंदचिद्रूप एक अखंडस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है। उसीको परमार्थरूप समयसार कहना चाहिये। वही सब प्रकार आराधने योग्य है। उससे जुदी जो परवस्तु है वह सब त्याज्य है। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है और उसी निजस्वरूपमें संशय-

चारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचार इति । अयं तु व्यवहारपञ्चाचारः पारंपर्येण साधक इति । विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्‌श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतराग-निर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरन्त्यन्यानाचारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे । पञ्चास्तिकायषट्‌द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीव-तत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्माच्चान्यद्धेयं कथयन्ति, शुद्धात्म-स्वभावसम्यक्‌श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षमार्गं च ये कथयन्ति ते भवन्त्युपाध्यायास्तानहं वन्दे । शुद्धबुद्धैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्‌श्रद्धानज्ञानानु-चरणतपश्चरणरूपाभेदचतुर्विधनिश्चयाराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये साध-यन्ति ते भवन्ति साधवस्तानहं वन्दे । अत्रायमेव ते समाचरन्ति कथयन्ति साधयन्ति च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं तमेवोपादेयभूतस्य स्वशुद्धात्मतत्त्वस्य साधकत्वादुपादेयं जानीहीति भावार्थः ॥ ७ ॥ इति प्रभाकरभट्टस्य पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारकरणमुख्यत्वेन प्रथममहाधिकारमध्ये दोहकसूत्रसप्तकं गतम् ।

---

विमोह–विभ्रम–रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूप ग्राहकबुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उसरूप परिणमन वह **ज्ञानाचार** है, उसी शुद्ध स्वरूपमें शुभ-अशुभ समस्त संकल्प–विकल्प रहित जो नित्यानंदमय निजरसका आस्वाद, निश्चल अनुभव, वह सम्यक्‌चारित्र है, उसका जो आचरण, उसरूप परिणमन, वह **चारित्राचार** है, उसी परमा-नंद स्वरूपमें परद्रव्यकी इच्छाका निरोधकर सहज आनंदरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन वह **तपश्चरणाचार** है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी शक्तिको प्रगटकर आचरण परिण-मन वह **वीर्याचार** है । यह निश्चय पंचाचारका लक्षण कहा । अब व्यवहारका लक्षण कहते हैं—–निःशंकितको आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्यदर्शनाचार, शब्द शुद्ध, अर्थ शुद्ध आदि अष्ट प्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारह तपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगटकर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहारवीर्याचार है । यह व्यवहार पंचाचार परम्पराय मोक्षका कारण है, और निर्मल ज्ञान–दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्यकी इच्छाका निरोध और निजशक्तिका प्रगट करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्तिका कारण है । ऐसे निश्चय व्यवहाररूप पंचाचारोंको आप आचरें और दूसरोंको आचरवावें ऐसे आचार्योंको मैं वंदता हूँ । पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नवपदार्थ हैं, उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निजशुद्ध जीवद्रव्य, निज शुद्ध जीवतत्त्व, निज शुद्ध जीवपदार्थ, जो आप शुद्धात्मा है, वही उपादेय ( ग्रहणकरने योग्य ) है, अन्य सब त्यागने

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञापयति—

**भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ।**
**भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ॥ ८॥**

भावेन प्रणम्य पञ्चगुरून् श्रीयोगीन्दुजिनः।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम्॥ ८॥

**भाविं पणविवि पंचगुरु** भावेन भावशुद्ध्या प्रणम्य। कान्। पञ्चगुरून्। पश्चात्किं कृतम्। **सिरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ** श्रीयोगीन्द्रदेवनामा भगवान् प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति। अत्र **प्रभाकरभट्टः** शुद्धात्मतत्त्वपरिज्ञानार्थं **श्रीयोगीन्द्रदेवं** भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवानित्यर्थः॥ ८॥

तद्यथा—

**गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु।**
**पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु॥ ९॥**

---

योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं, तथा शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, वही निश्चयमोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं, ऐसे उपाध्यायोंको मैं नमस्कार करता हूँ, और शुद्धज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वकी आराधनारूप वीतराग निर्विकल्प समाधिको जो साधते हैं, उन साधुओंको मैं वंदता हूँ। वीतराग निर्विकल्प समाधिको जो आचरते हैं, कहते हैं, साधते हैं वे ही साधु हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ये ही पंचपरमेष्ठी वंदने योग्य हैं, ऐसा भावार्थ है॥ ७॥ ऐसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेकी मुख्यतासे श्रीयोगींद्राचार्यने परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारमें प्रथमस्थलमें सात दोहोंसे **प्रभाकरभट्ट** नामक अपने शिष्यको पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका उपदेश दिया। इति पीठिका।

अब प्रभाकरभट्ट पूर्वरीतिसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कारकर और श्रीयोगीन्द्रदेव गुरुको नमस्कारकर श्रीगुरुसे विनती करता है—[**भावेन**] भावोंकी शुद्धताकर [**पञ्चगुरून्**] पंच परमेष्ठियोंको [**प्रणम्य**] नमस्कारकर [**भट्टप्रभाकरेण**] प्रभाकरभट्ट [**भावं विमलं कृत्वा**] अपने परिणामोंको निर्मल करके [**श्रीयोगीन्द्रजिनः**] श्रीयोगीन्द्रदेवसे [**विज्ञापितः**] शुद्धात्मतत्त्वके जाननेके लिये महाभक्तिकर विनती करते हैं॥ ८॥

---

१. वे पाँचों परमेष्ठी भी जिस वीतरागनिर्विकल्पसमाधिको आचरते हैं, कहते हैं और साधते हैं, तथा जो उपादेयरूप निजशुद्धात्मतत्त्वकी साधनेवाली है, ऐसी निर्विकल्प समाधिको ही उपादेय जानो। (यह अर्थ संस्कृतके अनुसार किया गया है।)

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनन्तः ।
परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥ ९ ॥

**गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु** गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोऽसौ । कालः । कियान् । अनन्तः । **पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु** परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावरूप-सुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातिजरा-मरणरूपेण मकरादिजलचरसमूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीत-नानामानसादिदुःखरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यन्तरे वीतरागनिर्विकल्पसमाधि-विपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कल्लोलमालासमूहेन विराजिते संसारसागरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन्ननन्तकालो गतः । कस्मात् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्त-मनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धान-संयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरया दुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लब्धे-ष्वपि तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणस्य वीतरागनिर्वि-कल्पसमाधिदुर्लभत्वात् । तदपि कथम् । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रा-

---

वह विनती इस तरह है—[ **हे स्वामिन्** ] हे स्वामी, [ **संसारे वसतां** ] इस संसारमें रहते हुए हमारा [ **अनंतः कालः गतः** ] अनंतकाल वीत गया, [ **परं** ] लेकिन [ **मया** ] मैंने ( **किमपि सुखं** ) कुछ भी सुख [ **न प्राप्तं** ] नहीं पाया, उल्टा [ **महत् दुःखं एव प्राप्तं** ] महान् दुःख ही पाया है । यहाँसे विशेष ।—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरसीभाव है, उस रूप जो आनंदामृत उससे विपरीत नरकादि-दुःखरूप क्षार ( खारी ) जलसे पूर्ण ( भरा हुआ ), अजर अमर पदसे उल्टा जन्म जरा ( बुढ़ापा ) मरणरूपी जलचरोंके समूहसे भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप निश्चय सुखसे विपरीत, अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी वड़वानलकी शिखाकर प्रज्वलित, वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर रहित, महान संकल्प विकल्पोंके जालरूपी कल्लोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी! अनंतकाल वीत गया । इस संसारमें एकेंद्रीसे दोइंद्री, तेइंद्री, चौइंद्री स्वरूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ ( कठिन ) है, विकलत्रयसे पंचेंद्री, सैनी, छह पर्याप्तियोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यंत दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तम कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण पाना कठिन है, उसमें भी सुंदर रूप, समस्त पाँचों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, शरीर नीरोग, जैनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है ।

णामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति बोधिसमाधिलक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तम्–" इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥ " परं किंतु बोधिसमाध्यभावे पूर्वोक्तसंसारे भ्रमतापि मया शुद्धात्मसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखामृतं किमपि न प्राप्तं किंतु तद्विपरीतमाकुलत्वोत्पादकं विविधशारीरमानसरूपं चतुर्गतिभ्रमणसंभवं दुःखमेव प्राप्तमिति । अत्र यस्य वीतरागपरमानन्दसुखस्यालाभे भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ९ ॥

अथ यस्यैव परमात्मस्वभावस्यालाभेऽनादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति–

**चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ ।**
**चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥ १० ॥**

चतुर्गतिदुःखैः तप्तानां यः परमात्मा कश्चित् ।
चतुर्गतिदुःखविनाशकरः कथय प्रसादेन तमपि ॥ १० ॥

---

कभी इतनी वस्तुओंकी भी प्राप्ति हो जावे, तो भी श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ धर्म-श्रवण, धर्मका ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषय-सुखोंसे निवृत्ति, क्रोधादि कषायोंका अभाव होना अत्यंत दुर्लभ है और इन सबोंसे उत्कृष्ट शुद्धात्म भावनारूप वीतरागनिर्विकल्प समाधिका होना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उस समाधिके शत्रु जो मिथ्यात्व, विषय, कषाय, आदिक विभाव परिणाम हैं, उनकी प्रबलता है । इसी लिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही **बोधि** है, उस बोधिका जो निर्विघ्नपनेसे धारण वही **समाधि** है । इस तरह बोधि समाधिका लक्षण सब जगह जानना चाहिये । इस बोधि समाधिका मुझमें अभाव है, इसी लिये संसार-समुद्रमें भटकते हुए मैंने वीतराग परमानंद सुख नहीं पाया, किंतु उस सुखसे विपरीत ( उल्टा ) आकुलताके उत्पन्न करनेवाला नाना प्रकारका शरीरका तथा मनका दुःख ही चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए पाया । इस संसार-सागरमें भ्रमण करते मनुष्य-देह आदिका पाना बहुत दुर्लभ है, परंतु उसको पाकर कभी प्रमादी ( आलसी ) नहीं होना चाहिये । जो प्रमादी हो जाते हैं, वे संसाररूपी वनमें अनंतकाल भटकते हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है—" इत्यतिदुर्लभरूपां " इत्यादि । इसका अभिप्राय ऐसा है, कि यह महान् दुर्लभ जो जैनशास्त्रका ज्ञान है, उसको पाके जो जीव प्रमादी होजाता है, वह रंक पुरुष बहुत कालतक संसाररूपी भयानक वनमें भटकता है । सारांश यह हुआ, कि वीतराग परमानंद सुखके न मिलनेसे यह जीव संसाररूपी वनमें भटक रहा है, इसलिये वीतराग परमानंदसुख ही आदर करने योग्य है ॥ ९ ॥

आगे जिस परमात्म-स्वभावके अलाभमें यह जीव अनादि कालसे भटक रहा था, उसी

**चउगइदुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ** चतुर्गतिदुःखतप्तानां जीवानां यः कश्चिच्चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । **चउगइदुक्खविणासयरु** आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञारूपादिसमस्तविभावरहितानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन परमात्मोत्थसहजानन्दैकसुखामृतसंतुष्टानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः **कहहु पसाएं सो वि** हे भगवन् तमेव परमात्मानं महाप्रसादेन कथयेति । अत्र योऽसौ परमसमाधिरतानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये प्रभाकरभट्टविज्ञप्तिकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्रत्रयं गतम् ।

अथ प्रभाकरभट्टविज्ञापनानन्तरं श्रीयोगीन्द्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति—

**पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावेँ चित्ति धरेवि ।**
**भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि (विँ ?)॥ ११ ॥**

पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा ।
भट्टप्रभाकर निश्रृणु त्वं आत्मानं त्रिविधं कथयामि ॥ ११ ॥

**पुणु पुणु पणविवि पंचगुरु भावेँ चित्ति धरेवि** पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरूनहम् । किं कृत्वा । भावेन भक्तिपरिणामेन मनसि धृत्वा पश्चात् **भट्टपहायर णिसुणि तुहुं अप्पा तिविहु कहेवि** हे प्रभाकरभट्ट ! निश्चयेन शृणु त्वं त्रिविध-

---

परमात्मस्वभावका व्याख्यान **प्रभाकरभट्ट** सुनना चाहता है—[ **चतुर्गतिदुःखैः** ] देवगति, मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगतियोंके दुःखोंसे [ **तप्तानां** ] तप्तायमान (दुःखी) संसारी जीवोंके [ **चतुर्गतिदुःखविनाशकरः** ] चार गतियोंके दुःखोंका विनाश करनेवाला [ **यः कश्चित्** ] जो कोई [ **परमात्मा** ] चिदानंद परमात्मा है, [ **तमपि** ] उसको [ **प्रसादेन** ] कृपा करके [ **कथय** ] हे श्रीगुरू; तुम कहो । **भावार्थ**—वह चिदानंद शुद्ध स्वभाव परमात्मा, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहके भेदरूप संज्ञाओंको आदि लेके समस्त विभावोंसे रहित, तथा वीतराग निर्विकल्पसमाधिके बलसे निज स्वभावकर उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतकर संतुष्ट हुआ है हृदय जिनका, ऐसे निकट संसारी-जीवोंके चतुर्गतिका भ्रमण दूर करनेवाला है, जन्म जरा मरणरूप दुःखका नाशक है, तथा वह परमात्मा निज स्वरूप परमसमाधिमें लीन महामुनियोंको निर्वाणका देनेवाला है, वही सब तरह ध्यान करने योग्य है, सो ऐसे परमात्माका स्वरूप तुम्हारे प्रसादसे मैं सुनना चाहता हूँ । इसलिये कृपाकर आप कहो । इस प्रकार प्रभाकरभट्टने श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती की ॥ १० ॥ इन कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे हुए । आगे प्रभाकरभट्टकी विनती सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेव तीन प्रकारके आत्माका स्वरूप कहते हैं—[ **पुनः पुनः** ] बारम्बार [ **पञ्चगुरून्** ] पंचपरमेष्ठियोंको [ **प्रणम्य** ] नमस्कारकर और [ **भावेन** ] निर्मल भावोंकर [ **चित्ते** ] मनमें [ **धृत्वा** ] धारण करके [ 'अहं' ] मैं [ **त्रिविधं** ] तीन प्रकारके [ **आत्मानं** ] आत्माको [ **कथयामि** ]

मात्मानं कथयाम्यहमिति । बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्टो हे प्रभाकरभट्ट तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुधारसपिपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखभयभीता भव्यवरपुण्डरीका भरत–सगर–राम–पाण्डव–श्रेणिकादयोऽपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां समवसरणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमाङ्गाः सन्तः सर्वागमप्रश्नानन्तरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः॥ ११ ॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा बहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावय त्वमिति प्रतिपादयति—

**अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।**
**मुणि सण्णाणेँ णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥ १२ ॥**

---

कहता हूँ, सो [ हे प्रभाकर भट्ट ] हे प्रभाकरभट्ट; [ त्वं ] तू [ निशृणु ] निश्चयसे सुन । **भावार्थ**—बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माके भेदकर आत्मा तीन तरहका है, सो हे प्रभाकरभट्ट; जैसे तूने मुझसे पूछा है, उसी तरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ट भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचंद्र, बलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक वगैरः बड़े बड़े राजा, जिनके भक्ति-भारकर नम्रीभूत मस्तक होगये हैं, महा विनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आके, वीतराग सर्वज्ञ परमदेवसे सर्व आगमका प्रश्नकर, उसके बाद सब तरहसे ध्यान करने योग्य शुद्धात्माका ही स्वरूप पूछते थे । उसके उत्तरमें भगवान्ने यही कहा, कि आत्म-ज्ञानके समान दूसरा कोई सार नहीं है । भरतादि बड़े बड़े श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्त्तीने श्रीऋषभदेव भगवान्से पूछा, सगरचक्रवर्त्तीने श्रीअजितनाथसे, रामचंद्र बलभद्रने देशभूषण कुलभूषण केवलीसे तथा सकलभूषण केवलीसे, पांडवोंने श्रीनेमिनाथभगवान्से और राजा श्रेणिकने श्रीमहावीरस्वामीसे पूछा । कैसे हैं ये श्रोता जिनको निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयकी भावना प्रिय है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृत-रसके प्यासे हैं, और वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी अमृत उससे विपरीत जो नारकादि चारों गतियोंके दुःख, उनसे भयभीत हैं । जिस तरह इन भव्य जीवोंने भगवंतसे पूछा, और भगवंतने तीन प्रकार आत्माका स्वरूप कहा, वैसा ही मैं जिनवाणीके अनुसार तुझे कहता हूँ । सारांश यह हुआ, कि तीन प्रकार आत्माके स्वरूपमेंसे शुद्धात्म स्वरूप जो निज परमात्मा वही ग्रहण करने योग्य है । जो मोक्षका मूलकारण रत्नत्रय कहा है, वह मैंने निश्चय-व्यवहार दोनों तरहसे कहा है, उसमें अपने स्वरूपका श्रद्धान, स्वरूपका ज्ञान, और स्वरूपका ही आचरण यह तो निश्चयरत्नत्रय है, इसीका दूसरा नाम अभेद भी है, और देव गुरू धर्मकी श्रद्धा, नवतत्त्वोंकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान तथा संयम भाव ये व्यवहार-

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुञ्च भावम् ।
मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यः परमात्मस्वभावः ॥ १२ ॥

**अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ** हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु शीघ्रं मूढं वहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुञ्च **मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्पसहाउ** पश्चात् त्रिविधात्मपरिज्ञानानन्तरं मन्यस्व जानीहि । केन करणभूतेन । अन्तरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि ।

---

रत्नत्रय हैं, इसीका नाम भेदरत्नत्रय है । इनमेंसे भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य है ॥ ११ ॥ आगे तीन प्रकार आत्माको जानकर वहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यान कर, इसे कहते हैं—[ **आत्मानं त्रिविधं मत्वा** ] हे प्रभाकरभट्ट; तू आत्माको तीन प्रकारका जानकर [ **मूढं भावं** ] वहिरात्म स्वरूप भावको [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **मुञ्च** ] छोड़, और [ **यः** ] जो [ **परमात्मस्वभावः** ] परमात्माका स्वभाव है, उसे [ **स्वज्ञानेन** ] स्वसंवेदनज्ञानसे अंतरात्मा होता हुआ [ **मन्यस्व** ] जान । वह स्वभाव [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानकर परिपूर्ण है । **भावार्थ**—जो वीतराग संवेदनकर परमात्मा जाना था, वही ध्यान करने योग्य है । यहाँ शिष्यने प्रश्न किया था, जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा ? क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा, वह तो रागरहित होवेगा ही । इसका समाधान श्रीगुरुने किया—कि विषयोंके आस्वादनसे भी उन वस्तुओंके स्वरूपका जानपना होता है, परंतु रागभावकर दूषित है, इसलिये निजरसका आस्वाद नहीं है, और वीतराग दशामें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलता रहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पाँचवें गुणस्थानवाले गृहस्थके भी होता है, वहाँपर सराग देखनेमें आता है, इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधके लिये वीतराग स्वसंवेदनज्ञान ऐसा कहा है । रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जवतक मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधीकषाय है, तबतक तो वहिरात्मा है, उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है, व्रत और चतुर्थ गुणस्थानमें असम्यग्दृष्टीके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधीके अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परंतु कषायकी तीन चौकड़ी वाकी रहनेसे द्वितीयाके चंद्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावकके पाँचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ, वीतरागभाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदनज्ञान भी प्रबल हुआ, परंतु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नहीं हुआ । मुनिके तीन चौकड़ीका अभाव है, इसलिये रागभाव तो निर्बल होगया, तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ, वहाँपर स्वसंवेदन-ज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ, परंतु चौथी चौकड़ी वाकी है, इसलिये छठे गुणस्थानवाले

यं परमात्मस्वभावम् । किंविशिष्टम् । ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योऽसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मा ज्ञातः स एवोपादेय इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागविशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषयानुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां वहिरात्मलक्षणं च कथयति—

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्म परः आत्मा त्रिविधो भवति ।
देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥ १३ ॥

---

मुनि सरागसंयमी हैं, वीतरागसंयमीके जैसा प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी मंद हो जाती है, वहाँपर आहार-विहार क्रिया नहीं होती, ध्यानमें आरूढ़ रहते हैं, साँतवेंसे छठे गुणस्थानमें आवें, तब वहाँपर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छठा सातवाँ करते रहते हैं, वहाँपर अंतर्मुहूर्तकाल है । आठवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी अत्यंत मंद होजाती है, वहाँ रागभावकी अत्यंत क्षीणता होती है, वीतरागभाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञानका विशेष प्रकाश होता है, श्रेणी माँडनेसे शुक्लध्यान उत्पन्न होता है, । श्रेणीके दो भेद हैं, एक क्षपक, दूसरी उपशम, क्षपकश्रेणीवाले तो उसी भवमें केवलज्ञान पाकर मुक्त होजाते हैं, और उपशमवाले आठवें नवमें दशवेंसे ग्यारहवाँ स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं, सो कुछ-एक भव भी धारण करते हैं, तथा क्षपकवाले आठवेंसे नवमें गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं, वहाँ कषायोंका सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलनलोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होनेसे वीतराग भाव अति प्रबल होजाता है, इसलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादः प्रकाश होता हैं, परंतु एक संज्वलनलोभ बाकी रहनेसे वहाँ सरागचारित्र ही कहा जाता है । दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मलोभ भी नहीं रहता, तब मोहकी अट्ठाईस प्रकृतियोंके नष्ट हो जानेसे वीतरागचारित्र की सिद्धि हो जाती है । दशवेंसे बारहवेंमें जाते हैं, ग्यारहवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते, वहाँ निर्मोह वीतरागीके शुक्लध्यानका दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है, यथाख्यात-चारित्र होजाता है । बारहवेंके अंतमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, इन तीनोंका भी विनाश कर डाला, मोहका नाश पहले हो ही चुका था, तब चारों घातियाकर्मोंके नष्ट हो जानेसे तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है, वहाँपर ही शुद्ध परमात्मा होता है, अर्थात् उसके ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होजाता है, निःकषाय है । चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक तो अंतरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्माके है, यह सारांश समझना ॥ १२ ॥

**मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ** मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । स च कथंभूतः ब्रह्मा । परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । **देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसदानन्दैकसुखामृतस्वभावमलभमानः सन् देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽन्तरात्मा भवतीति निरूपयति—

**देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।**
**परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥**

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं पश्यति ।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥ १४ ॥

**देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ** अनुपचरितासद्भूतव्यवहार-

---

तीन प्रकारके आत्माके भेद हैं, उनमेंसे प्रथम बहिरात्माका लक्षण कहते हैं—[ **मूढः** ] मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, [ **विचक्षणः** ] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अंतरात्मा [ **ब्रह्मा परः** ] और शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा अर्थात् रागादि रहित अनंत ज्ञानादि सहित, भावद्रव्य कर्म नोकर्म रहित आत्मा इस प्रकार [ **आत्मा** ] आत्मा [ **त्रिविधो भवति** ] तीन तरहका है, अर्थात् बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, ये तीन भेद हैं। इनमेंसे [ **यः** ] जो [ **देहमेव** ] देहको ही [ **आत्मानं** ] आत्मा [ **मनुते** ] मानता है, [ **स जनः** ] वह प्राणी [ **मूढः** ] बहिरात्मा [ **भवति** ] है, अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी है। **भावार्थ**—जो देहको आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतको नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है। इन तीन प्रकारके आत्माओंमेंसे बहिरात्मा तो त्याज्य ही है—आदर योग्य नहीं है। इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टी वह उपादेय है, तो भी सब तरहसे उपादेय ( ग्रहण करने योग्य ) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है, शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है, ऐसा जानना ॥ १३ ॥

आगे परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्माको जो जानता है,

नयेन देहादभिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योऽसौ जानाति **परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति। "कः पण्डितो विवेकी" इति वचनात्, इति अन्तरात्मा हेयरूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भवतीति कथयति—

**अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण।**
**मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥**

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

**अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्कें जेण** आत्मा लब्धः प्राप्तः। किंविशिष्टः। ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः। कथंभूतेन सता। ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहितेन येन। किं कृत्वात्मा लब्धः। **मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण**। मुक्त्वा-परित्यज्य। किम्। परंद्रव्यं-देहरागादिकम्। सकलं कतिसंख्यो-

---

वह अंतरात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो पुरुष [ **परमात्मानं** ] परमात्माको [ **देहविभिन्नं** ] शरीरसे जुदा [ **ज्ञानमयं** ] केवलज्ञानकर पूर्ण [ **पश्यति** ] जानता है, [ **स एव** ] वही [ **परमसमाधिपरिस्थितः** ] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [ **पंडितः** ] अंतरात्मा अर्थात् विवेकी [ **भवति** ] है। **भावार्थ**—यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यवहारनयकर देहमयी है, तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है, और केवलज्ञानमयी है, ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप परमसमाधिमें स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है। वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना ॥ १४ ॥

आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **येन** ] जिसने [ **कर्मविमुक्तेन** ] ज्ञानावरणादि कर्मोंको नाश करके [ **सकलमपि परं द्रव्यं** ] और सब देहादिक परद्रव्योंको [ **मुक्त्वा** ] छोड़ करके [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानमयी [ **आत्मा** ] आत्मा [ **लब्धः** ] पाया है, [ **तं** ] उसको [ **मनसा** ] शुद्ध मनसे [ **परं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जानो। **भावार्थ**—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म,

पेतं समस्तमपि। तमित्थंभूतमात्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट। केन कृत्वा। मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति। अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवंविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपञ्चकं गतम्। तदनन्तरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूपसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते। तद्यथा।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रतिपादयति—

**ति-हुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि।**
**लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि॥ १६॥**

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

**तिहुयणवंदिउ सिद्धिगउ हरिहर झायहिं जो जि** त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहिरण्यगर्भादयो ध्यायन्ति। किं कृत्वा पूर्वम्। **लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु** लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तं अलक्ष्येण वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा। कथंभूतम्। स्थिरं परी-

---

रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमयी अपने आत्माका लाभ करलिया है, ऐसे आत्माको हे प्रभाकरभट्ट; तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव ( विकार ) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान, तथा केवलज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पाँच दोहा-सूत्र कहे। अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर दश दोहा-सूत्र कहते हैं।

इनमें पाँच दोहोंमें जो हरिहरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्माका ध्यान करते हैं, उसीका तू भी ध्यान कर, यह कहते हैं—[ हरिहराः ] इन्द्र, नारायण, और रुद्र वगैरः बड़े बड़े पुरुष [ त्रिभुवनवंदितं ] तीन लोककर वंदनीक ( वंदने योग्य ) [ सिद्धिगतं ] और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [ यं एव ] जिस परमात्माको ही [ ध्यायंति ] ध्याते हैं, [ लक्ष्यं ] अपने मनको [ अलक्ष्ये ] वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मामें [ स्थिरं धृत्वा ] स्थिर करके [ तमेव ] उसीको

नयेन देहादभिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योऽसौ जानाति **परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति । " कः पण्डितो विवेकी " इति वचनात्, इति अन्तरात्मा हेयरूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भवतीति कथयति—

**अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।**
**मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥**

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

**अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्कें जेण** आत्मा लब्धः प्राप्तः । किंविशिष्टः । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहितेन येन । किं कृत्वात्मा लब्धः । **मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण** । मुक्त्वा-परित्यज्य । किम् । परंद्रव्यं-देहरागादिकम् । सकलं कतिसंख्यो-

---

वह अंतरात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो पुरुष [ **परमात्मानं** ] परमात्माको [ **देहविभिन्नं** ] शरीरसे जुदा [ **ज्ञानमयं** ] केवलज्ञानकर पूर्ण [ **पश्यति** ] जानता है, [ **स एव** ] वही [ **परमसमाधिपरिस्थितः** ] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [ **पंडितः** ] अंतरात्मा अर्थात् विवेकी [ **भवति** ] है । **भावार्थ**—यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यवहारनयकर देहमयी है, तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है, और केवलज्ञानमयी है, ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप परमसमाधिमें स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है । वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना ॥ १४ ॥

आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **येन** ] जिसने [ **कर्मविमुक्तेन** ] ज्ञानावरणादि कर्मोंको नाश करके [ **सकलमपि परं द्रव्यं** ] और सब देहादिक परद्रव्योंको [ **मुक्त्वा** ] छोड़ करके [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानमयी [ **आत्मा** ] आत्मा [ **लब्धः** ] पाया है, [ **तं** ] उसको [ **मनसा** ] शुद्ध मनसे [ **परं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जानो । **भावार्थ**—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म,

पेतं समस्तमपि। तमित्थंभूतमात्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकर-भट्ट। केन कृत्वा। मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति। अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवंविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपञ्चकं गतम्। तदनन्तरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूप-सिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते। तद्यथा।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रतिपादयति—

**ति-हुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि।**
**लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि॥ १६॥**

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

**तिहुयणवंदिउ सिद्धिगउ हरिहर झायहिं जो जि** त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहिरण्यगर्भादयो ध्यायन्ति। किं कृत्वा पूर्वम्। **लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु** लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तं अलक्ष्येण वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा। कथंभूतम्। स्थिरं परी-

---

रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमयी अपने आत्माका लाभ करलिया है, ऐसे आत्माको हे प्रभाकरभट्ट; तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव ( विकार ) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान, तथा केवल-ज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब पर-वस्तु त्यागने योग्य है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पाँच दोहा-सूत्र कहे। अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर दश दोहा-सूत्र कहते हैं।

इनमें पाँच दोहोंमें जो हरिहरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्माका ध्यान करते हैं, उसीका तू भी ध्यान कर, यह कहते हैं—[ **हरिहराः** ] इन्द्र, नारायण, और रुद्र वगैरः बड़े बड़े पुरुष [ **त्रिभुवनवंदितं** ] तीन लोककर वंदनीक ( त्रैलोक्यनाथ ) [ **सिद्धिगतं** ] और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [ **यं एव** ] जिस परमा-त्माको ही [ **ध्यायंति** ] ध्यावते हैं, [ **लक्ष्यं** ] अपने मनको [ **अलक्ष्ये** ] वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मामें [ **स्थिरं धृत्वा** ] स्थिर करके [ **तमेव** ] उसीको

पद्योपसर्गैरक्षुभितं **मुणि परमप्पउ सो जिं** तमित्थंभूतं परमात्मानं हे **प्रभाकरभट्ट** मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्मसदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १६ ॥ संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

अथ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयपरमानन्दस्वभावशान्तशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह—

**णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।**
**जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥**

नित्यो निरञ्जनो ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
य ईदृशः स शान्तः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥ १७ ॥

**णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ** द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागादिकर्ममलरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागानन्दपरिणतत्वात्परमानन्दस्वभावः **जो एहउ सो संतु सिउ** य इत्थंभूतः स शान्तः शिवो भवति हे **प्रभाकरभट्ट तासु मुणिज्जहि भाउ** तस्य वीतरागत्वात् शान्तस्य परमानन्दसुखमयत्वात् शिवस्वरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय । शुद्धबुद्धैकस्वभावमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

---

हे प्रभाकरभट्ट; तू [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जान कर चिंतवन कर । सारांश यह है, कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादि रहित अपने शुद्धात्माको पहचान, वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं । अब संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं, कि जो बाह्यवस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुंब, बांधव, वगैरह सचेतन पदार्थ, तथा चांदी, सोना, रत्न, मणिके आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं, इन सबको अपने समझे, कि ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणामको **संकल्प** जानना । तथा मैं सुखी, मैं दुःखी, इत्यादि हर्ष विषादरूप परिणाम होना वह **विकल्प** है । इस प्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना चाहिये ॥ १६ ॥

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानंदस्वभाव शांत और शिवस्वरूपनेका वर्णन करते हैं—[ **नित्यः** ] द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी [ **निरंजनः** ] रागादिक उपाधिसे रहित अथवा कर्ममलरूपी अंजनसे रहित [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानसे परिपूर्ण और [ **परमानंदस्वभावः** ] शुद्धात्म भावना कर उत्पन्न हुए वीतराग परमानंदकर परिणत है, [ **यः ईदृशः** ] जो ऐसा है, [ **सः** ] वही [ **शांतः शिवः** ] शांतरूप और शिवस्वरूप है, [ **तस्य** ] उसी परमात्माका [ **भावं** ] शुद्ध बुद्ध स्वभाव [ **जानीहि** ] हे प्रभाकरभट्ट; तू जान अर्थात् ध्यान कर ॥ १७ ॥

पुनश्च किंविशिष्टो भवति—

**जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।**
**जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥ १८ ॥**

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।
जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शान्तो भवति ॥ १८ ॥

यः कर्ता निजभावमनन्तज्ञानादिस्वभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादिरूपमात्मरूपतया न गृह्णाति । पुनरपि कथंभूतः । जानाति सर्वमपि जगत्त्रयकालत्रयवर्तिवस्तुस्वभावं न केवलं जानाति द्रव्यार्थिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं नियमेन । स इत्थंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्तावस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवसंज्ञां लभते संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति । तथा चोक्तम्— " परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु "। पुनश्चोक्तम्—" शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः " । अन्यः कोऽप्येको जगत्कर्ता व्यापी सदामुक्तः शान्तः शिवोऽस्तीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवसंज्ञः शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥१८॥

अथ पूर्वोक्तं निरञ्जनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति—

**जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।**
**जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १९ ॥**
**जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।**
**जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥ २० ॥**

---

आगे फिर उसी परमात्माका कथन करते हैं—[ **यः** ] जो [ **निजभावं** ] अनंतज्ञानादिरूप अपने भावोंको [ **न परिहरति** ] कभी नहीं छोड़ता [ **यः** ] और जो [ **परभावं** ] काम क्रोधादिरूप परभावोंको [ **न लाति** ] कभी ग्रहण नहीं करता है, [ **सकलमपि** ] तीन लोक तीन कालकी सब चीजोंको [ **परं** ] केवल [ **नित्यं** ] हमेशा [ **जानाति** ] जानता है, [ **सः** ] वही [ **शिवः** ] शिवस्वरूप तथा [ **शांतः** ] शांतस्वरूप [ **भवति** ] है । **भावार्थ**—संसार अवस्थामें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव शक्तिरूपसे परमात्मा हैं, व्यक्तिरूपसे नहीं है । ऐसा कथन अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—'शिवमित्यादि' अर्थात् परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशांत अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पदको जिसने पा लिया है, वही शिव है, अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शांत शिवरूप नैयायिकोंका तथा वैशेषिक वगैरहका; माना हुआ नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शांत है, शिव है, उपादेय है ।

**अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।**
**अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ तियलं ।**

यस्य न वर्णो न गन्धो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।
यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरञ्जनस्तस्य ॥ १९ ॥
यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।
यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरञ्जनं जानीहि ॥ २० ॥
अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।
अस्ति न एकोऽपि दोषो यस्य स एव निरञ्जनो भावः ॥ २१ ॥ त्रिकलम् ।

**यस्य मुक्तात्मनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपञ्चप्रकारवर्णो नास्ति, सुरभिदुरभिरूपो द्विप्रकारो गन्धो नास्ति, कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पञ्चप्रकारो रसो नास्ति, भाषात्मकाभाषात्मकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति, शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोऽष्टप्रकारः स्पर्शो नास्ति, पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैवास्ति तस्य चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो निरञ्जनसंज्ञा लभते ॥ पुनश्च किंरूपः स निरञ्जनः । यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते । क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादिध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरञ्जनं जानीहि । ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरञ्जनः । यस्यास्ति न ।**

---

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहा-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—[ **यस्य** ] जिस भगवान्के [ **वर्णः** ] सफेद, काला, लाल, पीला, नीलस्वरूप पाँच प्रकार वर्ण [ **न** ] नहीं है, [ **गंधः रसः** ] सुगंध दुर्गंधरूप दो प्रकारकी गंध [ **न** ] नहीं है, मधुर, आम्ल ( खट्टा ), तिक्त, कटु, कषाय ( क्षार ) रूप पाँच रस नहीं हैं [ **यस्य** ] जिसके [ **शब्दः न** ] भाषा अभाषारूप शब्द नहीं है, अर्थात् सचित्त अचित्त मिश्ररूप कोई शब्द नहीं है, सात स्वर नहीं है, [ **स्पर्शः न** ] शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ तरहका स्पर्श नहीं है, [ **यस्य** ] और जिसके [ **जन्म न** ] जन्म जरा नहीं है, [ **मरणं नापि** ] तथा मरण भी नहीं है [ **तस्य** ] उसी चिदानंद शुद्धस्वभाव परमात्माकी [ **निरंजनं नाम** ] निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्माको ही निरंजनदेव कहते हैं। फिर वह निरंजनदेव कैसा है—[ **यस्य** ] जिस सिद्धपरमेष्ठीके [ **क्रोधः न** ] गुस्सा नहीं है, [ **मोहः मदः न** ] मोह तथा कुल जाति वगैरह आठ तरहका अभिमान नहीं है, [ **यस्य माया न मानः न** ] जिसके माया व मान कषाय नहीं है, और [ **यस्य** ] जिसके [ **स्थानं न** ] ध्यानके स्थान नाभि, हृदय, मस्तक, वगैरह नहीं है [ **ध्यानं न** ] चित्तके रोकनेरूप ध्यान

किं किं नास्ति। द्रव्यभावरूपं पुण्यं पापं च। पुनरपि किं नास्ति। रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च। पुनश्च। नास्ति क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये चैकोऽपि दोषः। स एव शुद्धात्मा निरञ्जन इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणवीतराग निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः। किंच। एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरञ्जनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोऽपि निरञ्जनोऽस्ति परकल्पितः। अत्र सूत्रत्रयेऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ निरञ्जनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ १९–२१ ॥

अथ धारणाध्येययन्त्रमन्त्रमण्डलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मन्त्रवादशास्त्र-कथितं यत्तन्निर्दोषपरमात्माराधनाध्याने निषेधयन्ति—

**जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु।**
**जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥ २२ ॥**

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यन्त्रं न मन्त्रः।
यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनन्तम् ॥ २२ ॥

**यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते। किं किम्। कुम्भकरेचकपूरकसंज्ञा वायु-धारणादिक प्रतिमादिकं ध्येयमिति। पुनरपि किं तस्य। अक्षररचनाविन्यासरूप-**

---

नहीं है, अर्थात् जब चित्त ही नहीं है, तो रोकना किसका हो, [ **स एव** ] ऐसे निज-शुद्धात्माको हे जीव; तू जान। सारांश यह हुआ, कि अपनी प्रसिद्धता ( बड़ाई ) महिमा अपूर्व वस्तुका मिलना, और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभाव परिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभव कर। पुनः वह निरंजन कैसा है—[ **यस्य** ] जिसके [ **पुण्यं न पापं न अस्ति** ] द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं है, [ **हर्षः विषादः न** ] राग द्वेषरूप खुशी व रंज नहीं हैं, [ **यस्य** ] और जिसके [ **एकः अपि दोषः** ] क्षुधा ( भूख ) वगैरह दोषोंमेंसे एक भी दोष नहीं है [ **स एव** ] वही शुद्धात्मा [ **निरंजनः** ] निरंजन है, ऐसा तू [ **भावय** ] जान। **भावार्थ**—ऐसे निज शुद्धात्माके परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्प-समाधिमें स्थित होकर तू अनुभव कर। इस प्रकार तीन दोहोंमें जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो, अन्य कोई भी परकल्पित निरंजन नहीं है। इन तीनों दोहोंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला **निरंजन** कहा गया है, वही उपादेय है ॥ १९–२१ ॥

आगे धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मंडल, मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवाद शास्त्रमें कहे गये हैं, उन सबका निर्दोष परमात्माकी आराधनारूप ध्यानमें निषेध किया है—[ **यस्य** ] जिस परमात्माके [ **धारणा न** ] कुंभक, पूरक, रेचक नामवाली वायु-

स्तम्भनमोहनादिविषयं यन्त्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मन्त्रस्वरूपं च अप्मण्डलवायुमण्डलपृथ्वीमण्डलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयेनानन्तमविनश्वरमनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्व जानीहि । अतीन्द्रियसुखास्वादविपरीतस्य जिह्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानन्दपरमसमरसीभावसुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्मव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिघातस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे **प्रभाकरभट्ट** शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः । तथा चोक्तम्–"अक्खाण रसणीं कम्माण मोहणीं तह वयाण बंभं च । गुत्तीसु य मणगुत्ती चउरो दुक्खेहिं सिज्झंति" ॥ २२ ॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालम्बनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति—

**वेयहिँ सत्थहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ ।**
**णिम्मल-झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥**

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मन्तुं न याति ।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥ २३ ॥

**वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योऽसौ मन्तुं ज्ञातुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः । मिथ्या-**

---

धारणादिक नहीं है, [ **ध्येयं नापि** ] प्रतिमा वगैरह ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं हैं, [ **यस्य** ] जिसके [ **यंत्रं न** ] अक्षरोंकी रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक यंत्र नहीं है, [ **मंत्रः न** ] अनेक तरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मंत्र नहीं है, [ **यस्य** ] और जिसके [ **मंडलं न** ] जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादिक पवनके भेद नहीं हैं [ **मुद्रा न** ] गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा वगैरह मुद्रा नहीं हैं, [ **तं** ] उसे [ **अनंतं** ] द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी तथा अनंत ज्ञानादिगुणरूप [ **देवं मन्यस्व** ] **परमात्मदेव** जानो । **भावार्थ**—अतीन्द्रिय आत्मीक-सुखके आस्वादसे विपरीत जिह्वाइंद्रीके विषय ( रस ) को जीतके निर्मोह शुद्ध स्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज आनंद परम समरसीभाव सुखरूपी रसके अनुभवका शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको तथा निर्विकल्पसमाधिके घातक मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकरभट्ट; तू शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐसा ही दूसरी जगह भी कहा है—"**अक्खाणेति**" इसका आशय इस तरह है, कि इंद्रियोंमें जीभ प्रबल होती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमें मोह कर्म बलवान् होता है, पाँच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत प्रबल है, और तीन गुप्तियोंमेंसे मनोगुप्ति पालना कठिन है । ये चार बातें मुश्किलसे सिद्ध होतीं हैं ॥ २२ ॥

आगे वेद, शास्त्र, इंद्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके गोचर ( प्रत्यक्ष ) ऐसे परमात्माका स्वरूप कहते हैं—[ **वेदैः** ] केवलीकी दिव्य-

विरतिप्रमादकषाययोगाभिधानपञ्चप्रत्ययरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंवित्तिसंजातनित्यानन्दैकसुखामृतास्वादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः। पुनरपि कथंभूतो यः। अनादिः स परमात्मा भवतीति हे जीव जानीहि। तथा चोक्तम्—"अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा। अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा"। अत्रार्थभूत एवं शुद्धात्मोपादेयो अन्यद्धेयमिति भावार्थः॥ २३॥

अथ योऽसौ वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समाधिविषयो भवति पुनरपि तस्यैव स्वरूपं व्यक्तं करोति—

**केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ।**
**केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ॥ २४॥**

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः।
केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः॥ २४॥

**केवलोऽसहायः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानन्दसुख-**

---

वाणीसे [ **शास्त्रैः** ] महा मुनियोंके वचनोंसे तथा [ **इंद्रियैः** ] इंद्रिय और मनसे भी [ **यः** ] जो शुद्धात्मा [ **मंतुं** ] जाना [ **न याति** ] नहीं जाता है, अर्थात् वेद, शास्त्र, ये दोनों शब्द अर्थस्वरूप हैं, आत्मा शब्दातीत है, तथा इंद्रिय, मन विकल्परूप हैं, और मूर्तीक पदार्थको जानते हैं, वह आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तीक है, इसलिये इन तीनोंसे नहीं जान सकते। [ **यः** ] जो आत्मा [ **निर्मलध्यानस्य** ] निर्मल ध्यानके [ **विषयः** ] गम्य है, [ **सः** ] वही [ **अनादिः** ] आदि अंत रहित [ **परमात्मा** ] परमात्मा हैं, अर्थात् मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग, इन पाँच तरह आस्रवोंसे रहित निर्मल निज शुद्धात्माके ज्ञानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद सुखामृतका आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूपकी प्राप्ति है। आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे, वे ही आत्माका अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यानसे ही पाया है, और शास्त्र सुनना तो ध्यानका उपाय है, ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ। दूसरी जगह भी 'अन्यथा' इत्यादि कहा है। उसका यह भावार्थ है, कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं, नय प्रमाणरूप हैं, तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है, वह आत्मा निर्विकल्प है, नय प्रमाण निक्षेपसे रहित है, वह परमतत्त्व तो केवल आनन्दरूप है, और ये लोक अन्य ही मार्गमें लगे हुए हैं, सो वृथा क्लेश कर रहे हैं। इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, यह सारांश समझना॥ २३॥

आगे कहते हैं, कि जो परमात्मा वेद शास्त्रगम्य तथा इन्द्रियगम्य नहीं, केवल परम-

स्वभावः केवलानन्तवीर्यस्वभाव इति यस्तमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पुनश्च कथंभूतः स एव । यः परापरः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २४ ॥

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योऽसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति—

**एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ ।**
**सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥ २५ ॥**

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।
स तत्र निवसति परमपदे यः त्रैलोक्यस्य ध्येयः ॥ २५ ॥

**एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः । पुनश्च कथंभूतो यः । परः परमात्मस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । देवस्त्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतम् । त्रैलोक्यस्यावसान-**

---

समाधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है, इसलिये उसीका स्वरूप फिर कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **केवलदर्शनज्ञानमयः** ] केवलज्ञान केवलदर्शनमयी है, अर्थात् जिसके परवस्तुका आश्रय ( सहायता ) नहीं, आप ही सब वातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है, [ **केवलसुखस्वभावः** ] जिसका केवलसुख स्वभाव है, और जो [ **केवलवीर्यः** ] अनंतवीर्यवाला है, [ **स एव** ] वही [ **परापरभावः** ] उत्कृष्ट अर्हंतपरमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है [ **मन्यस्व** ] ऐसा मानो । **भावार्थ**—परमात्माके दो भेद हैं, पहला सकलपरमात्मा दूसरा निकलपरमात्मा उनमेंसे कल अर्थात् शरीर सहित तो अरहंत भगवान् हैं, वे साकार हैं, और जिनके शरीर नहीं, ऐसे निकलपरमात्मा निराकारस्वरूप सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं, वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥ २४ ॥

आगे तीन लोककर वंदना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है, वही लोकके अग्रमें रहता है, यही कहते हैं—[ **एतैः लक्षणैः** ] 'तीन भुवनकर वंदनीक' इत्यादि जो लक्षण कहे थे, उन लक्षणोंकर [ **युक्तः** ] सहित [ **परः** ] सबसे उत्कृष्ट [ **निष्कलः** ] औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाँच शरीर जिसके नहीं हैं, अर्थात् निराकार है, [ **देवः** ] तीन लोककर आराधित जगतका देव है, [ **यः** ] ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है, [ **सः** ] वही [ **तत्र परमपदे** ] उस लोकके शिखरपर [ **निवसति** ] विराजमान है, [ **यः** ] जो कि [ **त्रैलोक्यस्य** ] तीन लोकका [ **ध्येयः** ] ध्येय ( ध्यान करने योग्य ) है । **भावार्थ**—यहाँपर जो सिद्धपरमेष्ठीका व्याख्यान किया है, उसीके

मिति। अत्र तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २५ ॥ एवं त्रिविधात्मकथनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं गतम्।

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकमन्तर्भावचतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयन्ति। तद्यथा—

**जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।**
**तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ ॥ २६ ॥**

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः।
तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदम् ॥ २६ ॥

**यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः, निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितः, ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः। तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः। क्व निवसति। देहे। केन। शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन। कथंभूतेन। शक्तिरूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं मा कार्षीस्त्वमिति। तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते—"णमिएहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं। थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह।" अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ २६ ॥**

---

समान अपना भी स्वरूप है, वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है, जो सिद्धालय है, वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट (देह) में विराजमान है ॥ २५ ॥

इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चाथे स्थलमें दश दोहा-सूत्र कहे। आगे पाँच क्षेपक मिले हुए चौवीस दोहोंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर देहमें भी शक्तिरूप है, ऐसा कहते हैं—[ **यादृशः** ] जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार [ **निर्मलः** ] उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मलसे रहित [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी [ **देवः** ] देवाधिदेव परम आराध्य [ **सिद्धौ** ] मुक्तिमें [ **निवसति** ] रहता है, [ **तादृशः** ] वैसा ही सब लक्षणों सहित [ **परः ब्रह्मा** ] परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिरूप परमात्मा [ **देहे** ] शरीरमें [ **निवसति** ] तिष्ठता है, इसलिये हे प्रभाकरभट्ट; तू [ **भेदं** ] सिद्ध भगवान्में और अपनेमें भेद [ **मा कुरु** ] मत कर। ऐसा ही मोक्षपाहुड़में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी कहा है "णमिएहिं" इत्यादि—इसका यह अभिप्राय है, कि जो नमस्कार योग्य

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणि नश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयन्ति—

**जेँ दिट्ठेँ तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ।**
**सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥ २७॥**

येन दृष्टेन त्रुट्यन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।
तं परं जानासि योगिन् देहे वसन्तं न किम् ॥ २७ ॥

**जें दिट्टें तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्वकियाइं** येन परमात्मना दृष्टेन सदानन्दैकरूपवीतरागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणनिर्मललोचनेनावलोकितेन त्रुट्यन्ति शतचूर्णानि भवन्ति लघु शीघ्रं अन्तर्मुहूर्तेन । कानि । परमात्मनः प्रतिबन्धकानि स्वसंवेद्यभावोपार्जितानि पूर्वकृतकर्माणि **सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं** तं नित्यानन्दैकस्वभावं स्वात्मानं परमोत्कृष्टं किं न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसन्तमपीति । अत्र स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ २७॥

अथ ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकं कथयन्ति । तद्यथा—

**जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु ।**
**सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परिं अवहारु ॥ २८ ॥**

---

महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है, और ध्यान करने योग्य आचार्यपरमेष्ठी वगैरहसे भी ध्यान करने योग्य ऐसा जीवनामा पदार्थ इस देहमें वसता है, उसको तू परमात्मा जान । **भावार्थ**—वही परमात्मा उपादेय है ॥२६॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान-नेत्रसे देखनेसे पहले उपार्जन किये हुए कर्म नाश हो जाते हैं, उसे हे योगिन्; तू क्यों नहीं पहचानता, ऐसा कहते हैं—[ **येन** ] जिस परमात्माको [ **दृष्टेन** ] सदा आनंदरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निमल नेत्रोंकर देखनेसे [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **पूर्वकृतानि** ] निर्वाणके रोकनेवाले पूर्व उपार्जित [ **कर्माणि** ] कर्म [ **त्रुट्यंति** ] चूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे, वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं, [ **तं परं** ] उस सदानंदरूप परमात्माको [ **देहे वसंतं** ] देहमें वसते हुए भी [ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **किं न जानासि** ] तू क्यों नहीं जानता ? **भावार्थ**—जिसके जाननेसे कर्म-कलंक दूर हो जाते हैं, वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता, उसको तू अच्छी तरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है, अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नहीं देखता ? वह निज स्वरूप ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं है ॥ २७ ॥

यत्र नेन्द्रियसुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।
तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥ २८ ॥

**जित्थु ण इंदियसुहदुहइं जित्थु ण मणवावारु** यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न सन्ति न विद्यन्ते । कानि । अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति । **सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु** तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानन्दैकरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा जानीहि हे जीव, त्वं अन्यत्परमात्मस्वभावाद्विपरीतं पञ्चेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर त्यज । तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधौ सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थं कृतं इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यत एव हेतोः वीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं, अथवा ये सरागिणोऽपि सन्तो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थं, अथवा श्वेतशङ्खवत्स्वरूपविशेषणमिदं इति परिहारत्रयं निर्दोषिपरमात्मशब्दादिपूर्वपक्षेऽपि योजनीयम् ॥ २८ ॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह—

**देहादेहहिँ जो वसइ भेयाभेय-णएण ।**
**सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ किं अण्णेँ बहुएण ॥ २९ ॥**

---

इससे आगे पाँच प्रक्षेपकों द्वारा आत्मा ही का कथन करते हैं—[ **यत्र** ] जिस शुद्ध आत्म-स्वभावमें [ **इन्द्रियसुखदुःखानि** ] आकुलता रहित अतीन्द्रियसुखसे विपरीत जो आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित सुख दुःख [ **न** ] नहीं हैं, [ **यत्र** ] जिसमें [ **मनोव्यापारः** ] संकल्प-विकल्परूप मनका व्यापार भी [ **न** ] नहीं है, अर्थात् विकल्प रहित परमात्मासे मनके व्यापार जुदे हैं, [ **तं** ] उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको [ **हे जीव त्वं** ] हे जीव; तू [ **आत्मानं** ] आत्माराम [ **मन्यस्व** ] मान, [ **अन्यत्परं** ] अन्य सब विभावोंको [ **अपहर** ] छोड़ । **भावार्थ**—ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान, अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पाँच इन्द्रियोंके विषय वगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर । यहाँपर किसी शिष्यने प्रश्न किया, कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है? उसका उत्तर कहते हैं --जहाँपर वीतरागता है, वहीं निर्विकल्पसमाधिपना है, इस रहस्यको समझानेके लिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि, हम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित हैं, उनके निषेधके लिये वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शंखकी तरह स्वरूप प्रगट करनेके लिये कहा गया है, अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा, उसी प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी, वह वीतरागतारूप ही होगी ॥ २८ ॥

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।
तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥ २९ ॥

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन । भेदाभेदनयेन । तथाहि—अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभेदनयेन स्वपरात्मनोऽभिन्ने स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीव नित्यानन्दैकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः। किमन्येन शुद्धात्मनो भिन्नेन देहरागादिना बहुना । अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं मा कार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति—

**जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण-भेएँ भेउ ।**
**जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ॥ ३० ॥**

जीवाजीवौ मा एकौ कुरु लक्षणभेदेन भेदः ।
यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ॥ ३० ॥

हे **प्रभाकरभट्ट** जीवाजीवावेकौ मा कार्षीः । कस्मात् । लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति । तद्यथा—रसादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणम् । तथा चोक्तं **प्राभृते**—"अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं" इत्थंभूतशुद्धात्मनो भिन्नमजीवलक्षणम् । तच्च द्विविधम् । जीवसंबन्धमजीवसंबन्धं च ।

---

आगे यह परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है, लेकिन निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही तिष्ठता है, ऐसी आत्माको कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति** ] अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जड़रूप देहमें तिष्ठ रहा है, और शुद्धनिश्चयनयकर अपने आत्म-स्वभावमें ठहरा हुआ है, अर्थात् व्यवहारनयकर तो देहसे अभेदरूप ( तन्मय ) है, और निश्चयसे सदा कालसे अत्यंत जुदा है, अपने स्वभावमें स्थित है, [ **तं** ] उसे [ **हे जीव त्वं** ] हे जीव; तूँ [ **आत्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जान। अर्थात् नित्यानंद वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें ठहरके अपने आत्माका ध्यानकर । [ **अन्येन** ] अपनेसे भिन्न [ **बहुना** ] देह रागादिकोंसे [ **किं** ] तुझे क्या प्रयोजन है ? **भावार्थ**—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ॥ २९ ॥

आगे जीव और अजीवमें लक्षणके भेदसे भेद है, तू दोनोंको एक मत जान, ऐसा कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट; तूँ [ **जीवाजीवौ** ] जीव और अजीवको [ **एकौ** ] एक [ **मा कार्षीः** ] मत कर, क्योंकि इन दोनोंमें [ **लक्षणभेदेन** ] लक्षणके भेदसे [ **भेदः** ]

देहरागादिरूपं जीवसंबन्धं, पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपमजीवसंबन्धमजीवलक्षणम् । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणम् । ततः कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतम् । भेद्यमभेद्यमित्यर्थः । अत्र योऽसौ शुद्धलक्षणसंयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३० ॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति—

**अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।**
**अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥**

अमनाः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।
आत्मा इन्द्रियविषयो नैव लक्षणमेतन्निरुक्तम् ॥ ३१ ॥

**परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्वादमनस्कः, अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरी-**

---

भेद है [ **यत्परं** ] जो परके संबंधसे उत्पन्न हुए रागादि विभाव ( विकार ) हैं, [ **तत्परं** ] उनको पर ( अन्य ) [ **मन्यस्व** ] समझ [ **च** ] और [ **आत्मनः** ] आत्माका [ **आत्मना अभेदः** ] अपनेसे अभेद जान [ **भणामि** ] ऐसा मैं कहता हूँ । **भावार्थ**—जीव अजीवके लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है, वह स्पर्श, रस, गंधरूप शब्दादिकसे रहित है । ऐसा ही श्रीसमयसारमें कहा है—"अरस" मित्यादि । इसका सारांश यह है, कि जो आत्मद्रव्य है, वह मिष्ट वगैरह पाँच प्रकारके रस रहित है, श्वेत आदिक पाँच तरहके वर्ण रहित है, सुगंध दुर्गंध इन दो तरहके गंध उसमें नहीं हैं, प्रगट ( दृष्टिगोचर ) नहीं है, चैतन्यगुण सहित है, शब्दसे रहित है, पुल्लिंग वगैरह करके ग्रहण नहीं होता, अर्थात् लिँग रहित है, और उसका आकार नहीं दीखता, अर्थात् निराकार वस्तु है । आकार छह प्रकारके हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक । इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है, ऐसा जो चिद्रूप निज वस्तु है, उसे तू पहचान । आत्मासे भिन्न जो अजीव पदार्थ है, उसके लक्षण दो तरहसे हैं, एक जीवसंबंधी, दूसरा अजीवसंबंधी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है, वह तो जीवसंबंधी है, और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव जीवसंबंधी नहीं हैं, अजीवसंबंधी ही हैं, इसलिये अजीव हैं, जीवसे भिन्न हैं । इस कारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ हैं, उनको अपने मत समझो । यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं, इससे जीवके कहे जाते हैं, परंतु वे कर्मजनित हैं, परपदार्थ ( कर्म ) के संबंधसे हैं, इसलिये पर ही समझो । यहाँपर जीव अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं, उनमेंसे शुद्ध चेतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, यह सारांश हुआ ॥ ३० ॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषपनेसे कहते हैं—[ **आत्मा** ] यह शुद्ध आत्मा [ **अमनाः** ] परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है [ **अनिन्द्रियः** ]

तेनेन्द्रियग्रामेण रहितत्वादतीन्द्रियः, लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, अमूर्तात्मविपरीतलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः, अन्यद्रव्यासाधारणया शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाच्चिन्मात्रः। कोऽसौ। आत्मा। पुनश्च किंविशिष्टः। वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ग्राह्योऽपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति। अत्रोक्तलक्षणपरमात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥३१॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवल्ली नश्यतीति कथयति—

**भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ।**
**तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥ ३२ ॥**

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति।
तस्य गुर्वी वल्ली सांसारिकी त्रुट्यति ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगेषु रञ्जितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखरसास्वादेन व्यावृत्य स्वशुद्धात्मसुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य गुरुक्की महती संसारवल्ली त्रुट्यति नश्यति शतचूर्णा भवतीति। अत्र येन परमात्मध्यानेन संसारवल्ली विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्पर्यार्थः ॥३२॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रक्षेपकपञ्चकं गतम्।

---

शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रिय-समूहसे रहित है [ **ज्ञानमयः** ] लोक और अलोकके प्रकाशनेवाले केवलज्ञान स्वरूप है, [ **मूर्तिविरहितः** ] अमूर्तीक आत्मासे विपरीत स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्तिरहित है, [ **चिन्मात्रः** ] अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे, ऐसी शुद्धचेतनास्वरूप ही है, और [ **इन्द्रियविषयः नैव** ] इन्द्रियोंके गोचर नहीं है, वीतरागस्वसंवेदनसे ही ग्रहण किया जाता है, [ **एतत् लक्षणं** ] ये लक्षण जिसके [ **निरुक्तं** ] प्रगट कहे गये हैं। उसको ही तू निःसंदेह आत्मा जान। इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं, वही आत्मा है, वही उपादेय है, आराधने योग्य है, यह तात्पर्य निकला ॥ ३१ ॥

आगे जो कोई संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होके शुद्धात्माका ध्यान करता है। उसीके संसाररूपी वेल नाशको प्राप्त होजाती है, इसे कहते हैं—[ **यः** ] जो जीव [ **भवतनुभोगविरक्तमनाः** ] संसार शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ [ **आत्मानं** ] शुद्धात्माका [ **ध्यायति** ] चिंतवन करता है, [ **तस्य** ] उसकी [ **गुर्वी** ] मोटी [ **सांसारिकी वल्ली** ] संसाररूपी वेल [ **त्रुट्यति** ] नाशको प्राप्त होजाती है। **भावार्थ**—संसार, शरीर, भोगोंमें अत्यंत आसक्त ( लगा हुआ ) चित्त है, उसको आत्म-ज्ञानसे उत्पन्न हुए वीतरागपरमानंद सुखामृतके आस्वादसे राग-द्वेषसे हटाकर अपने शुद्धात्म-सुखमें अनुरागी कर शरीरादिकमें

तदनन्तरं देहदेवगृहे योऽसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयति—

**देहा-देवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु।**
**केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥**

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनन्तः।
केवलज्ञानस्फुरत्तनुः स परमात्मा निर्भ्रान्तः ॥ ३३ ॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वाद्देहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति। यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माराध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आद्यन्तस्तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनन्तः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रकाशकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः। स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः परमात्मा भवतीति। कथंभूतः। निर्भ्रान्तः निस्सन्देह इति। अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि सर्वाशुच्यादिदेहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ३३ ॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोऽपि न स्पृश्यत इति प्रतिपादयति—

**देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमेँ देहु वि जो जि।**
**देहेँ छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥**

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि य एव।
देहेन स्पृश्यते योऽपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३४ ॥

---

वैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है, उसका संसार छूट जाता है, इसलिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी बेल दूर हो जाती है, वही ध्यान करने योग्य (उपादेय) है ॥३२॥

आगे जो देहरूपी देवालयमें रहता है, वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है, यह कहते हैं—[**यः**] जो व्यवहारनयकर [**देहदेवालये**] देहरूपी देवालयमें [**वसति**] बसता है, निश्चयनयकर देहसे भिन्न है, देहकी तरह मूर्तीक तथा अशुचिमय नहीं है, महा पवित्र है, [**देवः**] आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है, [**अनाद्यनंतः**] जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है, तथा यह देह आदि अंतकर सहित है, [**केवलज्ञानस्फुरिततनुः**] जो आत्मा निश्चयनयकर लोक अलोकको प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है, अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है, और देह जड़ है [**सः परमात्मा**] वही परमात्मा [**निर्भ्रान्तः**] निःसंदेह है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना। सारांश यह है, कि जो देहमें रहता है, तो भी देहसे जुदा है, सर्वाशुचिमयी देहको यह देव छूता नहीं है, वही आत्मदेव उपादेय है ॥ ३३ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि, देहेन न स्पृश्यते योऽपि मन्यस्व जानीहि परमात्मा सोऽपि । इतो विशेषः—य एव शुद्धात्मानुभूतिविपरीतेन क्रोधमानमायालोभस्वरूपादिविभावपरिणामेनोपार्जितेन पूर्वकर्मणा निर्मिते देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण वसन्नपि निश्चयेन य एव देहं न स्पृशति, तथाविधदेहेन न स्पृश्यते योऽपि तं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवम् । किं कृत्वा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वेति । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिरहितदेहे ममत्वपरिणामेन सहितानां हेयः स एव शुद्धात्मा देहममत्वपरिणामरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥३४॥

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानन्दं जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति । तमाह—

**जो सम-भाव-परिट्ठियहँ जोइहँ कोइ फुरेइ ।**
**परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥**

यः समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति ।
परमानन्दं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ३५ ॥

यः कोऽपि परमात्मा जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतस्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ

---

आगे शुद्धात्मासे भिन्न इस देहमें रहता हुआ भी देहको नहीं स्पर्श करता है, और देह भी उसको नहीं छूती है, यह कहते हैं—[ **य एव** ] जो [ **देहे वसन्नपि** ] देहमें रहता हुआ भी [ **नियमेन** ] निश्चयनयकर [ **देहमपि** ] शरीरको [ **नैव स्पृशति** ] नहीं स्पर्श करता, [ **देहेन** ] देहसे [ **यः अपि** ] वह भी [ **नैव स्पृश्यते** ] नहीं छुआ जाता । अर्थात् न तो जीव देहको स्पर्श करता और न देह जीवको स्पर्श करती, [ **तमेव** ] उसीको [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] तूँ जान, अर्थात् अपना स्वरूप ही परमात्मा है । **भावार्थ**—जो शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभरूप विभाव परिणाम हैं, उनकर उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंकर बनाई हुई देहमें अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर बसता हुआ भी निश्चयकर देहको नहीं छूता, उसको तुम परमात्मा जानो, उसी स्वरूपको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठकर चिंतवन करो । यह आत्मा जड़रूप देहमें व्यवहारनयकर रहता है, सो देहात्मबुद्धिवालेको नहीं माद्रम होती है, वही शुद्धात्मा देहके ममत्वसे रहित ( विवेकी ) पुरुषोंके आराधने योग्य है ॥ ३४ ॥

आगे जो योगी समभावमें स्थित हैं, उनको परमानन्द उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा स्फुरायमान है, उसका स्वरूप कहते हैं—[ **समभावप्रतिष्ठितानां** ] समभाव अर्थात् जीवित मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र इत्यादि इन सबमें समभावको परिणत

प्रतिष्ठितानां परमयोगिनां कश्चित् स्फुरति संवित्तिमायाति । किं कुर्वन् । वीतरागपरमानन्दं जनयन् स्फुटं निश्चितम् । तथा चोक्तम्—"आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥" हे प्रभाकरभट्ट स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां स एवोपादेयः तद्विपरीतानां हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोऽप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति ज्ञापयति—

**कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।**
**होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३६ ॥**

कर्मनिबद्धोऽपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।
भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३६ ॥

कर्मनिबद्धोऽपि हे योगिन् देहे वसन्नपि य एव न भवति सकलः क्वापि काले स्फुटं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवेति । अतो विशेषः—परमात्मभावनाविपक्षभूतैः रागद्वेषमोहैः समुपार्जितैः कर्मभिरशुद्धनयेन बद्धोऽपि तथैव देहस्थितोऽपि

---

हुए [ **योगिनां** ] परम योगीश्वरोंके अर्थात् जिनके शत्रु-मित्रादि सब समान हैं, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठे हुए हैं, उन योगीश्वरोंके हृदयमें [ **परमानन्दं जनयन्** ] वीतराग परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ [ **यः कश्चित्** ] जो कोई [ **स्फुरति** ] स्फुरायमान होता है, [ **सः स्फुटं** ] वही प्रकट [ **परमात्मा** ] परमात्मा [ **भवति** ] है, ऐसा जानो । ऐसा ही दूसरी जगह भी "आत्मानुष्ठान" इत्यादिसे कहा है, अर्थात् जो योगी आत्माके अनुभवमें तल्लीन हैं, और व्यवहारसे रहित शुद्ध निश्चयमें तिष्ठते हैं, उन योगियोंके ध्यान करके अपूर्व परमानन्द उत्पन्न होता है । इसलिये, हे प्रभाकरभट्ट; जो आत्मस्वरूप योगीश्वरोंके हृदयमें स्फुरायमान है, वही उपादेय है । जो योगी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लगे हुए हैं, संसारसे पराङ्मुख हैं, उन्हींके वह आत्मा उपादेय है, और जो देहात्मबुद्धि विषयासक्त हैं, वे अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं, उनके आत्मरुचि नहीं होसकती यह तात्पर्य हुआ ॥ ३५ ॥

आगे शुद्धात्मासे जुदे कर्म और शरीर इन दोनोंकर अनादिका बँधा हुआ यह आत्मा है, तो भी निश्चयनयकर शरीरस्वरूप नहीं है, यह कहते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी [ **यः** ] जो यह आत्मा [ **कर्मनिबद्धोऽपि** ] यद्यपि कर्मोंसे बँधा है, [ **देहे वसन्नपि** ] और देहमें रहता भी है, [ **कदापि** ] परंतु कभी [ **सकलः न भवति** ] देहरूप नहीं होता, [ **तमेव** ] उसीको तू [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **स्फुटं** ] निश्चयसे [ **मन्यस्व** ] जान,

निश्चयनयेन सकलः सदेहो न भवति क्वापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपादेयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥ ३६ ॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोऽपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति—

जो परमत्थेँ णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि कर्मविभिन्नो य एव ।
मूढाः सकलं भणन्ति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि देहरहितोऽपि कर्मविभिन्नोऽपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहिता मूढात्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणन्ति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरभट्ट तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागसदानन्दैकसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः । अत्र स एव परमात्मा शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपादेयो भवति तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अथानन्ताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति कथयति—

---

**भावार्थ**—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग, द्वेष, मोह हैं, उनकर यद्यपि व्यवहारनयसे बँधा है, और देहमें तिष्ठ रहा है, तो भी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं है, उससे जुदा ही है, किसी कालमें भी यह जीव जड़ न तो हुआ, न होगा, उसे हे प्रभाकरभट्ट; परमात्मा जान । निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है, उसे तू वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर चिंतवन कर । सारांश यह है, कि यह आत्मा सदैव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन साधुओंको तो प्रिय है किन्तु मूढ़ोंको नहीं ॥ ३६ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंसे रहित है, तो भी मूढ़ों ( अज्ञानियों ) को शरीरस्वरूप मालूम होता है, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो आत्मा [ **परमार्थेन** ] निश्चयनयकर [ **निष्कलोऽपि** ] शरीर रहित है, [ **कर्मविभिन्नोऽपि** ] और कर्मोंसे भी जुदा है, तो भी [ **मूढाः** ] निश्चय व्यवहार रत्नत्रयकी भावनासे विमुख मूढ़ [ **सकलं** ] शरीरस्वरूप ही [ **स्फुटं** ] प्रगटपनेसे [ **भणंति** ] मानते हैं, सो हे प्रभाकरभट्ट; [ **तमेव** ] उसीको [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जान, अर्थात् वीतराग सदानंद निर्विकल्पसमाधिमें रहके अनुभव कर । **भावार्थ**—वही परमात्मा शुद्धात्माके वरा मिथ्यात्व रागादिकोंके दूर होनेके समय ज्ञानी जीवोंको उपादेय है, और जिनके मिथ्यात्व रागादिक दूर नहीं हुए उनके उपादेय नहीं, परवस्तुका ही ग्रहण है ॥ ३७ ॥

**गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुअणु विहाइ ।**
**मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥**

गगने अनन्तेऽपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति ।
मुक्तस्य यस्य पदे बिम्बितं स परमात्मा अनादिः ॥ ३८ ॥

**गगने अनन्तेऽप्येकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगत् प्रतिभाति । क्व प्रतिभाति । मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने बिम्बितं प्रतिफलितं दर्पणे बिम्बमिव । स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र यस्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ३८ ॥**

**अथ योगीन्द्रवृन्दैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिन्त्यते तं परमात्मानमाह—**

**जोइय-विंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।**
**मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥ ३९ ॥**

योगिवृन्दैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।
मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥ ३९ ॥

**योगीन्द्रवृन्दैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः यः कर्मतापन्नो ध्यायते चिन्त्यते ध्येयो ध्येयरूपोऽपि । किमर्थं ध्यायते । मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरन्तरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति । अत्र य एव परमात्मा मुनिवृन्दानां ध्येयरूपो भणितः स एव शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ३९ ॥**

---

आगे अनंत आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **यथा** ] जैसे [ **अनंतेऽपि** ] अनंत [ **गगने** ] आकाशमें [ **एकं उडु** ] एक नक्षत्र [ **"तथा"** ] उसी तरह [ **भुवनं** ] तीन लोक [ **यस्य** ] जिसके [ **पदे** ] केवलज्ञानमें [ **बिंबितं** ] प्रतिबिंबित हुए [ **विभाति** ] दर्पणमें मुखकी तरह भासता है, [ **सः** ] वह [ **परमात्मा अनादिः** परमात्मा अनादि है। **भावार्थ**—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं, वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित योगीश्वरोंको उपादेय है ॥ ३८ ॥

आगे अनंतज्ञानमयी परमात्मा योगीश्वरोंकर निर्विकल्पसमाधि-कालमें ध्यान करने योग्य है, उसी परमात्माको कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **योगींद्रवृंदैः** ] योगीश्वरोंकर [ **मोक्षस्य कारणे** ] मोक्षके निमित्त [ **अनवरतं** ] निरन्तर [ **ज्ञानमयः** ] ज्ञानमयी [ **ध्यायते** ] चिंतवन किया जाता है, [ **सः परमात्मा देवः** ] वह परमात्मदेव [ **ध्येयः** ] ध्यानके योग्य है, दूसरा कोई नहीं । **भावार्थ**—जो परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है, वही

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोऽपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति—

**जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।**
**लिंग-त्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥**

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।
लिङ्गत्रयपरिमण्डितः स परमात्मा भवति ॥ ४० ॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किम् । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म । पश्चाज्जङ्गमस्थावररूपं जगज्जनयति स एव लिङ्गत्रयमण्डितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तद्यथा । योऽसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोऽपि सन् अनादिसंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबन्धप्रच्छादितत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रसो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गो भवति, तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोऽपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति तदोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४० ॥

---

शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्त रौद्र ध्यानकर रहित धर्म ज्ञानी पुरुषोंको उपादेय है, अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं, तभी उसका ध्यान होसकता है ॥ ३९ ॥

आगे जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मोंके कारणसे त्रस स्थावर जन्मरूप जगत्को उत्पन्न करता है, वही परमात्मा है, दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **जीवः** ] आत्मा [ **विधिं हेतुं** ] ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणोंको [ **लब्ध्वा** ] पाकर [ **बहुविधं जगत्** अनेक प्रकारके जगत्को [ **जनयति** ] पैदा करता है, अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है [ **लिंगत्रयपरिमंडितः** ] स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन तीन चिन्होंकर सहित हुआ [ **सः** ] वही [ **परमात्मा** ] शुद्धनिश्चयकर परमात्मा [ **भवति** ] है, अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें भटकता है, इसलिये जगतका कर्त्ता कहा है, और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव ( विकार ) परिणामोंको हरता है, इसलिये हर्त्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्त्ता हर्त्ता है, और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्त्ता हर्त्ता नहीं है । **भावार्थ**—पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है, तो भी अनादिसे संसारमें ज्ञानावरणादि कर्मबंधकर ढका हुआ वीतराग, निर्विकल्पसहजानन्द, अद्वितीयसुखके स्वादको न पानेसे व्यवहारनयकर त्रस और स्थावररूप स्त्री पुरुष नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगत्कर्त्ता कहा जाता है

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयति—

**जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।**
**जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥४१॥**

यस्य अभ्यन्तरे जगत् वसति जगदभ्यन्तरे य एव ।
जगति एव वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४१ ॥

**यस्य केवलज्ञानस्याभ्यन्तरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं वसति जगतोऽभ्यन्तरे योऽसौ ज्ञायको भगवानपि वसति जगति वसन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्व जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट, तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र योऽसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य वीतरागस्वसंवेदनकाले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ४१ ॥**

**अथ देहे वसन्तमपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव यं न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति—**

---

अन्य कोई भी दूसरोंकर कल्पित परमात्मा नहीं है। यह आत्मा ही परमात्माकी प्राप्तिके शत्रु तीन वेदों ( स्त्रीलिंगादि ) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालोंको निर्विकल्पसमाधिसे जिस समय नाश करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्ष-सुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥ ४० ॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत् वस रहा है, और जगत्के मध्यमें वह ठहर रहा है, तो भी वह जगत्रूप नहीं है, ऐसा कहते हैं—[ **यस्य** ] जिस आत्मारामके [ **अभ्यंतरे** ] केवलज्ञानमें [ **जगत्** ] संसार [ **वसति** ] वस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है, [ **जगदभ्यंतरे** ] और जगत्में वह वस रहा है, अर्थात् सबमें व्याप रहा है। वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, [ **जगति एव वसन्नपि** ] संसारमें निवास करता हुआ भी [ **जगदेव नापि** ] निश्चयनयकर किसी जगत्की वस्तुसे तन्मय ( उस स्वरूप ) नहीं होता, अर्थात् जैसे रूपी पदार्थको नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे जुदे ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे जुदा रहता है, [ **तमेव** ] उसीको [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] हे प्रभाकरभट्ट; तू जान। **भावार्थ**—जो शुद्ध, बुद्ध, सर्वव्यापक सबसे अलिप्त, शुद्धात्मा है, उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर। जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार है, उसका कारण वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप निजरूप ही उपादेय है ॥ ४१ ॥

**देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।**
**परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥**

देहे वसन्तमपि हरिहरा अपि यं अद्यापि न जानन्ति ।
परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणन्ति ॥ ४२ ॥

**परमात्मस्वभावविलक्षणे देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन वसन्तमपि हरिहरा अपि यमद्यापि न जानन्ति । केन विना । वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपपरमसमाधितपसा । तं परमात्मानं भणन्ति वीतरागसर्वज्ञा इति । किंच । पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनां कृत्वा विशिष्टपुण्यबन्धं च कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भवति । अन्यः कोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वान्यत्रैव भवे विशिष्टसमाधिबलेन पुण्यबन्धं कृत्वा पश्चात्पूर्वकृतचारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति । कथं ते परमात्मस्वरूपं न जानन्ति इति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारं ददाति । युक्तमुक्तं भवता, यद्यपि रत्नत्रयाराधनां कृतवन्तस्तथापि यादृशेन वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपेण तद्भवे मोक्षो भवति तादृशं न जानन्तीति । अत्र यमेव शुद्धा-**

आगे वह शुद्धात्मा यद्यपि देहमें रहता है, तो भी परमसमाधिके अभावसे हरिहरादिक सरीखे भी जिसे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **देहे** ] परमात्मस्वभावसे भिन्न शरीरमें [ **वसन्नपि** ] अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर वसता है, तो भी [ **यं** ] जिसको [ **हरिहरा अपि** ] हरिहर सरीखे चतुर पुरुष [ **अद्य अपि** ] अवतक भी [ **न जानंति** ] नहीं जानते हैं । किसके विना [ **परमसमाधितपसा विना** ] वीतरागनिर्विकल्प नित्यानंद अद्वितीय सुखरूप अमृतके रसके आस्वादरूप परमसमाधिभूत महातपके विना नहीं जानते, [ **तं** ] उसको [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **भणंति** ] कहते हैं । यहाँ किसीका प्रश्न है, कि पूर्वभवमें कोई जीव जिनदीक्षा धारणकर व्यवहार निश्चयरूप रत्नत्रयकी आराधनाकर महान् पुण्यको उपार्जन करके अज्ञानभावसे निदानबंध करनेके वाद स्वर्गमें उत्पन्न होता है, पीछे आकर मनुष्य होता है, वही तीन खंडका स्वामी वासुदेव ( हरि ) कहलाता है, और कोई जीव इसी भवमें जिनदीक्षा लेकर समाधिके बलसे पुण्यबंध करता है, उसके वाद पूर्वकृत चारित्रमोहके उदयसे विषयोंमें लीन हुआ रुद्र ( हर ) कहलाता है । इसलिये वे हरिहरादिक परमात्माका स्वरूप कैसे नहीं जानते ? इसका समाधान यह है, कि तुम्हारा कहना ठीक है । यद्यपि इन हरिहरादिक महान् पुरुषोंने रत्नत्रयकी आराधना की, तो भी जिस तरहके वीतराग-निर्विकल्प-रत्नत्रयस्वरूपसे तद्भव मोक्ष होता है, वैसा रत्नत्रय इनके नहीं प्रगट हुआ, सरागरत्नत्रय हुआ है, इसीका नाम व्यवहाररत्नत्रय है । सो यह तो हुआ, लेकिन शुद्धोपयोगरूप वीतरागरत्नत्रय नहीं हुआ, इसलिये

**स्मानं साक्षादुपादेयभूतं तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थं च ते हरिहरादयो न जानन्तीति स एवोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ४२ ॥**

**अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोऽपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिवलेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्ट इति निरूपयति—**

**भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि ।**
**देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४३ ॥**

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्यां य एव ।
देहे एव दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४३ ॥

**भावाभावाभ्यां संयुक्तः पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययाभ्यां परिणतः द्रव्यार्थिकनयेन भावाभावयोः रहितः य एव वीतरागनिर्विकल्पसदानन्दैकसमाधिना तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहि वीतरागपरमसमाधिवलेनानुभवेत्यर्थः । अत्र य एव परमात्मा कृष्णनीलकापोतलेश्यास्वरूपादिसमस्तविभावरहितेन शुद्धात्मोपलब्धिध्यानेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः स एव साक्षादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४३ ॥**

---

वीतरागरत्नत्रयके धारक उसी भवसे मोक्ष जानेवाले योगी जैसा जानते हैं, वैसा ये हरिहरादिक नहीं जानते । इसी लिये परम शुद्धोपयोगियोंकी अपेक्षा इनको नहीं जाननेवाले कहा गया है, क्योंकि जैसे स्वरूपके जाननेसे साक्षात् मोक्ष होता है, वैसा स्वरूप ये नहीं जानते । यहाँपर सारांश यह है, कि जिस साक्षात् उपादेय शुद्धात्माको तद्भव मोक्षके साधक महामुनि ही आराध सकते हैं, और हरिहरादिक नहीं जान सकते, वही चिंतवन करने योग्य है ॥ ४२ ॥

आगे यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पाद व्ययकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर उत्पाद व्यय रहित है, सदा ध्रुव ( अविनाशी ) ही है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधिके बलसे तीर्थंकर देवोंनें देहमें भी देख लिया है, ऐसा कहते हैं—[ य एव ] जो [ **भावाभावाभ्यां** ] व्यवहारनयकर यद्यपि उत्पाद और व्ययकर [**संयुक्तः**] सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे [ **भावाभावाभ्यां** ] उत्पाद और विनाशसे ( "रहितः" ) रहित है, तथा [ **जिनवरैः** ] वीतरागनिर्विकल्प आनंदरूपसमाधिकर तद्भव मोक्षके साधक जिनवरदेवने [ **देहे अपि** ] देहमें भी [ **दृष्टः** ] देख लिया है, [ **तमेव** ] उसीको तू [ **परमात्मानं** ] परमात्मा [ **मन्यस्व** ] जान, अर्थात् वीतराग परमसमाधिके बलसे अनुभव कर । **भावार्थ**—जो परमात्मा कृष्ण, नील, कापोत, लेश्यारूप विभाव परिणामोंसे रहित शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप ध्यानकर जिनवरदेवने देहमें देखा है, वही साक्षात् उपादेय है ॥ ४३ ॥

अथ येन देहे वसता पञ्चेन्द्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति –

**देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।**
**उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥**

देहे वसता येन परं इन्द्रियग्रामः वसति ।
उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ४४ ॥

देहे वसता येन परं नियमेनेन्द्रियग्रामो वसति येनात्मना निश्चयेनातीन्द्रियस्वरूपेणापि व्यवहारनयेन शुद्धात्मविपरीते देहे वसता स्पर्शनादीन्द्रियग्रामो वसति, स्वसंवित्त्यभावे स्वकीयविषये प्रवर्तत इत्यर्थः । उद्वसो भवति गतेन स एवेन्द्रियग्रामो यस्मिन् भवान्तरगते सत्युद्वसो भवति स्वकीयविषयव्यापाररहितो भवति स्फुटं निश्चितं स एवंलक्षणश्चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा भवतीति । अत्र य एवातीन्द्रियसुखास्वादसमाधिरतानां मुक्तिकारणं भवति स एव सर्वप्रकारोपादेयातीन्द्रियसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४४ ॥

अथ यः पञ्चेन्द्रियैः पञ्चविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति—

**जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।**
**मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥**

यः निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् जानाति ।
ज्ञातः न पञ्चभिः पञ्चभिरपि स परमात्मा भवति ॥ ४५ ॥

**यो निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् मनुते जानाति । तद्यथा । यः कर्ता**

---

आगे देहमें जिसके रहनेसे पाँच इंद्रियरूप गाँव वसता है, और जिसके निकलनेसे पंचेन्द्रियरूप ग्राम ऊजड़ हो जाता है, 'वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[ **येन परं देहे वसता** ] जिसके केवल देहमें रहनेसे [ **इन्द्रियग्रामः** ] इन्द्रिय गाँव [ **वसति** ] रहता है, [ **गतेन** ] और जिसके परभवमें चले जानेपर [ **उद्वसः स्फुटं भवति** ] ऊजड़ निश्चयसे हो जाता है [ **स परमात्मा** ] वह परमात्मा [ **भवति** ] है । **भावार्थ**—शुद्धात्मासे जुदी ऐसी देहमें वसते आत्म-ज्ञानके अभावसे ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें ( रूपादिमें ) प्रवर्तती हैं, और जिसके चले जानेपर अपने अपने विषय-व्यापारसे रुक जातीं हैं, ऐसा चिदानन्द निज आत्मा वही परमात्मा है । अतींद्रियसुखके आस्वादी परमसमाधिमें लीन हुए मुनियोंको ऐसे परमात्माका ध्यान ही मुक्तिका कारण है, वही अतीन्द्रियसुखका साधक होनेसे सब तरह उपादेय है ॥ ४४ ॥

आगे जो पाँच इन्द्रियोंसे पाँच विषयोंको जानता है, और आप इन्द्रियोंके गोचर नहीं

शुद्धनिश्चयनयेनातीन्द्रियज्ञानमयोऽपि अनादिबन्धवशात् असद्भूतव्यवहारेणेन्द्रियमय-शरीरं गृहीत्वा स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थत्वात्पञ्चेन्द्रियैः कृत्वा पञ्चविषयान् जानाति, इन्द्रियज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः। पुनश्च कथंभूतः। **मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ** मतो न ज्ञातो न पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्चभिरपि स्पर्शादिविषयैः। तथाहि—वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानविषयोऽपि पञ्चेन्द्रियैश्च न ज्ञात इत्यर्थः। स एवंलक्षणः परमात्मा भवतीति। अत्र य एव पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादविपरीतेन वीतरागनिर्विकल्पपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादपरिणतेन समाधिना ज्ञायते, स एवात्मोपादानसिद्धमित्यादिविशेषणविशिष्टस्योपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य साधकत्वादुपादेय इति भावार्थः॥ ४५॥

अथ यस्य परमार्थेन बन्धसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति—

**जसु परमत्थेँ बंधु णवि जोइय ण वि संसारु।**
**सो परमप्पउ जाणि तुहुँ मणि मिल्लिवि ववहारु॥ ४६॥**

यस्य परमार्थेन बन्धो नैव योगिन् नापि संसारः।
तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम्॥ ४६॥

**जसु परमत्थें बंधु णवि जोइय ण वि संसारु** यस्य परमार्थेन बन्धो

---

होता है, वही परमात्मा है, यह कहते हैं—[ **यः** ] जो आत्माराम शुद्धनिश्चयनयकर अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, तो भी अनादि बंधके कारण व्यवहारनयसे इंद्रियमय शरीरको ग्रहणकर [ **निजकरणैः पंचभिरपि** ] अपनी पाँचों इंद्रियों द्वारा [ **पंचापि विषयान्** ] रूपादि पाँचों ही विषयोंको जानता है, अर्थात् इंद्रियज्ञानरूप परिणमन करके इंद्रियोंसे रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्शको जानता है, और आप [ **पंचभिः** ] पाँच इंद्रियोंकर तथा [ **पंचभिरपि** ] पाँचों विषयोंसे भी [ **मतो न** ] नहीं जाना जाता, अगोचर है, [ **स परमात्मा** ] ऐसे लक्षण जिसके हैं, वही परमात्मा [ **भवति** ] है। **भावार्थ**—पाँच इंद्रियोंके विषय-सुखके आस्वादसे विपरीत, वीतराग निर्विकल्प परमानंद समरसीभावरूप, सुखके रसका आस्वादरूप, परमसमाधि करके जो जाना जाता है, वही परमात्मा है, वह ज्ञान-गम्य है, इंद्रियोंसे अगम्य है, और उपादेयरूप अतीन्द्रिय सुखका साधन अपना स्वभावरूप वही परमात्मा आराधने योग्य है॥ ४५॥

आगे जिसके निश्चयकर बंध नहीं है, और संसार भी नहीं है, उस आत्माको तू लौकिक-व्यवहार छोड़कर अच्छी तरह पहचानो, ऐसा कहते हैं—[ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **यस्य** ] जिस चिदानन्द शुद्धात्माके [ **परमार्थेन** ] निश्चय करके [ **संसारः** ] निज स्वभावसे भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार परिवर्तन (भ्रमण) रूप संसार [ **नैव** ]

नैव हे योगिन् नापि संसारः। तद्यथा—यस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनस्तद्विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः परमागमप्रसिद्धः पञ्चप्रकारः संसारो नास्ति, इत्थंभूतसंसारस्य कारणभूतप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विलक्षणो बन्धोऽपि नास्ति, **सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिहिं ववहारु** तमेवेत्थंभूतलक्षणं परमात्मानं मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि, वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः। अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बन्धनेन च रहितः स एवानाकुलत्वलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वल्लीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्यभावेनेति कथयति—

**णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि।**
**मुक्कहँ जसु पय विंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥ ४७ ॥**

ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तिष्ठति ज्ञानं वलित्वा।
मुक्तानां यस्य पदे बिम्बितं परमस्वभावं भणित्वा ॥ ४७ ॥

**णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि** ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति व्यावृत्त्येति। यथा मण्डपाद्यभावे वल्ली व्यावृत्त्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्त्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः। कस्य संबन्धि ज्ञानम्।

---

नहीं है, [ **बंधो नापि** ] और संसारके कारण जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकारका बंध भी नहीं है। जो बंध केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्ष-पदार्थसे जुदा है, [ **तं परमात्मानं** ] उस परमात्माको [ **त्वं** ] तू [ **मनसि व्यवहारं मुक्त्वा** ] मनमेंसे सब लौकिक-व्यवहारको छोड़कर तथा वीतरागसमाधिमें ठहरकर [ **जानीहि** ] जान, अर्थात् चिन्तवन कर। **भावार्थ**—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो संसार और संसारका कारण बंध इन दोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित, ऐसे लक्षणवाला मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है, वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥ ४६ ॥

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो ज्ञानसे न जाना जावे, सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते हैं, ऐसा कहते हैं—[ **यथा** ] जैसे मंडपके अभावसे [ **वल्ली** ] बेल (लता) [ **तिष्ठति** ] ठहरती है, अर्थात् जहाँतक मंडप है, वहाँतक तो चढ़ती हैं और आगे मंडपका सहारा न मिलनेसे चढ़नेसे ठहर जाती है, उसी तरह [ **मुक्तानां** ] मुक्त-जीवोंका [ **ज्ञानं** ] ज्ञान भी जहाँतक ज्ञेय ( पदार्थ ) हैं, वहाँतक फैल जाता है, [ **ज्ञेयाभावे** ] और ज्ञेयका अवलम्बन न मिलनेसे [ **वलेपि ?** ] जाननेकी शक्ति होनेपर भी [ **तिष्ठति** ] ठहर जाता है, अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नहीं रहता,

मुक्कहं मुक्तात्मनां ज्ञानम् । कथंभूतम् । जसु पय विंबियउ यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे बिम्बितं प्रतिफलितं तदाकारेण परिणतम् । कस्मात् । परमसहाउ भणेवि परमस्वभाव इति भणित्वा मत्वा ज्ञात्वैवेत्यर्थः । अत्र यस्येत्थंभूतं ज्ञानं सिद्धसुखस्योपादेयस्याविनाभूतं स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ४७ ॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हृत इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति—

**कम्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।**
**किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥**

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि ।
किमपि न जनितो हृतः नैव तं परमात्मानं भावय ॥ ४८ ॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किम् । निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो हृतश्च नैव तं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारनयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिबन्धकानि कर्माणि सुखदुःखादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनन्तज्ञानादिस्वरूपं न हृतं न विनाशितं न चाभिनवं जनितमुत्पादितं किमपि यस्या-

---

सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, और सब भावोंको ज्ञान जानता है, ऐसे तीन लोक सरीखे अनंते लोकालोक होवें, तो भी एकसमयमें ही जान लेवे, [ **यस्य** ] जिस भगवान् परमात्माके [ **पदे** ] केवलज्ञानमें [ **परमस्वभावं** ] अपना उत्कृष्ट स्वभाव सबके जाननेरूप [ **बिंबितं** ] प्रतिभासित होरहा है, अर्थात् ज्ञान सबका अंतर्यामी है, सर्वाकार ज्ञानकी परिणति है, ऐसा [ **भणित्वा** ] जानकर ज्ञानका आराधन करो । **भावार्थ**—जहाँतक मंडप वहाँतक ही वेल (लता) की वढ़वारी है, और जब मंडपका अभाव हो, तब वेल थिर होके आगे नहीं फैलती, लेकिन वेलमें विस्तार-शक्तिका अभाव नहीं कह सकते, इसी तरह सर्वव्यापक ज्ञान केवलीका है, जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ झलकते हैं, वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंदरूप आत्माराम है, वही महामुनियोंके चित्तका विश्राम ( ठहरनेकी जगह ) है ॥ ४७ ॥

आगे जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे यद्यपि सुख-दुःखादिको उपजाते हैं, तो भी वह आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ, किसीने बनाया नहीं, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—

[ **कर्मभिः** ] ज्ञानावरणादि कर्म [ **सदापि** ] हमेशा [ **निजनिजकार्यं** ] अपने अपने सुख-दुःखादि कार्यको [ **जनयद्भिरपि** ] प्रगट करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर [ **यस्य** ] जिस आत्माका [ **किमपि** ] कुछ भी अर्थात् अनंतज्ञानादिस्वरूप [ **न जनितः** ] न तो

त्मनस्तं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यदेव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानन्दैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४८ ॥

अथ यः कर्मनिबद्धोऽपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति—

**कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि ।**
**कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥**

कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदापि ।
कर्मापि यो न कदापि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥ ४९ ॥

**कम्मणिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि** कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितम् । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न

---

नया पैदा किया और [ **नैव हृतः** ] न विनाश किया, और न दूसरी तरहका किया, [ **तं** ] उस [ **परमात्मानं** ] परमात्माको [ **भावय** ] तू चिंतवन कर । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने अपने कार्यको करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञानको ढँकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय साता असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रियसुखको घातता है, मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्रको रोकता है, आयुकर्म स्थितिके प्रमाण शरीरमें राखता है, अविनाशी भावको प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादिकको उपजाता है, गोत्रकर्म ऊंच नीच गोत्रमें डाल देता है, और अंतरायकर्म अनंतवीर्य ( बल ) को प्रगट नहीं होने देता । इस प्रकार ये कार्यको करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर आत्माका अनंतज्ञानादिस्वरूपका इन कर्मोंने न तो नाश किया, और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। ऐसे अखंड परमात्माका तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । यहाँपर यह तात्पर्य है, कि जो जीवपदार्थ कर्मोंसे न हरा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है ॥ ४८ ॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बँधा हुआ है, तो भी कर्मरूप नहीं होता, और कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं होते, आत्मा चैतन्य है, कर्म जड़ हैं, ऐसा जानकर उस परमात्माका तू ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो चिदानन्द आत्मा [ **कर्मनिबद्धोऽपि** ] ज्ञानावरणादिकर्मोंसे बँधा हुआ होनेपर भी [ **कदाचिदपि** ] कभी भी [ **कर्म नैव स्फुटं** ] कर्मरूप निश्चयसे नहीं [ **भवति** ] होता, [ **कर्म अपि** ] और कर्म भी [ **यः** ] जिस

परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंविशिष्टः । **कम्मु वि जो ण कया वि फुडु** कर्मापि यो न कदापि स्फुटं निश्चितम् । तद्यथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति, स्वकीयकर्मपुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । **सो परमप्पउ भावि** तमेवंलक्षणं परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं बहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपेऽन्तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानं भावयेति भावार्थः ॥ ४९ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति, तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्विंशतिसूत्राणि गतानि ॥

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन षट्सूत्राणि कथयन्ति । तद्यथा—

**कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति ।**
**कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ॥ ५० ॥**

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केऽपि भणन्ति ।
केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि केऽपि भणन्ति ॥ ५० ॥

**केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं, जीवं केऽपि जडं भणन्ति, केऽपि भणन्ति जीवं**

---

परमात्मरूप [ **कदाचिदपि स्फुटं** ] कभी भी निश्चयकर [ **न** ] नहीं होते, [ **तं** ] उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले [ **परमात्मानं** ] परमात्माको तू [ **भावय** ] चिन्तवन कर । **भावार्थ**—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभ कर्मोंसे व्यवहारनयकर बँधा हुआ है, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे कर्मरूप नहीं है, अर्थात् केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता, और वे ज्ञानावरणादि द्रव्य-भावरूप कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जड़रूप पुद्गलपनेको छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते, यह निश्चय है, कि जीव तो अजीव नहीं होता, और अजीव है, वह जीव नहीं होता । ऐसी अनादिकालकी मर्यादा है । इसलिये कर्मोंसे भिन्न ज्ञान-दर्शनमयी सब तरह उपादेयरूप ( आराधने योग्य ) परमात्माको तुम देह रागादि परिणतिरूप बहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्म परिणतिकी भावनारूप अन्तरात्मामें स्थिर होकर चिन्तवन करो, उसीका अनुभव करो, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ४९ ॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारमें पाँचवें स्थलमें जैसा निर्मल ज्ञानमयी प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ रहा है, ऐसे कथनकी मुख्यतासे चौबीस दोहा-सूत्र कहे गये । इसके आगे छह दोहा-सूत्रोंमें आत्मा व्यवहारनयकर अपनी देहके प्रमाण है, यह कथन करते हैं— [ **केऽपि** ] कोई नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक-दर्शनवाले [ **जीवं** ] जीवको [ **सर्वगतं** ] सर्वव्यापक [ **भणन्ति** ]

देहसमं, शून्यमपि केऽपि वदन्ति। तथाहि—केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदन्ति। सांख्याः पुनर्जडमपि कथयन्ति। जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति। बौद्धाश्च शून्यं वदन्तीति। एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति—

**अप्पा जोइय सव्वगउ अप्पा जडु वि वियाणि।**
**अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥**

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोऽपि विजानीहि।
आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥ ५१ ॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोऽपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि। तद्यथा। हे प्रभाकरभट्ट वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोऽपि भवति, देहप्रमाणोऽपि भवति, शून्योऽपि भवति नापि दोष इति भावार्थः ॥ ५१ ॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति—

**अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणे जेण।**
**लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥**

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन।
लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगः उच्यते तेन ॥ ५२ ॥

---

कहते हैं; [ **केऽपि** ] कोई सांख्य-दर्शनवाले [ **जीवं** ] जीवको [ **जडं** ] जड़ [ **भणंति** ] कहते हैं, [ **केऽपि** ] कोई बौद्ध-दर्शनवाले जीवको [ **शून्यं अपि** ] शून्य भी [ **भणंति** ] कहते हैं, [ **केऽपि** ] कोई जिनधर्मी [ **जीवं** ] जीवको [ **देहसमं** ] व्यवहारनयकर देहप्रमाण [ **भणंति** ] कहते हैं, और निश्चयनयकर लोकप्रमाण कहते हैं। वह आत्मा कैसा है ? और कैसा नहीं है ? ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये, ऐसा तात्पर्य है ॥ ५० ॥

आगे नय-विभागकर आत्मा सवरूप है, एकान्तवादकर अन्यवादी मानते हैं, सो ठीक नहीं है, इस प्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं—[ **हे योगिन्** ] हे प्रभाकरभट्ट; [ **आत्मा सर्वगतः** ] आगे कहे जानेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **जडोऽपि** ] जड़ भी है ऐसा [ **विजानीहि** ] जानो, [ **आत्मानं देहप्रमाणं** ] आत्माको देहके बराबर भी [ **मन्यस्व** ] मानो, [ **आत्मानं शून्यं** ] आत्माको शून्य भी [ **विजानीहि** ] जानो। नय-विभागसे माननेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥५१॥

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति । कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्तसुखस्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

---

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है, इसलिये सर्वव्यापक भी होसकता है, ऐसा कहते हैं—[ **आत्मा** ] यह आत्मा [ **कर्मविवर्जितः** ] कर्म रहित हुआ [ **केवलज्ञानेन** ] केवलज्ञानसे [ **येन** ] जिस कारण [ **लोकालोकमपि** ] लोक और अलोकको [ **मनुते** ] जानता है, [ **तेन** ] इसी लिये [ **हे जीव** ] हे जीव; [ **सर्वगः** ] सर्वगत [ **उच्यते** ] कहा जाता है । **भावार्थ**—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोक अलोकको जानता है, और शरीरमें रहनेपर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं, परंतु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते, उसरूप नहीं होते हैं । यहाँ कोई प्रश्न करता है, कि जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है, और निश्चयनयसे नहीं, तो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ, निश्चयनयकर न हुआ ? उसका समाधान करते हैं—जैसे अपनी आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उस तरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नहीं जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा । ज्ञानकर जानपना तो निज और परका समान है । जैसे अपनेको सन्देह रहित जानता है, वैसा ही परको भी जानता है, इसमें सन्देह नहीं समझना, लेकिन निज स्वरूपसे तो तन्मयी है, और परसे तन्मयी नहीं । और जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है, उसी तरह यदि परको भी तन्मय होकर जाने, तो परके सुख, दुःख, राग, द्वेषके ज्ञान होनेपर सुखी, दुःखी, रागी, द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण है । सो इस प्रकार कभी नहीं होसकता । यहाँ जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा, वही ज्ञान उपादेय अतीन्द्रियसुखसे अभिन्न है, सुखरूप है, ज्ञान और आनन्दमें भेद नहीं है, वही ज्ञान उपादेय है, यह अभिप्राय जानना । इस दोहामें जीवको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥ ५२ ॥

अथ येन कारणेन निजबोधं लब्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति तेन कारणेन जडो भवतीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

**जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु ।**
**इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥ ५३ ॥**

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुटयति ज्ञानम् ।
इन्द्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ॥ ५३ ॥

येन कारणेन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति विनश्यति । किं कर्तृ । ज्ञानम् । कथंभूतम् । इन्द्रियजनितं हे योगिन् तेन कारणेन जीवं जडमपि विजानीहि । तद्यथा । छद्मस्थानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञाने सत्यपीन्द्रियजनितं ज्ञानं नास्ति, केवलज्ञानिनां पुनः सर्वदैव नास्ति तेन कारणेन जडत्वमिति । अत्र इन्द्रियज्ञानं हेयमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५३ ॥

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो न वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीरप्रमाणो भवतीति निरूपयति—

**कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण ।**
**चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिँ तेण ॥ ५४ ॥**

कारणविरहितः शुद्धजीवः वर्धते क्षरति न येन ।
चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवराः ब्रुवन्ति तेन ॥ ५४ ॥

---

आगे आत्म-ज्ञानको पाकर इन्द्रिय-ज्ञान नाशको प्राप्त होता है, परमसमाधिमें आत्मस्वरूपमें लीन है, परवस्तुकी गम्य नहीं है, इसलिये नयप्रमाणकर जड़ भी है, परन्तु ज्ञानाभावरूप जड़ नहीं है, चैतन्यरूप ही है, अपेक्षासे जड़ कहा जाता है, यह अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—[ **येन** ] जिस अपेक्षा [ **निजबोधप्रतिष्ठितानां** ] आत्म-ज्ञानमें ठहरे हुए [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **इंद्रियजनितं ज्ञानं** ] इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [ **त्रुट्यति** ] नाशको प्राप्त होता है, [ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **तेन** ] उसी कारणसे [ **जीवं** ] जीवको [ **जडमपि** ] जड़ भी [ **विजानीहि** ] जानो । **भावार्थ**—महामुनियोंके वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके समयमें स्वसंवेदनज्ञान होनेपर भी इंद्रियजनित ज्ञान नहीं है, और केवलज्ञानियोंके तो किसी समय भी इंद्रियज्ञान नहीं है, केवल अतींद्रियज्ञान ही है, इसलिये इंद्रिय-ज्ञानके अभावकी अपेक्षा आत्मा जड़ भी कहा जा सकता है । यहाँपर बाह्य इंद्रिय-ज्ञान सब तरह हेय है, और अतीन्द्रिय-ज्ञान उपादेय है, यह सारांश हुआ ॥ ५३ ॥

आगे शरीरनामा नामकर्मरूप कारणसे रहित यह जीव न घटता है, और न बढ़ता है, इस कारण मुक्त-अवस्थामें चरम-शरीरसे कुछ कम पुरुषाकार रहता है, इसलिये शरीर

कारणविरहितः शुद्धजीवो वर्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणन्ति तेन कारणेनेति। तथाहि—यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धिकारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणाभावाद्वर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः। कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति। तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योऽसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव न त्वपरजनितः पश्चाद्भाजनादिना साद्यावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तस्यावरणाभावेऽपि प्रकाशविस्तारो घटते एव। जीवस्य पुनरनादिकर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति। किंरूपसंहारविस्तारौ। शरीरनामकर्मजनितौ। तेन कारणेन शुष्कमृत्तिकाभाजनवत् कारणाभावादुपसंहारविस्तारौ न भवतः। चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति। अत्र य एव मुक्तौ शुद्धबुद्धस्वभावः परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः॥ ५४॥

---

प्रमाण भी कहा जाता है, ऐसा कहते हैं—[ **येन** ] जिस हेतु [ **कारणविरहितः** ] हानि-वृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ [ **शुद्धजीवः** ] शुद्धजीव [ **न वर्धते क्षरति** ] न तो बढ़ता है, और न घटता है, [ **तेन** ] इसी कारण [ **जिनवराः** ] जिनेंद्रदेव [ **जीवं** ] जीवको [ **चरमशरीरप्रमाणं** ] चरमशरीर प्रमाण [ **ब्रुवन्ति** ] कहते हैं। **भावार्थ**—यद्यपि संसार अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण शरीरनामा नामकर्म है, उसके संबंधसे जीव घटता है, और बढ़ता है, जब महामच्छका शरीर पाता है, तब तो शरीरकी वृद्धि होती है, और जब निगोदिया शरीर धारता है, तब घट जाता है, और मुक्त-अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं, न फैलते हैं, किंतु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं, इसलिये शरीर प्रमाण है, यह निश्चय हुआ। यहाँ कोई प्रश्न करे, कि जबतक दीपकके आवरण है, तबतक तो प्रकाश नहीं हो सकता है, और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ, तब प्रकाश विस्तृत होकर फैल जाता है, उसी प्रकार मुक्ति-अवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोक-प्रमाण फैलने चाहिये, शरीर-प्रमाण ही क्यों रह गये? उसका समाधान यह है, कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है, वह स्वभावसे होता है, परसे नहीं उत्पन्न हुआ, पीछे भाजन वगैरहसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया, तब वह प्रकाश संकोचको प्राप्त हो जाता है, जब आवरणका अभाव होता है, तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोंसे ढँका हुआ है, कभी [illegible] विस्ताररूप नहीं हुआ। शरीर-प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ, इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश संकोच विस्ताररूप शरीरनामकर्मसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति—

**अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण।**
**सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥**

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन।
शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैकोऽप्यस्ति नैव शून्योऽपि भण्यते तेन कारणेनैवेति। तद्यथा। शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधातृषादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूताः, अपिशब्दात्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीवित्वे सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवत्वं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति। मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानन्तज्ञानादि-

---

सूखी मिट्टीके वर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच-विस्ताररूप नहीं होता, शरीर-प्रमाण ही रहता है, अर्थात् जबतक मिट्टीका बासन जलसे गीला रहता है, तबतक जलके सम्बन्धसे वह घट बढ़ जाता है, और जब जलका अभाव हुआ, तब बासन सूख जानेसे घटता बढ़ता नहीं है—जैसेका तैसा रहता है। उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका सम्बंध है, तबतक संसार-अवस्थामें शरीरकी हानि-वृद्धि होती है, उसकी हानि-वृद्धिसे प्रदेश सिकुड़ते हैं और फैलते हैं। तथा सिद्ध-अवस्थामें नामकर्मका अभाव हो जाता है, इस कारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता, सदा एकसे ही रहते हैं। जिस शरीरसे मुक्त हुआ, उसी प्रमाण कुछ कम रहता है। दीपकका प्रकाश तो स्वभावसे उत्पन्न है, इससे आवरणसे आच्छादित हो जाता है। जब आवरण दूर हो जाता है, तब प्रकाश सहज ही विस्तरता है। यहाँ तात्पर्य है, कि जो शुद्ध बुद्ध( ज्ञान )स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा है, वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है। जब रागका अभाव होता है, उस कालमें यह आत्मा परमात्माके समान है, वही उपादेय है ॥ ५४ ॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभाव-भावोंकर रहित होनेसे शून्य कहा जाता है, लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है, सदा पूर्ण ही है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **येन** ] जिस कारण [ **अष्टौ अपि** ] आठों ही [ **बहुविधानि कर्माणि** ] अनेक भेदोंवाले कर्म [ **नवनव दोषा अपि** ] अठारह ही दोष इनमेंसे [ **एकः अपि** ] एक भी [ **शुद्धानां** ] शुद्धात्माओंके [ **नैव अस्ति** ] नहीं है, [ **तेन** ] इसलिये [ **शून्योऽपि** ] शून्य भी [ **भण्यते** ] कहा जाता है। **भावार्थ**—इस आत्माके शुद्धनिश्चयनय-

गुणशून्यत्वमेकान्तेन बौद्धादिमतवदिति । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये-'जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ । ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा' । अत्र य एव मिथ्यात्वरागादिभावेन शून्यश्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥५५॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोऽपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतम् ।

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति । तद्यथा—

**अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पेँ जणिउ ण कोइ ।**
**दव्व-सहावेँ णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥**

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन

---

कर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं है, क्षुधादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके नाश हो जानेसे क्षुधा तृषादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं, इसलिये संसारी-जीवोंके भी शुद्धनिश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है, लेकिन रागादि विभाव-भावोंकी शून्यता ही है। तथा सिद्ध-जीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है, इसलिये विभावोंसे रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है, इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं। ज्ञानादिक शुद्ध भावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है, और जिस तरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसा अनंतज्ञानादि गुणोंसे कभी नहीं होसकता। ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकायमें भी किया है—"जेसिं जीवसहावो" इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है, कि जिन सिद्धोंके जीवका स्वभाव निश्चल है, जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है, वे सिद्धभगवान् देहसे रहित हैं, और वचनके विषयसे रहित हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कहा सकते। यहाँ मिथ्यात्व रागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, अर्थात् विभावसे शून्य स्वभावसे पूर्ण कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ५५ ॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकारकी आत्माका कथन है, ऐसे पहले महा अधिकारमें जो ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोकव्यापक कहा गया, वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यात-प्रदेशी है, तो भी अपनी देहके प्रमाण रहता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहासूत्र कहे गये। आगे द्रव्य, गुण, पर्यायके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे कहते हैं —

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति—

अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण ।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।
शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैकोऽप्यस्ति नैव शून्योऽपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तद्यथा । शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधातृपादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूताः, अपिशब्दात्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीविते सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवत्वं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति । मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानन्तज्ञानादि-

---

सूखी मिट्टीके वर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच-विस्ताररूप नहीं होता, शरीर-प्रमाण ही रहता है, अर्थात् जबतक मिट्टीका बासन जलसे गीला रहता है, तबतक जलके सम्बन्धसे वह घट बढ़ जाता है, और जब जलका अभाव हुआ, तब बासन सूख जानेसे घटता बढ़ता नहीं है—जैसेका तैसा रहता है। उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका सम्बंध है, तबतक संसार-अवस्थामें शरीरकी हानि-वृद्धि होती है, उसकी हानि-वृद्धिसे प्रदेश सिकुड़ते हैं और फैलते हैं। तथा सिद्ध-अवस्थामें नामकर्मका अभाव हो जाता है, इस कारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता, सदा एकसे ही रहते हैं। जिस शरीरसे मुक्त हुआ, उसी प्रमाण कुछ कम रहता है। दीपकका प्रकाश तो स्वभावसे उत्पन्न है, इससे आवरणसे आच्छादित हो जाता है। जब आवरण दूर हो जाता है, तब प्रकाश सहज ही विस्तरता है। यहाँ तात्पर्य है, कि जो शुद्ध बुद्ध( ज्ञान )स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा है, वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है। जब रागका अभाव होता है, उस कालमें यह आत्मा परमात्माके समान है, वही उपादेय है ॥ ५४ ॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभाव-भावोंकर रहित होनेसे शून्य कहा जाता है, लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है, सदा पूर्ण ही है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **येन** ] जिस कारण [ **अष्टौ अपि** ] आठों ही [ **बहुविधानि कर्माणि** ] अनेक भेदोंवाले कर्म [ **नवनव दोषा अपि** ] अठारह ही दोष इनमेंसे [ **एकः अपि** ] एक भी [ **शुद्धानां** ] शुद्धात्माओंके [ **नैव अस्ति** ] नहीं है, [ **तेन** ] इसलिये [ **शून्योऽपि** ] शून्य भी [ **भण्यते** ] कहा जाता है। **भावार्थ**—इस आत्माके शुद्धनिश्चयनय-

गुणशून्यत्वमेकान्तेन बौद्धादिमतवदिति । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये-'जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ । ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा' । अत्र य एव मिथ्यात्वरागादिभावेन शून्यश्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥५५॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोऽपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतम् ।

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति । तद्यथा—

अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पेँ जणिउ ण कोइ ।
दव्व-सहावेँ णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन

---

कर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं है, क्षुधादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके नाश हो जानेसे क्षुधा तृषादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं, इसलिये संसारी-जीवोंके भी शुद्धनिश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है, लेकिन रागादि विभाव-भावोंकी शून्यता ही है । तथा सिद्ध-जीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है, इसलिये विभावोंसे रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है, इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादिक शुद्ध भावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही हैं, और जिस तरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसा अनंतज्ञानादि गुणोंसे कभी नहीं होसकता । ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकायमें भी किया है—" जेसिं जीवसहावो" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है, कि जिन सिद्धोंके जीवका स्वभाव निश्चल है, जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है, वे सिद्धभगवान् देहसे रहित हैं, और वचनके विषयसे रहित हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते । यहाँ मिथ्यात्व रागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, अर्थात् विभावसे शून्य स्वभावसे पूर्ण कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ५५ ॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकारकी आत्माका कथन है, ऐसे पहले महा अधिकारमें जो ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोकव्यापक कहा गया, वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यात-प्रदेशी है, तो भी अपनी देहके प्रमाण रहता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहे गये । आगे द्रव्य, गुण, पर्यायके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे कहते हैं—

नित्यमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । संसारिजीवः शुद्धात्मसंवित्त्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्वयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्ययाविति । परिहारमाह । आगमप्रसिद्ध्यागुरुलघुकगुणहानिवृद्ध्यपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छित्त्याकारेण ज्ञानपरिणत्यपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्ययौ ज्ञातव्याविति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५६ ॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति—

---

[ **आत्मा** ] यह आत्मा [ **केन अपि** ] किसीसे भी [ **न जनितः** ] उत्पन्न नहीं हुआ, [ **आत्मना** ] और इस आत्मासे [**किमपि**] कोई द्रव्य [**न जनितं**] उत्पन्न नहीं हुआ, [ **द्रव्यस्वभावेन** ] द्रव्यस्वभावकर [ **नित्यं मन्यस्व** ] नित्य जानो, [ **पर्यायः विनश्यति भवति** ] पर्यायभावसे विनाशीक है । **भावार्थ**—यह संसारी-जीव यद्यपि व्यवहारनयकर शुद्धात्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मोंके निमित्तसे नर नारकादि पर्यायोंसे उत्पन्न होता है, और विनसता है, और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको उपजाता ( बाँधता ) है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है, कर्मोंसे उत्पन्न हुई नर नारकादि पर्यायरूप नहीं होता, और आप भी कर्म नोकर्मादिकको नहीं उपजाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है, न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है, न किसीको उपजाता है, कारण कार्यसे रहित है, अर्थात् **कारण** उपजानेवालेको कहते हैं । **कार्य** उपजनेवालेको कहते हैं । सो ये दोनों भाव वस्तुमें नहीं हैं, इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है, और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है, तथा विनाशको प्राप्त होता है । यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है, कि संसारी जीवोंके तो नर नारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीखता है, परंतु सिद्धोंके उत्पाद, व्यय, किस तरह होसकता है ? क्योंकि उनके विभाव-पर्याय नहीं है, स्वभाव-पर्याय ही है, और वे सदा अखंड अविनश्वर ही हैं । इसका समाधान यह है–कि जैसा उत्पन्न होना, मरना, चारों गतियोंमें संसारीजीवोंके है, वैसा तो उन सिद्धोंके नहीं है, वे अविनाशी हैं, परंतु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरुलघु गुणकी परिणतिरूप अर्थपर्याय है, वह समय समयमें आविर्भाव तिरोभावरूप होती है ।

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु ।
सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ॥ ५७ ॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं यत् गुणपर्याययुक्तम् ।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥ ५७ ॥

तं परियाणहि दव्वु तुहुं जं गुणपज्जयजुत्तु तत्परि समन्ताज्जानीहि द्रव्यं त्वम् । तत्किम् । यद्गुणपर्याययुक्तं, गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति । सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्याया उक्ता भणिता इति । तद्यथा । गुणपर्ययवद्द्रव्यं ज्ञातव्यम् । इदानीं तस्य तद्द्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते । सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्सामान्यलक्षणम् । अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति ।

---

अर्थात् समय समयमें पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव ( उत्पाद ) होता है । इस अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अन्य संसारी-जीवोंकी तरह नहीं हैं । सिद्धोंके एक तो अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय कहा है । अर्थपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १, असंख्यातभागवृद्धि २, संख्यातभागवृद्धि ३, संख्यातगुणवृद्धि ४, असंख्यातगुणवृद्धि ५, अनंतगुणवृद्धि ६ । अनंतभागहानि १, असंख्यातभागहानि २, संख्यातभागहानि ३, संख्यातगुणहानि ४, असंख्यातगुणहानि ५, अनंतगुणहानि ६ । ये षट्गुणी हानि-वृद्धिके नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है, सो इस षट्गुणी हानि-वृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पाद व्यय कहा जाता है । अथवा समस्त ज्ञेय-पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमते हैं, सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञान-गोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है, सो जब ज्ञेय-पदार्थमें उत्पाद व्यय हुआ, तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ, इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अथवा जब सिद्ध हुए, तब संसार-पर्यायका विनाश हुआ, सिद्ध-पर्यायका उत्पाद हुआ, तथा द्रव्य स्वभावसे सदा ध्रुव ही हैं । सिद्धोंके जन्म, जरा, मरण नहीं हैं, सदा अविनाशी हैं । सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित है, वही उपादेय है, यह भावार्थ जानना ॥ ५६ ॥

आगे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप कहते हैं—[ **यत्** ] जो [ **गुणपर्याययुक्तं** ] गुण और पर्यायोंकर सहित है, [ **तत्** ] उसको [ **त्वं** ] हे प्रभाकरभट्ट; तू [ **द्रव्यं** ] द्रव्य [ **परिजानीहि** ] जान, [ **सहभुवः** ] जो सदाकाल पाये जावें, नित्यरूप हों, वे तो [ **तेषां गुणाः** ] उन द्रव्योंके गुण हैं; [ **क्रमभुवः** ] और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हों अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजे, विनशे, नानास्वरूप हों वह [ **पर्यायाः** ]

ज्ञानमिति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं सकलमखण्डं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवन्ति । केचन साधारणाः, केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यन्ते । अस्तित्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणम् । प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेपद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम् । एवं शेपद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ५८ ॥

अथानन्तसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा ।

जीवकर्मणोरनादिसंवन्धं कथयति—

**जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।**
**कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥**

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।
कर्मणा जीवोऽपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥ ५९ ॥

---

ये चार ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान और कुमति, कुश्रुति, कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान, ये केवलकी अपेक्षा सातों ही खंडित हैं, अखंड नहीं हैं, और सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, अशुद्धता सहित हैं, इसलिये परमात्मामें एक केवलज्ञान ही है । पुद्गलमें अमूर्तगुण नहीं पाये जाते, इस कारण पाँचोंकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण । प्रदेशत्वगुण कालके विना पाँच द्रव्योंमें पाया जाता है, इसलिये पाँचकी अपेक्षा यह प्रदेशगुण साधारण है, और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है । पुद्गल-द्रव्यमें मूर्तीकगुण असाधारण है, इसीमें पाया जाता है, अन्यमें नहीं और अस्तित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं, तथा अन्यमें भी, इसलिये साधारणगुण हैं । चेतनपना पुद्गलमें सर्वथा नहीं पाया जाता । पुद्गल-परमाणुको द्रव्य कहते हैं । स्पर्श, रस, गंध, वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है । अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप है, वह **द्रव्य** है, और अस्तित्वादि **गुण**, तथा स्वभाव परिणति **पर्याय** है । जीव और पुद्गलके विना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव-गुण और विभाव-पर्याय नहीं है, तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं । उनमेंसे सिद्धोंमें तो स्वभाव ही है, और संसारीमें विभावकी मुख्यता है । पुद्गल परमाणुमें स्वभाव ही है, और स्कंधमें विभाव ही है । इस तरह छहों द्रव्योंका संक्षेपसे व्याख्यान जानना ॥ ५८ ॥

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबन्धो भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन । कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिं वि आइ ण तेण कर्मणा कर्तृभूतेन । जीवोऽपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति । इतो विशेषः । जीवकर्मणामनादिसंबन्धः पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद्व्यवहारनये संबन्धः कर्म तावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविधजीवोऽपि स्वशुद्धात्मसंवित्त्यभावोपार्जितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबन्धव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोऽप्यस्तीति निराकृतमिति भावार्थः ॥ तथा चोक्तम्—"मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अबद्धो मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥ अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्बन्धः कथं भवेत् । बन्धनं मोचनं नोचेन्मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥" ॥ ५९ ॥

---

ऐसे तीन प्रकारकी आत्माका है कथन जिसमें ऐसे पहले महाधिकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे सातवें स्थलमें तीन दोहा-सूत्र कहे । आगे आदर करने योग्य अतीन्द्रिय सुखसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिके लिये शुद्ध गुण-पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं । इनमें पहले चार दोहोंमें अनादि कर्म-संबंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहोंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहोंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादि कालका संबंध है, ऐसा कहते ह—[ हे जीव ] हे आत्मा [ जीवानां ] जीवोंके [ कर्माणि ] कर्म [ अनादीनि ] अनादि कालसे हैं, अर्थात् जीव कर्मका अनादि कालका सम्बंध है, [ तेन ] उस जीवने [ कर्म ] कर्म [ न जनितं ] नहीं उत्पन्न किये, [ कर्मणा अपि ] ज्ञानावरणादि कर्मोंने भी [ जीवः ] यह जीव [ नैव जनितः ] नहीं उपजाया, [ येन ] क्योंकि [ द्वयोः अपि ] जीव कर्म इन दोनोंका ही [ आदिः न ] आदि नहीं है, दोनों ही अनादिके हैं । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये नये कर्म समय समय बाँधता है, नये नये उपार्जन करता है, जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है, उसी तरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है, देहमें नये नये कर्मोंको विस्तारता है, यह तो बीजसे वृक्ष हुआ । इसी प्रकार जन्म-सन्तान चली जाती है । परंतु शुद्धनिश्चयनयसे विचारा जावे, तो जीव निर्मल ज्ञान दर्शन-स्वभाव ही है । जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये, और यह जीव भी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया । जीव भी अनादिका है, ये पुद्गलस्कंध भी अनादिके हैं, जीव और कर्म नये नही हैं, जीव अनादिका कर्मोंसे बँधा है । और कर्मोंके क्षयसे मुक्त होता है । इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं, कि आत्मा सदा मुक्त है, कर्मोंसे रहित है, उनका निराकरण ( खंडन ) किया । ये वृथा कहते हैं, ऐसा

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति—

एहु ववहारेँ जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविह-भावेँ परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ॥ ६० ॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।
बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥ ६० ॥

**एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु** एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनयेन हेतुं लब्ध्वा । किम् । कर्मेति **बहुविहभावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु** बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्माधर्मश्च भवतीति । तद्यथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोऽपि पश्चाद्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रबहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षसुखाभिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६० ॥

---

तात्पर्य है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है—"मुक्तश्चेत्" इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि जो यह जीव पहले बँधा हुआ होवे, तभी 'मुक्त' ऐसा कथन संभवता है, और जो पहले बँधा ही नहीं, तो फिर 'मुक्त' ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता है । मुक्त तो छूटे हुएका नाम है, सो जब बँधा ही नहीं, तो फिर 'छूटा' किस तरह कहा जा सकता है । जो अबंध है, उसको छूटा कहना ठीक नहीं । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं, उनका कथन निरर्थक है । जो यह अनादिका मुक्त ही होवे, तो पीछे बंध कैसे संभव हो सकता है । बंध होवे तभी मोचन छुटकारा होसके । जो बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥ ५९ ॥

आगे व्यवहारनयसे यह जीव पुण्य-पापरूप होता है, ऐसा कहते हैं—[**एष जीवः**] यह जीव [**व्यवहारेण**] व्यवहारनयकर [**कर्म हेतुं**] कर्मरूप कारणको [**लब्ध्वा**] पाकरके [**बहुविधभावेन**] अनेक विकल्परूप [**परिणमति**] परिणमता है । [**तेन एव**] इसीसे [**धर्मः अधर्मः**] पुण्य और पापरूप होता है । **भावार्थ**—यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर वीतराग चिदानंद स्वभाव है, तो भी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके अभावसे रागादिरूप परिणमनेसे उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके कारणको पाकर पुण्यी तथा पापी होता है । यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुण्य-पापरूप है, तो भी परमात्माकी अनुभूतिसे तन्मयी जो वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और बाह्य पदार्थोंमें इच्छाके रोकनेरूप तप, ये चार निश्चयआराधना हैं, उनकी भावनाके समय साक्षात् उपादेयरूप वीतराग परमानंद

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति—

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति।
जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ॥ ६१ ॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ अपि कर्माणि भवन्ति ।
यैः एव छादिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥ ६१ ॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवन्ति । जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहंति यैरेव कर्मभिर्झंपिताः सन्तो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तद्यथा हि—"सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुगलहुगं अव्वाबाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं" । शुद्धात्मादिपदार्थविपये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते । जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । केवलज्ञानविपये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविपयं सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेशे अनन्तजीवावगाहदानसामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकान्तेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते । वेदनीयकर्मोदय-

---

जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनंदमयी ऐसा निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥ ६० ॥

आगे कहते हैं, वे कर्म आठ हैं, जिनसे संसारी जीव बँधे हैं, कहते—श्रीगुरु अपने शिष्य मुनिसे कहते हैं, कि [ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **तानि पुनः कर्माणि** ] वे फिर कर्म [ **जीवानां अष्टौ अपि** ] जीवोंके आठ ही [ **भवंति** ] होते हैं, [ **यैः एव झंपिताः** ] जिन कर्मोंसे ही आच्छादित ( ढँके हुए ) [ **जीवाः** ] ये जीवकर [ **आत्मस्वभावं** ] अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभावको [ **नैव लभंते** ] नहीं पाते । अब उन्हीं आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं "सम्मत्त" इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है, कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान रहित जो परिणाम उसको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं, तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें, वह केवलज्ञान है, सब पदार्थोंको केवलदृष्टिसे एक ही समयमें देखे, वह केवलदर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनंतज्ञायक ( जाननेकी ) शक्ति वह अनंतवीर्य है, अतीन्द्रियज्ञानसे अमूर्तीक सूक्ष्म पदार्थोंको जानना, आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व हैं, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें ( जगहमें ) अनंते जीव समा जावें, ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहनगुण है, सर्वथा गुरुता और लघुताका अभाव

जनितसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधगुणश्चेति । इदं सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं तिष्ठति यथा तथा कथ्यते। सम्यक्त्वं मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन झंपितं, केवलदर्शनं केवलदर्शनावरणेन झंपितं, अनन्तवीर्यं वीर्यान्तरायेण प्रच्छादितं, सूक्ष्मत्वमायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम् । कस्मादितिचेत् । विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं, सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम् । गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अव्याबाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति संक्षेपेणाष्टगुणानां कर्मभिराच्छादनं ज्ञातव्यमिति। तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वकीयस्वकीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संक्षेपेणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनरमूर्तत्वनिर्नामगोत्रादयः साधारणासाधारणरूपानन्तगुणाः यथासंभवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या इति । अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः॥ ६१ ॥

---

अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरुलघु कहते हैं, और वेदनीयकर्मके उदयके अभावसे उत्पन्न हुआ समस्त बाधा रहित जो निराबाधगुण उसे अव्याबाध कहते हैं। ये सम्यक्त्वादि आठ गुण जो सिद्धोंके हैं, वे संसारावस्थामें किस किस कर्मसे ढँके हुए हैं, इसे कहते हैं—सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादित है, केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढका हैं, वीर्यान्तरायकर्मसे अनंतवीर्य ढका है, आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयुकर्म उदयसे जब जीव परभवको जाता है, वहाँ इन्द्रियज्ञानका धारक होता है, अतीन्द्रियज्ञानका अभाव होता है, इस कारण कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है, सूक्ष्मको नहीं जानता, शरीरनामकर्मके उदयसे अवगाहनगुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढक गया है, क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया, तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया, और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया और वेदनीयकर्मके उदयसे अव्याबाध गुण ढक गया, क्योंकि उसके उदय साता असातारूप सांसारिक सुख दुःखका भोक्ता हुआ । इस प्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढक गये, इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा। जब कर्मका आवरण मिट जाता है, तब सिद्धपदमें ये आठ गुण प्रकट होते हैं। यह संक्षेपसे आठ गुणोंका कथन किया। विशेषतासे अमूर्तत्व निर्नामगोत्रादिक अनंतगुण यथासंभव शास्त्र-प्रमाणसे जानने । तात्पर्य यह है, कि सम्यक्त्वादि निज शुद्ध गुणस्वरूप जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है॥ ६१ ॥

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संबद्धा भवन्ति तत्कर्मेति कथयति—

**विसय-कसायहिँ रंगियहँ जे अणुया लग्गंति ।**
**जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥ ६२ ॥**

विषयकषायैः रञ्जितानां ये अणवः लगन्ति ।
जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ॥ ६२ ॥

**विसयकसायहिं रंगियहं जे अणुया लग्गंति** विषयकषायैः रंगितानां रक्तानां ये परमाणवो लग्ना भवन्ति **जीवपएसिहिं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति** । केषु लग्ना भवन्ति । जीवप्रदेशेषु । केषाम् । मोहितानां जीवानाम् । तान् कर्मस्कन्धान् जिनाः कर्मेति कथयन्ति । तथाहि । शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणैर्विषयकषायै रक्तानां स्वसंवित्त्यभावोपार्जितमोहकर्मोदयपरिणतानां च जीवानां कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धास्तैलम्रक्षितानां मलपर्यायवदष्टविधज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणमन्तीत्यर्थः ॥ अत्र य एव विषयकषायकाले कर्मोपार्जनं करोति स एव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले साक्षादुपादेयो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६२ ॥ इति कर्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम् ॥

अथापीन्द्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति—

---

आगे विषय-कषायोंमें लीन जीवोंके जो कर्मपरमाणुओंके समूह बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं, ऐसा कहते हैं—[ **विषयकषायैः** ] विषय-कषायोंसे [ **रंगितानां** ] रागी [ **मोहितानां** ] मोही जीवोंके [ **जीवप्रदेशेषु** ] जीवके प्रदेशोंमें [ **ये अणवः** ] जो परमाणु [ **लगंति** ] लगते हैं, बँधते हैं, [ **तान्** ] उन परमाणुओंके स्कंधों ( समूहों ) को [ **जिनाः** ] जिनेन्द्रदेव [ **कर्म** ] कर्म [ **भणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो विषय-कषाय उनसे रँगे हुए आत्म-ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए मोहकर्मके उदयकर परिणत हुए, ऐसे रागी द्वेषी मोही संसारी जीवोंके कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गलस्कंध हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप होकर परिणमते हैं । जैसे तेलसे शरीर चिकना होता है, और धूलि लगकर मैलरूप होके परिणमती है, वैसे ही रागी, द्वेषी, मोही, जीवोंके विषय-कषाय-दशामें पुद्गलवर्गणा कर्मरूप होके परिणमती हैं । जो कर्मोंका उपार्जन करते हैं, वही जब वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय कर्मोंका क्षय करते हैं, तब आराधने योग्य हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कर्मस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे चार दोहे कहे । आगे पाँच इंद्रिय, मन, समस्त विभाव और चार गतिके दुःख ये सब शुद्ध निश्चयनयकर कर्मसे उपजे हैं, जीवके

**पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव।**
**जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ॥ ६३ ॥**

पञ्चापि इन्द्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः।
जीवानां कर्मणा जनिता जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ॥ ६३ ॥

**पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयलविभाव पञ्चेन्द्रियाणि अन्यन्मनः अन्यदपि पुनरपि समस्तविभावः। जीवहं कम्मइं जणिय जिय अण्णु वि चउगइताव एते जीवानां कर्मणा जनिता हे जीव, न केवलमेते अन्यदपि पुनरपि चतुर्गतिसंतापास्ते कर्मजनिता इति। तद्यथा। अतीन्द्रियात् शुद्धात्मनो यानि विपरीतानि पञ्चेन्द्रियाणि शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितात्मनो विपरीतमनेकसंकल्पविकल्पजालरूपं मनः, ये च शुद्धात्मतत्त्वानुभूतेर्विलक्षणाः समस्तविभावपर्यायाः वीतरागपरमानन्दसुखामृतप्रतिकूलाः समस्तचतुर्गतिसंतापाः दुःखदाहाश्चेति सर्वेऽप्येते अशुद्धनिश्चयनयेन स्वसंवेद्याभावोपार्जितेन कर्मणा निर्मिता जीवानामिति। अत्र परमात्मद्रव्यात्प्रतिकूलं यत्पञ्चेन्द्रियादिसमस्तविकल्पजालं तद्धेयं तद्विपरीतं स्वशुद्धात्मतत्त्वं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषादिसमस्तविकल्परहितं परमसमाधिकाले साक्षादुपादेयमिति भावार्थः ॥ ६३ ॥**

---

नहीं हैं, यह अभिप्राय मनमें रखकर दोहा-सूत्र कहते हैं—[ **पंचापि** ] पाँचों ही [ **इंद्रियाणि** ] इन्द्रियाँ [ **अन्यत्** ] भिन्न हैं, [ **मनः** ] मन [ **अपि** ] और [ **सकलविभावः** ] रागादि सब विभाव परिणाम [ **अन्यत्** ] अन्य हैं, [ **चतुर्गतितापाः अपि** ] तथा चारों गतियोंके दुःख भी [ **अन्यत्** ] अन्य हैं, [ **जीव** ] हे जीव; ये सब [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **कर्मणा** ] कर्मकर [ **जनिताः** ] उपजे हैं, जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जान। **भावार्थ**—इन्द्रिय रहित शुद्धात्मासे विपरीत जो स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, शुभ अशुभ संकल्प-विकल्पसे रहित आत्मासे विपरीत अनेक संकल्प-विकल्पसमूहरूप जो मन और शुद्धात्म तत्त्वका अनुभूतिसे भिन्न जो राग, द्वेष, मोहादिरूप सब विभाव ये सब आत्मासे जुदे हैं, तथा वीतराग परमानंद सुखरूप अमृतसे परान्मुख जो समस्त चतुर्गतिके महान् दुःखदायी दुःख वे सब जीवपदार्थसे भिन्न ह। ये सभी अशुद्धनिश्चयनयकर आत्म-ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए कर्मोंसे जीवके उत्पन्न हुए हैं। इसलिये ये सब अपने नहीं हैं, कर्मजनित हैं। यहाँपर परमात्म-द्रव्यसे विपरीत जो पाँचों इन्द्रियोंको आदि लेकर सब विकल्प-जाल हैं, वे तो त्यागने योग्य हैं, उससे विपरीत पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको आदि लेकर सब विकल्प-जालोंसे रहित अपना शुद्धात्म तत्त्व वही परमसमाधिके समय साक्षात् उपादेय है। यह तात्पर्य जानना ॥ ६३ ॥

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति—

**दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।**
**अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥ ६४ ॥**

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा पश्यति मनुते परं निश्चयः एवं भणति ॥ ६४ ॥

**दुक्खु वि सुक्खु वि बहुविहउ जीवहं कम्मु जणेइ** दुःखमपि सुखमपि । कथंभूतम् । बहुविधं जीवानां कर्म जनयति । **अप्पा देखइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ** आत्मा पुनः पश्यति जानाति परं नियमेन निश्चयनयः एवं ब्रुवते इति । तथाहि—अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति । आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुस्वरूपेण पश्यति जानाति च न च रागादिकं करोति । अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदुःखविकल्पजालं हेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६४ ॥

अथ निश्चयेन बंधमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति—

**बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।**
**अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ॥ ६५ ॥**

---

आगे संसारके सब सुख दुःख शुद्ध निश्चयनयसे शुभ अशुभ कर्मोकर उत्पन्न होते हैं, और कर्मोको ही उपजाते हैं, जीवके नहीं है, ऐसा कहते है—[ **जीवानां** ] जीवोंके [ **बहुविधं** ] अनेक तरहके [ **दुःखमपि सुखं अपि** ] दुःख और सुख दोनों ही [ **कर्म** ] कर्म ही [ **जनयति** ] उपजाता है । [ **आत्मा** ] और आत्मा [ **पश्यति** ] उपयोगमयी होनेसे देखता है, [ **परं मनुते** ] और केवल जानता है, [ **एवं** ] इस प्रकार [ **निश्चयः** ] निश्चयनय [ **भणति** ] कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवान्ने ऐसा कहा है । **भावार्थ**—आकुलता रहित पारमार्थिक वीतराग सुखसे परान्मुख ( उलटा ) जो संसारके सुख दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयकर जीवसम्बंधी हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जीवने उपजाये नहीं हैं, इसलिये जीवके नहीं हैं, कर्म-संयोगकर उत्पन्न हुए हैं, और आत्मा तो वीतराग निर्विल्पसमाधिमें स्थिर हुआ वस्तुको वस्तुके स्वरूप देखता है, जानता है, रागादिकरूप नहीं होता, उपयोगरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है, परम आनंदरूप है । यहाँ पारमार्थिक, सुखसे उलटा जो इन्द्रियजनित संसारका सुख दुःख आदि विकल्प समूह है वह त्यागने योग्य है, ऐसा भगवान्ने कहा है, यह तात्पर्य है ॥ ६४ ॥

आगे निश्चयनयकर बंध ओर मोक्ष कर्मजनित ही है, कर्मके योगसे बंध और कर्मके

वन्धमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥ ६५ ॥

**वंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ** वन्धमपि मोक्षमपि समस्तं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति **अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ** आत्मा किमपि न करोति वन्धमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति। तद्यथा। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यवन्धं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भाववन्धं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येव भणति। कोऽसौ। निश्चय इति। अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन वन्धमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः॥ ६५॥

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

**सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।**
**जिण-वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलडुल्लिओ जीवो ॥ ६५ *१ ॥**

स नास्ति इति प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।
जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥ ६५ *१ ॥

**सो णत्थि त्ति पएसो** स प्रदेशो नास्त्यत्र जगति। स किम्। **चउरासीजोणिलक्खमज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलडुल्लिओ जीवो** चतुर-

---

वियोगसे मोक्ष है, ऐसा कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव [ **वंधमपि** ] वंधको [ **मोक्षमपि** ] और मोक्षको [ **सकलं** ] सबको [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **कर्म** ] कर्म ही [ **जनयति** ] करता है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **किमपि** ] कुछ भी [ **नैव करोति** ] नहीं करता, [ **निश्चयः** ] निश्चयनय [ **एवं** ] ऐसा [ **भणति** ] कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवान्‌ने ऐसा कहा है। **भावार्थ**—अनादि कालकी संबंधवाली अयथार्थस्वरूप अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मवंध और अशुद्धनिश्चयनयसे रागादि भावकर्मके वंधको तथा दोनों नयोंसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है, तो भी शुद्धपारिणामिक परमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयसे नहीं करता है, वंध और मोक्षसे रहित है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है। यहाँ जो शुद्धनिश्चयनयकर वंध और मोक्षका कर्ता नहीं, वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है ॥ ६५ ॥

आगे दोहा-सूत्रोंकी स्थल-संख्यासे वाहर उक्तं च स्वरूप प्रक्षेपकको कहते हैं—[ **अत्र** ] इस जगत्‌में [ **स ( कः अपि )** ] ऐसा कोई भी [ **प्रदेशः नास्ति** ] प्रदेश (स्थान) नहीं है, कि [ **यत्र** ] जिस जगह [ **चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये** ] चौरासी लाख योनियोंमें होकर

लक्षेपु मध्ये भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति। तथाहि। भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाले यत्र चतुरशीतियोनिलक्षेपु मध्ये भूत्वा न भ्रमितः सोऽत्र कोऽपि प्रदेशो नास्ति इति। अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६५ * ॥

अथात्मा पङ्गुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥ ६६ ॥

आत्मा पङ्गोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति।
भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥ ६६ ॥

**अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ** आत्मा पङ्गोरनुहरति सदृशो भवति अयमात्मा न याति न चागच्छति। क। **भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ** भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति। तद्यथा। अयमात्मा शुद्धनिश्चयेनानन्तवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयरहितोऽपि व्यवहारेण अनादिसंसारे स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबन्धकेन मनोवचनकायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिगलद्वयेन दृढतरं बद्धः सन् पङ्गुवद्भूत्वा स्वयं न याति न चागच्छति स एवात्मा परमात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतेन विधिशब्दवाच्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथैवानीयते चेति। अत्र वीतरागसदा-

---

[ **जिनवचनं न लभमानः** ] जिन-वचनको नहीं प्राप्त करता हुआ [ **जीवः** ] यह जीव [ **न भ्रमितः** ] नहीं भटका। **भावार्थ**—इस जगत्में कोई ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँपर यह जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयको कहनेवाले जिन-वचनको नहीं पाता हुआ अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें होकर न घूमा हो; अर्थात् जिन-वचनकी प्रतीति न करनेसे सब-जगह और सब योनियोंमें भ्रमण किया, जन्म-मरण किये। यहाँ यह तात्पर्य है, कि जिन-वचनके न पानेसे यह जीव जगत्में भ्रमा, इसलिये जिन-वचन ही आराधने योग्य है ॥ ६६ ॥

आगे आत्मा पंगु ( लंगड़े ) की तरह आप न तो कहीं जाता है, और न आता है, कर्म ही इसको ले जाते हैं, और ले आते हैं, ऐसा कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **आत्मा** ] यह आत्मा [ **पंगोः अनुहरति** ] पंगुके समान है, [ **आत्मा** ] आप [ **न याति** ] न कहीं जाता है, [ **न आयाति** ] न आता है [ **भुवनत्रयस्य अपि मध्ये** ] तीनों लोकमें इस जीवको [ **विधिः** ] कर्म ही [ **नयति** ] ले जाता है, [ **विधिः** ] कर्म ही [ **आनयति** ] ले आता है। [ **भावार्थ**—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे अनंतवीर्य ( बल ) का धारण करने-

नन्दैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः ॥ ६७ ॥ इति कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले सूत्राष्टकं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतन्त्रसूत्रनवकं कथयति—

**अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।**
**परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमे पभणहिं जोइ ॥ ६७ ॥**

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।
पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणन्ति योगिनः ॥ ६७ ॥

**अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ** आत्मात्मैव पर एव परः आत्मा पर एव न भवति । **परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ** पर एव कदाचिद्प्यात्मा नैव भवति नियमेन निश्चयेन भणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । परमयोगिन इति । तथाहि । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मात्मैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव पूर्वोक्तः परमात्माभिधानं तदेकस्वस्वभावं त्यक्त्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादिरूपः परः क्वापि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयन्ति । अत्र मोक्षसुखादुपादेयभूतादभिन्नः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६७ ॥

---

वाला होनेसे शुभ अशुभ कर्मरूप बंधनसे रहित है, तो भी व्यवहारनयसे इस अनादि संसारमें निज शुद्धात्माकी भावनासे विमुख जो मन वचन काय इन तीनोंसे उपार्जे कर्मोंकर उत्पन्न हुए पुण्य-पापरूप बँधनोंकर अच्छी तरह बंधा हुआ पंगुके समान आप न कहीं जाता है, न कहीं आता है । जैसे बंदीवान आपसे न कहीं जाता है और न कहीं आता है, चौकीदारोंकर ले जाया जाता है, और आता है, आप तो पंगुके समान है । वही आत्मा परमात्माकी प्राप्तिके रोकनेवाले चतुर्गतिरूप संसारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीन जगत्में गमन-आगमन करता है, एक गतिसे दूसरी गतिमें जाता है । यहाँ सारांश यह है, कि वीतराग परम आनंदरूप तथा सब तरह उपादेयरूप परमात्मासे ( अपने स्वरूपसे ) भिन्न जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे त्यागने योग्य हैं ॥ ६७ ॥

इस प्रकार कर्मकी शक्तिके स्वरूपके कहनेकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें आठ दोहे कहे । इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाकी मुख्यतासे जुदे जुदे स्वतंत्र नौ सूत्र कहते हैं—[ **आत्मा** ] निजवस्तु [ **आत्मा एव** ] आत्मा ही है, [ **परः** ] देहादि पदार्थ [ **पर एव** ] पर ही हैं, [ **आत्मा** ] आत्मा तो [ **परः न एव** ] परद्रव्य नहीं [ **भवति** ] होता, [ **पर एव** ] और परद्रव्य भी [ **कदाचिदपि** ] कभी [ **आत्मा नैव** ] आत्मा नहीं होता, ऐसा [ **नियमेन** ] निश्चयकर [ **योगिनः** ] योगीश्वर [ **प्रभणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है, जड़रूप नहीं है, उपाधिरूप नहीं है,

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिं मरणं बन्धमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति—

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥ ६८॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं न मोक्षं करोति।
जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति॥ ६८॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बन्धमोक्षं च न करोति। कोऽसौ कर्ता। जीवः। केन परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं ब्रूते कथयति। तथाहि। यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबन्धान् करोति। शुद्धात्मानुभूतिसद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति। अत्राह शिष्यः। यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा। परिहारमाह। मोक्षो हि बन्धपूर्वकः, स च बन्धः शुद्धनिश्चयेन नास्ति, तेन कारणेन बन्धप्रतिपक्षभूतो मोक्षः सोऽपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह। एकः

---

शुद्धात्मस्वरूपही है। पर जो काम-क्रोधादि पर वस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म हैं, वे पर ही हैं, अपने नहीं हैं, जो यह आत्मा संसार-अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर काम क्रोधादिरूप हो गया है, तो भी परमभावके ग्राहक शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निजभावको छोड़कर काम क्रोधादिरूप नहीं होता, अर्थात् निजभावरूप ही है। ये रागादि विभावपरिणाम उपाधिक हैं, परके संबंधसे हैं, निजभाव नहीं है, इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता, ऐसा योगीश्वर कहते हैं। यहाँ उपादेयरूप मोक्ष-सुख (अतींद्रिय सुख) से तन्मय और काम-क्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है॥ ६७॥

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म, मरण, बंध, और मोक्षको नहीं करता है, जैसा है वैसा ही है, ऐसा निरूपण करते हैं—[ **हे योगिन** ] हे योगीश्वर; [ **परमार्थेन** ] निश्चयनयकर विचारा जावे, तो [ **जीवः** ] यह जीव [ **नापि उत्पद्यते** ] न तो उत्पन्न होता है, [ **नापि म्रियते** ] न मरता है [ **च** ] और [ **न बंधं मोक्षं** ] न बंध मोक्षको [ **करोति** ] करता है, अर्थात् शुद्धनिश्चयनयसे बंध-मोक्षसे रहित है, [ **एवं** ] ऐसा [ **जिनवरः** ] जिनेन्द्रदेव [ **भणति** ] कहते हैं। **भावार्थ**—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ, कर्मबंधको करता है, और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बंधका कर्ता है, और न मोक्षका कर्ता है।

कोऽपि पुरुषः शृङ्खलाबद्धस्तिष्ठति द्वितीयस्तु बन्धनरहितस्तिष्ठति यस्य बन्धभावो मुक्त इति व्यवहारो घटते, द्वितीयं प्रति मोक्षो जातो भवत इति यदि भण्यते तदा कोपं करोति । कस्माद्बन्धाभावे मोक्षवचनं कथं घटत इति । तथा जीवस्यापि शुद्धनिश्चयेन बन्धाभावे मुक्तवचनं न घटते इति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो मुक्तजीवसदृशः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६८ ॥

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिङ्गवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयन्ति—

**अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।**
**णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण ॥ ६९ ॥**

अस्ति न उद्भवः जरामरणं रोगाः अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः ।
नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥ ६९ ॥

**अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंग वि वण्ण** अस्ति न न विद्यते । किं किं नास्ति । **उब्भउ** उत्पत्तिः जरामरणं रोगा अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः **णियमिं**

---

ऐसा कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया, कि हे प्रभो; शुद्धद्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनयकर मोक्षका भी कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिये, कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है, जब मोक्ष नहीं, तब मोक्षके लिये यत्न करना वृथा है । उसका उत्तर कहते हैं—मोक्ष है, वह बंधपूर्वक है, और बंध है, वह शुद्धनिश्चयनयकर होता ही नहीं, इस कारण बंधके अभावरूप मोक्ष है, वह भी शुद्धनिश्चयनयकर नहीं है । जो शुद्धनिश्चयनयसे बंध होता, तो हमेशा बंधा ही रहता, कभी बंधका अभाव न होता । इसके बारेमें दृष्टांत कहते हैं,—कोई एक पुरुष साँकलसे बँध रहा है, और कोई एक पुरुष बंध रहित हैं, उनमेंसे जो पहले बँधा था, उसको तो 'मुक्त' ( छूटा ) ऐसा कहना, ठीक माल्म पड़ता है, और दूसरा जो बंधा ही नहीं, उसको जो 'आप छूट गये' ऐसा कहा जाय, तो वह क्रोध करे, कि मैं कब बँधा था, सो यह मुझे 'छूटा' कहता है, बँधा होवे, वह छूटे, इसलिये बँधेको तो मोक्ष कहना ठीक है, और बँधा ही न हो, उसे छूटे कैसे कहसकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनयकर बँधा हुआ नहीं है, इस कारण मुक्त कहना ठीक नहीं है । बंध भी व्यवहारनयकर है, बंध भी व्यवहारनयकर और मुक्ति भी व्यवहारनयकर है, शुद्धनिश्चयनयकर न बंध है, न मोक्ष है और अशुद्धनयकर बंध है, इसलिये बंधके नाशका यत्न भी अवश्य करना चाहिये । यहाँ यह अभिप्राय है, कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें लीन पुरुषोंको उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥ ६८

आगे निश्चयनयकर जीवके जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण, और संज्ञा नहीं है, आत्मा

वियाणि तुहुं जीवहं एक्क वि सण्ण नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वम् । कस्य नास्ति । जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिसंज्ञा नामसंज्ञा वा ग्राह्या । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पसमाधेर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृतिविभावपरिणामैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न सन्ति जीवस्य । ते कस्मान्न सन्ति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतोद्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति । अत्र उपादेयरूपानन्तसुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तत्सकाशाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥ ६९ ॥

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्न देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति—

**देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।**
**देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ॥ ७० ॥**

देहस्य उद्भवः जरामरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।
देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रम् ॥ ७० ॥

**देहस्य भवति । किं किम् । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः ।**

---

इन सब विकारोंसे रहित है, ऐसा कहते हैं—[ **हे आत्मन्** ] हे जीव आत्माराम; [ **जीवस्य** ] जीवके [ **उद्भवः न** ] जन्म नहीं [ **अस्ति** ] है, [ **जरामरणः** ] जरा ( बुढ़ापा ) मरण [ **रोगा अपि** ] रोग [ **लिंगान्यपि** ] चिन्ह [ **वर्णाः** ] वर्ण [ **एका संज्ञा अपि** ] आहारादिक एक भी संज्ञा वा नाम नहीं है, ऐसा [ **त्वं** ] तू [ **नियमेन** ] निश्चयकर [ **विजानीहि** ] जान । **भावार्थ—**वीतराग निर्विकल्पसमाधिसे विपरीत जो क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विभावपरिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्म मरण आदि अनेक विकार हैं, वे शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, क्योंकि निश्चयनयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणोंकर पूर्ण है, और अनादि-संतानसे प्राप्त जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्त्री, पुरुप, नपुंसकलिंग, सफेद काला वगैर वर्ण, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहरूप संज्ञा इन सबोंसे भिन्न है । यहाँ उपादेयरूप अनंतसुखका धाम जो शुद्ध जीव उससे भिन्न जन्मादिक हैं, वे सब त्याज्य हैं, एक आत्मा ही उपादेय है, यह तात्पर्य जानना ॥ ६९ ॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्म-मरणादि जीवके नहीं हैं, तो किसके हैं ? ऐसा शिष्यके प्रश्न करनेपर समाधान यह है, कि ये सब देहके हैं ऐसा कथन करते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे शिष्य; [ **त्वं** ] तू [ **देहस्य** ] देहके [ **उद्भवः** ] जन्म [ **जरा-मरणं** ] जरा मरण होते हैं, अर्थात् नया शरीर धरना, विद्यमान शरीर छोड़ना, वृद्ध

वर्णशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च श्वेतादि ब्राह्मणादि वा गृह्यते तस्यैव देहस्य रोगान् विजानीहीति, लिङ्गमपि लिङ्गशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गं यतिलिङ्गं वा ग्राह्यं चित्तं मनश्चेति । तद्यथा—शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयभावनाप्रतिकूलै रागद्वेषमोहैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयसंपन्ना जन्ममरणादिधर्मा यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्य सन्ति तथापि निश्चयनयेन देहस्येति ज्ञातव्यम् । अत्र देहादिममत्वरूपविकल्पजालं त्यक्त्वा यदा वीतरागसदानन्दैकरूपेण सर्वप्रकारोपादेयभूतेन परिणमति तदा स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ७० ॥

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति—

**देहहँ पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।**
**जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥७१॥**

*देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।*
*यः अजरामरः ब्रह्म परः तं आत्मानं मन्यस्व ॥ ७१ ॥*

**देहहं पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि** देहसंबन्धि दृष्ट्वा । किम् । जरामरणं । मा भयं कार्षीः हे जीव । अयमर्थो यद्यपि व्यवहारेण जीवस्य जरामरणं तथापि शुद्धनिश्चयेन देहस्य न च जीवस्येति मत्वा भयं मा कार्षीः । तर्हि किं कुरु । **जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि** यः कश्चिदजरामरो जरामरणरहितब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः सर्वोत्कृष्टस्तमित्थंभूतं

---

अवस्था होना, ये सब देहके जानो, [ **देहस्य** ] देहके [ **विचित्रः वर्णः** ] अनेक तरहके सफेद, श्याम, हरे, पीले, लालरूप पाँच वर्ण, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण, [ **देहस्य** ] देहके [ **रोगान्** ] वात, पित्त, कफ, आदि अनेक रोग [ **देहस्य** ] देहके [ **विचित्रं लिंगं** ] अनेक प्रकारके स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंगरूप चिन्हको अथवा यतिके लिंगको और द्रव्यमनको [ **विजानीहि** ] जान । **भावार्थ**—शुद्धात्माका सच्चा श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रयकी भावनासे विमुख जो राग, द्वेष, मोह उनकर उपार्जे जो कर्म उनसे उपजे जन्म मरणादि विकार हैं, वे सब यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके हैं, तो भी निश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, देहसंबंधी हैं, ऐसा जानना चाहिये । यहाँपर देहादिकमें ममतारूप विकल्प-जालको छोड़कर जिस समय यह जीव वीतराग सदा आनंदरूप सब तरह उपादेयरूप निज भावोंकर परिणमता है, तब अपना यह शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय जानो ॥ ७० ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि हे जीव; तू जरा मरण देहके जानकर डर मत कर—

[ **हे जीव** ] हे आत्माराम; तू [ **देहस्य** ] देहके [ **जरामरणं** ] बुढ़ापा मरनेको [ **दृष्ट्वा** ] देखकर [ **भयं** ] डर [ **मा कार्षीः** ] मत कर, [ **यः** ] जो [ **अजरामरः** ] अजर अमर

परं ब्रह्मस्वभावमात्मानं जानीहि पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविकल्पजालं मुक्त्वा परमसमाधौ स्थित्वा तमेव भावयेति भावार्थः ॥ ७१ ॥

अथ देहे छिद्यमानेऽपि भिद्यमानेऽपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति—

**छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।**
**अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ॥ ७२ ॥**

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं येन प्राप्नोपि भवतीरम् ॥ ७२ ॥

**छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु** छिद्यतां वा द्विधा भवतु भिद्यतां वा छिद्री भवतु क्षयं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं तथापि त्वं किं कुरु । **अप्पा भावहि णिम्मलउ** आत्मानं वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं भावय । किंविशिष्टम् । निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम् । येन किं भवति । **जिं पावहि भवतीरु** येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोपि लभसे त्वं हे जीव । किम् । भवतीरं संसारसागरावसानमिति । अत्र योऽसौ देहस्य छेदनादिव्यापारेऽपि रागद्वेषादिक्षोभमकुर्वन् सन् शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादर्वाङ्मोक्षं स गच्छतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥

---

[ **परः ब्रह्म** ] परमब्रह्म शुद्ध स्वभाव है, [ **तं** ] उसको तूँ [ **आत्मानं** ] आत्मा [ **मन्यस्व** ] जान । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके जरा मरण हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, देहके हैं, ऐसा जानकर भय मत कर, तू अपने चित्तमें ऐसा समझ, कि जो कोई जरा मरण रहित अखंड परब्रह्म है, वैसा ही मेरा स्वरूप है, शुद्धात्मा सबसे उत्कृष्ट है, ऐसा तू अपना स्वभाव जान । पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको और समस्त विकल्प-जालोंको छोड़कर परमसमाधिमें स्थिर होकर निज आत्माका ही ध्यान कर, यह तात्पर्य हुआ ॥ ७१ ॥

आगे जो देह छिद जावे, भिद जावे, क्षय हो जावे, तो भी तू भय मत कर, केवल शुद्ध आत्माका ध्यान कर, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर सूत्र कहते हैं—[ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **इदं शरीरं** ] यह शरीर [ **छिद्यतां** ] छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, [ **भिद्यतां** ] अथवा भिद जावे, छेदसहित हो जावे, [ **क्षयं यातु** ] नाशको प्राप्त होवे, तो भी तू भय मत कर, मनमें खेद मत ला, [ **निर्मलं आत्मानं** ] अपने निर्मल आत्माका ही [ **भावय** ] ध्यान-कर, अर्थात् वीतराग चिदानंद शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मसे रहित अपने आत्माका चिंतवन कर, [ **येन** ] जिस परमात्माके ध्यानसे तू [ **भवतीरं** ] भव-सागरका पार [ **प्राप्नोपि** ] पायगा । **भावार्थ**—जो देहके छेदनादि कार्य होते भी राग द्वेषादि विकल्प

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवाद्भिन्नं जानीहीति कथयति—

**कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु।**
**जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥ ७३ ॥**

कर्मणः संबन्धिनः भावाः अन्यत् अचेतनं द्रव्यम्।
जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वम् ॥ ७३ ॥

**कम्महं केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु** कर्मसंबन्धिनो रागादिभावा अन्यत् चाचेतनं देहादिद्रव्यं एतत्पूर्वोक्तं **अप्पसहावहं भिण्णु जिय** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपादात्मस्वभावान्निश्चयेन भिन्नं पृथग्भूतं हे जीव **णियमिं बुज्झहि सव्वु** नियमेन निश्चयेन बुध्यस्व जानीहि सर्वं समस्तमिति। अत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिवृत्तिपरिणामकाले शुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति—

**अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ।**
**सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ॥ ७४ ॥**

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यः परः भावः।
तं त्यक्त्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावम् ॥ ७४ ॥

**अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ** आत्मानं मुक्त्वा। किं विशिष्टम्। ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणराशिं निश्चयात् अन्यो भिन्नोऽभ्यन्तरे

---

नहीं करता, निर्विकल्पभावको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्माको ध्याता है, वह थोड़े ही समयमें मोक्षको पाता है ॥ ७२ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, जो कर्मजनित रागादिभाव और शरीरादि परवस्तु हैं, वे चेतन द्रव्य न होनेसे निश्चयनयकर जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जानो—[ **हे जीव** ] हे जीव [ **कर्मणः संबन्धिनः भावाः** ] कर्मोंकर जन्य रागादिक भाव और [ **अन्यत्** ] दूसरा [ **अचेतनं द्रव्यं** ] शरीरादिक अचेतन पदार्थ [ **सर्वं** ] इन सबको [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **जीवस्वभावात्** ] जीवके स्वभावसे [ **भिन्नं** ] जुदे [ **बुध्यस्व** ] जानो, अर्थात् ये सब कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञान दर्शनमयी है। **भावार्थ**—यह है, कि जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योगोंकी निवृत्तिरूप परिणाम हैं, उस समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥७३॥

आगे ज्ञानमयी परमात्मासे भिन्न परद्रव्यको छोड़कर तू शुद्धात्माका ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव [ **त्वं** ] तू [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानमयी [ **आत्मानं** ] आ-

मिथ्यात्वरागादिबहिर्विषये देहादिपरभावः **सो छंडेविणु जीव तुहुं भावहि अप्पसहाउ** तं पूर्वोक्तं शुद्धात्मनो विलक्षणं परभावं छंडयित्वा त्यक्त्वा हे जीव त्वं भावय । कम् । स्वशुद्धात्मस्वभावम् । किंविशिष्टम् । केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकमभेदरत्नत्रयात्मककारणसमयसारपरिणतमिति । अत्र तमेवोपादेयं जानीहीत्यभिप्रायः ॥ ७४ ॥

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति—

**अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।**
**दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥ ७५ ॥**

अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तम् ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं भावय निश्चितम् ॥ ७५ ॥

**अट्ठहं कम्महं बाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु** अष्टकर्मभ्यो बाह्यं शुद्धनिश्चयेन ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मभ्यो भिन्नं मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपसर्वदोषैस्त्यक्तम् । पुनश्च किंविशिष्टम् । **दंसणणाणचरित्तमउ** दर्शनज्ञानचारित्रमयं शुद्धोपयोगाविनाभूतैः स्वशुद्धात्मसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्निर्वृत्तं **अप्पा भावि णिरुत्तु** तामित्थंभूतमात्मानं भावय । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा भावयेत्यर्थः । **णिरुत्तु** निश्चितम् । अत्र निर्वाणसुखादुपादेयभूतादभिन्नः समस्तभावकर्मद्रव्यकर्मभ्यो भिन्नो योऽसौ शुद्धात्मा स एवाभेदरत्नत्रयपरिणतानां भव्यानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ७५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये पृथक् पृथक् स्वतन्त्रं भेदभावनास्थलसूत्रनवकं गतम् ।

---

त्माको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **अन्यः परः भावः** ] अन्य जो दूसरे भाव हैं, [ **तं** ] उनको [ **छंडयित्वा** ] छोड़कर [ **आत्मस्वभावं** ] अपने शुद्धात्म स्वभावको [ **भावय** ] चिंतवन कर । **भावार्थ**—केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकी राशि आत्मासे जुदे जो मिथ्यात्व रागादि अंदरके भाव तथा देहादि बाहिरके परभाव ऐसे जो शुद्धात्मासे विलक्षण परभाव हैं, उनको छोड़कर केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयरूप कार्यसमयसारका साधक जो अभेदरत्नत्रयरूप कारणसमयसार है, उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्म स्वभावको चिंतवन कर और उसीको उपादेय समझ ॥ ७४ ॥

आगे निश्चयनयकर आठ कर्म और सब दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रमयी आत्माको तू जान, ऐसा कहते हैं—[ **अष्टभ्यः कर्मभ्यः** ] शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे [ **बाह्यं** ] रहित [ **सकलैः दोषैः** ] मिथ्यात्व रागादि सब विकारोंसे [ **त्यक्तं** ] रहित [ **दर्शनज्ञानचरित्रमयं** ] शुद्धोपयोगके साथ रहनेवाले अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्ररूप भावस्वरूप [ **आत्मानं** ] आत्माको [**निश्चितं**] निश्चयकर [ **भावय** ] चिंतवन कर ।

तदनन्तरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतन्त्रसूत्रमेकं कथयति—

**अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ।**
**सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुचेइ ॥ ७६ ॥**

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति।
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥ ७६ ॥

**अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ** आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनान्तरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्ता वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भवति। निश्चयसम्यक्त्वभावनायां फलं कथ्यते **सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुचेइ** सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति। अत्र येनैव कारणेन वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागचारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्यविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वमेव भावनीयमित्यभिप्रायः। तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यैर्मोक्षप्राभृते निश्चयसम्यक्त्वलक्षणम्— "सद्दव्वरओ सवणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण। सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं" ॥ ७६ ॥

---

**भावार्थ**—देखे सुने अनुभवे भोगोंकी अभिलाषारूप सब विभाव-परिणामोंको छोड़कर निजस्वरूपका ध्यान कर। यहाँ उपादेयरूप अतींद्रियसुखसे तन्मयी और सब भावकर्म, द्रव्यकर्म नोकर्मसे जुदा जो शुद्धात्मा है, वही अभेद रत्नत्रयको धारण करनेवाले निकट-भव्योंको उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ७५ ॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे स्वतंत्र भेद-भावनाके स्थलमें नौ दोहा-सूत्र कहे। आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टीकी मुख्यतासे स्वतंत्र एक दोहा-सूत्र कहते हैं—[ **आत्मानं** ] अपनेको [ **आत्मना** ] अपनेसे [ **जानन्** ] जानता हुआ यह [ **जीवः** ] जीव [ **सम्यग्दृष्टिः** ] सम्यग्दृष्टि [ **भवति** ] होता है, [ **सम्यग्दृष्टिः जीवः** ] और सम्यग्दृष्टि हुआ संता [ **लघु** ] जल्दी [ **कर्मणा** ] कर्मोंसे [ **मुच्यते** ] छूट जाता है। **भावार्थ**—यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें परिणत हुआ अंतरात्मा होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है, तब सम्यग्दृष्टि होनेके कारणसे ज्ञानावरणादि कर्मोंसे शीघ्र ही छूट जाता है—रहित हो जाता है। यहाँ जिस हेतु वीतराग सम्यग्दृष्टि होनेसे यह जीव कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है, इसी कारण वीतराग चरित्रके अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग सम्यक्त्व है, वही ध्यावने योग्य है, ऐसा अभिप्राय हुआ। ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने मोक्षपाहुड़ ग्रंथमें निश्चयसम्यक्त्वके लक्षणमें किया है "सद्दव्वरओ" इत्यादि—उसका अर्थ यह है कि, आत्मस्वरूपमें मगन

अत ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा—

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ॥ ७७॥

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति।
बध्नाति बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति॥ ७७॥

पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमात्मानुभूतिरुचिप्रतिपक्षभूताभिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलान्तर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रुचिः प्रत्ययः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः। स च किंविशिष्टः। नरनारकादिविभावपर्यायरतः। तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते। बंधइ बहुविहकम्मडा जें संसारु भमेइ बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति, येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति तैश्च कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति। तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणम्—"जो पुणु परदव्वरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू। मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं॥" पुनश्चोक्तं तत्रैव—"जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा। आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा॥" अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यक्त्वात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः॥ ७७॥

---

हुआ जो यति वह निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है, फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंको क्षय करता है॥ ७६॥

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं—[**पर्यायरक्तः जीवः**] शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है, वह [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**भवति**] होता है, और फिर वह [**बहुविधकर्माणि**] अनेक प्रकारके कर्मोंको [**बध्नाति**] बाँधता है, [**येन**] जिनसे कि [**संसारं**] संसारमें [**भ्रमति**] भ्रमण करता है। **भावार्थ**—परमात्माकी अनुभूतिरूप श्रद्धासे विमुख जो आठ मद, आठ मल, छह अनायतन, तीन मूढ़ता, इन पच्चीस दोषोंकर सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम जिसके हैं, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह मिथ्यादृष्टि नर नारकादि विभाव-पर्यायोंमें लीन रहता है। उस मिथ्यात्व परिणामसे शुद्धात्माके अनुभवसे परान्मुख अनेक तरहके कर्मोंको बाँधता है, जिनसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूपी पाँच प्रकारके संसारमें भटकता है। ऐसा कोई शरीर नहीं, जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, कि जहाँ न उपजा हो, और मरण किया हो, ऐसा कोई काल नहीं है, कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों, ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने पाया न हो, और ऐसे अशुद्ध भाव नहीं हैं, जो इसके न हुए

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

**कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।**
**णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥ ७८ ॥**

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।
ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पथे पातयन्ति तानि ॥ ७८ ॥

**कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरूवइं वज्जसमाइं** कर्माणि भवन्ति । किंविशिष्टानि । दृढानि बलिष्ठानि घनानि निबिडानि चिक्कणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकाणि महान्ति वज्रसमान्यभेद्यानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति । **णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं** ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानाद्यनन्तगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रयलक्षणान्निश्चयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गे पातयन्तीति । अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

---

हों । इस तरह अनंत परावर्तन इसने किये हैं । ऐसा ही कथन मोक्षपाहुड़में निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने कहा है—" जो पुण " इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं, वे साधुके व्रत धारण करनेपर भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःख देनेवाले आठ कर्मोंको बाँधते हैं । फिर भी आचार्यने ही मोक्षपाहुड़में कहा है—" जे पज्जयेसु " इत्यादि । उसका अर्थ यह है, कि जो नर नारकादि पर्यायोंमें मगन हो रहे हैं, वे जीव परपर्यायमें रत मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा भगवान्‌ने कहा हैं, और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें तिष्ठ रहे हैं, वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानो । सारांश यह है, कि जो परपर्यायमें रत हैं, वे तो परसमय ( मिथ्यादृष्टि ) हैं, और जो आत्म-स्वभावमें लगे हुए हैं, वे स्वसमय ( सम्यग्दृष्टि ) हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहाँपर आत्मज्ञानरूपी वीतराग सम्यक्त्वसे पराङ्मुख जो मिथ्यात्व है, वह त्यागने योग्य है ॥ ७७ ॥

आगे मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोंसे यह जीव संसार-वनमें भ्रमता है, उस कर्म-शक्तिको कहते हैं—[ **तानि कर्माणि** ] वे ज्ञानावरणादि कर्म [ **ज्ञानविचक्षणं** ] ज्ञानादि गुणसे चतुर [ **जीवं** ] इस जीवको [ **उत्पथे** ] खोटे मार्गमें [ **पातयंति** ] पटकते ( डालते ) हैं । कैसे हैं, वे कर्म [ **दृढघनचिक्कणानि** ] बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करनेको अशक्य हैं, इसलिये चिकने हैं, [ **गुरुकाणि** ] भारी हैं, [ **वज्रसमानि** ] और वज्रके समान अभेद्य हैं । **भावार्थ**—यह जीव एक समयमें लोकालोकके

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति—

**जिउ मिच्छत्तेँ परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।**
**कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥ ७९ ॥**

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।
कर्मविनिर्मितान् भावान् तान् आत्मानं भणति ॥ ७९ ॥

**जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ** जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति, शुद्धात्मानुभूतिरुचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादितत्त्वं च यथावद् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतं जानाति । ततश्च किं करोति । **कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ** कर्मविनिर्मितान् भावान् तानात्मानं भणति, विशिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरस्थूलकृशादिकर्मजनितदेहधर्मात्मानं जानातीत्यर्थः । अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

---

प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिका अनंत गुणोंसे बुद्धिमान चतुर है, तो भी इस जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादन करके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत खोटे मार्गमें डालते हैं, अर्थात् मोक्ष-मार्गसे भुलाकर भव-वनमें भटकाते हैं । यहाँ यह अभिप्राय है, कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्व रागादि परिणाम हैं, वे सब हेय हैं, तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग है, वह उपादेय है ॥ ७८ ॥

आगे मिथ्यात्व परिणतिसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नहीं जानता, विपरीत जानता है, ऐसा कहते है—[ **जीवः** ] यह जीव [ **मिथ्यात्वेन परिणतः** ] अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणत हुआ, [ **तत्त्वं** ] आत्माको आदि लेकर तत्त्वोंके स्वरूपको [ **विपरीतं** ] अन्यका अन्य [ **मनुते** ] श्रद्धान करता है, यथार्थ नहीं जानता । वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, तो भी वह मिथ्याती जीव वस्तुके स्वरूपको विपरीत जानता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है, उसको मिथ्यात्व रागादिरूप जानता है । उससे क्या करता है? [ **कर्मविनिर्मितान् भावान्** ] कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं [ **तान्** ] उनको [ **आत्मानं** ] अपने [ **भणति** ] कहता है, अर्थात् भेदविज्ञानके अभावसे गोरा, श्याम, स्थूल, कृश, इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपना जानता है, इसीसे संसारमें भ्रमण करता है । **भावार्थ**—यहाँपर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है, उससे जिस समय रागादि दूर होते हैं, उस समय उपादेय है, क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है ॥ ७९ ॥

अथानन्तरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्मा आत्मनि योजयति तं परिणामं सूत्रपञ्चकेन विवृणोति—

**हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।**
**हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥**

अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।
अहं तन्वङ्गः स्थूलः अहं एतं मूढं मन्यस्व ॥ ८० ॥

अहं गौरो गौरवर्णः, अहं श्यामः श्यामवर्णः, अहमेव भिन्नो नानावर्णः मिश्रवर्णः । क्व । वर्णविषये रूपविषये । पुनश्च कथंभूतोऽहम् । तन्वङ्गः कृशाङ्गः । पुनश्च कथंभूतोऽहम् । स्थूलः स्थूलशरीरः । इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्व । एवं पूर्वोक्तमिथ्यापरिणामपरिणतं जीवं मूढात्मानं जानीहीति । अयमत्र भावार्थः । निश्चयनयेनात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् गौरस्थूलादिभावान् सर्वथा हेयभूतानपि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावे शुद्धजीवे यो योजयति स विषयकषायाधीनतया स्वशुद्धात्मानुभूतेश्च्युतः सन् मूढात्मा भवतीति ॥ ८० ॥ अथ—

**हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।**
**पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥ ८१ ॥**

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषम् ॥ ८१ ॥

**हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु** अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः

---

इसके बाद उन पूर्व कथित कर्मजनित भावोंको जिस मिथ्यात्व परिणामसे बहिरात्मा अपनेको मानता है, और वे अपने हैं नहीं, ऐसे परिणामोंको पाँच दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—[ **अहं** ] मैं [ **गौरः** ] गोरा हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **श्यामः** ] काला हूँ, [ **अहमेव** ] मैं ही [ **विभिन्नः वर्णः** ] अनेक वर्णवाला हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **तन्वंगः** ] कृश (पतले) शरीरवाला हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **स्थूलः** ] मोटा हूँ, [ **एतं** ] इस प्रकार मिथ्यात्व परिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीवको तू [ **मूढं** ] मूढ [ **मन्यस्व** ] मान । **भावार्थ**—यह हैं, कि निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न जो कर्मजनित गौर स्थूलादि भाव हैं, वे सर्वथा त्याज्य हैं, और सर्व प्रकार आराधने योग्य वीतराग नित्यानंदस्वभाव जो शुद्धजीव है, वह इनसे भिन्न है, तो भी जो पुरुष विषय कषायोंके आधीन होकर शरीरके भावोंको अपने जानता है, वह अपनी शुद्धात्मानुभूतिसे रहित हुआ मूढात्मा है ॥ ८० ॥

आगे फिर भी मिथ्यादृष्टिके लक्षण कहते हैं—[ **मूढः** ] मिथ्यादृष्टि अपनेको [ **विशेषं मनुते** ] ऐसा विशेष मानता है, कि [ **अहं** ] मैं [ **वरः ब्राह्मणः** ] सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण

अहं वैश्यो वणिग् अहं क्षत्रियोऽहं शेषः शूद्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । **पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु** पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोऽहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति संबद्धान् करोति । कोऽसौ कथंभूतः । अज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥ ८१ ॥ अथ—

**तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।**
**खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८२ ॥**

तरुणः वृद्धः रूपवान् शूरः पण्डितः दिव्यः ।
क्षपणकः वन्दकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८२ ॥

**तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु** तरुणो यौवनस्थोऽहं वृद्धोऽहं रूपस्व्यहं शूरः सुभटोऽहं पण्डितोऽहं दिव्योऽहम् । पुनश्च किंविशिष्टः । **खवणउ वंदउ सेवडउ** क्षपणको दिगम्बरोऽहं वन्दको बौद्धोऽहं श्वेतपटादिलिङ्गधारकोऽहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतरागसहजानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुण-वृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि साक्षादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोऽसौ । ख्यातिपूजालाभादिविभावपरिणामाधीनतया परमात्मभावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥ ८२ ॥ अथ—

---

हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **वैश्यः** ] वणिक् हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **क्षत्रियः** ] क्षत्री हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **शेषः** ] इनके सिवाय शूद्र हूँ, [ **अहं** ] मैं [ **पुरुषः नपुंसकः स्त्री** ] पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, और स्त्री हूँ। इस प्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख अपने मानता है । सो ये सब शरीरके हैं, आत्माके नहीं हैं। **भावार्थ**—यहाँपर ऐसा है, कि निश्चयनयसे ये ब्राह्मणादि भेद कर्मजनित हैं, परमात्माके नहीं हैं, इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके त्याज्यरूप हैं, तो भी जो निश्चयनयकर आराधने योग्य वीतराग सदा आनंदस्वभाव निज शुद्धात्मामें इन भेदोंको लगाता है, अर्थात् अपनेको ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, मानता है, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मानता है, वह कर्मोंका बंध करता है, वही अज्ञानसे परिणत हुआ निज शुद्धात्म तत्त्वकी भावनासे रहित हुआ मूढ़ात्मा है, ज्ञानवान् नहीं है ॥ ८१ ॥

आगे फिर मूढ़के लक्षण कहते हैं—[ **तरुणः** ] मैं जवान हूँ, [ **वृद्धः** ] बुड्ढा हूँ, [ **रूपस्वी** ] रूपवान् हूँ, [ **शूरः** ] शूरवीर हूँ, [ **पंडितः** ] पंडित हूँ, [ **दिव्यः** ] सबमें श्रेष्ठ हूँ, [ **क्षपणकः** ] दिगंबर हूँ, [ **वंदकः** ] बौद्धमतका आचार्य हूँ, [ **श्वेतपटः** ] और मैं श्वेतांबर हूँ, इत्यादि [ **सर्वं** ] सब शरीरके भेदोंको [ **मूढः** ] मूर्ख [ **मन्यते** ] अपने मानता है। ये

**जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु।**
**माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥**

जननी जननः अपि कान्ता गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यम्।
मायाजालमपि आत्मीयं मूढः मन्यते सर्वम्॥ ८३ ॥

**जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु** जननी माता जननः पितापि कान्ता भार्या गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं **मायाजालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु** मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते। कोऽसौ। मूढो मूढात्मा। कतिसंख्योपेतमपि। सर्वमपीति। अयमत्र भावार्थः। जनन्यादिकं परस्वरूपमपि शुद्धात्मनो भिन्नमपि हेयस्याशेपनारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयमपि साक्षादुपादेयभूतानाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यादभिन्ने वीतराग-परमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मतत्त्वे योजयति। स कः। मनोवचनकायव्यापारपरिणतः स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाशून्यो मूढात्मेति॥ ८३॥ अथ—

---

भेद जीवके नहीं है। **भावार्थ**—यहाँपर यह है कि, यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब तरुण वृद्धादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं, तो भी निश्चयनयकर वीतराग सहजानंद एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं। ये तरुणादि विभावपर्याय कर्मके उदयकर उत्पन्न हुए हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, तो भी उनको साक्षात् उपादेयरूप निज शुद्धात्म तत्त्वमें जो लगाता है, अर्थात् आत्माके मानता है, वह अज्ञानी जीव वड़ाई प्रतिष्ठा धनका लाभ इत्यादि विभाव परिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित हुआ मूढ़ात्मा है, वह जीवके ही भाव मानता है॥ ८२॥

आगे फिर भी मूढ़के लक्षण कहते हैं—[ **जननी** ] माता [ **जननः** ] पिता [ **अपि** ] और [ **कांता** ] स्त्री [ **गृहं** ] घर [ **पुत्रः अपि** ] और वेटा वेटी [ **मित्रमपि** ] मित्र वगैरह सब कुटुम्बीजन वहिन भांनजी नाना मामा भाई वंधु और [ **द्रव्यं** ] रत्न माणिक मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य, द्विपद-वांदी धाय नौकर चौपाये-गाय वैल घोड़ा घोड़ी ऊंट हाथी रथ पालकी वहली, ये [ **सर्वं** ] सब [ **मायाजालमपि** ] असत्य हैं, कर्मजनित हैं, तो भी [ **मूढः** ] अज्ञानी जीव [ **आत्मीयं** ] अपने [ **मन्यते** ] मानता है। **भावार्थ**—ये माता पिता आदि सब कुटुम्बीजन परस्वरूप भी हैं, सब स्वारथके हैं, शुद्धात्मासे भिन्न भी हैं, शरीर संबंधी हैं, हेयरूप सांसारीक नारकादि दुःखोंके कारण होनेसे त्याज्य भी हैं, उनको जो जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलतास्वरूप परमार्थिक सुखसे अभिन्न वीतराग परमानंदरूप एकस्वभाववाले शुद्धात्मद्रव्यमें लगाता हे, अर्थात् अपने मानता है, वह मन वचन कायरूप परिणत हुआ शुद्ध अपने आत्मद्रव्यकी भावनासे शून्य ( रहित ) मूढ़ात्मा है,

**दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।**
**मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥ ८४ ॥**

दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।
मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥ ८४ ॥

**दुक्खहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ** दुःखस्य कारणं ये विषयास्तान् विषयान् सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः । **मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ** मिथ्यादृष्टिर्जीवः । **इत्थु ण काइं करेइ** अत्र जगति योऽसौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमकृत्यं पापं न करोति अपि तु सर्वं करोत्येवेति । अत्र तात्पर्यम् । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दपरमसमरसीभावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥ ८४ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये 'जिउ मिच्छत्तें' इत्यादिसूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं समाप्तम् ॥

तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते । अथ—

**कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।**
**तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमेँ अप्पु मुणेइ ॥ ८५ ॥**

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।
तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥ ८५ ॥

---

ऐसा जानो, अर्थात् अतींद्रियसुखरूप आत्मामें परवस्तुका क्या प्रयोजन है । जो परवस्तुको अपना मानता है, वही मूर्ख है ॥ ८३ ॥

अब और भी मूढ़का लक्षण कहते हैं—[ **दुःखस्य** ] दुःखके [ **कारणं** ] कारण [ **ये** ] जो [ **विषयाः** ] पाँच इंद्रियोंके विषय हैं, [ **तान्** ] उनको [ **सुखहेतून्** ] सुखके कारण जानकर [ **रमते** ] रमण करता है, वह [ **मिथ्यादृष्टिः जीवः** ] मिथ्यादृष्टि जीव [ **अत्र** ] इस संसारमें [ **किं न करोति** ] क्या पाप नहीं करता? सभी पाप करता है, अर्थात् जीवोंकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरेका धन हरता है, दूसरेकी स्त्री सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरंभ करता है, खेती करता है, खोटे खोटे व्यसन सेवता है, जो न करनेके काम हैं, उनको भी करता है । **भावार्थ**—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमानंद परमसमरसीभावरूप सुखसे परान्मुख हुआ निश्चयकर महा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है, सो इनमें सुख नहीं हैं ॥ ८४ ॥

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ कालं लब्ध्वा हे योगिन् यथा यथा मोहो विगलति तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः। तदनन्तरं किं करोति। णियमें अप्पु मुणेइ नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः। तथाहि—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःप्राप्ता काललब्धिः, कथंचित्काकतालीयन्यायेन तां लब्ध्वा परमागमकथितमार्गेण मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलंभप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते। शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धात्मतत्त्वं मनुते जानातीति। अत्र यस्यैवोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयसम्यग्दृष्टिर्जातो जीवः, स एवोपादेय इति भावार्थः॥ ८५॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपक्षभूतां यादृशीं भेदभावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणे जोइ॥ ८६॥

आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति।
आत्मा सूक्ष्मोऽपि स्थूलः नापि ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति॥ ८६॥

---

इस प्रकार तीन तरहकी आत्माकी कहनेवाले पहले महा अधिकारमें "जिउ मिच्छत्तें" इत्यादि आठ दोहोंमेंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया। इसके आगे सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे "काल लहेविणु" इत्यादि आठ दोहा-सूत्र कहते हैं—[ हे योगिन् ] हे योगी, [ कालं लब्ध्वा ] काल पाकर [ यथा यथा ] जैसा जैसा [ मोहः ] मोह [ गलति ] गलता है-कम होता जाता है, [ तथा तथा ] तैसा तैसा [ जीवः ] यह जीव [ दर्शनं ] सम्यग्दर्शनको [ लभते ] पाता है, फिर [ नियमेन ] निश्चयसे [ आत्मानं ] अपने स्वरूपको [ मनुते ] जानता है। **भावार्थ**—एकेंद्रीसे विकलत्रय ( दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री ) होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे पंचेंद्री, पंचेंद्रीसे सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है। मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, शुद्धात्माका उपदेश आदि मिलना उत्तरोत्तर बहुत कठिन है, और किसी तरह "काकतालीय न्यायसे" काललब्धिको पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन-शास्त्रोक्त मार्गसे मिथ्यात्वादिके दूर हो जानेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए, जैसा जैसा मोह क्षीण होता जाता है, वैसा वैसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप सम्यक्त्व होता है। शुद्ध आत्मा और कर्मको जुदे जुदे जानता है। जिस शुद्धात्माकी रुचिरूप परिणामसे यह जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि होता है, वही उपादेय है, यह तात्पर्य हुआ॥ ८५॥

आत्मा गौरो न भवति कृष्णो न भवति रक्तो न भवति आत्मा सूक्ष्मोऽपि न भवति स्थूलोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा 'णाणिउ जाणइ जोइं' इति पाठान्तरं, ज्ञानी योऽसौ योगी स जानात्यात्मानम् । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोऽसौ जानाति । योगीति । तथाहि—कृष्णगौरादिकधर्मान् व्यवहारेण जीवसंबद्धानपि तथापि शुद्धात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् हेयान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति संबद्धान्न करोतीति भावार्थः ॥ ८६ ॥ अथ—

**अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।**
**पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥ ८७ ॥**

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषम् ॥ ८७ ॥

**अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि** आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योऽपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुषनपुंसकस्त्रीलिङ्गरूपोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । **णाणिउ मुणइ असेसु** ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् । किं करोति ॥ मनुते जानाति । कम् । अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति । तद्यथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुंल्लिङ्गादिलिङ्गभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्धेयभूतान्

---

इसके बाद पूर्वकथित रीतिसे सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्वकी भावनासे विपरीत जैसी भेदविज्ञानकी भावनाको करता है, वैसी भेदविज्ञान-भावनाका स्वरूप क्रमसे सात दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—[ **आत्मा** ] आत्मा [ **गौरः कृष्णः नापि** ] सफेद नहीं है, काला नहीं है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **रक्तः** ] लाल [ **न भवति** ] नहीं है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव** ] सूक्ष्म भी नहीं है, और स्थूल भी नहीं है, [ **ज्ञानी** ] ज्ञानस्वरूप है, [ **ज्ञानेन** ] ज्ञानदृष्टिसे [**पश्यति**] देखा जाता है, अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ज्ञानकर आत्माको जानता है । **भावार्थ**—ये स्वेत काले आदि धर्म व्यवहारनयकर शरीरके सम्बन्धसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मासे जुदे हैं, कर्मजनित हैं, त्यागने योग्य हैं । जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी है, वह निज शुद्धात्मतत्त्वमें इन धर्मोंको नहीं लगाता, अर्थात् इनको अपने नहीं समझता है ॥ ८६ ॥

आगे ब्राह्मणादि वर्ण आत्माके नहीं हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—[ **आत्मा** ] आत्मा [ **ब्राह्मणः वैश्यः नापि** ] ब्राह्मण नहीं है, वैश्य भी नहीं है, [ **क्षत्रियः नापि** ] क्षत्री भी नहीं है, [ **शेषः** ] बाकी शूद्र भी [ **नापि** ] नहीं है, [ **पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि** ] पुरुष नपुंसक स्त्रीलिंगरूप भी नहीं है, [ **ज्ञानी** ] ज्ञानस्वरूप हुआ [ **अशेषं** ] समस्त वस्तुओंको

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोऽन्तरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ८७ ॥ अथ—

**अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।**
**अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८८ ॥**

आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।
आत्मा लिङ्गी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥ ८८ ॥

आत्मा वन्दको बौद्धो न भवति, आत्मा क्षपणको दिगम्बरो न भवति, आत्मा गुरवशब्दवाच्यः श्वेताम्बरो न भवति । आत्मा एकदण्डित्रिदण्डिहंसपरमहंससंज्ञाः सन्न्यासी शिखी मुण्डी योगदण्डाक्षमालातिलककुलकघोषप्रभृतिवेषधारी नैकोऽपि कश्चिदपि लिङ्गी न भवति । तर्हि कथंभूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोऽसौ जानाति योगी ध्यानीति । तथाहि –यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वन्दकादिलिङ्गी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोऽपि लिङ्गी न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाश्रितं द्रव्यलिङ्गमुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं भण्यते, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिङ्गं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वादुपचारेण शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते, तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥ ८८ ॥ अथ—

---

ज्ञानसे [मनुते] जानता है । **भावार्थ**—जो ब्राह्मणादि वर्ण-भेद हैं, और पुरुष लिंगादि तीन लिंग हैं, वे यद्यपि व्यवहारनयकर देहके संबंधसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर आत्मासे भिन्न हैं, और साक्षात् त्यागने योग्य हैं, उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं समझता । आपको तो वह ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥ ८७ ॥

आगे वंदक क्षपणकादि भेद भी जीवके नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—[ **आत्मा** ] आत्मा [ **वंदकः क्षपणः नापि** ] बौद्धका आचार्य नहीं है, दिगंबर भी नहीं है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **गुरवः न भवति** ] श्वेताम्बर भी नहीं है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **एकः अपि** ] कोई भी [ **लिंगी** ] वेशका धारी [ **न** ] नहीं है, अर्थात् एकदंडी, त्रिदंडी, हंस, परमहंस, सन्यासी, जटाधारी, मुंडित, रुद्राक्षकी माला तिलक कुलक घोष वगैरः भेषोंमें कोई भी भेषधारी नहीं है, एक [ **ज्ञानी** ] ज्ञानस्वरूप हैं, उस आत्माको [ **योगी** ] ध्यानी मुनि ध्यानारूढ होकर [ **जानाति** ] जानता है, ध्यान करता है । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयकर यह आत्मा वंदकादि अनेक भेषोंको धरता है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर कोई भी भेष जीवके नहीं है, देहके हैं । यहाँ देहके आश्रयसे जो द्रव्यलिंग है, वह उपचरितासद्भूतव्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नहीं है

**अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।**
**सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥ ८९ ॥**

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नैव नैव स्वामी नैव भृत्यः ।
शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥ ८९ ॥

**आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो हीनसत्त्वो नैव भवति नैवोत्तमः उत्तमकुलप्रसूतः नैव नीचो नीचकुलप्रसूत इति । तद्यथा । गुरुशिष्यादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारेण जीवस्वरूपांस्तथापि शुद्धनिश्चयेन परमात्मद्रव्याद्भिन्नान् हेयभूतान् वीतरागपरमानन्दैकस्वशुद्धात्मोपलब्धेश्च्युतो वहिरात्मा स्वात्मसंवद्धान् करोति तानेव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् जानातीति भावार्थः ॥ ८९ ॥ अथ—**

**अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।**
**अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ९० ॥**

आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यग् न भवति ।
आत्मा नारकः क्वापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥ ९० ॥

**अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ अप्पा णारउ कहिं वि**

---

क्योंकि जब देह ही जीवकी नहीं, तो भेष कैसे हो सकता है ? इसलिये द्रव्य लिंग तो सर्वथा ही नहीं है, और वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपका साधक है, इसलिये उपचारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीवका नहीं है । भावलिंग साधनरूप है, वह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है ॥ ८८ ॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नहीं है—[ **आत्मा** ] आत्मा [ **गुरुः नैव** ] गुरु नहीं है, [ **शिष्यः नैव** ] शिष्य भी नहीं है, [ **स्वामी नैव** ] स्वामी भी नहीं है, [ **भृत्यः नैव** ] नौकर नहीं है, [ **शूरः कातरः नैव** ] सूरवीर नहीं है, कायर नहीं है, [ **उत्तमः नैव** ] उच्चकुली नहीं है, [ **नीचः नैव भवति** ] और नीचकुली भी नहीं है । **भावार्थ**—ये सब गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवकादि संबंध यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके स्वरूप हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्मासे जुदे है, आत्माके नहीं हैं, त्यागने योग्य हैं, इन भेदोंको वीतरागपरमानंद निज शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने समझता है, और इन्हीं भेदोंको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें रहता हुआ अंतरात्मा सम्यग्दृष्टिजीव पररूप ( दूसरे ) जानता है ॥ ८९ ॥

**णवि** आत्मा मनुष्यो न भवति देवो नैव भवति आत्मा तिर्यग्योनिर्न भवति आत्मा नारकः क्वापि काले न भवति । तर्हि किंविशिष्टो भवति । **णाणिउ जाणइ जोइ** ज्ञानी ज्ञानरूपो भवति । तमात्मानं कोऽसौ जानाति । योगी कोऽर्थः । त्रिगुप्तिनिर्विकल्पसमाधिस्थ इति । तथाहि । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतैः रागद्वेषादिविभावपरिणामजालैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान् मनुष्यादिविभावपर्यायान् भेदाभेदरत्नत्रयभावनाच्युतो वहिरात्मा स्वात्मतत्त्वे योजयति । तद्विपरीतोऽन्तरात्मशब्दवाच्यो ज्ञानी पृथक् जानातीत्यभिप्रायः ॥ ९० ॥ अथ—

**अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।**
**तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥ ९१ ॥**

आत्मा पण्डितः मूर्खः नैव नैव ईश्वरः नैव निःस्वः ।
तरुणः वृद्धः वालः नैव अन्यः अपि कर्मविशेषः ॥ ९१ ॥

**अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु तरुणउ बूढउ बालु णवि** आत्मा पण्डितो न भवति मूर्खो नैव ईश्वरः समर्थो नैव निःस्वो दरिद्रः तरुणो वृद्धो वालोऽपि नैव । पण्डितादिस्वरूपं यद्यात्मस्वभावो न भवति तर्हि किं भवति । **अण्णु वि कम्मविसेसु** अन्य एव कर्मजनितोऽयं विभावपर्यायविशेष इति । तद्यथा । पण्डितादिसंवन्धान् यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्वभावान् तथापि शुद्धनिश्चयेन

---

आगे आत्माका स्वरूप कहते हैं—[ **आत्मा** ] जीव पदार्थ [ **मनुष्यः देवः नापि** ] न तो मनुष्य है, न तो देव है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **तिर्यक् न भवति** ] तिर्यंच पशु भी नहीं है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **नारकः** ] नारकी भी [ **क्वापि नैव** ] कभी नहीं, अर्थात् किसी प्रकार भी पररूप नहीं है, परंतु [ **ज्ञानी** ] ज्ञानस्वरूप है, उसको [ **योगी** ] मुनिराज तीन गुप्तिके धारक और निर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए [ **जानाति** ] जानते हैं । **भावार्थ**—निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे उलटे राग द्वेषादि विभाव-परिणामोंसे उपार्जन किये जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभाव-पर्यायोंको भेदाभेदस्वरूप रत्नत्रयकी भावनासे रहित हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इस अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायोंको अपनेसे जुदा जानता है ॥ ९० ॥

आगे फिर आत्माका स्वरूप कहते हैं—[ **आत्मा** ] चिद्रूप आत्मा [ **पंडितः** ] विद्यावान् व [ **मूर्खः** ] मूर्ख [ **नैव** ] नहीं है, [ **ईश्वरः** ] धनवान् सब बातोंमें समर्थ भी [ **नैव** ] नहीं है, [ **निःस्वः** ] दरिद्री भी [ **नैव** ] नहीं हैं, [ **तरुणः वृद्धः वालः नैव** ] जवान, बूढ़ा, और वालक भी नहीं है, [ **अन्यः अपि कर्मविशेषः** ] ये सब पर्यायें आत्मासे

शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नान् सर्वप्रकारेण हेयभूतान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानभावनारहितोऽपि वहिरात्मा स्वस्मिन्नियोजयति तानेव पण्डितादिविभावपर्यायांस्तद्विपरीतो योऽसौ चान्तरात्मा परस्मिन् कर्मणि नियोजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ९१ ॥ अथ—

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥ ९२ ॥

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः ।
एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावम् ॥ ९२ ॥

**पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ** पुण्यमपि पापमपि कालः नभः आकाशं धर्माधर्ममपि कायः शरीरं, **एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयणभाउ** इदं पूर्वोक्तमेकमप्यात्मा न भवति । किं कृत्वा । मुक्त्वा । किं चेतनभावमिति । तथाहि । व्यवहारनयेनात्मनः सकाशादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् हेयभूतान् पुण्यपापादिधर्माधर्मान्मिथ्यात्वरागादिपरिणतो वहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव पुण्यपापादिसमस्तसंकल्पविकल्पपरिहारभावनारूपे स्वशुद्धात्मद्रव्ये सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मके परमसमाधौ स्थितोऽन्तरात्मा शुद्धात्मनः सकाशात् पृथग् जानातीति तात्पर्यार्थः ॥९२॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टिभावनास्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तम् ॥

अथानन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्यादि प्रक्षेपकान् विहायैकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा—

---

जुदे कर्मके विशेष हैं, अर्थात् कर्मसे उत्पन्न हुए विभाव-पर्याय हैं । **भावार्थ**—यद्यपि शरीरके संबंधसे पंडित वगैरह भेद व्यवहारनयसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न हैं, और सर्वथा त्यागने योग्य हैं । इन भेदोंको वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इन्हींको पंडितादि विभावपर्यायोंको अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपनेसे जुदे कर्मजनित जानता है ॥ ९१ ॥

आगे आत्माका चेतनभाव वर्णन करते हैं—[ **पुण्यमपि** ] पुण्यरूप शुभकर्म [ **पापमपि** ] पापरूप अशुभकर्म [ **कालः** ] अतीत अनागत वर्तमान काल [ **नभः** ] आकाश [ **धर्माधर्ममपि** ] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [ **कायः** ] शरीर, इनमेंसे [ **एक अपि** ] एक भी [ **आत्मा** ] आत्मा [ **नैव भवति** ] नहीं है, [ **चेतनभावं मुक्त्वा** ] चेतनभावको छोड़कर अर्थात् एक चेतनभाव ही अपना है । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर यद्यपि पुण्य पापादि आत्मासे अभिन्न हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर भिन्न हैं, और त्यागने योग्य हैं, उन परभावोंको मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ वहिरात्मा अपने जानता है, और उन्हींको

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

**अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।**
**अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥ ९३ ॥**

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानम् ।
आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानम् ॥ ९३ ॥

**अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासयमोक्खपउ** आत्मा संयमो भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति ज्ञानं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति । अथवा पाठान्तरं 'सासयमुक्खपहु' शाश्वतमोक्षस्य पन्था मार्गः, अथवा 'सासयसुक्खपउ' शाश्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् सन् । **जाणंतउ अप्पाणु** जानन्ननुभवन् । कम् । आत्मानमिति । तद्यथा । वहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेन साध्यासाधकभावेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात् स्थितिकरणात् संयमो भवति, वहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणेन व्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति । वाहिरङ्गेन सहकारिकारणभूतानशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्तपश्चरणं

---

पुण्य पापादि समस्त संकल्प विकल्परहित निज शुद्धात्म द्रव्यमें सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परमसमाधिमें तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मासे जुदे जानता है ॥ ९२ ॥

ऐसे वहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारके आत्माका जिसमें कथन है, ऐसे पहले अधिकारमें मिथ्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहा-सूत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे "अप्पा संजमु" इत्यादि इकतीस दोहापर्यंत क्षेपक-सूत्रोंको छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं, उसमें भी जो शिष्यने प्रश्न किया, कि यदि पुण्य पापादिरूप आत्मा नहीं है, तो कैसा है? ऐसे प्रश्नका श्रीगुरु समाधान करते हैं—[ **आत्मा** ] निज गुण-पर्यायका धारक ज्ञानस्वरूप चिदानंद ही [ **संयमः** ] संयम है, [ **शीलः तपः** ] शील है, तप है, [ **आत्मा** ] आत्मा [ **दर्शनं ज्ञानं** ] दर्शन ज्ञान है, और [ **आत्मानं जानन्** ] अपनेको जानता अनुभवता हुआ [ **आत्मा** ] आत्मा [ **शाश्वतमोक्षपदं** ] अविनाशी सुखका स्थान मोक्षका मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहते हैं। **भावार्थ**—पाँच इंद्रियाँ और मनका रोकना व छह कायके जीवोंकी दयास्वरूप ऐसे इंद्रियसंयम तथा प्राणसंयम इन दोनोंके बलसे साध्य-साधक भावकर निश्चयसे अपने शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिर होनेसे आत्माको **संयम** कहा गया है, वहिरंग सहकारी निश्चयशीलका कारणरूप जो काम क्रोधादिके

भवति। स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिकरणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति। वीतरागस्वसंवेदनज्ञानानुभवनान्निश्चयज्ञानं भवति। मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन परमात्मतत्त्वे परमसमरसीभावपरिणमनाच्च मोक्षमार्गो भवतीति। अत्र वहिरङ्गद्रव्येन्द्रियसंयमादिप्रतिपादनादभ्यन्तरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधकत्वादात्मैवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ९३ ॥

अथ स्वशुद्धात्मसंवित्तिं विहाय निश्चयनयेनान्यद्दर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रं कथयति—

**अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु।**
**अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥ ९४ ॥**

अन्यद् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदेव अस्ति न ज्ञानम्।
अन्यद् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥ ९४ ॥

**अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय** अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति हे जीव। किं कृत्वा। **मेल्लिवि अप्पा जाणु** मुक्त्वा। कम्। आत्मानं जानीहीति। तथाहि यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चय-

---

त्यागरूप व्रतकी रक्षा वह व्यवहारशील है, और निश्चयकर अंतरंगमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका निर्मल अनुभव वह **शील** कहा जाता है, सो शीलरूप आत्मा ही कहा गया है, बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बारह प्रकारका तप है, उससे तथा निश्चयकर अंतरंगमें सब परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतापरूप तिष्ठ रहा है, इस कारण और समस्त विभावपरिणामोंके जीतनेसे आत्मा ही 'तपश्चरण' है, और आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिरूप सम्यक्त्व है, वह सर्वथा उपादेयरूप है, इससे सम्यग्दर्शन आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतरागसंवेदनज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही निश्चयज्ञानरूप है, और मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्पजालको त्यागकर परमात्मतत्त्वमें परमसमरसीभावके परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह है, कि वहिरंग द्रव्येंद्रिय-संयमादिके पालनेसे अंतरंगमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिकके परिणमनसे उपादेयसुख जो अतींद्रियसुख उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥ ९३ ॥

आगे निज शुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर निश्चयनयसे दूसरा कोई दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं है, इस अभिप्रायको मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—[**हे जीव**] हे जीव [**आत्मानं**] आत्माको [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**अन्यदपि**] दूसरा कोई भी [**दर्शनं**] दर्शन [**न एव**]

सम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपपरिणामपरिणतशुद्धात्मैव निश्चयसम्यक्त्वं भवति। यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वाच्च व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति। यद्यपि निश्चयचारित्रसाधकत्वान्मूलोत्तरगुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति। अत्रोक्तलक्षणेऽभेदरत्नत्रयपरिणतः परमात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ९४ ॥

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति—

**अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि।**
**अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि ॥ ९५ ॥**

अन्यद् एव तीर्थं मा याहि जीव अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व।
अन्यद् एव देवं मा चिन्तय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ॥ ९५ ॥

**अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं** अन्यदेव तीर्थं मा गच्छ हे जीव अन्यदेव गुरुं मा सेवस्व अन्यदेव

---

नहीं है, [ **अन्यदपि** ] अन्य कोई [ **ज्ञानं न अस्ति** ] ज्ञान नहीं है, [ **अन्यद् एव चरणं नास्ति** ] अन्य कोई चरित्र नहीं है, ऐसा [ **जानीहि** ] तू जान, अर्थात् आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्र है, ऐसा संदेह रहित जानो। **भावार्थ**—यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय सात तत्त्व, नौ पदार्थका श्रद्धान कार्य-कारणभावसे निश्चयसम्यक्त्वका कारण होनेसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है, अर्थात् व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है, तो भी निश्चयनयकर एक वीतराग परमानंदस्वभाववाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप परिणामसे परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है, यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानका साधक होनेसे व्यवहारनयकर शास्त्रका ज्ञान भी ज्ञान है, तो भी निश्चयनयकर वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है। यद्यपि निश्चयचारित्रके साधक होनेसे अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहारनयकर चारित्र कहे जाते हैं, तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग-चारित्रको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र है। तात्पर्य यह है, कि अभेदरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है ॥ ९४ ॥

आगे निश्चयनयकर वीतरागभावरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयतीर्थ, निश्चयगुरु, निश्चयदेव है, ऐसा कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव [ **त्वं** ] तू [ **अन्यद् एव** ],

देवं मां चिन्तय त्वम् । किं कृत्वा । **अप्पा विमलु मुएवि** मुक्त्वा त्यक्त्वा । कम् । आत्मानम् । कथंभूतम् । विमलं रागादिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्थानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुषगुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति, तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्छिद्रपोतेन संसारसमुद्रतरणसमर्थत्वान्निश्चयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वलाभो भवतीति । व्यवहारेण शिक्षादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति, तथापि निश्चयनयेन पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वात् स्वशुद्धात्मैव गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया सविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते, तथापि निश्चयनयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति । एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ९५ ॥

---

दूसरे [ **तीर्थं** ] तीर्थको [ **मा याहि** ] मत जावे, [ **अन्यद् एव** ] दूसरे [ **गुरुं** ] गुरुको [ **मा सेवस्व** ] मत सेवे, [ **अन्यद् एव** ] अन्य [ **देवं** ] देवको [ **मा चिंतय** ] मत ध्यावे, [ **आत्मानं विमलं** ] रागादि मल रहित आत्माको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहाँ रमण कर, आत्मा ही गुरु है, उसकी सेवा कर, और आत्मा ही देव है, उसीकी आराधना कर । अपने सिवाय दूसरेका सेवन मत करे, इसी कथनको विस्तारसे कहते हैं । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे मोक्षके स्थानक सम्मेदशिखर आदि व जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं, क्योंकि वहाँसे गये महान् पुरुषोंके गुणोंकी याद होती है, तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप् छेद रहित जहाजकर संसाररूपी समुद्रके तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है, वही निश्चयकर तीर्थ है, उसके उपदेश-परम्परासे परमात्मतत्त्वका लाभ होता है । यद्यपि व्यवहारनयकर दीक्षा शिक्षाका देनेवाला दिगंबर गुरु होता है, तो भी निश्चयनयकर विषय कषाय आदिक समस्त विभावपरिणामोंके त्यागनेके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है, उसीसे संसारकी निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें चित्तकी स्थिरताके लिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक देव कहे जाते हैं, और वे परंपरासे निर्वाणके कारण हैं, तो भी निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्पपरमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव है, अन्य नहीं । इस प्रकार निश्चय व्यवहारनयकर साध्य-साधकभावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है, वही साधने योग्य है, और व्यवहारदेव जिनेंद्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहारगुरु महामुनिराज, व्यवहारतीर्थ सिद्धक्षेत्रादिक ये सब निश्चयके साधक हैं, इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तथा निश्चयनयकर ये सब पदार्थ हैं,

अथ निश्चयेनात्मसंवित्तिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति—

**अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।**
**एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥ ९६ ॥**

आत्मा दर्शनं केवलोऽपि अन्यः सर्वः व्यवहारः ।
एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ॥ ९६ ॥

**अप्पा दंसणु केवलु वि आत्मा दर्शनं सम्यक्त्वं भवति । कथंभूतोऽपि । केवलोऽपि । अण्णु सव्वु ववहारु अन्यः शेषः सर्वोऽपि व्यवहारः । तेन कारणेन एक्कु जि जोइय झाइयइ हे योगिन्, एक एव ध्यायते । यः आत्मा कथंभूतः । जो तइलोयहं सारु यः परमात्मा त्रैलोक्यस्य सारभूत इति । तद्यथा । वीतरागचिदानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिपरिणतो निश्चयनयेन स्वात्मैव सम्यक्त्वं अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारस्तेन कारणेन स एव ध्यातव्य इति । अत्र यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रयलक्षणम्—"दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः । स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥" ॥ ९६ ॥**

---

इनसे साक्षात् सिद्धि नहीं है, परम्परासे है । यहाँ श्रीपरमात्मप्रकाश अध्यात्म-ग्रंथमें निश्चयदेव गुरु तीर्थ अपना आत्मा ही है, उसे आराधनकर अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे, ऐसा सारांश हुआ ॥ ९५ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मस्वरूप ही सम्यग्दर्शन है—[ **केवलः आत्मा अपि** ] केवल ( एक ) आत्मा ही [ **दर्शनं** ] सम्यग्दर्शन है, [ **अन्यः सर्वः व्यवहारः** ] दूसरा सब व्यवहार है, इसलिये [ **हे योगिन्** ] हे योगी [ **एक एव ध्यायते** ] एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, [ **यः त्रैलोक्यस्य सारः** ] जो कि तीन लोकमें सार है । **भावार्थ—** वीतराग चिदानंद अखंड स्वभाव, आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुभवरूप जो अभेद-रत्नत्रय वही जिसका लक्षण है, तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधिमें लीन निश्चय-नयसे निज आत्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है । इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है । जैसे दाख, कपूर, चन्दन वगैरह बहुत द्रव्योंसे बनाया गया जो पीनेका रस वह यद्यपि अनेक रसरूप है, तो भी अभेदनयकर एक पानवस्तु कही जाती है, उसी तरह शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनेक भावोंसे परिणत हुआ आत्मा अनेकरूप है, तो भी अभेदनयकी विवक्षासे आत्मा एक ही वस्तु है । यही अभेदरत्न-त्रयका स्वरूप जैनसिद्धांतोंमें हरएक जगह कहा है—" दर्शनमित्यादि " इसका अर्थ

अथ निर्मलमात्मानं ध्यायस्व येन ध्यातेनान्तर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति—

**अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुए अण्णेण ।**
**जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥ ९७ ॥**

आत्मानं ध्यायस्व निर्मलं किं बहुना अन्येन ।
यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ९७ ॥

**अप्पा झायहि णिम्मलउ** आत्मानं ध्यायस्व। कथंभूतं निर्मलम् । **किं बहुए अण्णेण** किं वहुनान्येन शुद्धात्मवहिर्भूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपञ्चेन। **जो झायंतहं परमपउ लब्भइ** यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते। केन कारणभूतेन। **एक्कखणेण** एकक्षणेनान्तर्मुहूर्तेनापि। तथाहि। समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्वध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरन्तरं ध्यातव्यमिति। तथा चोक्तं बृहदाराधनाशास्त्रे। षोडशतीर्थकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे श्रामण्यबोधसिद्धिः अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता। अत्राह शिष्यः। यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं

---

ऐसा है, कि आत्माका निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्माका जानना वह सम्यग्ज्ञान है, और आत्मामें निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र है, यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षका कारण है, इनसे बंध कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता ॥ ९६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावो, जिसके ध्यान करनेसे अंतर्मुहूर्तमें (तत्काल) मोक्षपदकी प्राप्ति हो—हे योगी तू [ **निर्मलं आत्मानं** ] निर्मल आत्माका ही [ **ध्यायस्व** ] ध्यान कर, [ **अन्येन बहुना किं** ] और बहुत पदार्थोंसे क्या। देश काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं, उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, रागादि-विकल्पजालके समूहोंके प्रपंचसे क्या फायदा, एक निज स्वरूपको ध्यावो, [ **यं** ] जिस परमात्माके [ **ध्यायमानानां** ] ध्यान करनेवालोंको [ **एकक्षणेन** ] क्षणमात्रमें [ **परमपदं** ] मोक्षपद [ **लभ्यते** ] मिलता है। **भावार्थ**—सब शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित निजशुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही-मोक्ष मिलता है, इसलिये वही हमेशः ध्यान करने योग्य है। ऐसा ही बृहदाराधना-शास्त्रमें कहा है। सोलह तीर्थंकरोंको एक ही समय तीर्थकरोंके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई, फिर अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष हो गया। यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि यदि परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, तो इस समय ध्यान करनेवाले हम लोगोंको क्यों नहीं होता? उसका समाधान इस तरह है—कि जैसा निर्विकल्पशुक्लध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंको चौथे कालमें होता है, वैसा अब नहीं

न भवति । परिहारमाह । यादृशं तेषां प्रथमसंहननसहितानां शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तम्—"अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनम् ॥" । अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः ॥ ९७ ॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वन्तीति कथयति—

**अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमेँ वसइ ण जासु ।**
**सत्थ-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ॥ ९८ ॥**

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।
शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वन्ति किं तस्य ॥ ९८ ॥

**अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमेँ वसइ ण जासु** आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन वसति तिष्ठति न यस्य **सत्थपुराणइं तवचरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु** शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वन्ति तस्येति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैवम् । यदि वीतरागसम्यक्त्वरूप-

---

होसकता । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें कहा है—"अत्रेत्यादि" इसका अर्थ यह है, कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें शुक्लध्यानका निषेध करते हैं, इस समय धर्मध्यान हो सकता है, शुक्लध्यान नहीं हो सकता । उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नहीं हैं, सातवाँ गुणस्थानतक गुणस्थान है, ऊपरके गुणस्थान नहीं हैं । इस जगह तात्पर्य यह है, कि जिस कारण परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, इसलिये संसारकी स्थिति घटानेके वास्ते अब भी धर्मध्यानका आराधन करना चाहिये, जिससे परम्पराय मोक्ष भी मिल सकता है ॥ ९७ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसके राग रहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरण क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते—[ **यस्य** ] जिसके [ **निजमनसि** ] निज मनमें [ **निर्मलः आत्मा** ] निर्मल आत्मा [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **न वसति** ] नहीं रहता, [ **तस्य** ] उस जीवके [ **शास्त्रपुराणानि** ] शास्त्र पुराण [ **तपश्चरणमपि** ] तपस्या भी [ **किं** ] क्या [ **मोक्षं** ] मोक्षको [ **कुर्वंति** ] कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते । **भावार्थ**—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है, कि क्या बिल-

स्वशुद्धात्मोपादेयभावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव वहिरङ्गसहकारिकारणानि भवन्ति तदभावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति । मिथ्यात्वरागादिसहितानि पापबन्धकारणानि च विद्यानुवादसंज्ञितदशमपूर्वश्रुतं पठित्वा भर्गपुरुषादिवदिति भावार्थः ॥९८॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति—

**जोइय अप्पेँ जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।**
**अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥ ९९ ॥**

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।
आत्मनः संबन्धिनि भावे बिम्बितं येन वसति ॥ ९९ ॥

**जोइय अप्पें जाणिएण** हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । **जगु जाणियउ हवेइ** जगत्त्रिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मात् । **अप्पहं केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ** आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञानपर्याये विम्बितं प्रतिविम्बितं येन कारणेन वसति तिष्ठतीति । अयमर्थः । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशाङ्गागमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्मात् । यस्माद्राघवपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमा-

---

कुल ही निरर्थक हैं । उसका समाधान ऐसा है, कि बिलकुल तो नहीं है, लेकिन वीतराग सम्यक्त्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हों, तब तो मोक्षके ही बाह्य सहकारी कारण हैं, यदि वे वीतरागसम्यक्त्वके अभावरूप हों, तो पुण्यबंधके कारण हैं, और जो मिथ्यात्वरागादि सहित हों, तो पापबंधके कारण हैं, जैसे कि रुद्र वगैरह विद्यानुवादनामा दशवें पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ९८ ॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जान लिया, उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं—

[ **हे योगिन्** ] हे योगी [ **आत्मना ज्ञातेन** ] एक अपने आत्माके जाननेसे [ **जगत् ज्ञातं भवति** ] यह तीन लोक जाना जाता है, [ **येन** ] क्योंकि [ **आत्मनः संबंधिनि भावे** ] आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें [ **विम्बितं** ] यह लोक प्रतिबिंबित हुआ [ **वसति** ] बस रहा है । **भावार्थ**—वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशांगको पढ़कर द्वादशांग पढ़नेका फल निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए तिष्ठे थे । इसलिये वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है, आत्माके जाननेसे सबका जानपना सफल होता है, इस कारण

नन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति । किं जानाति । वेत्ति मम स्वरूपमन्यदेहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति । अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागं कृत्वा सर्वतात्पर्येण निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं **समयसारे**—" जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं । अपदेससुत्तमज्झं पस्सइ जिणसासणं सव्वं ॥ " ॥ ९९ ॥

अथैतदेव समर्थयति—

**अप्प-सहावि परिट्ठियहँ एहउ होइ विसेसु ।**
**दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥ १०० ॥**

---

जिन्होंने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सबको जाना । अथवा निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप जुदा है, और देह रागादिक मेरेसे दूसरे हैं, मेरे नहीं हैं, इसलिये आत्माके ( अपने ) जाननेसे सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपनेको जान लिया, उसने अपनेसे भिन्न सब पदार्थ जाने । अथवा आत्मा श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञानसे सब लोकालोकको जानता है, इसलिये आत्माके जाननेसे सब जाना गया । अथवा वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिके बलसे केवलज्ञानको उत्पन्न ( प्रगट ) करके जैसे दर्पणमें घट पटादि पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोक अलोक भासते हैं । इससे यह बात निश्चय हुई, कि आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है । यहाँपर सारांश यह हुआ, कि इन चारों व्याख्यानोंका रहस्य जानकर बाह्य अभ्यंतर सब परिग्रह छोड़कर सब तरहसे अपने शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन समयसारमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने किया है । " जो पस्सइ " इत्यादि—इसका अर्थ यह है, कि जो निकट-संसारी जीव स्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माको अनुभवता, सम्यग्दृष्टिपनेसे अपनेको देखता है, वह सब जैनशासनको देखता है, ऐसा जिनसूत्रमें कहा है । कैसा वह आत्मा है ? रागादिक ज्ञानावरणादिकसे रहित है, अन्यभाव जो नर नारकादि पर्याय उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान मार्गणा जीवसमास इत्यादि सब भेदोंसे रहित है । ऐसे आत्माके स्वरूपको जो देखता है, जानता है, अनुभवता है, वह सब जिनशासनका मर्म जाननेवाला है ॥ ९९ ॥

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः।
दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ॥ १०० ॥

**अप्पसहावि परिट्ठियहं** आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां पुरुषाणां, **एहउ होइ विसेसु** एष प्रत्यक्षीभूतो विशेषो भवति । एष कः । **दीसइ अप्पसहावि लहु** दृश्यते परमात्मस्वभावे स्थितानां लघु शीघ्रम् । अथवा पाठान्तरं ' दीसइ अप्पसहाउ लहु ' । दृश्यते, स कः, आत्मस्वभावः कर्मतापन्नो, लघु शीघ्रम् । न केवलमात्मस्वभावो दृश्यते **लोयालोउ असेसु** लोकालोकस्वरूपमप्यशेषं दृश्यत इति । अत्र विशेषेण पूर्वसूत्रोक्तमेव व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञातव्यं यस्मात्तस्यैव वृद्धमतसंवादरूपत्वादिति भावार्थः ॥ १०० ॥

अतोऽमुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

**अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।**
**जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥ १०१ ॥**

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अम्बरे रविरागः ।
योगिन् अत्र मा भ्रान्तिं कुरु एष वस्तुस्वभावः ॥ १०१ ॥

**अप्पु पयासइ** आत्मा कर्ता प्रकाशयति । कम् । **अप्पु परु** आत्मानं परं च । यथा कः किं प्रकाशयति । **जिमु अंबरि रविराउ** यथा येन प्रकारेण अम्बरे रविरागः । **जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थुसहाउ** हे योगिन् अत्र भ्रान्तिं मा कार्षीः एष वस्तुस्वभावः इति । तद्यथा । यथा निर्मेघाकाशे रविरागो रविप्रकाशः स्वं परं च प्रकाशयति तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपे कारणसमयसारे स्थित्वा मोहमेघपटले विनष्टे सति परमात्मा छद्मस्थावस्थायां वीतरागभेदभावनाज्ञानेन स्वं

---

अब इसी बातका समर्थन ( दृढ़ ) करते हैं—[ **आत्मस्वभावे** ] आत्माके स्वभावमें [ **प्रतिष्ठितानां** ] लीन हुए पुरुषोंके [ **एष विशेषः भवति** ] प्रत्यक्षमें तो यह विशेषता होती है, कि [ **आत्मस्वभावे** ] आत्मस्वभावमें उनको [ **अशेषः लोकालोकः** ] समस्त लोकालोक [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **दृश्यते** ] दीख जाता है । अथवा इस जगह ऐसा भी पाठांतर है, " अप्पसहाव लहु " इसका अर्थ यह है, कि अपना स्वभाव शीघ्र ही दीख जाता है, और स्वभावके देखनेसे समस्त लोक भी दीखता है । यहाँपर भी विशेष करके पूर्व सूत्र-कथित चारों तरहका व्याख्यान जानना चाहिये, क्योंकि यही व्याख्यान बड़े बड़े आचार्योंने माना है ॥ १०० ॥

आगे इसी अर्थको दृष्टांतदार्ष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—[ **यथा** ] जैसे [ **अंबरे** ] आकाशमें [ **रविरागः** ] सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशित करता है, उसी-तरह [ **आत्मा** ] आत्मा [ **आत्मानं** ] अपनेको [ **परं** ] पर पदार्थोंको [ **प्रकाशयति** ] प्रकाशता है, सो [ **हे योगिन्** ] हे योगी [ **अत्र** ] इसमें [ **भ्रांतिं मा कुरु** ] भ्रम मत कर।

परं च प्रकाशयतीत्येष पश्चादर्हदवस्थारूपकार्यसमयसाररूपेण परिणम्य केवलज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष आत्मवस्तुस्वभावः संदेहो नास्तीति। अत्र योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः स एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥१०१॥

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तमाह—

**तारा-यणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।**
**अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥ १०२ ॥**

तारागणः जले बिम्बितः निर्मले दृश्यते यथा।
आत्मनि निर्मले बिम्बितं लोकालोकमपि तथा ॥ १०२ ॥

**तारायणु जलि बिंबियउ** तारागणो जले बिम्बितः प्रतिफलितः। कथंभूते जले। **णिम्मलि दीसइ जेम** निर्मले दृश्यते यथा। दार्ष्टान्तमाह। **अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम** आत्मनि निर्मले मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते बिम्बितं लोकालोकमपि तथा दृश्यत इति। अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वदृष्टान्तसूत्रे व्याख्यातमत्रापि तदेव ज्ञातव्यम्। कस्मात्। अयमपि तस्य दृष्टान्तस्य दृढीकरणार्थमिति सूत्रतात्पर्यार्थः ॥ १०२ ॥

---

[ **एष वस्तुस्वभावः** ] ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। **भावार्थ**—जैसे मेघ रहित आकाशमें सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशता है, उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप कारणसमयसारमें लीन होकर मोहरूप मेघ-समूहका नाश करके यह आत्मा मुनि अवस्थामें वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर अपनेको और परको कुछ प्रकाशित करता है, पीछे अरहंत अवस्थारूप कार्यसमयसारस्वरूप परिणमन करके केवलज्ञानसे निज और परको सब द्रव्य क्षेत्र काल भावसे प्रकाशता है। यह आत्म-वस्तुका स्वभाव है, इसमें संदेह नहीं समझना। इस जगह ऐसा सारांश है, कि जो केवलज्ञान केवलदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्यरूप कार्यसमयसार है, वही आराधने योग्य है ॥ १०१ ॥

आगे इसी अर्थको फिर भी खुलासा करनेके लिये दृष्टांत देकर कहते हैं—[ **यथा** ] जैसे [ **तारागणः** ] ताराओंका समूह [ **निर्मले जले** ] निर्मल जलमें [ **विम्बितः** ] प्रतिविम्बित हुआ [ **दृश्यते** ] प्रत्यक्ष दीखता है, [ **तथा** ] उसी तरह [ **निर्मले आत्मनि** ] मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे रहित स्वच्छ आत्मामें [ **लोकालोकं अपि** ] समस्त लोक अलोक भासते हैं। **भावार्थ**—इसका विशेष व्याख्यान जो पहले कहा था, वही यहाँपर जानना अर्थात् जो सबका ज्ञाता दृष्टा आत्मा है। वही उपादेय है। यह सूत्र भी पहले कथनको दृढ़ करनेवाला है ॥ १०२ ॥

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञानेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति—

**अप्पु वि परु वि वियाणियइ जे अप्पे मुणिएण।**
**सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ॥ १०३ ॥**

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन।
तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ॥ १०३ ॥

**अप्पु वि परु वि वियाणियइ जें अप्पें मुणिएण** आत्मापि परोऽपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन **सो णिय अप्पा जाणि तुहुं** तं निजात्मानं जानीहि त्वम्। **जोइय णाणबलेण** हे योगिन्। केन कृत्वा जानीहि। ज्ञानबलेनेति। अयमत्रार्थः। वीतरागसदानन्दैकस्वभावेन येनात्मना ज्ञातेन स्वात्मा परोऽपि ज्ञायते तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानभावनासमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादेन जानीहि तन्मयो भूत्वा सम्यगनुभवेति भावार्थः॥ १०३ ॥

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति—

**णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णे बहुएण।**
**जेण णियप्पा जाणियइं सामिय एक्क-खणेण ॥ १०४ ॥**

ज्ञानं प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना।
येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ॥ १०४ ॥

**णाणुं पयासहि परमु महु** ज्ञानं प्रकाशय परमं मम। **किं अण्णें बहुएण** किमन्येन ज्ञानरहितेन बहुना। **जेण णियप्पा जाणियइ** येन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञायते,

---

आगे जिस आत्माके जाननेसे निज और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, उसी आत्माको तू स्वसंवेदनज्ञानके बलसे जान, ऐसा कहते हैं—[ **येन आत्मना विज्ञातेन** ] जिस आत्माको जाननेसे [ **आत्मा अपि** ] आप और [ **परः अपि** ] पर सब पदार्थ [ **विज्ञायते** ] जाने जाते हैं, [ **तं निजात्मानं** ] उस अपने आत्माको [ **योगिन्** ] हे योगी [ **त्वं** ] तू [ **ज्ञानबलेन** ] आत्मज्ञानके बलसे [ **जानीहि** ] जान। **भावार्थ**—यहाँपर यह है, कि रागादि विकल्प-जालसे रहित सदा आनंद स्वभाव जो निज आत्मा उसके जाननेसे निज और पर सब जाने जाते हैं, इसलिये हे योगी, हे ध्यानी, तू उस आत्माको वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे उत्पन्न परमानंद सुखरसके आस्वादसे जान, अर्थात् तन्मयी होकर अनुभव कर। स्वसंवेदन ज्ञान ( आपकर अपनेको अनुभव करना ) ही सार है। ऐसा उपदेश श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकर-भट्टको दिया॥ १०३ ॥

सामिय एक्कखणेण हे स्वामिन् नियतकालेनैकक्षणेनेति । तथाहि । प्रभाकरभट्टः पृच्छति । किं पृच्छति । हे भगवन् येन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन क्षणमात्रेणैव शुद्ध-बुद्धैकस्वभावो निजात्मा ज्ञायते तदेव ज्ञानं कथय किमन्येन रागादिप्रवर्धकेन विकल्प-जालेनेति । अत्र येनैव ज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्परहितेन निजशुद्धात्मसंवित्ति-रूपेणान्तर्मुहूर्तेनैव परमात्मस्वरूपं ज्ञायते तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १०४ ॥

अत ऊर्ध्वं सूत्रचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति—

**अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।**
**जीव-पएसहिं तित्तिडउ णाणेँ गयण-पवाणु ॥ १०५ ॥**

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानम् ।
जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणम् ॥ १०५ ॥

**अप्पा णाणु मुणेहि तुहुं** प्रभाकरभट्ट आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वम् । यः किं करोति । **जो जाणइ अप्पाणु** यः कर्ता जानाति । कम् । आत्मानम् । किंविशिष्टम् । **जीवपएसहिं तित्तिडउ** जीवप्रदेशैस्तावन्मात्रं लोकमात्रप्रदेशम् । अथवा पाठान्तरम् । 'जीवपएसहिं देहसमु' तस्यार्थो निश्चयेन लोकमात्रप्रदेशोऽपि व्यवहारेणैव संहार-विस्तारधर्मत्वाद्देहमात्रः । पुनरपि कथंभूतं आत्मानम् **णाणें गयणपवाणु** ज्ञानेन कृत्वा

---

अत्र प्रभाकरभट्ट महान् विनयसे ज्ञानका स्वरूप पूछता है—[ **हे स्वामिन्** ] हे भगवन्, [ **येन ज्ञानेन** ] जिस ज्ञानसे [ **एक क्षणेन** ] क्षणभरमें [ **निजात्मा** ] अपनी आत्मा [ **ज्ञायते** ] जानी जाती है, वह [ **परमं ज्ञानं** ] परम ज्ञान [ **मम** ] मेरे [ **प्रकाशय** ] प्रकाशित करो, [ **अन्येन बहुना** ] और बहुत विकल्प-जालोंसे [ **किम्** ] क्या फायदा ? कुछ भी नहीं । **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगींद्रदेवसे पूछता है, कि हे स्वामी, जिस वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकर क्षणमात्रमें शुद्ध बुद्ध स्वभाव अपनी आत्मा जानी जाती है, वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो, दूसरे विकल्प-जालोंसे कुछ फायदा नहीं है, क्योंकि ये रागादिक विभावोंके बढानेवाले हैं । सारांश यह है, कि मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे रहित तथा निज शुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञानसे अंतर्मुहूर्तमें ही परमात्माका स्वरूप जाना जाता है, वही ज्ञान उपादेय है । ऐसी प्रार्थना शिष्यने श्रीगुरूसे की ॥ १०४ ॥

आगे श्रीगुरु चार दोहा-सूत्रोंसे ज्ञानका स्वरूप प्रकाशते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे प्रभाकरभट्ट, [ **त्वं** ] तूं [ **आत्मानं** ] आत्माको ही [ **ज्ञानं** ] ज्ञान [ **मन्यस्व** ] जान, [ **यः** ] जो ज्ञानरूप आत्मा [ **आत्मानं** ] अपनेको [ **जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं** ] अपने प्रदेशोंसे लोक-प्रमाण [ **ज्ञानेन गगनप्रमाणं** ] ज्ञानसे व्यवहारनयकर आकाश-प्रमाण [ **जानाति** ] जानता है । अथवा यहाँ " देहसमु " ऐसा भी पाठ है, तब ऐसा समझना,

व्यवहारेण गगनमात्रं जानीहि इति। तद्यथा। निश्चयनयेन मतिश्रुतावधिमनः-पर्ययकेवलज्ञानपञ्चकादभिन्नं व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया रूपावलोकनविषये दृष्टिवल्लो-कालोकव्यापकं निश्चयेन लोकमात्रासंख्येयप्रदेशमपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रं तमित्थं-भूतमात्मानं आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलजालं त्यक्त्वा जानाति यः स पुरुष एव ज्ञानादभिन्नत्वाज् ज्ञानं भण्यत इति। अत्रायमेव निश्चयनयेन पञ्चज्ञानाभिन्नमात्मानं जानात्यसौ ध्याता तमेवोपादेयं जानीहीति भावार्थः। तथा चोक्तम्—"आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एगमेव पदं। सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं लहदि॥"॥ १०५॥

अथ—

**अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवंति ण णाणु।**
**ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिं अप्पु वियाणु॥१०६॥**

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेऽपि भवन्ति न ज्ञानम्।
तान् त्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि॥ १०६॥

**अप्पहं जे वि विभिण्ण वढ** आत्मनः सकाशाद्येऽपि भिन्नाः वत्स **ते वि हवंति ण णाणु** तेऽपि भवन्ति न ज्ञानं, तेन कारणेन **तुहुं तिण्णि वि परिहरिवि** तान् कर्मतापन्नान् तत्र हे **प्रभाकरभट्ट** त्रीण्यपि परिहृत्य। पश्चात्किं कुरु। **णियमिं अप्पु वियाणु** निश्चयेनात्मानं विजानीहीति। तद्यथा। सकलविशदैकज्ञानस्वरूपात्

---

कि निश्चयनयसे लोकप्रमाण है, तो भी व्यवहारनयसे संकोच विस्तार स्वभाव होनेसे शरीर-प्रमाण है। **भावार्थ**—निश्चयनयकर मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल इन पाँच ज्ञानोंसे अभिन्न तथा व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षारूप देखनेमें नेत्रोंकी तरह लोक अलोकमें व्यापक है। अर्थात् जैसे आँखें रूपी पदार्थोंको देखती हैं, परंतु उन स्वरूप नहीं होतीं, वैसे ही आत्मा यद्यपि लोक अलोकको जानता है, देखता है, तो भी उन स्वरूप नहीं होता, अपने स्वरूप ही रहता है, ज्ञानकर ज्ञेय प्रमाण है, यद्यपि निश्चयसे प्रदेशोंकर लोक-प्रमाण है, असंख्यात प्रदेशी है, तो भी व्यवहारनयकर अपने देह-प्रमाण है, ऐसे आत्माको जो पुरुष आहार भय मैथुन परिग्रहरूप चार वांछाओं स्वरूप आदि समस्त विकल्पकी तरंगोंको छोड़कर जानता है, वही पुरुष ज्ञानसे अभिन्न होनेसे ज्ञान कहा जाता है। आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है, आत्मा ही ज्ञान है। यहाँ सारांश यह है, कि निश्चयनय करके पाँच प्रकारके ज्ञानोंसे अभिन्न अपने आत्माको जो ध्यानी जानता है, उसी आत्माको तू उपादेय जान। ऐसा ही सिद्धांतोंमें हरएक जगह कहा है—"आभिणि" इत्यादि। इसका अर्थ यह है, कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान ये पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान एक आत्माके ही स्वरूप हैं, आत्माके विना ये ज्ञान नहीं हो सकते, वह आत्मा ही परम अर्थ है, जिसको पाकर यह जीव निर्वाणको पाता है॥ १०५॥

परमात्मपदार्थात् निश्चयनयेन भिन्नं त्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने स्थित्वात्मानं जानीहीति भावार्थः ॥ १०६ ॥

**अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।**
**तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणे तेण ॥ १०७ ॥**

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।
त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥ १०७ ॥

**अप्पा णाणहं गम्मु पर** आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोऽर्थः । नियमेन । कस्मात् । **णाणु वियाणइ जेण** ज्ञानं कर्तृ विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणात् **तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुं** त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट, **अप्पा णाणें तेण** । कं जानीहि । आत्मानम् । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तथाहि । निजशुद्धात्मा ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिज्ञानादिकपञ्चविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्मशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणं तद्रूपो योऽसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणोऽपि वहवोऽपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तं **समयसारे**–"णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं वहू वि ण लहंति । तं गिण्हसु पदमेदं जइ इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ॥" । अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योऽसौ मुञ्चति स्वशुद्धात्मसुखामृते तृप्तो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः ।

---

आगे परभावका निषेध करते हैं—[ **हे वत्स** ] हे शिष्य, [ **आत्मनः** ] आत्मासे [ **ये अपि भिन्नाः** ] जो जुदे भाव हैं, [ **तेऽपि** ] वे भी [ **ज्ञानं न भवंति** ] ज्ञान नहीं हैं, वे सब भाव ज्ञानसे रहित जड़रूप हैं, [ **तान्** ] उन [ **त्रीणि अपि** ] धर्म अर्थ कामरूप तीनों भावोंको [ **परिहृत्य** ] छोड़कर [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **आत्मानं** ] आत्माको [ **त्वं** ] तू [ **विजानीहि** ] जान । **भावार्थ**—हे प्रभाकरभट्ट, मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसारके प्रयोजन, काम ( विषयाभिलाष ) ये तीनों ही आत्मासे भिन्न हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं । निश्चयनयकरके सब तरफसे निर्मल केवलज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे भिन्न तीनों ही धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोड़कर वीतरागस्वसंवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें रहकर आत्माको जान ॥ १०६ ॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं—[ **आत्मा** ] आत्मा [ **परः** ] नियमसे [ **ज्ञानस्य** ] ज्ञानके [ **गम्यः** ] गोचर है, [ **येन** ] क्योंकि [ **ज्ञानं** ] ज्ञान ही [ **विजानाति** ] आत्माको जानता है, [ **तेन** ] इसलिये [ **त्वं** ] हे प्रभाकरभट्ट, तू [ **त्रीणि अपि मुक्त्वा** ] धर्म अर्थ काम इन तीनों ही भावोंको छोड़कर [ **ज्ञानेन** ] ज्ञानसे [ **आत्मानं** ] निज आत्माको

**उक्तं च—"अपरिग्गहो अणिच्छो भणिओ णाणी दु णेच्छदे धम्मं । अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥" ॥ १०७ ॥**

**अथ—**

**णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।**
**ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥ १०८ ॥**

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न जानासि ।
तावद् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ॥ १०८ ॥

**णाणिय हे ज्ञानिन् णाणिउ ज्ञानी निजात्मा णाणिएण ज्ञानिना निजात्मना करणभूतेन । कथंभूतो निजात्मा । णाणिउ ज्ञानी ज्ञानलक्षणः तमित्थंभूतमात्मानं जा ण मुणेहि यावत्कालं न जानासि ता अण्णाणिं णाणमउं तावत्काल-**

---

[ **जानीहि** ] जांन । **भावार्थ**—निज शुद्धात्मा ज्ञानके ही गोचर ( जानने योग्य ) है, क्योंकि मतिज्ञानादि पाँच भेदों रहित जो परमात्म शब्दका अर्थ परमपद है, वही साक्षात् मोक्षका कारण है, उस स्वरूप परमात्माको वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके विना दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने समयसारजीमें किया है "णाणगुणेहिं" इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि सम्यग्ज्ञाननामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको बहुत कष्ट करके भी नहीं पाते, अर्थात् जो महान दुर्धर तप करो तो भी नहीं मिलता । इसलिये जो तू दुःखसे छूटना चाहता है, सिद्धपदकी इच्छा रखता है, तो आत्मज्ञानकर निजपदको प्राप्त कर । यहाँ सारांश यह है, कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी इच्छाको छोड़ता है, वही निज शुद्धात्मसुखरूप अमृतमें तृप्त हुआ सिद्धांतमें परिग्रह रहित कहा जाता है, और निर्ग्रंथ कहा जाता है, और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा ही समयसारजीमें कहा है "अपरिग्गहो" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि निज सिद्धांतमें परिग्रह रहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है, जो धर्मको भी नहीं चाहता है, अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नहीं है, उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा कहाँसे होवे ? वह आत्मज्ञानी सब अभिलाषाओंसे रहित है, जिसके धर्मका भी परिग्रह नहीं है, तो अन्य परिग्रह कहाँसे हो? इसलिये वह ज्ञानी परिग्रही नहीं है, केवल निजस्वरूपका जाननेवाला ही होता है ॥ १०७ ॥

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—[ **हे ज्ञानिन्** ] हे ज्ञानी [ **ज्ञानी** ] ज्ञानवान् अपना आत्मा [ **ज्ञानिना** ] सम्यग्ज्ञान करके [ **ज्ञानिनं** ] ज्ञान लक्षण-

मज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालेन ज्ञानमयम् । किं पर बंभु लहेहि किं पर-मुत्कृष्टं ब्रह्मस्वभावं लभसे किं तु नैवेति । तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशात् आत्मनि स्थितं समस्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषि-परमात्मानं किं लभसे नैवेति भावार्थः ॥ १०८ ॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं कथयति—

**जोइज्जइ तिं बंभु परु जाणिज्जइ तिं सोइ ।**
**बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥ १०९ ॥**

दृश्यते तेन ब्रह्म परः ज्ञायते तेन स एव ।
ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥ १०९ ॥

**जोइज्जइ** दृश्यते **तिं** तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोऽसौ दृश्यते । **बंभु परु** ब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः उत्कृष्टः । अथवा **पर** इति पाठे नियमेन । न केवलं दृश्यते **जाणिज्जइ** ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा **सोइ** स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन । **बंभु मुणेविणु जेण लहु** येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनिर्दोषिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चात् **गम्मिज्जइ परलोइ** तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिज्ञानपुरुषेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क । परलोके

---

वाले आत्माको [ **यावत्** ] जबतक [ **न** ] नहीं [ **जानासि** ] जानता, [ **तावत्** ] तबतक [ **अज्ञानेन** ] अज्ञानी होनेसे [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानमय [ **परं ब्रह्म** ] अपने स्वरूपको [ **किं लभसे** ] क्या पासकता है ? कभी नहीं पासकता । जो कोई आत्माको पाता है, तो ज्ञानसे ही पासकता है । **भावार्थ**—जबतक यह जीव अपनेको आपकर अपनी प्राप्तिके लिये आपसे अपनेमें तिष्ठता नहीं जान ले, तबतक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्धपरमेष्ठीको क्या पासकता है ? कभी नहीं पासकता । जो आत्माको जानता है, वही परमात्माको जानता है ॥ १०८ ॥

इस प्रकार प्रथम महास्थलमें चार दोहोंमें अंतरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया । आगे चार सूत्रोंमें अंतरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दसे परमात्माको ही कहते हैं—[ **तेन** ] उस कारणसे उसी पुरुषसे [ **परः ब्रह्मा** ] शुद्धात्मा नियमसे [ **दृश्यते** ] देखा जाता है, [ **तेन** ] उसी पुरुषसे निश्चयसे [ **स एव** ] वही शुद्धात्मा [ **ज्ञायते** ] जाना जाता है, [ **येन** ] जो पुरुष जिस कारण [ **ब्रह्म मत्वा** ] अपना स्वरूप जानकर [ **परलोके लघु गम्यते** ] परमात्मतत्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होता है । **भावार्थ**—जो

परलोकशब्दवाच्ये परमात्मतत्त्वे । किं च । योऽसौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथग्रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परमविष्णुः स एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतसिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोऽपि परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैको परमब्रह्मा शिवो वास्तीति । अयमत्रार्थः । यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोऽपीति भावार्थः ॥ १०९ ॥ अथ—

**मुणि-वर-विंदहँ हरि-हरहँ जो मणि णिवसइ देउ ।**
**परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥ ११० ॥**

मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।
परस्माद् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥ ११० ॥

**मुणिवरविंदहं हरिहरहं** मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां च **जो मणि णिवसइ देउ** योऽसौ मनसि निवसति देवः आराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **परहं जि परतरु णाणमउ** परस्मादुत्कृष्टादपि अथवा परहं जि बहुवचनं परेभ्योऽपि सकाशादतिशयेन परः परतरः । पुनरपि कथंभूतः । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सो**

---

कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनयकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन स्वभाव है, वही वास्तवमें ( असलमें ) परमेश्वर है । परमेश्वरमें और जीवमें जाति-भेद नहीं है, जबतक कर्मोंसे बँधा हुआ है, तबतक संसारमें भ्रमण करता है । सूक्ष्म बादर एकेन्द्रियादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है, और जब कर्मोंसे रहित हो जाता है, तब सिद्ध कहलाता है । संसार-अवस्थामें शक्तिरूप परमात्मा है, और सिद्ध-अवस्थामें व्यक्तिरूप है । यही आत्मा परब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है, और प्रगटरूपसे भगवान् अर्हंत अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं । यह निश्चयसे जानो । ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगत्में व्यापक परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं । सारांश यह है कि जिस लोकके शिखरपर अनंत सिद्ध विराज रहे हैं, वही लोकका शिखर परमधाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और वही शिवलोक है, अन्य कोई भी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नहीं है । ये सब निर्वाण-क्षेत्रके नाम हैं, और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्धपरमेष्ठीके नाम हैं । भगवान् तो व्यक्तिरूप परमात्मा हैं, तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें संदेह नहीं है। जितने भगवान्‌के नाम हैं, उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं । यह जीव ही शुद्ध नयकर भगवान् है ॥ १०९ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवान्‌का ही नाम परलोक है—[ **यः** ] जो आत्मदेव [ **मुनिवरवृंदानां हरिहराणां** ] मुनीश्वरोंके समूहके तथा इंद्र वा वासुदेव रुद्रोंके [ **मनसि** ]

वुच्चइ परलोउ स एवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मा परलोक इत्युच्यते इति । पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः परश्चासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षणः परलोको भण्यते । अत्र योऽसौ परलोकशब्दवाच्यः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ११० ॥ अथ—

**सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।**
**जहिँ मइ तहिँ गइ जीवहँ जि णियमेँ जेण हवेइ ॥ १११ ॥**

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति ।
यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ॥ १११ ॥

**सो पर वुच्चइ लोउ परु** स परः नियमेनोच्यते लोको जनः । कथंभूतो भण्यते । पर उत्कृष्टः । स कः । **जसु मइ तित्थु वसेइ** यस्य भव्यजनस्य मतिर्मनश्चित्तं तत्र निजपरमात्मस्वरूपे वसति विषयकषायविकल्पजालत्यागेन स्वसंवेदनसंवित्तिस्वरूपेण स्थिरीभवतीति । यस्य परमात्मतत्त्वे मतिस्तिष्ठति स कस्मात्परो भवतीति चेत् **जहिं मइ तहिं गइ जीवहं जि णियमें जेण हवेइ** येन कारणेन यत्र

---

चित्तमें [ **निवसति** ] वस रहा है, [ **सः** ] वह [ **परस्माद् अपि परतरः** ] उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट [ **ज्ञानमयः** ] ज्ञानमयी [ **परलोकः** ] परलोक [ **उच्यते** ] कहा जाता है । **भावार्थ**—परलोक शब्दका अर्थ ऐसा है कि पर अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग चिदानंद शुद्ध स्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना वह **परलोक** है । अथवा जिसके परमात्मस्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादि पदार्थ देखे जावें, इसलिये उस परमात्माका नाम परलोक है । अथवा व्यवहारनयकर स्वर्ग मोक्षको परलोक कहते हैं । स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवान्का धर्म है, इसलिये केवलीभगवान्को परलोक कहते हैं । परमात्माके समान अपना निज आत्मा है, वही परलोक है, वही उपादेय है ॥ ११० ॥

आगे ऐसा कहते हैं, जिसका मन निज आत्मामें वस रहा है, वही ज्ञानी जीव परलोक है—[ **यस्य मतिः** ] जिस भव्यजीवकी बुद्धि [ **तत्र** ] उस निज आत्मस्वरूपमें [ **वसति** ] बस रही है, अर्थात् विषय-कषाय-विकल्प-जालके त्यागसे स्वसंवेदन—ज्ञानस्वरूपकर स्थिर हो रही है । [ **सः** ] वह पुरुष [ **परः** ] निश्चयकर [ **परः लोकः** ] उत्कृष्ट जन [ **उच्यते** ] कहा जाता है । अर्थात् जिसकी बुद्धि निजस्वरूपमें ठहर रही है, वही उत्तम जन है, [ **येन** ] क्योंकि [ **यत्र मतिः** ] जैसी बुद्धि होती है, [ **तत्र** ] वैसी [ **एव** ] ही [ **जीवस्य** ] जीवकी [ **गतिः** ] गति [ **नियमेन** ] निश्चयकर [ **भवति** ] होती है, ऐसा जिनवरदेवने कहा है । अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपमें जिस जीवकी बुद्धि होवे, उसको वैसी ही गति होती है, जिन

स्वशुद्धात्मस्वरूपे मतिस्तत्रैव गतिः । कस्यैव । जीवस्यैव अथवा बहुवचनपक्षे जीवानामेव निश्चयेन भवतीति । अयमत्र भावार्थः। यद्यार्तरौद्राधीनतया स्वशुद्धात्मभावनाच्युतो भूत्वा परभावेन परिणमति तदा दीर्घसंसारी भवति, यदि पुनर्निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मतत्त्वे भावनां करोति तर्हि निर्वाणं प्राप्नोति इति ज्ञात्वा सर्वरागादिविकल्पत्यागेन तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥ १११ ॥ अथ–

**जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।**
**तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ॥ ११२ ॥**

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मरणमपि येन लभसे ।
तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥ ११२ ॥

**जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं मरणु विं जेण लहेहि** यत्र मतिस्तत्र गतिः। हे जीव त्वं मरणेन कृत्वा येन कारणेन लभसे **तें परबंभु मुएवि मइं मा परदव्वि करेहि** तेन कारणेन परब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं वीतरागसदानन्दैकसुखामृतरसपरिणतं निजशुद्धात्मतत्त्वं मुक्त्वा मतिं चित्तं परद्रव्ये देहसङ्गादिषु मा कार्षीरिति तात्पर्यार्थः ॥ ११२ ॥ एवं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतम् ।

तदनन्तरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

**जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि ।**
**पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥ ११३ ॥**

---

जीवोंका मन निज-वस्तुमें है, उनको निज-पदकी प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं है। **भावार्थ**—जो आर्तध्यान रौद्रध्यानकी आधीनतासे अपने शुद्धात्मकी भावनासे रहित हुआ रागादिक परभावोंस्वरूप परिणमन करता है, तो वह दीर्घसंसारी होता है, और जो निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परमात्मतत्त्वमें भावना करता है तो वह मोक्ष पाता है। ऐसा जानकर सब रागादि विकल्पोंको त्यागकर उस परमात्मतत्त्वमें ही भावना करनी चाहिये ॥ १११ ॥

आगे फिर भी इसी बातको दृढ़ करते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव [ **यत्र मतिः** ] जहाँ तेरी बुद्धि है, [ **तत्र गतिः** ] वहींपर गति है, उसको [ **येन** ] जिस कारणसे [ **त्वं मृत्वा** ] तू मरकर [ **लभसे** ] पावेगा [ **तेन** ] इसलिये तू [ **परब्रह्म** ] परमब्रह्मको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **परद्रव्ये** ] परद्रव्यमें [ **मतिं** ] बुद्धिको [ **मा कार्षीः** ] मत कर। **भावार्थ**—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर टाँकीकासा गढ़ा हुआ अघटितघाट, अमूर्तीक पदार्थ, ज्ञायकमात्र स्वभाव, वीतराग, सदा आनंदरूप, अद्वितीय अतींद्रिय सुखरूप, अमृतके रसकर तृप्त, ऐसे निज शुद्धात्मतत्त्वको छोड़कर द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें या देहादि परिग्रहमें मनको मत लगा ॥ ११२ ॥

यत् निजद्रव्याद् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि ।
पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चमं जानीहि ॥ ११३ ॥

जमित्यादि । पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **जं** यत् **णियदव्वहं** निजद्रव्यात् **भिण्णु** भिन्नं पृथग्भूतं **जडु** जडं **तं** तत् **परदव्वु वियाणि** परद्रव्यं जानीहि । तच्च किम् । **पुग्गलु धम्माधम्मु णहु** पुद्गलधर्माधर्मनभोरूपं **कालु वि** कालमपि **पंचमु जाणि** पञ्चमं जानीहीति । अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्निजद्रव्याद्भाह्यं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपं जीवसंबद्धं शेषं पुद्गलादिपञ्चभेदं यत्सर्वं तद्धेयमिति ॥ ११३ ॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरन्तर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति–

**जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।**
**अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥ ११४ ॥**

यदि निमिषार्धमपि कोऽपि करोति परमात्मनि अनुरागम् ।
अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापम् ॥ ११४ ॥

जइ इत्यादि । **जइ णिविसद्धु वि** यदि निमिषार्धमपि **कु वि करइ** कोऽपि कश्चित् करोति । किं करोति । **परमप्पइ अणुराउ** परमात्मन्यनुरागम् । तदा किं करोति । **अग्गिकणी जिम कट्ठगिरी** अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति तथा

---

इस प्रकार पहले महाधिकारमें चार दोहा-सूत्रोंकर अंतरस्थलमें परलोक शब्दका अर्थ परमात्मा किया । आगे परलोक ( परमात्मा ) में ही मन लगा, परद्रव्यसे ममता छोड़ ऐसा कहा गया था, उसमें शिष्यने प्रश्न किया कि परद्रव्य क्या है? उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—[ **यत्** ] जो [ **निजद्रव्यात्** ] आत्म-पदार्थसे [ **भिन्नं** ] जुदा [ **जडं** ] जड़ पदार्थ है, [ **तत्** ] उसे [ **परद्रव्यं** ] परद्रव्य [ **जानीहि** ] जानो, और वह परद्रव्य [ **पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं** ] पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य [**जानीहि**] ये सब परद्रव्य जानो । **भावार्थ**—द्रव्य छह हैं, उनमेंसे पाँच जड़ और जीवको चैतन्य जानो । पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ये सब जड़ हैं, इनको अपनेसे जुदा जानो और जीव भी अनंत हैं, उन सबोंको अपनेसे भिन्न जानो । अनंतचतुष्टयस्वरूप अपना आत्मा है, उसीको निज ( अपना ) जानो, और जीवके भावकर्मरूप रागादिक तथा द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि आठ कर्म, और शरीरादिक नोकर्म, और इनका संबंध अनादिसे है, परंतु जीवसे भिन्न है, इसलिये अपने मत मान । पुद्गलादि पाँच भेद जड़ पदार्थ सब हेय जान, अपना स्वरूप ही उपादेय है, उसीको आराधन कर ॥ ११३ ॥

आगे एक अन्तमुहूर्तमें कर्म-जालको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप अग्नि भस्म कर डालती है, ऐसी समाधिकी सामर्थ्य है, वही दिखाते हैं—[ **यदि** ] जो [ **निमिषार्धमपि** ] आधे निमेषमात्र भी [ **कोऽपि** ] कोई [ **परमात्मनि** ] परमात्मामें [ **अनुरागं** ] प्रीतिको

**डहइ असेसु वि पाउ** दहत्यशेषं पापमिति । तथाहि—ऋद्धिगौरवरसगौरवकवित्ववादित्वगमकत्ववाग्मित्वचतुर्विधशब्दगौरवस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पजालत्यागरूपेण महावातेन प्रज्वलिता निजशुद्धात्मतत्त्वध्यानाग्निकणिका स्तोकाग्निकेन्धनराशिमिवान्तर्मुहूर्तेनापि चिरसंचितकर्मराशिं दहतीति । अत्रैवंविधं शुद्धात्मध्यानसामर्थ्यं ज्ञात्वा तदेव निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ ११४ ॥

अथ हे जीव चिन्ताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरन्तरं पश्येति निरूपयति—

**मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।**
**चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ॥ ११५ ॥**

मुक्त्वा सकलां चिन्तां जीव निश्चिन्तः भूत्वा ।
चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरञ्जनं पश्य ॥ ११५ ॥

मेल्लिवि इत्यादि । **मेल्लिवि** मुक्त्वा **सयल** समस्तं **अवक्खडी** देशभाषया चिन्ता **जिय** हे जीव **णिच्चिंतउ होइ** निश्चिन्तो भूत्वा । किं कुरु । **चित्तु णिवेसहि** चित्तं निवेशय धारय । क्व । **परमपए** निजपरमात्मपदे । पश्चात् किं कुरु । **देउ णिरंजणु जोइ** देवं निरञ्जनं पश्येति । तद्यथा । हे जीव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपापध्यानादि समस्तचिन्ताजालं मुक्त्वा निश्चिन्तो भूत्वा चित्तं परमात्मस्वरूपे स्थिरं कुरु, तदनन्तरं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जनरहितं देवं परमाराध्यं निजशुद्धात्मानं

---

[ **करोति** ] करे तो [ **यथा** ] जैसे [ **अग्निकणिका** ] अग्निकी कणी [ **काष्ठगिरिं** ] काठके पहाड़को [ **दहति** ] भस्म करती है, उसी तरह [ **अशेषं अपि पापं** ] सब ही पापोंको भस्म कर डाले । **भावार्थ**—ऋद्धिका गर्व, रसायनका गर्व, अर्थात् पारा वगैरः आदि धातुओंके भस्म करनेका मद, अथवा नौ रसके जाननेका गर्व, कवि-कलाका मद, वादमें जीतनेका मद, शास्त्रकी टीका बनानेका मद, शास्त्रके व्याख्यान करनेका मद, ये चार तरहका शब्द-गौरव-स्वरूप इत्यादि अनेक विकल्प-जालोंका त्यागरूप प्रचंड पवन उससे प्रज्ज्वलित हुई ( दहकती हुई ) जो निज शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानरूप अग्निकी कणी है, जैसे वह अग्निकी कणी काठके पर्वतको भस्म कर देती है, उसी तरह यह समस्त पापोंको भस्म कर डालती है, अर्थात् जन्म जन्मके इकट्ठे किये हुए कर्मोंको आधे निमेषमें नष्ट कर देती है, ऐसी शुद्ध आत्म-ध्यानकी सामर्थ्य जानकर उसी ध्यानकी ही भावना सदा करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

आगे हे जीव; चिंताओंको छोड़कर शुद्धात्मस्वरूपको निरंतर देख, ऐसा कहते हैं—

[ हे **जीव** ] हे जीव [ **सकलां** ] समस्त [ **चिंतां** ] चिंताओंको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **निश्चितः भूत्वा** ] निश्चित होकर तू [ **चित्तं** ] अपने मनको [ **परमपदे** ] परमपदमें [ **निवेशय** ] धारण कर, और [ **निरंजनं देवं** ] निरंजनदेवको [ **पश्य** ] देख । **भावार्थ**—हे हंस; ( जीव ) देखे सुने और भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप खोटे ध्यान आदि

ध्यायेति भावार्थः । अपध्यानलक्षणं कथ्यते—"बन्धवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आर्तध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥" ॥ ११५ ॥

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति—

**जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।**
**तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥ ११६ ॥**

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।
तत् सुखं भुवनेऽपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनन्तम् ॥ ११६ ॥

जमित्यादि । पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते–**जं** यत् **सिवदंसणि** स्वशुद्धात्मदर्शने **परमसुहु** परमसुखं **पावहि** प्राप्नोषि हे **प्रभाकरभट्ट** । किं कुर्वन् सन् । **झाणु करंतु** ध्यानं कुर्वन् सन् **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तसुखं **भुवणि वि** भुवनेऽपि **अत्थि णवि** अस्ति नैव । किं कृत्वा । **मेल्लिवि** मुक्त्वा । कम् । **देउ** देवम् । कथंभूतम् । **अणंतु** अनन्तशब्दवाच्यपरमात्मपदार्थमिति । तथाहि——शिवशब्देनात्र विशुद्धज्ञानस्वभावो निजशुद्धात्मा ज्ञातव्यः तस्य दर्शनमवलोकनमनुभवनं तस्मिन् शिवदर्शनेन परमसुखं निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपर-

---

सब चिंताओंको छोड़कर अत्यंत निश्चिंत होकर अपने चित्तको परमात्मस्वरूपमें स्थिर कर । उसके बाद भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप अंजनसे रहित जो निरंजनदेव परम आराधने योग्य अपना शुद्धात्मा है, उसका ध्यान कर । पहले यह कहा था कि खोटे ध्यानको छोड़, सो खोटे ध्यानका नाम शास्त्रमें अपध्यान कहा है । अपध्यानका लक्षण कहते हैं । "बंधवधेत्यादि" उसका अर्थ ऐसा है कि निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिन-शासनमें उसको अपध्यान कहते हैं, जो द्वेषसे परके मारनेका बाँधनेका अथवा छेदनेका चिंतवन करे, और रागभावसे परस्त्री आदिका चिंतवन करे । उस अपध्यानके दो भेद हैं, एक आर्त दूसरा रौद्र। सो ये दोनों ही नरक निगोदके कारण हैं, इसलिये विवेकियोंको त्यागने योग्य हैं ॥ ११५ ॥

आगे शिव शब्दसे कहे गये निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेपर जो सुख होता है, उस सुखको तीन दोहा-सूत्रोंमें वर्णन करते हैं—[ **यत्** ] जो [ **ध्यानं कुर्वन्** ] ध्यान करता हुआ [ **शिवदर्शने परमसुखं** ] निज शुद्धात्माके अवलोकनमें अत्यंत सुख [ **प्राप्नोषि** ] हे प्रभाकर; तू पासकता है, [ **तत् सुखं** ] वह सुख [ **भुवने अपि** ] तीनलोकमें भी [ **अनंतं देवं मुक्त्वा** ] परमात्म द्रव्यके सिवाय [ **नैव अस्ति** ] नहीं है । **भावार्थ**—शिव नाम कल्याणका है, सो कल्याणरूप ज्ञानस्वभाव निज शुद्धात्मा जानो, उसका जो दर्शन अर्थात् अनुभव उसमें सुख होता है, वह सुख परमात्माको छोड़ तीन लोकमें नहीं है । वह सुख क्या है ? जो निर्विकल्प वीतराग परम आनंदरूप शुद्धात्मभाव है, वही सुखी है । क्या

माह्लादरूपं लभसे। किं कुर्वन् सन्। वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिं कुर्वन्। इत्थंभूतं सुखं अनन्तशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तं मुक्त्वा त्रिभुवनेऽपि नास्तीति। अयमत्रार्थः। शिवशब्दवाच्यो योऽसौ निजपरमात्मा स एव रागद्वेषमोहपरिहारेण ध्यातः सन्ननाकुलत्वलक्षणं परमसुखं ददाति नान्यः कोऽपि शिवनामेति पुरुषः ॥ ११६ ॥ अथ—

**जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु।**
**तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥ ११७ ॥**

यत् मुनिः लभते अनन्तसुखं निजात्मानं ध्यायन्।
तत् सुखं इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रम्यमाणः ॥ ११७ ॥

जमित्यादि। **जं** यत् **मुणि** मुनिस्तपोधनः **लहइ** लभते **अणंतसुहु** अनन्तसुखम्। किं कुर्वन् सन्। **णियअप्पा झायंतु** निजात्मानं ध्यायन् सन् **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तं सुखं **इंदु वि णवि लहइ** इन्द्रोऽपि नैव लभते। किं कुर्वन् सन्। **देविहिं कोडि रमंतु** देवीनां कोटिं रम्यमाणः अनुभवन्निति। अयमत्र तात्पर्यार्थः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्देवेन्द्रादयोऽपि न लभन्त इति। तथा चोक्तम्—"दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना। विमुक्तविषयासंगाः सुखायन्ते तपोधनाः ॥" ॥ ११७ ॥

---

करता हुआ यह सुख पाता है कि तीन गुप्तिरूप परमसमाधिमें आरूढ़ हुआ संता ध्यानी पुरुष ही उस सुखको पाता है। अनंत गुणरूप आत्म-तत्त्वके विना वह सुख तीनों लोकके स्वामी इंद्रादिकों भी नहीं है। इस कारण सारांश यह निकला कि शिव नामवाला जो निज शुद्धात्मा है, वही राग द्वेष मोहके त्यागकर ध्यान किया गया आकुलता रहित परमसुखको देता है। संसारी जीवोंके जो इंद्रियजनित सुख है, वह आकुलतारूप है, और आत्मीक अतींद्रियसुख आकुलता रहित है, सो सुख ध्यानसे ही मिलता है, दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नामका पुरुष देनेवाला नहीं है। आत्माका ही नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है ॥ ११६ ॥

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्माको ध्यावनेसे महामुनि पाते हैं, वह सुख इंद्रादि देवोंको दुर्लभ है—[ **निजात्मानं ध्यायन्** ] अपनी आत्माको ध्यावता [ **मुनिः** ] परम तपोधन ( मुनि ) [ **यद् अनंतसुखं** ] जो अनंतसुख [ **लभते** ] पाता है, [ **तत् सुखं** ] उस सुखको [ **इंद्रः अपि** ] इंद्र भी [ **देवीनां कोटिं रम्यमाणः** ] करोड़ देवियोंके साथ रमता हुआ [ **नैव** ] नहीं [ **लभते** ] पाता। **भावार्थ**—बाह्य और अंतरंग परिग्रहसे रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद सहित महामुनि जो सुख पाता है, उस सुखको इंद्रादिक भी नहीं पाते। जगत्में सुखी साधु ही हैं, अन्य कोई नहीं। यही कथन अन्य शास्त्रोंमें भी कहा है—"दह्यमाने इत्यादि" इसका

क्रोधादिविकल्पमेघप्रच्छादितः सन् देहमध्ये शक्तिरूपेण विद्यमानोऽपि निजशुद्धात्मा दिनकरो न दृश्यते इति ॥ १२० ॥

अथानन्तरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति—

**जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।**
**एक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥ १२१ ॥**

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वत्स द्वौ खड्गौ प्रत्याकारे (?) ॥ १२१ ॥

जसु इत्यादि । **जसु** यस्य पुरुषस्य **हरिणच्छी** हरिणाक्षी स्त्री **हियवडए** हृदये वसतीति क्रियाध्याहारः, **तसु** तस्य **णवि** नैवास्ति । कोऽसौ । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यो निजपरमात्मा **वियारि** एवं विचारय त्वं हे **प्रभाकरभट्ट** । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । **एक्कहिँ केम** एकस्मिन् कथं **समंति** सम्यग्मिमाते सम्यगवकाशं कथं लभन्ते **वढ** वत **बे खंडा** द्वौ खड्गौ असी । काधिकरणभूते । **पडियारि** प्रतिकारे (?) कोशशब्दवाच्ये इति । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिसंजातानाकुलत्वलक्षणपरमानन्दसुखामृतप्रतिबन्धकैराकुलत्वोत्पादकैः स्त्रीरूपावलोकनचिन्तादिसमुत्पन्नहावभावविभ्रमविलासविकल्पजालैर्मूर्च्छिते वासिते रञ्जिते परिणते चित्ते त्वेकस्मिन् प्रतिहारे (?) खड्गद्वयवत्परमब्रह्मशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मा कथमवकाशं लभते न कथमपीति भावार्थः । हावभावविभ्रम-

---

गुणरूप किरणोंकर लोक-अलोकका प्रकाशनेवाला भी इस देह ( घट ) के बीचमें शक्तिरूपसे विद्यमान निज शुद्धात्मारूप (परमज्योति चिद्रूप) सूर्य काम क्रोधादि राग द्वेष भावोंस्वरूप विकल्प-जालरूप मेघसे ढँका हुआ नहीं दीखता ॥ १२० ॥

आगे जो विषयोंमें लीन हैं, उनको परमात्माका दर्शन नहीं होता, ऐसा दिखलाते हैं—[**यस्य हृदये**] जिस पुरुषके चित्तमें [**हरिणाक्षी**] मृगके समान नेत्रवाली स्त्री [**वसति**] बस रही है [**तस्य**] उसके [**ब्रह्म**] अपना शुद्धात्मा [**नैव**] नहीं है, अर्थात् उसके शुद्धात्माका विचार नहीं होता, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट; तू अपने मनमें [**विचारय**] विचार कर । बड़े [**वत**] खेदकी बात है कि [**एकस्मिन्**] एक [**प्रतिकारे**] म्यानमें [**द्वौ खड्गौ**] दो तलवारें [**कथं समायातौ**] कैसे आसकतीं हैं ? कभी नहीं समा सकतीं । **भावार्थ**—वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकर उत्पन्न हुआ अनाकुलतारूप परम आनंद अतीन्द्रिय-सुखरूप अमृत है, उसके रोकनेवाले तथा आकुलताको उत्पन्न करनेवाले जो स्त्रीरूपके देखनेकी अभिलाषादिसे उत्पन्न हुए हाव ( मुख-विकार ) भाव अर्थात् चित्तका विकार, विभ्रम अर्थात् मुँहका टेढ़ा करना, विलास अर्थात् नेत्रोंके कटाक्ष इन स्वरूप विकल्पजालोंकर मूर्छित रंजित परिणत चित्तमें ब्रह्मका ( निज शुद्धात्माका ) रहना कैसे हो सकता है ? जैसे कि एक म्यानमें दो तलवारें कैसे आसकती हैं ? नहीं आसकतीं । उसी तरह एक चित्तमें ब्रह्म-विद्या और विषय-विनोद ये दोनों नहीं समा सकते । जहाँ ब्रह्म-विचार है, वहाँ

विलासलक्षणं कथ्यते । " हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥ " ॥ १२१ ॥

अथ रागादिरहिते निजमनसि परमात्मा निवसतीति दर्शयति—

**णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।**
**हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥ १२२ ॥**

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः ।
हंसः सरोवरे लीनः यथा मम ईदृशः प्रतिभाति ॥ १२२ ॥

णियमणि इत्यादि । **णियमणि** निजमनसि । किंविशिष्टे । **णिम्मलि** निर्मले रागादिमलरहिते । केषां मनसि । **णाणियहं** ज्ञानिनां **णिवसइ** निवसति । कोऽसौ । **देउ** देवः आराध्यः । किंविशिष्टः । **अणाइ** अनादिः । क इव कुत्र । **हंसा सरवरि लीणु जिम** हंसः सरोवरे लीनो यथा हे प्रभाकरभट्ट **महु एहउ पडिहाइ** ममैवं प्रतिभातीति । तथाहि । पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिन्तादिसमुत्पन्नेन रागादिकल्लोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतरागपरमसुखसुधारसस्वरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वसंवेदनजनितमानससरोवरे परमात्मा लीनस्तिष्ठति । कथंभूतः । निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षी इव । कुत्र प्रसिद्धः । सरोवरे । हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगीन्द्रदेवानाम् ॥ १२२ ॥

---

विषय-विकार नहीं है, जहाँ विषय-विकार हैं वहाँ ब्रह्म-विचार नहीं है । इन दोनोंमें आपसमें विरोध है । हाव भाव विभ्रम विलास इन चारोंका लक्षण दूसरी जगह भी कहा है । " हावो मुखविकारः " इत्यादि, उसका अर्थ ऊपर कर चुके हैं, इससे दूसरी बार नहीं करा ॥ १२१ ॥

आगे रागादि रहित निज मनमें परमात्मा निवास करता है, ऐसा दिखाते हैं— [ **ज्ञानिनां** ] ज्ञानियोंके [ **निर्मले** ] रागादि मल रहित [ **निजमनसि** ] निज मनमें [ **अनादिः देवः** ] अनादि देव आराधने योग्य शुद्धात्मा [ **निवसति** ] निवास कर रहा है, [ **यथा** ] जैसे [ **सरोवरे** ] मानससरोवरमें [ **लीनः हंसः** ] लीन हुआ हंस वसता है । सो हे प्रभाकरभट्ट; [ **मम** ] मुझे [ **एवं** ] ऐसा [ **प्रतिभाति** ] मालूम पड़ता है । ऐसा वचन श्रीयोगींद्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा । **भावार्थ**—पहले दोहेमें जो कहा था कि चित्तकी आकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देखना सेवना चिंतादिकोंसे उत्पन्न हुए रागादि-तरंगोंके समूह हैं, उनकर रहित निज शुद्धात्म द्रव्यका सम्यक् श्रद्धान स्वाभाविकज्ञान उससे उत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उस स्वरूप निर्मल नीरसे भरे हुए ज्ञानियोंके मानसरोवरमें परमात्मादेवरूपी हंस निरंतर रहता है । वह आत्मदेव निर्मल गुणोंकी उज्ज्वलताकर हंसके समान है । जैसे हंसोंका निवास-स्थान मानसरोवर है, वैसे ब्रह्मका निवास-स्थान ज्ञानियोंका निर्मल चित्त है । ऐसा श्रीयोगींद्रदेवका अभिप्राय है ॥ १२२ ॥

उक्तं च—

**देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।**
**अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥ १२३ ॥**

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेप्ये नैव चित्रे ।
अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥ १२३ ॥

देउ इत्यादि । **देउ** देवः परमाराध्यः **ण** नास्ति । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । **देउले** देवकुले देवतागृहे **णवि सिलए** नैव शिलाप्रतिमायां, **णवि लिप्पइ** नैव लेपप्रतिमायां, **णवि चित्ति** नैव चित्रप्रतिमायाम् । तर्हि क्व तिष्ठति । निश्चयेन **अखउ** अक्षयः **णिरंजणु** कर्माञ्जनरहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । **णाणमउ** ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सिउ** शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । एवंगुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । **संठिउ** संस्थितः **समचित्ति** समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तद्यथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तनानिमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्रसुखदुःखजीवितमरणादिसमतारूपे वीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते समशब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं समचित्तपरिणतश्रमणलक्षणम्—" समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो । समलोहकंचणो वि य जीवियमरणे समो समणो ॥ " ॥ १२३ ॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतम् ।

---

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं—[ **देवः** ] आत्मदेव [ **देवकुले** ] देवालयमें ( मंदिरमें ) [ **न** ] नहीं है, [ **शिलायां नैव** ] पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, [ **लेपे नैव** ] लेपमें भी नहीं है, [ **चित्रे नैव** ] चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है । लेप और चित्रामकी मूर्ति लौकिकजन बनाते हैं, पंडितजन तो धातु पाषाणकी ही प्रतिमा मानते हैं, सो लौकिक दृष्टांतके लिये दोहामें लेप चित्रामका भी नाम आगया । वह देव किसी जगह नहीं रहता । वह देव [ **अक्षयः** ] अविनाशी है, [ **निरंजनः** ] कर्माञ्जनसे रहित है, [ **ज्ञानमयः** ] केवलज्ञानकर पूर्ण है, [ **शिवः** ] ऐसा निज परमात्मा [ **समचित्ते संस्थितः** ] समभावमें तिष्ठ रहा है, अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें विराज रहा है, अन्य जगह नहीं है । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिके लिये स्थापनारूप अरहंतदेव देवालयमें तिष्ठते हैं, धातु पाषाणकी प्रतिमाको देव कहते हैं, तो भी निश्चयनयकर शत्रु मित्र सुख दुख जीवित मरण जिसमें समान हैं, तथा वीतराग सहजानंदरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे ज्ञानियोंके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है । ऐसा ही अन्य जगह भी समचित्तको परिणत हुए मुनियोंका लक्षण कहा है । " समसत्तु " इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके सुख दुःख समान हैं,

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते—

**मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।**
**बीहि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥ १२३ *२ ॥**

मनः मिलितं परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।
द्वयोरपि समरसीभूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥ १२३ *२ ॥

मणु इत्यादि । **मणु** मनो विकल्परूपं **मिलियउ** मिलितं तन्मयं जातम् । कस्य संवन्धित्वेन । **परमेसरहं** परमेश्वरस्य **परमेसरु वि मणस्स** परमेश्वरोऽपि मनःसंवन्धित्वेन लीनो जातः **बीहिवि समरसिहूवाहं** एवं द्वयोरपि समरसीभूतयोः **पुज्ज** पूजां **चडावउं** समारोपयामि । **कस्स** कस्य निश्चयनयेन न कस्यापीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारनयेन गृहस्थावस्थायां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेकदानादिव्यवहारोऽस्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां तत्काले वहिरङ्गव्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति ॥ १२३ *२ ॥

**जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिँ जंतु ।**
**मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ १२३ *३ ॥**

येन निरञ्जने मनः धृतं विषयकषायेषु गच्छत् ।
मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥ १२३ *३ ॥

जेण इत्यादि । **येन** येन पुरुषेण कर्तृभूतेन **णिरंजणि** कर्माञ्जनरहिते परमात्मनि **मणु** मनः **धरिउ** धृतम् । किं कुर्वत् सत् । **विसयकसायहिं जंतु** विषयकषायेषु गच्छत् सत् । विसयकसायहिं तृतीयान्तं पदं सप्तम्यन्तं कथं जातमिति चेत् । परिहारमाह ।

---

शत्रु मित्रोंका वर्ग समान हैं, प्रशंसा निंदा समान हैं, पत्थर और सोना समान है, और जीवन मरण जिसके समान हैं, ऐसा समभावका धारण करनेवाला मुनि होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शांतिचित्त योगीश्वरोंके चित्तमें चिदानंद देव तिष्ठता है ॥ १२३ ॥

इस प्रकार इकतीस दोहा-सूत्रोंका-चूलिका स्थल कहा । चूलिका नाम अंतका है, सो पहले स्थलका अंत यहाँतक हुआ । आगे स्थलकी संख्यासे सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा कहते हैं—[ **मनः** ] विकल्परूप मन [ **परमेश्वरस्य मिलितं** ] भगवान् आत्मारामसे मिल गया—तन्मयी हो गया [ **परमेश्वरः अपि** ] और परमेश्वर भी [ **मनसः** ] मनसे मिल गया तो [ **द्वयोः अपि** ] दोनों ही को [ **समरसीभूतयोः** ] समरस ( आपसमें एकमएक ) होनेपर [ **कस्य** ] किसको अब मैं [ **पूजां समारोपयामि** ] पूजा करूँ । अर्थात् निश्चयनयकर किसीको पूजना, सामग्री चढ़ाना नहीं रहा । **भावार्थ**—जबतक मन भगवान्से नहीं मिला था, तबतक पूजा करता था, और जब मन प्रभूसे मिल गया, तब पूजाका प्रयोजन नहीं है । यद्यपि व्यवहारनयकर गृहस्थ—अवस्थामें विपाय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये और

प्राकृते क्वचित्कारकव्यभिचारो भवति लिङ्गव्यभिचारश्च । इदं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । **मोक्खहं कारणु** मोक्षस्य कारणं **एत्तडउ** एतावदेव । विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मनि स्थापनं **अण्णु ण** अन्यत् किमपि न मोक्षकारणम् । अन्यत् किम् । **तंतु** तन्त्रं शास्त्रमौषधं वा **मंतु** मन्त्राक्षरं चेति । तथाहि । शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिकूलेषु विषयकषायेषु गच्छत् सत् मनो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन व्यावर्त्य निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मन्त्रतन्त्रादिविलिष्टोऽपीति भावार्थः ॥१२३*३॥

एवं **परमात्मप्रकाशवृत्तौ** प्रक्षेपकत्रयं विहाय त्र्यधिकविंशत्युत्तरशतदोहकसूत्रैस्त्रिविधात्म-प्रतिपादकनामा **प्रथममहाधिकारः** समाप्तः ॥ १ ॥

---

धर्मके बढ़ानेके लिये पूजा अभिषेक दान आदिका व्यवहार है, तो भी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए योगीश्वरोंको उस समयमें बाह्य व्यापारके अभाव होनेसे स्वयं ही द्रव्य-पूजाका प्रसंग नहीं आता, भाव-पूजामें ही तन्मय हैं ॥ १२३ *२ ॥

आगे इसी कथनको दृढ़ करते हैं—[ **येन** ] जिस पुरुषने [ **विषयकषायेषु गच्छत्** ] विषय कषायोंमें जाता हुआ [ **मनः** ] मन [ **निरंजने धृतं** ] कर्मरूपी अंजनसे रहित भगवान्में रक्खा, [ **एतावदेव** ] और ये ही [ **मोक्षस्य कारणं** ] मोक्षके कारण हैं, [ **अन्यः** ] दूसरा कोई भी [ **तन्त्रं न** ] तंत्र नहीं है, [ **मंत्रः न** ] और न मंत्र है । तंत्र नाम शास्त्र व औषधका है, मंत्र नाम मंत्राक्षरोंका है । विषय कषायादि पर पदार्थोंसे मनको रोककर परमात्मामें मनको लगाना, यही मोक्षका कारण है । **भावार्थ**—जो कोई निकट-संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उलटे विषय कषायोंमें जाते हुए मनको वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे पीछे हटाकर निज शुद्धात्मद्रव्यमें स्थापन करता है, वही मोक्षको पाता है, दूसरा कोई मंत्र तंत्रादिमें चतुर होनेपर भी मोक्ष नहीं पाता ॥ १२३ *३ ॥

इस तरह **परमात्मप्रकाश**की टीकामें तीन क्षेपकोंके सिवाय एकसौ तेईस दोहा-सूत्रोंमें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारसे आत्माको कहनेवाला **पहला महाधिकार** पूर्ण किया ॥ १ ॥

**इति प्रथम महाधिकार ।**

---

## द्वितीय महाधिकारः ।

अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयप्रमितैर्दोहकसूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तत्रादौ सूत्रदशकपर्यन्तं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

**सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।**
**मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जें जाणउँ परमत्थु ॥ १ ॥**

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तथ्यम् ।
मोक्षस्य संबन्धि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थम् ॥ १ ॥

सिरिगुरु इत्यादि । **सिरिगुरु** हे श्रीगुरो **योगीन्द्रदेव अक्खहि** कथय **मोक्खु** मोक्षं **महु** मम, न केवलं मोक्षं **मोक्खहं कारणु** मोक्षस्य कारणम् । कथंभूतम् । **तत्थु** तथ्यम् **मोक्खहं केरउ** मोक्षस्य संबन्धि **अण्णु** अन्यत् । किम् । **फलु** फलम् । एतत्त्रयेन ज्ञातेन किं भवति । **जें जाणउं** येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कम् । **परमत्थु** परमार्थमिति । तद्यथा । **प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्रदेवान्** विज्ञाप्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षकारणमिति त्रयं पृच्छतीति **भावार्थः** ॥ १ ॥

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति—

**जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फलु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।**
**सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ॥ २ ॥**

योगिन् मोक्षोऽपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।
तत् जिनभाषितं निशृणु त्वं येन विजानासि भेदम् ॥ २ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मोक्खु वि** मोक्षोऽपि **मोक्खफलु** मोक्षफलं

---

## द्वितीय महाधिकार ।

इसके बाद प्रकरणकी संख्याके बाहर अर्थात् क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा-सूत्रोंसे मोक्ष, मोक्ष-फल और मोक्ष-मार्गके कथनकी मुख्यतासे दूसरा महा अधिकार आरंभ करते हैं । उसमें भी पहले दस दोहोंतक मोक्षकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—[ **हे श्रीगुरो** ] हे श्रीगुरु; [ **मम** ] मुझे [ **मोक्षं** ] मोक्ष [ **तथ्यं मोक्षस्य कारणं** ] सत्यार्थ मोक्षका कारण, [ **अन्यत्** ] और [ **मोक्षस्य संबंधि** ] मोक्षका [ **फलं** ] फल [ **आख्याहि** ] कृपाकर कहो [ **येन** ] जिससे कि मैं [ **परमार्थं** ] परमार्थको [ **जानामि** ] जानूं । **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगींद्रदेवसे विनती करके मोक्ष मोक्षका कारण और मोक्षका फल इन तीनोंको पूँछते हैं ॥ १२६ ॥

अब श्रीगुरु उन्हीं तीनोंको क्रमसे कहते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; तूने [ **मोक्षोऽपि** ] मोक्ष और [ **मोक्षफलं** ] मोक्षका फल तथा [ **मोक्षस्य** ] मोक्षका [ **हेतुः** ] कारण

पुच्छिउ पृष्टं त्वया कर्तृभूतेन। पुनरपि कः पृष्टः। मोक्खहं हेउ मोक्षस्य हेतुः कारणम्। तत्त्रयं जिणभासिउ जिनभाषितं णिसुणि निश्चयेन शृणु समाकर्णय जेण वियाणहि भेउ विजानासि भेदं त्रयाणां संबन्धिनमिति। अयमत्र तात्पर्यार्थः। श्रीयोगीन्द्रदेवाः कथयन्ति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलम्भलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्विति ॥ २ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

**धम्महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु।**
**उत्तमु पभणहिँ णाणि जिय अण्णेँ जेण ण सोक्खु ॥ ३ ॥**

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षम्।
उत्तमं प्रभणन्ति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सौख्यम् ॥ ३ ॥

धम्महं इत्यादि। **धम्महं** धर्मस्य धर्माद्वा **अत्थहं** अर्थस्य अर्थाद्वा **कामहं वि** कामस्यापि कामाद्वा **एयहं सयलहं** एतेषां सकलानां संबन्धित्वेन एतेभ्यो वा सकाशात् **मोक्खु** मोक्षं **उत्तमु पभणहिं** उत्तमं विशिष्टं प्रभणन्ति। के कथयन्ति। **णाणि** ज्ञानिनः। **जिय** हे जीव। कस्मादुत्तमं प्रभणन्ति मोक्षम्। **अण्णइं** अन्येन धर्मार्थकामादिना **जेण** येन कारणेन **ण सोक्खु** नास्ति परमसुखं इति। तद्यथा—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थशब्देन तु पुण्यफलभूतार्थो राज्यादिविभूतिविशेषः,

---

[ **पृष्टं** ] पूँछा, [ **तत्** ] उसको [ **जिनभाषितं** ] जिनेश्वरदेवके कहे प्रमाण [ **त्वं** ] तू [ **निशृणु** ] निश्चयकर सुन, [ **येन** ] जिससे कि [ **भेदं** ] भेद [ **विजानासि** ] अच्छीतरह जान जावे। **भावार्थ**—श्रीयोगींद्रदेव गुरु, शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट; योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्ष-फल, और निश्चय व्यवहाररत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग, इन तीनोंको क्रमसे जिनआज्ञाप्रमाण तुझको कहूँगा। उनको तू अच्छी तरह चित्तमें धारण कर, जिससे सब भेद माळ्म होजावेगा ॥ २ ॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूलकारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर इस गाथा-सूत्रको कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **धर्मस्य** ] धर्म [ **अर्थस्य** ] अर्थ [ **कामस्य अपि** ] और काम [ **एतेषां सकलानां** ] इन सब पुरुषार्थोंमेंसे [ **मोक्षं उत्तमं** ] मोक्षको उत्तम [ **ज्ञानिनः** ] ज्ञानी पुरुष [ **प्रभणंति** ] कहते हैं, [ **येन** ] क्योंकि [ **अन्येन** ] अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंमें [ **सुखं** ] परमसुख [ **न** ] नहीं है। **भावार्थ**—धर्म शब्दसे यहाँ पुण्य समझना, अर्थ शब्दसे पुण्यका

कामशब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूतः स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादिसंभोगः एतेभ्यस्त्रिभ्यः सकाशान्मोक्षमुत्तमं कथयन्ति । के ते । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानिनः । कस्मात् । आकुलत्वोत्पादकेन वीतरागपरमानन्दसुखामृतरसास्वादविपरीतेन धर्मार्थकामादिना मोक्षादन्येन येन कारणेन सुखं नास्तीति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्दवाच्यं मोक्षं किमिति जिना गच्छन्तीति प्रकटयन्ति—

**जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।**
**तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ पर-लोइ ॥ ४ ॥**

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्यः सकलेभ्यः स एव ।
ततः किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिनाः व्रजन्ति परलोके ॥ ४ ॥

जइ इत्यादि । **जइ** यदि चेत् **जिय** हे जीव **उत्तमु होइ णवि** उत्तमो भवति नैव । केभ्यः । **एयहं सयलहं** एतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो धर्मादिभ्यः । कतिसंख्योपेतेभ्यः । सकलेभ्यः **सो वि** स एव पूर्वोक्तो मोक्षः **तो** ततः कारणात् **किं** किमर्थं **तिण्णि वि परिहरवि** त्रीण्यपि परिहृत्य त्यक्त्वा **जिण** जिनाः कर्तारः **वच्चहिं** व्रजन्ति गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्ति । **परलोइ** परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । तथाहि—परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थः कथ्यते । परः उत्कृष्टो मिथ्यात्वरागादिरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः

---

फल राज्य वगैरह संपदा जानना, और काम शब्दसे उस राज्यका मुख्यफल स्त्री कपड़े सुगंधितमाला आदि वस्तुरूप भोग जानना । इन तीनोंसे परमसुख नहीं है, क्लेशरूप दुःख ही है, इसलिये इन सबसे उत्तम मोक्षको ही वीतरागसर्वज्ञदेव कहते हैं, क्योंकि मोक्षसे जुदा जो धर्म अर्थ काम हैं, वे आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं, तथा वीतराग परमानंदसुखरूप अमृतरसके आस्वादसे विपरीत हैं, इसलिये सुखके करनेवाले नहीं हैं, ऐसा जानना ॥ ३ ॥

आगे धर्म अर्थ काम इन तीनोंसे जो मोक्ष उत्तम नहीं होता तो इन तीनोंको छोड़कर जिनेश्वरदेव मोक्षको क्यों जाते ? ऐसा दिखाते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **यदि** ] जो [ **एतेभ्यः सकलेभ्यः** ] इन सबोंसे [ **सः** ] मोक्ष [ **उत्तमः** ] उत्तम [ **एव** ] ही [ **नैव** ] नहीं [ **भवति** ] होता [ **ततः** ] तो [ **जिनाः** ] श्रीजिनवरदेव [ **त्रीण्यपि** ] धर्म अर्थ काम इन तीनोंको [ **परिहृत्य** ] छोड़कर [ **परलोके** ] मोक्षमें [ **किं** ] क्यों [ **व्रजंति** ] जाते ? इसलिये जाते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है । **भावार्थ**—पर अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्व रागादि रहित केवलज्ञानादि अनंत गुण सहित परमात्मा वह पर है, उस

परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं वीतरागपरमानन्दसमरसीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः। अथवा पूर्वोक्तलक्षणः परमात्मा परशब्देनोच्यते। निश्चयेन परमशिवशब्दवाच्यो मुक्तात्मा शिव इत्युच्यते तस्य लोकः शिवलोक इति। अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको ब्रह्मलोक इति। अथवा परमविष्णुशब्दवाच्यो मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परश्चासौ लोकश्च परलोक इति। परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थो ज्ञातव्यः न चान्यः कोऽपि परकल्पितः शिवलोकादिरस्तीति। अत्र स एव परलोकशब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टान्तद्वारेण द्रढयति—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ।
तो किं इच्छहिँ बंधणहिं बद्धा पसुय वि सोइ ॥ ५ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति।
ततः किं इच्छन्ति बन्धनैः बद्धा पशवोऽपि तमेव ॥ ५ ॥

उत्तमु इत्यादि। उत्तमु उत्तमं सुक्खु सुखं ण देइ जइ न ददाति यदि चेत् उत्तमु मुक्खु ण होइ उत्तमो मोक्षो न भवति तो तस्मात्कारणात् किं किमर्थं इच्छहिं इच्छन्ति बंधणहिं बन्धनैः बद्धा निबद्धाः। पसुय वि पशवोऽपि। किमिच्छन्ति। सोइ तमेव मोक्षमिति। अयमत्र भावार्थः। सुखकारणत्वाद्धेतोः बन्धनबद्धाः

---

परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानंद समरसीभावका अनुभव वह परलोक कहा जाता है, अथवा परमात्माको परमशिव कहते हैं, उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है, अथवा परमात्माका ही नाम परमब्रह्म है, उसका लोक वह ब्रह्मलोक है, अथवा उसीका नाम परमविष्णु है, उसका लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है, ये सब मोक्षके नाम हैं, यानी जितने परमात्माके नाम हैं, उनके आगे लोक लगानेसे मोक्षके नाम हो जाते हैं, दूसरा कोई कल्पना किया हुआ शिवलोक, ब्रह्मलोक या विष्णुलोक नहीं है। यहाँपर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहा गया परमात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई नहीं ॥ ४ ॥

आगे मोक्ष अनंत सुखका देनेवाला है, इसको दृष्टांतके द्वारा दृढ़ करते हैं—[ **यदि** ] जो [ **मोक्षः** ] मोक्ष [ **उत्तमं सुखं** ] उत्तम सुखको [ **न ददाति** ] न देवे तो [ **उत्तमः** ] उत्तम [ **न भवति** ] नहीं होवे, और जो मोक्ष उत्तम ही न होवे [ **ततः** ] तो [ **बंधनैः बद्धाः** ] बंधनोंसे बँधे [ **पशवोऽपि** ] पशु भी [ **तमेव** ] उस मोक्षकी ही [ **किं इच्छंति** ] क्यों इच्छा करें? **भावार्थ**—बँधनेके समान कोई दुःख नहीं है, और छूटनेके समान कोई

पशवोऽपि मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्यानन्तसुखस्य कारणत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥ ५ ॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति—

**अणु जइ जगह वि अहियरु गुण-गणु तासु ण होइ ।**
**तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ॥ ६ ॥**

अन्यद् यदि जगतोऽपि अधिकतरः गुणगणः तस्य न भवति ।
ततः त्रिलोकोऽपि किं धराति निजशिरोपरि तमेव ॥ ६ ॥

अणु इत्यादि । **अणु** पुनः **जइ** यदि चेत् **जगह वि** जगतोऽपि सकाशात् **अहियरु** अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोऽसौ । **गुणगणु** गुणगणः **तासु** तस्य मोक्षस्य **ण होइ** न भवति । **तो** ततः कारणात् **तइलोउ वि** त्रिलोकोऽपि कर्ता । **किं धरइ** किमर्थं धरति । कस्मिन् । **णियसिरउप्परि** निजशिरसि उपरि । **किं धरइ** किं धरति । **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः सम्यक्त्वादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः कर्ता निजमस्तकस्योपरि तत्किं धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराभिधानानां

---

सुख नहीं है, बंधनसे बँधे जानवर भी छूटना चाहते हैं, और जब वे छूटते हैं, तब सुखी होते हैं । इस सामान्य बंधनके अभावसे ही पशु सुखी होते हैं, तो कर्म-बंधनके अभावसे ज्ञानीजन परमसुखी होवें, इसमें अचम्भा क्या है । इसलिये केवलज्ञानादि अनंत गुणसे तन्मयी अनन्त सुखका कारण मोक्ष ही आदरने योग्य है, इस कारण ज्ञानी पुरुष विशेषतासे मोक्षको ही इच्छते हैं ॥ ५ ॥

आगे बतलाते हैं—जो मोक्षमें अधिक गुणोंका समूह नहीं होता, तो मोक्षको तीन लोक अपने मस्तकपर क्यों रखता ? [ **अन्यद्** ] फिर [ **यदि** ] जो [ **जगतः अपि** ] सब लोकसे भी [ **अधिकतरः** ] बहुत ज्यादः [ **गुणगणः** ] गुणोंका समूह [ **तस्य** ] उस मोक्षमें [ **न भवति** ] नहीं होता, [ **ततः** ] तो [ **त्रिलोकः अपि** ] तीनों ही लोक [ **निजशिरसि** ] अपने मस्तकके [ **उपरि** ] ऊपर [ **तमेव** ] उसी मोक्षको [ **किं धरति** ] क्यों रखते ? **भावार्थ**—मोक्ष लोकके शिखर ( अग्रभाग ) पर है, सो सब लोकोंसे मोक्षमें बहुत ज्यादः गुण हैं, इसी लिये उसको लोक अपने सिरपर रखता है । कोई किसीको अपने सिरपर रखता है, वह अपनेसे अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है । यदि क्षायिकसम्यक्त्व केवलदर्शनादि अनंत गुण मोक्षमें न होते, तो मोक्ष सबके सिरपर न होता, मोक्षके ऊपर अन्य कोई स्थान नहीं हैं, सबके ऊपर मोक्ष ही है, और मोक्षके आगे अनंत अलोक

गुणानामभावं मोक्षं मन्यन्ते ये वृद्धवैशेषिकास्ते निषिद्धाः। ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते सौगतास्ते च निरस्ताः। यच्चोक्तं सांख्यैः सुप्तावस्थावत् सुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तम्। लोकाग्रे तिष्ठतीति वचनेन तु मण्डिकसंज्ञा नैयायिकमतान्तर्गता यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेऽपि निरस्ता इति। जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञानसुखस्याभावेन चातीन्द्रियज्ञानसुखस्येति कर्मजनितेन्द्रियादिदशप्राणसहितस्याशुद्धजीवस्याभावेन न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः॥ ६॥

---

है, वह शून्य है, वहाँ कोई स्थान नहीं है। वह अनंत अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भास रहा है। यहाँपर मोक्षमें अनंत गुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खंडन किया। कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं, कि जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है, उनका निषेध किया, क्योंकि इंद्रियजनित बुद्धिका तो अभाव है, परंतु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नहीं है, इंद्रियोंसे उत्पन्न सुखका अभाव है, लेकिन अतीन्द्रिय सुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव ही है, केवलरूप परिणमन है, व्यवहार-धर्मका अभाव ही है, और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह ही है, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है, और परद्रव्यरूप-संस्कार सर्वथा नहीं है, स्वभाव-संस्कार ही है। जो मूढ़ इन गुणोंका अभाव मानते हैं, वे वृथा बकते हैं, मोक्ष तो अनंत गुणरूप है। इस तरह निर्गुणवादियोंका निषेध किया। तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं। वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपकका निर्वाण (बुझना) उसी तरह जीवका अभाव वही मोक्ष है। ऐसी बौद्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया। क्योंकि जो जीवका ही अभाव हो गया, तो मोक्ष किसको हुआ? जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष है, अभाव कहना वृथा है। सांख्यदर्शनवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है, वही मोक्ष है, जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है, ऐसी प्रतीतिका निवारण किया। नैयायिक ऐसा कहते हैं कि जहाँसे मुक्त हुआ वहींपर ही तिष्ठता है, ऊपरको गमन नहीं करता। ऐसे नैयायिकके कथनका लोक-सिखरपर तिष्ठता है, इस वचनसे निषेध किया। जहाँ बंधनसे छूटता है, वहाँ वह नहीं रहता, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, जैसे कैदी कैदसे जब छूटता है, तब बंदीग्रहसे छूटकर अपने घरकी तरफ गमन करता है, वह निजघर निर्वाण ही है। जैन-मार्गमें तो इंद्रियजनितज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय हैं, उनका अभाव माना है, और अतींद्रियरूप जो केवलज्ञान है, वह वस्तुका स्वभाव है, उसका अभाव आत्मामें नहीं हो सकता। स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इन पाँच इंद्रिय विषयोंकर उत्पन्न हुए सुखका तो अभाव ही है, लेकिन अतींद्रिय सुख जो निराकुल परमानंद है, उसका अभाव नहीं है, कर्मजनित जो इंद्रियादि दस प्राण अर्थात् पाँच इंद्रियाँ, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणोंका भी अभाव है, ज्ञानादि निज प्राणोंका अभाव नहीं है। जीवकी अशुद्धताका

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धाः कथं निरन्तरं सेवन्ते तमिति कथयति—

**उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।**
**तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥ ७ ॥**

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।
ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥ ७ ॥

उत्तमु इत्यादि । **उत्तमु सुक्खु** उत्तमं सुखं **ण देइ** न ददाति **जइ** यदि चेत् । **उत्तमु** उत्तमो **मुक्खु** मोक्षः **ण होइ** न भवति । **तो** ततः कारणात्, **किं** किमर्थं, **सयलु वि कालु** सकलमपि कालम् । **जिय** हे जीव । **सिद्ध वि** सिद्धा अपि **सेवहिँ** सेवन्ते **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तथाहि । यद्यतीन्द्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं सुखं न ददाति मोक्षस्तर्हि कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणसहिताः सिद्धा भगवन्तः किमर्थं निरन्तरं सेवन्ते च चेत् । तस्मादेव ज्ञायते तत्सुखमुत्तमं ददातीति । उक्तं च सिद्धसुखम्—"आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥" । अत्रेदमेव निरन्तरमभिलषणीयमिति भावार्थः ॥ ७ ॥

---

अभाव है, शुद्धपनेका अभाव नहीं, यह निश्चयसे जानना ॥ ६ ॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे, तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ?—[ **यदि** ] जो [ **उत्तमं सुखं** ] उत्तम अविनाशी सुखको [ **न ददाति** ] नहीं देवे, तो [ **मोक्षः उत्तमः** ] मोक्ष उत्तम भी [ **न भवति** ] नहीं हो सकता, उत्तम सुख देता है, इसी लिये मोक्ष सबसे उत्तम है । जो मोक्षमें परमानंद नहीं होता [ **ततः** ] तो [ **जीव** ] हे जीव; [ **सिद्धा अपि** ] सिद्धपरमेष्ठी भी [ **सकलमपि कालं** ] सदा काल [ **तमेव** ] उसी मोक्षको [ **किं सेवंते** ] क्यों सेवन करते ? कभी भी न सेवते । **भावार्थ**—वह मोक्ष अखंड सुख देता है, इसी लिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं, मोक्ष परम आह्लादरूप है, अविनश्वर है, मन और इंद्रियोंसे रहित है, इसी लिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं, केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्धभगवान् निरंतर निर्वाणमें ही निवास करते हैं, ऐसा निश्चित है । सिद्धोंका सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है "आत्मोपादान" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्म-ज्ञानसे सिद्धोंके जो परमसुख हुआ है, वह कैसा है कि अपनी अपनी जो उपादान-शक्ति उसीसे उत्पन्न हुआ है, परकी सहायतासे नहीं है, स्वयं ( आप ही ) अतिशयरूप है, सब बाधाओंसे रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, घटती बढ़तीसे रहित है, विषय-विकारसे रहित है, भेदभावसे रहित है, निर्द्वन्द्व है,

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति—

**हरि-हर-बंभु वि जिणवर वि मुणि-वर-विंद वि भव्व ।**
**परम-णिरंजणि मणु धरिवि मुक्खु जि झायहिँ सव्व ॥ ८ ॥**

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।
परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥ ८ ॥

हरिहर इत्यादि । **हरिहरबंभु वि** हरिहरब्रह्माणोऽपि **जिणवर वि** जिनवरा अपि **मुणिवरविंद वि** मुनिवरवृन्दान्यपि **भव्व** शेषभव्या अपि । एते सर्वे किं कुर्वन्ति । **परमणिरंजणि** परमनिरञ्जनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे । **मणु** मनः **धरिवि** विषयकषायेषु गच्छत् सद् व्यावृत्त्य धृत्वा पश्चात् **मुक्खु जि** मोक्षमेव **झायहिं** ध्यायन्ति **सव्व** सर्वेऽपि इति । तद्यथा । हरिहरादयः सर्वेऽपि प्रसिद्धपुरुषाः ख्यातिपूजालाभादिसमस्तविकल्पजालेन शून्ये, शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मद्रव्यसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजानन्दैक-सुखरसानुभवेन पूर्णकलशवत् भरितावस्थे निरञ्जनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायन्ति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां

---

जहाँपर वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है, अनुपम है, अनंत है, अपार है, जिसका प्रमाण नहीं सदा काल सास्वता है, महा उत्कृष्ट है, अनंत सारता लिये हुए है । ऐसा परमसुख सिद्धोंके है, अन्यके नहीं है । यहाँ तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही सुख अभिलाषा करने योग्य है, और संसार-पर्याय सब हेय है ॥ ७ ॥

आगे सभी महान पुरुषोंके मोक्ष ही ध्यावने योग्य है ऐसा कहते हैं—[ **हरिहर-ब्रह्माणोऽपि** ] नारायण वा इंद्र रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष [ **जिनवरा अपि** ] श्रीतीर्थंकर परमदेव [ **मुनिवरवृंदान्यपि** ] मुनीश्वरोंके समूह तथा [ **भव्याः** ] अन्य भी भव्यजीव [ **परम-निरंजने** ] परम निरंजनमें [ **मनः धृत्वा** ] मन रखकर [ **सर्वे** ] सब ही [**मोक्षं**] मोक्षको [ **एव** ] ही [ **ध्यायंति** ] ध्यावते हैं । यह मन विषय-कषायोंमें जो जाता है, उसको पीछे लौटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्वाणका साधनेवाला करते हैं । **भावार्थ**—श्रीतीर्थंकरदेव तथा चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अखंड स्वभाव जो निज आत्मद्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो अभेदरत्नत्रय-मय समाधिकर उत्पन्न वीतराग सहजानंद अतीन्द्रियसुखरस उसके अनुभवसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्माके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते हैं । कैसा वह ध्यान है, कि ख्याति ( प्रसिद्धि ) पूजा ( अपनी महिमा ) और धनादिकका लाभ इत्यादि समस्त विकल्प-जालोंसे रहित है । यहाँ केवल आत्म-ध्यान हीको मोक्ष-मार्ग बतलाया है, और अपना

वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तत्प्रतिबिम्बानि तन्मन्त्राक्षराणि तदाराधकपुरुषाश्च ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले निजशुद्धात्मैव ध्येय इति ॥ ८ ॥

अथ भुवनत्रयेऽपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति—

**तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।**
**मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥ ९ ॥**

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।
मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिन्तय तमेव ॥ ९ ॥

तिहुयणि इत्यादि । **तिहुयणि** त्रिभुवने **जीवहं** जीवानां **अत्थि णवि** अस्ति नैव । किं नास्ति । **सोक्खहं कारणु** सुखस्य कारणम् । **कोइ** किमपि वस्तु । किं कृत्वा । **मुक्खु मुएविणु एक्कु** मोक्षं मुक्त्वैकं **पर** नियमेन **तेणवि** तेनैव कारणेन **चिंतहि** चिन्तय **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेऽपि मोक्षं मुक्त्वा निरन्तरातिशयसुखकारणमन्यत्पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे **प्रभाकरभट्ट** वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** हे भगवन्नतीन्द्रियमोक्षसुखं निरन्तरं वर्ण्यते भवद्भिस्तच्च न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे **प्रभाकरभट्ट** कोऽपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे

---

स्वरूप ही ध्यावने योग्य है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वज्ञका स्वरूप अथवा वीतरागके नाममंत्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महामुनि ध्यावने योग्य हैं, तो भी वीतराग निर्विकल्प तीन गुप्तिरूप परमसमाधिके समय अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

अब तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं है, ऐसा निश्चय करते हैं—[ **त्रिभुवने** ] तीन लोकमें [ **जीवानां** ] जीवोंको [ **मोक्षं मुक्त्वा** ] मोक्षके सिवाय [ **किमपि** ] कोई भी वस्तु [ **सुखस्य कारणं** ] सुखका कारण [ **नैव** ] नहीं [**अस्ति**] है, एक सुखका कारण मोक्ष ही है [ **तेन** ] इस कारण तू [ **परं एकं तं एव** ] नियमसे एक मोक्षका ही [ **विचिंतय** ] चिंतवन कर, जिसे कि महामुनि भी चिंतवन करते हैं । **भावार्थ**—श्रीयोगींद्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं कि वत्स; मोक्षके सिवाय अन्य सुखका कारण नहीं है, और आत्म-ध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है, इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर निज शुद्धात्म स्वभावको ही ध्या । यह श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकरभट्टने विनती की, हे भगवन्; तुमने निरंतर अतींद्री

पञ्चेन्द्रियभोगसेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन पृष्टः सुखेन स्थितो भवान्। तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमात्मोत्थम्। कस्मादिति चेत्। तत्काले स्त्रीसेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजनादिजिह्वेन्द्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगन्धमाल्यादिघ्राणेन्द्रियविषयो नास्ति दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीयगीतवाद्यादिशब्दविषयोऽपि नास्तीति तस्मात् ज्ञायते तत्सुखमात्मोत्थमिति। किं च। एकदेशव्यापाररहितानां तदेकदेशेनात्मोत्थसुखमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपञ्चेन्द्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते। इदं तावत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मनां च सुखं पुनरनुमानगम्यम्। तथाहि। मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि सुखमस्तीति साध्यम्। कस्माद्धेतोः इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि स्वात्मोत्थवीतरागपरमानन्दसुखोपलब्धिरिति। अत्रेत्थंभूतं सुखमेवोपादेय-

मोक्ष-सुखका वर्णन किया है, सो ये जगतके प्राणी अतींद्रिय सुखको जानते ही नहीं हैं, इंद्रिय सुखको ही सुख मानते हैं। तब गुरुने कहा कि हे प्रभाकरभट्ट; कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलता रहित है, और पंचेन्द्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हो। तब उसने कहा कि सुखसे तिष्ठ रहे हैं, उस समयपर विषय-सेवनादि सुख तो है ही नहीं, उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं। इसलिए यह माल्म होता है, सुख नाम व्याकुलता रहितका है, सुखका मूल निर्व्याकुलपना है, वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मामें ही है, विषय-सेवनमें नहीं। भोजनादि जिह्वा इंद्रियका विषय भी उस समय नहीं है, स्त्रीसेवनादि स्पर्शका विषय नहीं है, और गंधमाल्यादिक नाकका विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नहीं, और कानोंका मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नहीं हैं, इसलिये जानते हैं कि सुख आत्मामें ही है। ऐसा तू निश्चय कर, जो एकोदेश विषय-व्यापारसे रहित हैं, उनके एकोदेश थिरताका सुख है, तो वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानियोंके समस्त पंच इंद्रियोंके विषय और मनके विकल्प-जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतासे निर्व्याकुल सुख उपजता है। इसलिये ये दो बातें तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि पड़ती हैं। जो पुरुष निरोग और चिंता रहित हैं, उनके विषय-सामग्रीके विना ही सुख भासता है, और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्थामें ध्यानारूढ़ हैं, उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है, वे इंद्रादिक देवोंसे भी अधिक सुखी हैं। इस कारण जब संसार अवस्थामें ही सुखका मूल निर्व्याकुलता दीखती है, तो सिद्धोंके सुखकी बात ही क्या है? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो भी अनुमान कर ऐसा जाना जाता है, कि सिद्धोंके भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म नहीं, तथा विषयोंकी प्रवृत्ति नहीं है, कोई भी विकल्प-जाल नहीं है, केवल अतींद्रिय आत्मीक-सुख ही है, वही सुख उपादेय है, अन्य सुख सब दुःखरूप ही हैं।

मिति भावार्थः । तथागमे चोक्तमात्मोत्थमतीन्द्रियसुखम्—" अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं । अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ " ॥ ९ ॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति—

**जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।**
**कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहू ॥ १० ॥**

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः ।
कर्मकलङ्कविमुक्तानां ज्ञानिनः ब्रुवन्ति साधवः ॥ १० ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **सो** तं **परं मोक्खु** मोक्षं **मुणि** मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तं कम् । **जो परमप्पयलाहु** यः परमात्मलाभः । इत्थंभूतो मोक्षः केषां भवति । **कम्मकलंकविमुक्काहं** ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मकलङ्कविमुक्तानाम् । इत्थंभूतं मोक्षं के ब्रुवन्ति । **णाणिय बोल्लहिं** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो ब्रुवन्ति । ते के । **साहू** साधवः इति । तथाहि । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि परमात्मलाभो मोक्षो भवतीति । स च केषाम् । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्परहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलङ्करहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयन्ति । अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानन्तसुखस्योपादेयभूतस्य

---

जो चारों गतियोंकी पर्यायें हैं, उनमें कदापि सुख नहीं है । सुख तो सिद्धोंके है, या महामुनीश्वरोंके सुखका लेशमात्र देखा जाता है, दूसरेके जगतकी विषय-वासनाओंमें सुख नहीं है । ऐसा ही कथन श्रीप्रवचनसारमें किया है । " अइसय " इत्यादि । सारांश यह है, कि जो शुद्धोपकर प्रसिद्ध ऐसे श्रीसिद्धपरमेष्ठी हैं, उनके अतींद्रिय सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है, और आत्मजनित है, तथा विषय-वासनासे रहित है, अनुपम है, जिसके समान सुख तीन लोकमें भी नहीं है, जिसका पार नहीं ऐसा बाधा रहित सुख सिद्धोंके है ॥ ९ ॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतींद्रियसुख है, उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट; जो [ **कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां** ] कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको [ **यः परमात्मलाभः** ] जो परमात्मकी प्राप्ति है [ **तं परं** ] उसीको नियमसे तू [ **मोक्षं मन्यस्व** ] मोक्ष जान, ऐसा [ **ज्ञानिनः साधवः** ] ज्ञानवान् मुनिराज [ **ब्रुवंति** ] कहते हैं, रत्नत्रयके योगसे मोक्षका साधन करते हैं, इससे उनका नाम साधु है । **भावार्थ—** केवलज्ञानादि अनंतगुण प्रगटरूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्ध परमात्माका लाभ वह मोक्ष है, यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होता है । भव्य कैसे हैं कि पुत्र कलत्रादि परवस्तुओंके ममत्वको आदि लेकर सब विकल्पोंसे रहित जो आत्म-ध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म

कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ १० ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तम् ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति—

**दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्टइ जासु ।**
**सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥ ११ ॥**

दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं समयं न त्रुटयति यस्य ।
तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥ ११ ॥

दंसणु इत्यादि । **दंसणु** केवलदर्शनं **णाणु** केवलज्ञानं **अणंतसुहु** अनन्तसुखं एतदुपलक्षणमनन्तवीर्याद्यनन्तगुणाः **समउ ण तुट्टइ** एतद्गुणकदम्बकमेकसमयमपि यावन्न त्रुट्यति न नश्यति **जासु** यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा **सो पर** तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं **सासउ मोक्खफलु** शाश्वतं मोक्षफलं भवति । **बिज्जउ अत्थि ण तासु** तस्यानन्तज्ञानादिमोक्षफलस्यान्यद् द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति । अयमत्र भावार्थः । अनन्तज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तरागादित्यागेन तदर्थमेव निरन्तरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥ ११ ॥ एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतन्त्रसूत्रमेकं गतम् ।

अथानन्तरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तद्यथा—

**जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु ।**
**ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥ १२ ॥**

---

और द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय किये हैं, ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं । यहाँपर अनंत सुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥ १० ॥

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्ष-मार्गका जिसमें कथन है, ऐसे दूसरे महाधिकारके दस दोहोंमें मोक्षका स्वरूप दिखलाया ।

आगे मोक्षका फल अनंतचतुष्टय है, यह दिखलाते हैं—[ **यस्य** ] जिस मोक्ष-पर्यायके धारक शुद्धात्माके [ **दर्शनं ज्ञानं अनंतसुखं** ] केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयोंको आदि देकर अनंत गुणोंका समूह [ **समयं न त्रुट्यति** ] एक समयमात्र भी नाश नहीं होता, अर्थात् हमेशा अनंत गुण पाये जाते हैं । [ **तस्य** ] उस शुद्धात्माके [ **तत्** ] वही [ **परं** ] निश्चयसे [ **शाश्वतं फलं** ] हमेशा रहनेवाला मोक्षका फल [ **अस्ति** ] है, [ **द्वितीयं न** ] इसके सिवाय दूसरा मोक्ष-फल नहीं है, और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है । **भावार्थ**—मोक्षका फल अनंतज्ञानादि जानकर समस्त-रागादिकका त्याग करके उसीके लिये निरंतर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एवं उक्तम् ॥ १२ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां अथवा एकवचनपक्षे 'जीवहो' जीवस्य **मोक्खहं हेउ** मोक्षस्य हेतुः कारणं व्यवहारनयेन भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतम् । **वरु** वरमुत्कृष्टम् । किं तत् । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम् । **ते पुणु** तानि पुनः **तिण्णि वि** त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि **अप्पु** आत्मानमभेदनयेन **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट **णिच्छएं** निश्चयनयेन **एहउ वुत्तु** एवमुक्तं भणितं तिष्ठतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गो साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति । तथा चोक्तम्—"सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥" ॥ १२ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति—

**पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।**
**दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि ॥ १३ ॥**

पश्यति जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।
दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीवः मोक्षस्य कारणं स एव ॥ १३ ।

पेच्छइ इत्यादि । **पेच्छइ** पश्यति **जाणइ** जानाति **अणुचरइ** अनुचरति । केन

---

इस प्रकार दूसरे महाधिकारमें मोक्ष-फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा-सूत्र कहा ।

आगे उन्नीस दोहापर्यंत निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्गका व्याख्यान करते हैं— [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **मोक्षस्य हेतुः** ] मोक्षके कारण [ **वरं** ] उत्कृष्ट [ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं [ **तानि पुनः** ] फिर वे [ **त्रीण्यपि** ] तीनों ही [ **निश्चयेन** ] निश्चयकर [ **आत्मानं** ] आत्माको ही [ **मन्यस्व** ] जाने [ **एवं** ] ऐसा [ **उक्तं** ] श्रीवीतरागदेवने कहा है, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट; तू जान । **भावार्थ**—भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार-मोक्ष-मार्ग साधक है, और अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय-मोक्षमार्ग साधने योग्य है । इस प्रकार निश्चय व्यवहारमोक्ष-मार्गका साध्य-साधकभाव, सुवर्ण सुवर्ण-पाषाणकी तरह जानना । ऐसा ही कथन श्रीद्रव्यसंग्रहमें कहा है । "सम्मद्दंसण" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों ही व्यवहारनयकर मोक्षके कारण जानने, और निश्चयसे उन तीनोंमयी एक आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥ १२ ॥

आगे निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा

कृत्वा । अप्पइं आत्मना करणभूतेन । कं कर्मतापन्नम् । अप्पउ निजात्मानम् । जो जि य एव कर्ता दंसणु णाणु चरित्तु दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति क्रियाध्याहारः । कोऽसौ भवति । जिउ जीवः य एवाभेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति मोक्खहं कारणु निश्चयेन मोक्षस्य कारणं एक एव सो जि स एव निश्चयरत्नत्रयपरिणतो जीव इति । तथाहि । यः कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति । अथवा । तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनावगाढपरिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति न केवलं निश्चिनोति वीतरागस्वसंवेदनलक्षणाभेदज्ञानेन जानाति परिच्छिनत्ति । न केवलं परिच्छिनत्ति । अनुचरति रागादिसमस्तविकल्पत्यागेन तत्रैव निजस्वरूपे स्थिरीभवतीति स निश्चयरत्नत्रयपरिणतः पुरुष एव निश्चयमोक्षमार्गो भवतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः, पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते तेषामपि मोक्षो भवति स चागमविरोधः इति । परिहारमाह । तेषां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं बहिर्विषये विद्यते न चाभ्यन्तरशुद्धात्मतत्त्वविषये । कस्मादिति चेत् । तेषामभव्यानां मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनमेव नास्ति

कहते हैं—[ **य एव** ] जो [ **आत्मना** ] अपनेसे [ **आत्मानं** ] आपको [ **पश्यति** ] देखता है, [ **जानाति** ] जानता है, [ **अनुचरति** ] आचरण करता है, [ **स एव** ] वही विवेकी [ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणत हुआ [ **जीवः** ] जीव [ **मोक्षस्य कारणं** ] मोक्षका कारण है । **भावार्थ**—जो सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्माको आपकर निर्विकल्परूप देखता है, अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानकी अपेक्षा चंचलता और मलिनता तथा शिथिलता इनका त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है, वीतराग स्वसंवेदनलक्षण ज्ञानसे जानता है, और सब रागादिक विकल्पोंके त्यागसे निज स्वरूपमें स्थिर होता है, सो निश्चयरत्नत्रयको परिणत हुआ पुरुष ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया । कि हे प्रभो; तत्त्वार्थश्रद्धान रुचिरूप सम्यग्दर्शन वह मोक्षका मार्ग है, इसमें तो दोष नहीं और तुमने कहा कि जो देखे वह दर्शन, जानें वह ज्ञान, और आचरण करे वह चारित्र है । सो यह देखनेरूप दर्शन कैसे मोक्षका मार्ग होसकता है ? और जो कभी देखनेका नाम दर्शन कहो तो देखना अभव्यको भी होता है, उसके मोक्ष-मार्ग तो नहीं माना है ? यदि अभव्यके मोक्ष-मार्ग होवे, तो आगमसे विरोध आवे । आगममें तो यह निश्चय है कि अभव्यको मोक्ष नहीं होता । उसका समाधान यह है कि अभव्योंके देखनेरूप जो दर्शन है, वह बाह्य-पदार्थोंका है, अंतरंग शुद्धात्मतत्त्वका दर्शन तो अभव्योंके नहीं होता, उसके मिथ्यात्व

चारित्रमोहोदयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्मसत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः। निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथामाह—"रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥" ॥ १३ ॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति—

**जं बोल्लइ ववहार-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।**
**तं परियाणहि जीव तुहुँ जेँ परु होहि पवित्तु ॥ १४ ॥**

यद् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥ १४ ॥

जं इत्यादि । **जं** यत् **बोल्लइ** ब्रूते । कोऽसौ कर्ता । **ववहारणउ** व्यवहारनयः । यत् किं ब्रूते । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं **तं** पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं **परियाणहि** परि समन्तात् जानीहि । **जीव तुहुँ** हे जीव त्वं कर्ता । **जें** येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन **परु होहि** परः उत्कृष्टो भवसि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टस्त्वम् । **पवित्तु** पवित्रः सर्वजनपूज्य इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि । त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि । परंपरया पवित्रः

---

आदि सात प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम क्षय नहीं है, तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उसके नहीं है, और चारित्रमोहके उदयसे वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्मका सत्तावलोकन भी उसके कभी नहीं है । तात्पर्य यह है, निश्चयकर अभेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसी ही द्रव्यसंग्रहमें साक्षीभूत गाथा कही है । "रयणत्तयं" इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको छोड़कर अन्य ( दूसरी ) द्रव्योंमें नहीं रहता, इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमयी निज आत्मा ही है ॥ १३ ॥

आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप-व्यवहार वह परम्पराय मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं ।—

[ **जीव** ] हे जीव; [ **व्यवहारनयः** ] व्यवहारनय [ **यत्** ] जो [ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों को [ **ब्रूते** ] कहता है, [ **तत्** ] उस व्यवहाररत्नत्रयको [ **त्वं** ] तू [ **परिजानीहि** ] जान, [ **येन** ] जिससे कि [ **परः पवित्रः** ] उत्कृष्ट अर्थात् पवित्र [ **भवसि** ] होवे । **भावार्थ**—हे जीव; तू तत्त्वार्थका श्रद्धान, शास्त्रका ज्ञान, और अशुभ क्रियाओंका त्यागरूप सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहारमोक्ष-मार्गको जान, क्योंकि ये निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्ष-मार्गके साधक हैं, इनके जाननेसे किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जायगा । पहले व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति होजावे, तब ही निश्चयरत्नत्रयकी

परमात्मा भविष्यसि इति। व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते। तद्यथा। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमार्गः। अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः। अत्राह शिष्यः। निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः॥ सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह—"जं

---

प्राप्ति होसकती है, इसमें संदेह नहीं है। जो अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे वे पहले व्यवहाररत्नत्रयको पाकर निश्चय रत्नत्रयरूप हुए। व्यवहार साधन है, और निश्चय साध्य है। व्यवहार और निश्चय मोक्ष-मार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञदेवके कहे हुए छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, इनका श्रद्धान, इनके स्वरूपका ज्ञान, और शुभ क्रियाका आचरण, यह व्यवहारमोक्ष-मार्ग है, और निज शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान स्वरूपका ज्ञान, और स्वरूपका आचरण यह निश्चयमोक्ष-मार्ग है। साधनके विना सिद्धि नहीं होती, इसलिये व्यवहारके विना निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती। यह कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो; निश्चयमोक्ष-मार्ग जो निश्चलरत्नत्रय वह तो निर्विकल्प है, और व्यवहाररत्नत्रय विकल्प सहित है, सो यह विकल्प-दशा निर्विकल्पपनेकी साधन कैसे होसकती है? इस कारण उसको साधक मत कहो। अब इसका **समाधान** करते हैं। जो अनादिकालका यह जीव विषय कषायोंसे मलीन हो रहा है, सो व्यवहार-साधनके विना उज्ज्वल नहीं होसकता, जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिककी क्षीणतासे देव गुरु धर्मकी श्रद्धा करे, तत्त्वोंका जानपना होवे, अशुभ क्रिया मिट जावे, तब गुरू वह अध्यात्मका अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपड़ा धोनेसे रँगने योग्य होता है, विना धोये रंग नहीं लगता, इसलिये परम्पराय मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है। मोक्षका मार्ग दो प्रकारका है, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय, निश्चय तो साक्षात् मोक्ष-मार्ग है, और व्यवहार परम्पराय है। अथवा सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकारका है। जो मैं अनंतज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा 'सोऽहं' का चिंतवन है, वह तो सविकल्प निश्चयमोक्ष-मार्ग है, उसको साधक कहते हैं, और जहाँपर कुछ चिंतवन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है, और कुछ चेष्टा नहीं है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है, यह तात्पर्य हुआ। इसी कथनके वारेमें द्रव्यसंग्रहकी साख देते हैं। "मा चिट्ठह" इत्यादि। सारांश यह है, कि हे जीव; तू कुछ भी कायकी चेष्टा मत कर, कुछ बोल भी मत, मौनसे रह, और कुछ चिंतवन मत कर।

पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं। सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं।" ॥ १४ ॥ एवं पूर्वोक्तैएकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम्। इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्यवहारमोक्ष-मार्गप्रथमावयवभूतव्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति। तद्यथा—

**दव्वइँ जाणइ जहठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि।**
**अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि॥ १५॥**

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव।
आत्मनः संवन्धी भावः अविचलः दर्शनं स एव॥ १५॥

दव्वइं इत्यादि। **दव्वइ** द्रव्याणि **जाणइ** जानाति। कथंभूतानि। **जहठियइं** यथास्थितानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञानेन परिच्छिनत्तीति। न केवलं परिच्छिनत्ति **तह** तथैव **जगि** इह जगति **मण्णइ** मन्यते निजात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिरूपं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन—"मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः" इतिश्लोककथितपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्दधातीति। एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्दधाति। कोऽसौ। **अप्पहं केरउ भावडउ** आत्मनः संवन्धिभावः परिणामः। किंविशिष्टो भावः। **अविचलु** अविचलोऽपि चलमलिनाव-

---

सब वातोंको छोड़, आत्मामें आपको लीन कर, यह ही परमध्यान है। श्रीतत्त्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्ष-मार्गके कथनमें यह गाथा कही है कि "जं पुण सगयं" इत्यादि। इसका सारांश यह है कि जो आत्मतत्त्व है, वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका है, जो विकल्प सहित है, वह तो आस्रव सहित है, और जो निर्विकल्प है, वह आस्रव रहित है॥ १४॥

इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अंतरस्थलोंमेंसे उन्नीस दोहोंके स्थलमें तीन दोहोंसे निश्चय व्यवहार मोक्ष-मार्गका कथन किया।

आगे चौदह दोहापर्यंत व्यवहारमोक्ष-मार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्त्वको मुख्यतासे कहते हैं—[ **य एव** ] जो [ **द्रव्याणि** ] द्रव्योंको [ **यथास्थितानि** ] जैसा उनका स्वरूप है, वैसा [ **जानाति** ] जानें, [ **तथा** ] और उसी तरह [ **जगति** ] इस जगतमें [ **मन्यते** ] निर्दोष श्रद्धान करे, [ **स एव** ] वही [ **आत्मनः संवंधी** ] आत्माका [ **अविचलः भावः** ] चलमलिनावगाढ दोप रहित निश्चल भाव है, [ **स एव** ] वही आत्मभाव [ **दर्शनं** ] सम्यक्दर्शन है। **भावार्थ**—यह जगत् छह द्रव्यमयी है, सो इन द्रव्योंको अच्छी तरह जानकर श्रद्धान करे, जिसमें संदेह नहीं वह सम्यक्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन

गाढदोषरहितः दंसणु दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति। क एव। सो जि स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति। अयमत्र भावार्थः। इदमेव सम्यक्त्वं चिन्तामणिरिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांक्षास्वरूपादिसमस्तविकल्पजालं वर्जनीयमिति। तथा चोक्तम्–" हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः। कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा॥ "॥ १५॥

अथ यैः षड्द्रव्यैः सम्यक्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भृतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

दव्वइँ जाणहि ताइँ छह तिहुयणु भरियउ जेहिँ।
आइ-विणास-विवज्जियहिँ णाणिहि पभणियएहिँ॥ १६॥

---

आत्माका निज स्वभाव है। वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान उसका परम्पराय कारण जो परमागमका ज्ञान उसे अच्छी तरह जानें, और मनमें मानें, यह निश्चय करे कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है, ऐसा रुचिरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसका परम्पराय कारण व्यवहारसम्यक्त्व देव गुरु धर्मकी श्रद्धा उसे स्वीकार करे। व्यवहार-सम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं, उनको छोड़े। उन पच्चीसोंको " मूढत्रयं " इत्यादि श्लोकमें कहा है। इसका अर्थ ऐसा है कि जहाँ देव कुदेवका विचार नहीं है, वह तो देवमूढ़, जहाँ सुगुरु कुगुरुका विचार नहीं है, वह गुरुमूढ़, जहाँ धर्म कुधर्मका विचार नहीं है, वह धर्ममूढ़ ये तीन मूढ़ता; और जातिमद, कुलमद, धनमद, रूपमद, तपमद, बलमद, विद्यामद, राजमद ये आठ मद। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, इनकी और इनके आराधकोंकी जो प्रशंसा वह छह अनायतन और निःशंकितादि आठ अंगोंसे विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, परदोष-कथन, अथिरकरण, साधर्मियोंसे स्नेह नहीं रखना, और जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करना, ये शंकादि आठ मल, इस प्रकार सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं, इन दोषोंको छोड़कर तत्त्वोंकी श्रद्धा करे, वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जहाँ अस्थिर बुद्धि नहीं है, और परिणामोंकी मलिनता नहीं, और शिथिलता नहीं, वह सम्यक्त्व है। यह सम्यग्दर्शन ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि है, ऐसा जानकर भोगोंकी वांछारूप जो विकल्प उनको छोड़कर सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये। ऐसा कहा है ' हस्ते ' इत्यादि जिसके हाथमें चिन्तामणि है, धनमें कामधेनु है, और जिसके घरमें कल्पवृक्ष है, उसके अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता है? कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि तो कहने मात्र हैं, सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि है, ऐसा जानना॥ १५॥

द्रव्याणि जानीहि तानि षट् त्रिभुवनं भृतं यैः ।
आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥ १६ ॥

दव्वइं इत्यादि । दव्वइं द्रव्याणि जाणहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट ताइं तानि परमागमप्रसिद्धानि । कृतिसंख्योपेतानि छह षडेव । यैः द्रव्यैः किं कृतम् । तिहुयणु भरियउ त्रिभुवनं भृतम् । जेहिं यैः कर्तृभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः आइविणासविवज्जियहिं द्रव्यार्थिकनयेनादिविनाशविवर्जितैः पुनरपि कथंभूतैः णाणिहि पभणियएहिं ज्ञानिभिः प्रभणितैः कथितैश्चेति । अयमत्राभिप्रायः । एतैः षड्भिर्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको न चान्यः कोऽपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति । किं च । षड्द्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानि भवन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥ १६ ॥

अथ तेषामेव षड्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति—

**जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण ।**
**पोग्गलु धम्माहम्मु णहु कालेँ सहिया भिण्ण ॥ १७ ॥**

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि ।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥ १७ ॥

जीउ इत्यादि । जीउ सचेयणु दव्वु चिदानन्दैकस्वभावो जीवश्चेतनाद्रव्यं भवति । मुणि मन्यस्व जानीहि तम् । पंच अचेयणु पंचाचेतनानि अण्ण जीवादन्यानि । तानि कानि । पोग्गलु धम्माहम्मु णहु पुद्गलधर्माधर्मनभांसि कथंभूतानि तानि कालेँ

---

आगे सम्यक्त्वके कारण जो छह द्रव्य हैं, उनसे यह तीनलोक भरा हुआ है, उनको यथार्थ जानो, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं;—हे प्रभाकरभट्ट; तू [ **तानि षड्द्रव्याणि** ] उन छहों द्रव्योंको [ **जानीहि** ] जान, [ **यैः** ] जिन द्रव्योंसे [ **त्रिभुवनं भृतं** ] यह तीन लोक भर रहा है, वे छह द्रव्य [ **ज्ञानिभिः** ] ज्ञानियोंने [ **आदिविनाशविवर्जितैः** ] आदि अंतकर रहित द्रव्यार्थिकनयसे [ **प्रभणितैः** ] कहे हैं । **भावार्थ**—यह लोक छह द्रव्योंसे भरा है, अनादिनिधन है, इस लोकका आदि अंत नहीं है, तथा इसका कर्ता, हर्ता व रक्षक कोई नहीं है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहारसम्यक्त्वके कारण हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागसम्यक्त्वका कारण नित्य आनंद स्वभाव निज शुद्धात्मा ही है १६ ॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते हैं—हे शिष्य; तू [ **जीवः सचेतनद्रव्यं** ] जीव चेतनद्रव्य है, ऐसा [ **मन्यस्व** ] जान, [ **अन्यानि** ] और बाकी [ **पुद्गलः धर्माधर्मौ** ] पुद्गल धर्म अधर्म [ **नभः** ] आकाश [ **कालेन सहिता** ] और काल सहित जो [ **पंच** ]

**सहिया** कालद्रव्येण सहितानि। पुनरपि कथंभूतानि। **भिण्ण** स्वकीयस्वकीयलक्षणेन परस्परभिन्नानि इति। तथाहि। द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन। सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत्। निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह। तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो

---

पाँच हैं, वे [ **अचेतनानि** ] अचेतन हैं और [ **अन्यानि** ] जीवसे भिन्न हैं, तथा ये सब [ **भिन्नानि** ] अपने अपने लक्षणों.। आपसमें भिन्न ( जुदा जुदा ) हैं, काल सहित छह द्रव्य हैं, कालके विना पाँच अस्तिकाय हैं। **भावार्थ**—सम्यक्त्व दो प्रकारका है, एक सरागसम्यक्त्व दूसरा वीतरागसम्यक्त्व, सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं। **प्रशम** अर्थात् शान्तिपना, **संवेग** अर्थात् जिनधर्मकी रुचि तथा जगतसे अरुचि, **अनुकंपा** परजीवोंको दुःखी देखकर दया भाव और **आस्तिक्य** अर्थात् देव गुरु धर्मकी तथा छह द्रव्योंकी श्रद्धा, इन चारोंका होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है, और वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रसे तन्मयी है। यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया। हे प्रभो; निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्वका कथन पहले तुमने अनेकबार किया, फिर अब वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्व है, यह व्याख्यान करते हैं, सो यह तो पूर्वापर विरोध है। क्योंकि जो निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर परमदेव भरत चक्रवर्ती सगर चक्रवर्ती और राम पांडवादि बड़े बड़े पुरुषोंके रहता है, लेकिन उनके वीतरागचारित्र नहीं है। यही परस्पर विरोध है। यदि उनके वीतरागचारित्र माना जावे, तो गृहस्थपना क्यों कहा ? यह प्रश्न किया। उसका **उत्तर** श्रीगुरु देते हैं। उन महान् ( बड़े ) पुरुषोंके शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसी भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व तो है, परंतु चारित्रमोहके उदयसे थिरता नहीं है। जबतक महाव्रतका उदय नहीं है, तबतक असंयमी कहलाते हैं, शुद्धात्माकी अखंड भावनासे रहित

निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरित-पुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषाय-दुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभ-रागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व-संज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥१७॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते—

**मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।**
**णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥ १८ ॥**

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरञ्जनं भावम् ॥ १८ ॥

मुत्तिविहूणउ इत्यादि । **मुत्तिविहूणउ** अमूर्तः शुद्धात्मनो विलक्षणया स्पर्शरस-गन्धवर्णवत्या मूर्त्या विहीनत्वात् मूर्तिविहीनः । **णाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितेन लोकालोकप्रकाशकेन केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः । **परमाणंदसहाउ** वीत-रागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन समरसीभावपरिणतस्वरूपत्वात् परमानन्द-स्वभावः । **णियमिं** शुद्धनिश्चयेन । **जोइय** हे योगिन् । **अप्पु** तमित्थंभूतमात्मानं **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टं जानीहि । **णिच्चु** शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्यम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ।

---

हुए भरत सगर राघव पांडवादिक निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धोंके गुणस्तवन वस्तुस्तवन-रूप स्तोत्रादि करते हैं, और उनके चारित्र पुराणादिक सुनते हैं, तथा उनकी आज्ञाके आरा-धक जो महान पुरुष आचार्य उपाध्याय साधु उनको भक्तिसे आहारदानादि करते हैं, पूजा करते हैं । विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये तथा संसारकी स्थितिके नाश करनेके लिये ऐसी शुभ क्रिया करते हैं । इसलिये शुभ रागके संबंधसे सम्यग्दृष्टि हैं, और इनके निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्वके परम्पराय साधकपना है । अब वास्तवमें ( असलमें ) विचारा जावे, तो गृहस्थ अवस्थामें इनके सरागसम्यक्त्व ही है, और जो सरागसम्यक्त्व है, वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो ॥ १७ ॥

आगे चार दोहोंसे छह द्रव्योंके क्रमसे हरएकके लक्षण कहते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **नियमेन** ] निश्चय करके [ **आत्मानं** ] तू आत्माको ऐसा [ **मन्यस्व** ] जान । कैसा है आत्मा [ **मूर्तिविहीनः** ] मूर्तिसे रहित है, [ **ज्ञानमयः** ] ज्ञानमयी है, [ **परमानंदस्वभावः** ] परमानंद स्वभाववाला है, [ **नित्यं** ] नित्य है, [ **निरंजनं** ] निरंजन है,

**णिरंजणु** मिथ्यात्वरागादिरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनम् । पुनश्च कथंभूतमात्मानं जानीहि । **भाउ** भावं विशिष्टपदार्थं इति । अत्रैवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

अथ—

**पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।**
**धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि ॥ १९ ॥**

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।
धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणन्ति ज्ञानिनः ॥ १९ ॥

**पुग्गलु** इत्यादि । **पुग्गलु** पुद्गलद्रव्यं **छव्विहु** षड्विधम् । तथा चोक्तम्— " पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छब्भेया पुग्गला होंति ॥ " । एवं तत्कथं भवति । **मुत्तु** स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तम् । **वढ** वत्स पुत्र । **इयर** इतराणि पुद्गलात् शेषद्रव्याणि **अमुत्तु** स्पर्शाद्यभावादमूर्तानि **वियाणि** विजानीहि त्वम् । **धम्माधम्मु वि** धर्माधर्मद्वयमपि **गइठियहं** गतिस्थित्योः **कारणु** कारणं निमित्तं **पभणहिं** प्रभणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । **णाणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः इति । अत्र द्रष्टव्यम् । यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले सहकारिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च

---

[ **भावं** ] ऐसा जीवपदार्थ है । **भावार्थ**—यह आत्मा अमूर्तीक शुद्धात्मासे भिन्न जो स्पर्श रस गंध वर्णवाली मूर्ति उससे रहित है, लोक अलोकका प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकर पूर्ण है, जोकि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है, आगे पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानंदरूप अतींद्रिय सुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे समरसी भावको परिणत हुआ है, ऐसा है योगी; शुद्ध निश्चयसे अपनी आत्माको ऐसा समझ, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे बिना टाँकीका घड़्या हुआ सुघटघाट ज्ञायक स्वभाव नित्य है । तथा मिथ्यात्व रागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है । ऐसी आत्माको तू भली भाँति जान, जो सब पदार्थोंमें उत्कृष्ट है । इन गुणोंसे मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और सब तजने योग्य हैं ॥ १८ ॥

आगे फिर भी कहते हैं—[ **हे वत्स** ] हे वत्स; तू [ **पुद्गलः** ] पुद्गलद्रव्य [ **षड्विधः** ] छह प्रकार तथा [ **मूर्तः** ] मूर्तीक है, [ **इतराणि** ] अन्य सब द्रव्य [ **अमूर्तानि** ] अमूर्त हैं, ऐसा [ **विजानीहि** ] जान, [ **धर्माधर्ममपि** ] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको [ **गतिस्थित्योः कारणं** ] गति स्थितिका सहायक-कारण [ **ज्ञानिनः** ] केवली श्रुतकेवली [ **प्रभणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी ' पुढवी जलं ' इत्यादि गाथासे कहे हैं । उसका अर्थ यह है, कि बादर बादर १, बादर २, बादरसूक्ष्म ३,

गतिसहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाग्रे स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति। यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ तिष्ठन्ति। तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः॥ १९॥

अथ—

**दव्वइँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमेँ जासु वसंति।**
**तं णहु दव्वु वियाणि तुहुँ जिणवर एउ भणंति॥ २०॥**

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति।
तत् नभः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति॥ २०॥

**दव्वइं** द्रव्याणि। कतिसंख्योपेतानि। **सयलइं** समस्तानि **उवरि** उदरे **ठियइं** स्थितानि **णियमें** निश्चयेन **जासु** यस्य **वसंति** आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति

---

सूक्ष्मबादर ४, सूक्ष्म ५, सूक्ष्मसूक्ष्म ६, ये छह भेद पुद्गलके हैं। उनमेंसे पत्थर काठ तृण आदि पृथ्वी बादर बादर हैं, टुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी तैल आदि बादर हैं, जो टूटकर मिल जाते हैं, छाया आतप चाँदनी ये बादरसूक्ष्म हैं, जो कि देखनेमें तो बादर और ग्रहण करनेमें सूक्ष्म हैं, नेत्रको छोड़कर चार इंद्रियोंके विषय रस गंधादि सूक्ष्म बादर हैं, जो कि देखनेमें नहीं आते, और ग्रहण करनेमें आते हैं, कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं, जो अनंत मिली हुई हैं, परंतु दृष्टिमें नहीं आतीं, और सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणु है, जिसका दूसरा भाग नहीं होता। इस तरह छह भेद हैं। इन छहों तरहके पुद्गलोंको तू अपने स्वरूपसे जुदा समझ। यह पुद्गलद्रव्य स्पर्श रस गंध वर्णको धारण करता है, इसलिये मूर्तीक है, अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण हैं, ऐसा वीतरागदेवने कहा है। यहाँपर एक बात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूप पुद्गलद्रव्य मोक्षके गमनका सहायक है, इसके विना मुक्ति नहीं हो सकती, तो भी धर्मद्रव्य गति सहायी है, इसके विना सिद्धलोकको जाना नहीं होसकता, तथा अधर्मद्रव्य सिद्धलोकमें स्थितिका सहायी है। लोक-शिखरपर आकाशके प्रदेश अवकाशमें सहायी हैं। अनंते सिद्ध अपने स्वभावमें ही ठहरे हुए हैं, परद्रव्यका कुछ प्रयोजन नहीं है। यद्यपि मुक्तात्माओंके प्रदेश आपसमें एकजगह हैं, तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन भाव-भगवान् सिद्धक्षेत्रमें भिन्न भिन्न स्थित हैं, कोई सिद्ध किसी सिद्धसे प्रदेशोंकर मिला हुआ नहीं है। पुद्गलादि पाँचों द्रव्य जीवको यद्यपि निमित्तकारण कहे गये हैं, तो भी उपादानकारण नहीं है, ऐसा सारांश हुआ॥ १९॥

आगे आकाशका स्वरूप कहते हैं;—[ **यस्य** ] जिसके [ **उदरे** ] अंदर [ **सकलानि द्रव्याणि** ] सब द्रव्यें [ **स्थितानि** ] स्थित हुईं [ **नियमेन वसंति** ] निश्चयसे आधार

तं तत् णहु दव्वु नभ आकाशद्रव्यं वियाणि विजानीहि तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट जिणवर जिनवराः वीतरागसर्वज्ञाः एउ भणंति एतद्भणन्ति कथयन्तीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादनन्तसुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यन्तभिन्नत्वाद्धेयमिति ॥ २० ॥

अथ—

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुँ वट्टण-लक्खणु एउ ।
रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥ २१ ॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।
रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥ २१ ॥

कालु इत्यादि । कालु कालं मुणिज्जहि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । दव्वु कालसंज्ञं द्रव्यम् । कथंभूतम् । वट्टणलक्खणु वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममाणानां द्रव्याणां वहिरङ्गसहकारिकारणम् । किंवदिति चेत् । कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावदिति । एउ एतत् प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यासंख्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह । रयणहं रासि रत्नानां राशिः । कथंभूतः । विभिण्ण विभिन्नः विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः तसु तस्य कालद्रव्यस्य अणुयहं अणूनां कालाणूनां तह तथा भेउ भेदः इति । अत्राह शिष्यः । समय एव निश्चयकालः अन्यन्निश्चयकालसंज्ञं

---

आधेयरूप होकर रहती हैं, [ तत् ] उसको [ त्वं ] तू [ नभः द्रव्यं ] आकाशद्रव्य [ विजानीहि ] जान, [ एतत् ] ऐसा [ जिनवराः ] जिनेंद्रदेव [ भणंति ] कहते हैं। लोकाकाश आधार है, अन्य सब द्रव्य आधेय है । **भावार्थ**—यद्यपि ये सब द्रव्य आकाशमें परस्पर एक क्षेत्रावगहसे ठहरी हुई हैं, तो भी आत्मासे अत्यंत भिन्न हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य हैं, अनंतसुखस्वरूप है ॥ २० ॥

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करते हैं—[ त्वं ] हे भव्य; तू [ एतत् ] इस प्रत्यक्षरूप [ वर्तनालक्षणं ] वर्तनालक्षणवालेको [ कालं ] कालद्रव्य [ मन्यस्व ] जान अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्हारके चक्रकी नीचेकी सिलाकी तरह जो वहिरंग सहकारीकारण है, यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेशप्रमाण है [ यथा ] जैसे [ रत्नानां राशिः ] रत्नोंकी राशि [ विभिन्नः ] जुदारूप है, सब रत्न जुदा जुदा रहते हैं–मिलते नहीं हैं, [ तथा ] उसी तरह [ तस्य ] उस कालके [ अणूनां ] कालकी अणुओंका [ भेदः ] भेद है, एक कालाणुसे दूसरा कालाणु नहीं मिलता । यहाँपर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चयकाल है, अन्य निश्चयकाल नामवाला द्रव्य नहीं है ? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं । समय वह कालद्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि विनाशको पाता है । ऐसा ही श्रीपंचास्तिकायमें कहा है "समओ

कालद्रव्यं नास्ति। अत्र परिहारमाह। समयस्तावत्पर्यायः। कस्मात्। विनश्वरत्वात्। तथा चोक्तं समयस्य विनश्वरत्वम्—" समओ उप्पण्णपद्धंसी " इति। स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति। कस्य द्रव्यस्य भवतीति विचार्यते। यदि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायो भवति तर्हि पुद्गलपरमाणुपिण्डनिष्पन्नघटादयो यथा मूर्ता भवन्ति तथा अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमणाज्जातः समयः, चक्षुःसंपुटविघटनाज्जातो निमिषः, जलभाजनहस्तादिव्यापाराज्जाता घटिका, आदित्यबिम्बदर्शनाज्जातो दिवसः, इत्यादि कालपर्याया मूर्ता दृष्टिविषया प्राग्भवन्ति। कस्मात्। पुद्गलद्रव्योपादानकारणजातत्वाद् घटादिवत् इति। तथा चोक्तम्। उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति मृत्पिण्डाद्युपादानकारणजनितघटादिवदेव न च तथा समयनिमिषघटिकादिवसादिकालपर्याया मूर्ता दृश्यन्ते। यैः पुनः पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमननयनपुटविघटनजलभाजनहस्तादिव्यापारदिनकरबिम्बगमनादिभिः पुद्गलपर्यायभूतैः क्रियाविशेषैः समयादिकालपर्यायाः परिच्छिद्यन्ते, ते चाणुव्यतिक्रमणादयः तेषामेव समयादिकालपर्यायाणां व्यक्तिनिमित्तत्वेन बहिरङ्गसहकारिकारणभूता एव ज्ञातव्याः। न चोपादानकारणभूता घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत्। तस्माद् ज्ञायते तत्कालद्रव्यममूर्तमविनश्वरमस्तीति तस्य तत्पर्यायाः समयनिमिषादय इति। अत्रेदं तु कालद्रव्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतात् शुद्धबुद्धैकस्वभावाज्जीवद्रव्याद्भिन्नत्वाद्धेयमिति तात्पर्यार्थः॥ २१ ॥

---

उप्पण्णपद्धंसी " अर्थात् समय उत्पन्न होता है और नाश होता है। इससे जानते हैं कि समय पर्याय द्रव्यके विना हो नहीं सकता। किस द्रव्यका पर्याय है, इसपर अब विचार करना चाहिये। यदि पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानी जावे, तो जैसे पुद्गल परमाणुओंसे उत्पन्न हुए घटादि मूर्तीक हैं, वैसे समय भी मूर्तीक होना चाहिये, परंतु समय अमूर्तीक है, इसलिये पुद्गलकी पर्याय तो नहीं है। पुद्गलपरमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशको जब गमन करता है, तब समय होता है, सो समय-पर्याय कालकी है, पुद्गलपरमाणुके निमित्तसे होते हैं, नेत्रोंका मिलना तथा विघटना उससे निमेष होता है, जल-पात्र तथा हस्तादिकके व्यापारसे घटिका होती है, और सूर्यबिम्बके उदयसे दिन होता है, इत्यादि कालकी पर्याय हैं, पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होती हैं, पुद्गल इन पर्यायोंका मूलकारण नहीं है, मूलकारण काल है। जो पुद्गल मूलकारण होता तो समयादिक मूर्तीक होते। जैसे मूर्तीक मिट्टीके ढेलेसे उत्पन्न घड़े वगैरः मूर्तीक होते हैं, वैसे समयादिक मूर्तीक नहीं हैं। इसलिये अमूर्तद्रव्य जो काल उसकी पर्याय हैं, द्रव्य नहीं हैं, कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तीक अविनश्वर है, और समयादिक पर्याय अमूर्तीक हैं, परंतु विनश्वर हैं, अविनश्वरपना द्रव्यमें ही है, पर्यायमें नहीं है, यह निश्चयसे जानना। इसलिये समयादिकको कालद्रव्यकी पर्याय ही कहना चाहिये, पुद्गलकी पर्याय नहीं हैं, पुद्गलपर्याय मूर्तीक है। सर्वथा उपादेय शुद्ध बुद्ध केवलस्वभाव जो जीव उससे भिन्न कालद्रव्य है, इसलिये हेय है, यह सारांश हुआ॥ २१ ॥

अथ जीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति–

**जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व ।**
**इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिँ सव्व ॥ २२ ॥**

जीवोऽपि पुद्गलः कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।
इतराणि अखण्डानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ॥ २२ ॥

जीउ वि इत्यादि । **जीउ वि** जीवोऽपि **पुग्गलु** पुद्गलः **कालु** कालः **जिय** हे जीव **ए मेल्लेविणु** एतानि मुक्त्वा **दव्व** द्रव्याणि **इयर** इतराणि धर्माधर्माकाशानि **अखंड** अखण्डद्रव्याणि **वियाणि** विजानीहि **तुहुं** त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कैः कृत्वाखण्डानि विजानीहि । **अप्पपएसहिं** आत्मप्रदेशैः । कतिसंख्योपेतानि । **सव्व** सर्वाणि इति । तथाहि । जीवद्रव्याणि पृथक् पृथक् जीवद्रव्यगणनेनानन्तसंख्यानि पुद्गलद्रव्याणि तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि भवन्ति । धर्माधर्माकाशानि पुनरेकद्रव्याण्येवेति । अत्र जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्त्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पञ्च परमेष्ठिन एव, तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव, परमार्थेन तु मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरंपरा ज्ञातव्येति भावार्थः ॥ २२ ॥

---

आगे जीव पुद्गल काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं, और धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक हैं, ऐसा कहते हैं ।—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **त्वं** ] तू [ **जीवः अपि** ] जीव और [ **पुद्गलः** ] पुद्गल: [ **कालः** ] काल [ **एतानि द्रव्याणि** ] इन तीन द्रव्योंको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **इतराणि** ] दूसरी धर्म अधर्म आकाश [ **सर्वाणि** ] ये सब तीन द्रव्य [ **आत्मप्रदेशैः** ] अपने प्रदेशोंसे [ **अखंडानि** ] अखंडित हैं । **भावार्थ**—जीवद्रव्य जुदा जुदा जीवोंकी गणनासे अनंत हैं, पुद्गलद्रव्य उससे भी अनंतगुणे हैं, कालद्रव्याणु असंख्यात हैं, धर्मद्रव्य एक है, और वह लोकव्यापी है, अधर्मद्रव्य भी एक है, और वह लोकव्यापी है, ये दोनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, और आकाशद्रव्य अलोक अपेक्षा अनंतप्रदेशी है, तथा लोक अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी हैं । ये सब द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंकर सहित हैं, किसीके प्रदेश किसीसे नहीं मिलते । इन छहों द्रव्योंमें जीव ही उपादेय है । यद्यपि शुद्ध निश्चयसे शक्तिकी अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं, तो भी व्यक्तिकी अपेक्षा पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं, उनमें भी अरहंत सिद्ध ही हैं, उन दोनोंमें भी सिद्ध ही हैं, और निश्चयनयकर मिथ्यात्वरागादि विभावपरिणामके अभावमें विशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा जानना ॥ २२ ॥

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति—

**दव्व चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।**
**जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिँ णाणपवीण ॥ २३ ॥**

द्रव्याणि चत्वारि अपि इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।
जीवमपि पुद्गलं परिहृत्य प्रभणन्ति ज्ञानप्रवीणाः ॥ २३ ॥

**दव्व** इत्यादि । **दव्व** द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि एव । **चयारि वि** चत्वार्येव **इयर** जीवपुद्गलाभ्यामितराणि **जिय** हे जीव । कथंभूतान्येतानि । **गमणागमणविहीण** गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किं कृत्वा । **जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि** जीवपुद्गलौ परिहृत्य **पभणहिं** एवं प्रभणन्ति कथयन्ति । के ते । **णाणपवीण** भेदाभेदरत्नत्रयाराधका विवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां संसारावस्थायां गतेः सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कन्दानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिरङ्गनिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागिव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुम्भकारवद्बहिरङ्गनिमित्तेन व्यञ्जको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मृत्पिण्डवदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गलपरमाणोर्मन्दगतिगमन-

---

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलन-हलनादि क्रियायुक्त हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों निःक्रिय हैं, ऐसा निरूपण करते हैं ।—[ **हे जीव** ] हे हंस; [ **जीवं अपि पुद्गलं** ] जीव और पुद्गल इन दोनोंको [ **परिहृत्य** ] छोड़कर [ **इतराणि** ] दूसरे [ **चत्वारि एव द्रव्याणि** ] धर्मादि चारों ही द्रव्य [ **गमनागमनविहीनानि** ] चलन हलनादि क्रिया रहित हैं, जीव पुद्गल क्रियावंत हैं, गमना-गमन करते हैं, ऐसा [ **ज्ञानप्रवीणाः** ] ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली [ **प्रभणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—जीवोंके संसार-अवस्थामें इस गतिसे अन्य गतिके जानेको कर्म-नोकर्म जातिके पुद्गल सहायी हैं । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है, गमना-गमन नहीं है । पुद्गलके स्कंधोंको गमनका वहिरंग निमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है । इससे क्या अर्थ निकला ? यह निकला कि निश्चयकालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मंद गतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गलपरमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहारकालका उपादानकारण निश्चयकालद्रव्य है, उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालाणुरूप कालद्रव्य है, उसीकी एक समयादिक पर्याय है, पुद्गल परमाणुकी मंदगति वहिरंग निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है, पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेशमें मंदगतिसे गमन करता है, यदि शीघ्र गतिसे चले तो एक समयमें चौदह राजू जाता है, जैसे घटपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो मिट्टीका

काले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालाणुरूपं निश्चयकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवन्ति मत्स्यानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत्, घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरङ्गनिमित्तेऽपि चक्रचीवरादिवत्, जीवानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं, पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणम् । कुत्र भणितमास्ते इति चेत् । पञ्चास्तिकायप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः सक्रियनिःक्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति–" जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा खलु कालकरणेहिं ॥ " । पुद्गलस्कन्धानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत् द्रव्यकालो गतेः

---

डला है, और बहिरंगकारण कुम्हार है, वैसे समयपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो कालाणुरूप निश्चयकाल है, और बहिरंग निमित्तकारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणुकी मंदगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है, तो भी कालाणुरूप निश्चयकाल परमाणुकी मंदगतिका सहायी जानना । परमाणुके निमित्तसे तो कालका समयपर्याय प्रगट होता है, और कालके सहायसे परमाणु मंदगति करता है । कोई प्रश्न करे कि गतिका सहकारी धर्म है, कालको क्यों कहा ? उसका समाधान यह है कि सहकारीकारण बहुत होते हैं, और उपादानकारण एक ही होता है, दूसरा द्रव्य नहीं होता, निज द्रव्य ही निज ( अपनी ) गुण-पर्यायोंका मूलकारण है, और निमित्तकारण बहिरंगकारण तो बहुत होते हैं, इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्मद्रव्य तो सबहीका गतिसहायी है, परंतु मछलियोंको गतिसहायी जल है, तथा घटकी उत्पत्तिमें बहिरंगनिमित्त कुम्हार है, तो भी दंड चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण हैं, इनके विना घट नहीं होता, और जीवोंके धर्मद्रव्य गतिका सहायी विद्यमान है, तो भी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारीकारण हैं, इसी तरह पुद्गलको कालद्रव्य गति-सहकारी-कारण जानना । यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्मद्रव्य तो गतिका सहायी सब जगह कहा है, और कालद्रव्य वर्तनाका सहायी है, गति सहायी किस जगह कहा है ? उसका समाधान श्रीपंचास्तिकायमें कुंदकुंदाचार्यने क्रियावंत और अक्रियावंतके व्याख्यानमें कहा है । " जीवा पुग्गल " इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावंत हैं, और शेष चार द्रव्य अक्रियावाले हैं, चलन-हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है, वह पुद्गल है, और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्मद्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको गमनसहायी जल है, उसी तरह पुद्गलको धर्मद्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी कारण है । यहाँ निश्चयनयकर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूपके समान निःक्रिय निर्द्वंद्व निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, यह शास्त्रका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार

सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन निःक्रियासिद्धस्वरूपसमानं निजशुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं निश्चयनयेन निःक्रियजीवलक्षणम्— "यावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते तावद् द्वैतस्य गोचरः । अद्वये निष्कले प्राप्ते निःक्रियस्य कुतः क्रिया ॥" ॥ २३ ॥

अथ पञ्चास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति कथयति—

**धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ ए जि असंख-पदेस ।**
**गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥ २४ ॥**

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।
गगनं अनन्तप्रदेशं मन्यस्व बहुविधाः पुद्गलदेशाः ॥ २४ ॥

**धम्माधम्मु वि** इत्यादि । **धम्माधम्मु वि** धर्माधर्मद्वितयमेव **एक्कु जिउ** एको विवक्षितो जीवः । **ए जि** एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि **असंखपदेस** असंख्येयप्रदेशानि भवन्ति । **गयणु** गगनं **अणंतपएसु** अनन्तप्रदेशं **मुणि** मन्यस्व जानीहि । **बहुविह** बहुविधा भवन्ति । के ते । **पुग्गलदेस** पुद्गलप्रदेशाः । अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशविवक्षया प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्याः न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् । पुद्गलस्या-

---

दूसरे ग्रंथोंमें भी निश्चयकर हलन चलनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है । "यावक्रिया" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जबतक इस जीवके हलन चलनादि क्रिया है, गतिसे गत्यंतरको जाना है, तबतक दूसरे द्रव्यका संबंध है, जब दूसरेका संबंध मिटा, अद्वैत हुआ, तब निकल अर्थात् शरीरसे रहित निःक्रिय है, उसके हलन चलनादि क्रिया कहाँसे होसकती हैं, अर्थात् संसारी जीवके कर्मके संबंधसे गमन है, सिद्धभगवान् कर्मरहित निःक्रिय हैं, उनके गमना-गमन क्रिया कभी नहीं होसकती ॥ २३ ॥

आगे पंचास्तिकायके प्रगट करनेके लिये कालद्रव्य अप्रदेशीको छोड़कर अन्य पाँचद्रव्योंमेंसे किसके कितने प्रदेश हैं, यह कहते हैं—[ **धर्माधर्मौ** ] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [ **अपि एकः जीवः** ] और एक जीव [ **एतानि एव** ] इन तीनों ही को [ **असंख्यप्रदेशानि** ] असंख्यात प्रदेशी [ **मन्यस्व** ] तू जान, [ **गगनं** ] आकाश [ **अनंतप्रदेशं** ] अनंतप्रदेशी है, [ **पुद्गलप्रदेशाः** ] और पुद्गलके प्रदेश [ **बहुविधाः** ] बहुत प्रकारके हैं, परमाणु तो एकप्रदेशी है, और स्कंध संख्यातप्रदेश असंख्यातप्रदेश तथा अनंतप्रदेशी भी होते हैं । **भावार्थ**—जगत्में धर्मद्रव्य तो एक ही है, वह असंख्यातप्रदेशी हैं, अधर्मद्रव्य भी एक है, असंख्यातप्रदेशी है, जीव अनंत हैं, सो एक एक जीव असंख्यात प्रदेशी हैं, आकाशद्रव्य एक ही है, वह अनंतप्रदेशी है, ऐसा जानो । पुद्गल एक प्रदेशसे लेकर अनंतप्रदेशतक है । एक परमाणु तो एक प्रदेशी है, और जैसे जैसे परमाणु मिलते जाते हैं, वैसे वैसे प्रदेश भी बढ़ते जाते हैं, वे संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेशतक जानने,

नन्तक्षेत्रप्रदेशाभावादिति। अथवा पाठान्तरम्। 'पुग्गलु तिविहु पएसु'। पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्तरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति। अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्तो मिथ्यात्वरागादिरूपभावकर्मसंकल्पविकल्पाभावात् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशा यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ २४ ॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति दर्शयति—

**लोयागासु धरेवि जिय कहियइँ दव्वइँ जाइँ।**
**एक्कहिँ मिलियइँ इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताइँ ॥ २५ ॥**

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि।
एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि॥ २५ ॥

लोयागासु इत्यादि। **लोयागासु** लोकाकाशं कर्मतापन्नं **धरेवि** धृत्वा मर्यादीकृत्य **जिय** हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा ठियाइं आधेयरूपेण स्थितानि। कानि स्थितानि। **कहियइं दव्वइं जाइं** कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि। पुनः कथंभूतानि। **एक्कहिँ मिलियइं** एकत्वे मिलितानि। **इत्थु जगि** अत्र जगति

---

अनंत परमाणु इकट्ठे होवें, तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं। अन्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं, और पुद्गलके स्कंधरूप प्रदेश हैं। पुद्गलके कथनमें प्रदेश शब्दसे परमाणु लेना, क्षेत्र नहीं लेना, पुद्गलका प्रचार लोकमें ही है, अलोकाकाशमें नहीं है, इसलिये अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र-प्रदेश न जानने। जैसे जैसे परमाणु मिल जाते हैं, वैसे वैसे प्रदेशोंकी बढ़वारी जाननी। इसी दोहाके कथनमें पाठांतर "पुग्गलु तिविहु पएसु" ऐसा है, उसका अर्थ यह है कि पुद्गलके संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेश परमाणुओंके मेलसे जानना चाहिये, अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेश, बहुत परमाणु बहु प्रदेश, यह जानना। सूत्रमें शुद्धनिश्चयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्तीक है, और मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म संकल्प विकल्पके अभावसे शुद्ध है, लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशवाला है, ऐसा जो निज शुद्धात्मा वही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशामें साक्षात् उपादेय है, यह जानना ॥ २४ ॥

आगे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहसे तिष्ठ रहे हैं, तो भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीसे नहीं मिलता, और कोई भी अपने अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **अत्र जगति** ] इस संसारमें [ **यानि द्रव्याणि कथितानि** ] जो द्रव्य कहे गये हैं, [ **तानि** ] वे सब [ **लोकाकाशं**

**सगुणहिं णिवसहिं** निश्चयनयेन स्वकीयगुणेषु निवसन्ति 'सगुणहिं' तृतीयान्तं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं कथं जातमिति। ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च क्वचिद्भवतीति। कानि निवसन्ति। ताइं पूर्वोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याणीति। तद्यथा। यद्यप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयसामान्यविशेषणशुद्धगुणान्न त्यजन्तीति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। हे भगवन् लोकस्तावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भणितः तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनन्तजीवद्रव्याणि, तत्र चैकैके जीवद्रव्ये कर्मनोकर्मरूपेणानन्तानि पुद्गलपरमाणुद्रव्याणि च तिष्ठन्ति तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि शेषपुद्गलद्रव्याणि तिष्ठन्ति तानि सर्वाण्यसंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभन्ते इति पूर्वपक्षः। भगवान् परिहारमाह। अवगाहनशक्तियोगादिति। तथाहि। यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्रलक्षसुवर्णसंख्याप्रमितान्यवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे वहवोऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् भस्मघटे जलघटः सम्यगवकाशं लभते, अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे वहवोऽपि पटहजयघण्टादिशब्दाः सम्यगवकाशं लभन्ते, तथैकस्मिन् लोके विशिष्टावगाहनशक्तियोगात् पूर्वोक्तानन्तसंख्या जीवपुद्गला अवकाशं लभन्ते नास्ति विरोधः इति। तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्तिस्वरूपं परमागमे—"एग-

---

धृत्वा] लोकाकाशमें स्थित हैं, लोकाकाश तो आधार है, और ये सब आधेय हैं, [**एकत्वे मिलितानि**] ये द्रव्य एक क्षेत्रमें मिले हुए रहते हैं, एक क्षेत्रावगाही हैं, तो भी [**स्वगुणेषु**] निश्चयनयकर अपने अपने गुणोंमें ही [**निवसंति**] निवास करते हैं, परद्रव्यसे मिलते नहीं है। **भावार्थ**—यद्यपि उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर आधाराधेयभावसे एक क्षेत्रावगाहकर तिष्ठ रहे हैं, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे परद्रव्यसे मिलनेरूप संकर-दोषसे रहित हैं, और अपने अपने सामान्य गुण तथा विशेष गुणोंको नहीं छोड़ते हैं। यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन्; परमागममें लोकाकाश तो असंख्यातप्रदेशी कहा है, उस असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंत जीव किस तरह समा सकते हैं? क्योंकि एक एक जीवके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं, और एक एक जीवमें अनंतानंत पुद्गलपरमाणु कर्म नोकर्मरूपसे लग रही हैं, और उनके सिवाय अनंतगुणे अन्य पुद्गल रहते हैं, सो ये द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोकमें कैसे समा-गये? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं। आकाशमें अवकाशदान (जगह देनेकी) शक्ति है, उसके संबंधसे समा जाते हैं। जैसे एक गूढ़ नागरस गुटिकामें शत सहस्र लक्ष सुवर्ण संख्या आ जाती है, अथवा एक दीपकके प्रकाशमें वहुत दीपकोंका प्रकाश

णिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥" पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपम्—" ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो। सुहुमेहिं वादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥ "। अयमत्र भावार्थः। यद्यप्येकावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं न त्यजन्ति पुद्गलाश्च वर्णादिस्वरूपं न त्यजन्ति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्ति ॥ २५ ॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपञ्चद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति—

**एयइँ दव्वइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति।**
**चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय ते संसारु भमंति॥ २६॥**

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति।
चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति॥ २६॥

**एयइं इत्यादि। एयइं एतानि दव्वइं जीवादन्यद्रव्याणि देहियहं देहिनां**

---

जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके घड़ेमें जलका घड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता है, भस्ममें जल शोषित हो जाता है, अथवा जैसे एक ऊँटनीके दूधके घड़ेमें शहदका घड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिघरमें ढोल घंटा आदि बहुत बाजोंका शब्द अच्छी तरह समा-जाता है, उसी तरह एक लोकाकाशमें विशिष्ट अवगाहनशक्तिके योगसे अनंत जीव और अनंतानंत पुद्गल अवकाश पाते हैं, इसमें विरोध नहीं है, और जीवोंमें परस्पर अवगाहन-शक्ति है। ऐसा ही कथन परमागममें कहा है—" एगणिगोद " इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदियाजीवके शरीरमें जीवद्रव्यके प्रमाणसे दिखलाए गये जितने सिद्ध हैं, उन सिद्धोंसे अनंतगुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें हैं, और निगोदियाका शरीर अंगुलके असंख्यातवें भाग हैं, सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनंत जीव समा जाते हैं, तो लोकाकाशमें समा-जानेमें क्या अचंभा है? अनंतानंत पुद्गल लोकाकाशमें समा रहे हैं, उसकी " ओगाढ " इत्यादि गाथा है। उसका अर्थ यह है कि सब प्रकार सब जगह यह लोक पुद्गल कायोंकर अवगाढ़गाढ़ भरा है, ये पुद्गल काय अनंत हैं, अनेक प्रकारके भेदको धरते हैं, कोई सूक्ष्म हैं कोई बादर हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहकर रहते हैं, तो भी शुद्ध-निश्चयनयकर जीव केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नहीं छोड़ता, और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

आगे जीवका व्यवहारनयकर अन्य पाँचों द्रव्य उपकार करते हैं, ऐसा कहते हैं. तथा उसी जीवके निश्चयसे वे ही दुःखके कारण हैं, ऐसा कहते हैं—[ **एतानि** ] ये [ **द्रव्याणि** ]

**संसारिजीवानाम्** । किं कुर्वन्ति । **णियणियकज्जु जणंति** निजनिजकार्यं जनयन्ति येन कारणेन निजनिजकार्यं जनयन्ति । **चउगइदुक्ख सहंत जिय** चतुर्गतिदुःखं सहमानाः सन्तो जीवाः **तें संसारु भमंति** तेन कारणेन संसारं भ्रमन्तीति । तथा च । पुद्गलस्तावज्जीवस्य स्वसंवित्तिविलक्षणविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापानानिष्पत्तिं करोति, धर्मद्रव्यं चोपचरितासद्भूतव्यवहारेण गतिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं स्थितिसहकारित्वं करोति, तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं च शुभाशुभपरिणामसहकारित्वं करोति । एवं पञ्चद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाच्युतः सन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥ २६ ॥

अथैवं पञ्चद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलम्भलक्षणे मोक्षमार्गे स्थीयत इति निरूपयति—

**दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ ।**
**होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥ २७ ॥**

दुःखस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां एतत्स्वभावम् ।
भूत्वा मोक्षस्य मार्गे लघु गम्यते परलोकः ॥ २७ ॥

**दुक्खहं कारणु** दुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा ज्ञात्वा **जिय** हे जीव । किं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा **दव्वहँ एहु सहाउ** द्रव्याणामिमं शरीरवाङ्मनःप्राणापान-

---

द्रव्य [ **देहिनां** ] जीवोंके [ **निजनिजकार्यं** ] अपने अपने कार्यको [ **जनयंति** ] उपजाते हैं, [ **तेन** ] इस कारण [ **चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः** ] नरकादि चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए जीव [ **संसारं** ] संसारमें [ **भ्रमंति** ] भटकते हैं । **भावार्थ**—ये द्रव्य जो जीवका उपकार करते हैं, उसको दिखलाते हैं । पुद्गल तो आत्मदानसे विपरीत विभाव परिणामोंमें लीन हुए अज्ञानी जीवोंके व्यवहारनयकर शरीर, वचन, मन, श्वासोश्वास, इन चारोंकी उत्पत्ति करता है, अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, राग द्वेषादि विभावपरिणाम हैं, इन विभावपणामोंके योगसे जीवके पुद्गलका संबंध है, और पुद्गलके संबंधसे ये हैं, धर्मद्रव्य उपचरिताद्भूत व्यवहारनयकर गतिसहायी है । अधर्मद्रव्य स्थितिसहकारी है, व्यवहारनयकर आकाशद्रव्य अवकाश ( जगह ) देता है, और कालद्रव्य शुभ अशुभ परिणामोंका सहायी है । इस तरह ये पाँच द्रव्य सहकारी हैं । इनका सहाय पाकर ये जीव निश्चय व्यवहाररत्नत्रयकी भावनासे रहित भ्रष्ट होते हुए चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए संसारमें भटकते हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥२६॥

आगे परद्रव्योंका संबंध निश्चयनयसे दुःखका कारण है, ऐसा जानकर हे जीव; शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष-मार्गमें स्थित हो, ऐसा कहते हैं—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **द्रव्याणां**

निष्पत्त्यादिलक्षणं पूर्वोक्तस्वभावं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यस्वभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा। किं क्रियते। **होयवि** भूत्वा। क्व। **मोक्खहं मग्गि** मोक्षस्य मार्गे **लहु** लघु शीघ्रं पश्चात् **गम्मिज्जइ** गम्यते। कः कर्मतापन्नः। **परलोउ** परलोको मोक्ष इति। तथाहि। वीतरागसदानन्दैकस्वाभाविकसुखविपरीतस्याकुलत्वोत्पादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षस्य मार्गे स्थित्वा परः परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवनं परमसमरसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थः ॥ २७ ॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु त्वमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

**णियमेँ कहियउ एहु मइँ ववहारेण वि दिट्ठि।**
**एवहिँ णाणु चरित्तु सुणि जेँ पावहि परमेट्ठि ॥ २८ ॥**

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणापि दृष्टिः।
इदानीं ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्ठिनम् ॥ २८ ॥

**णियमेँ** नियमेन निश्चयेन **कहियउ** कथिता **एहु मइं** एषा कर्मतापन्ना मया। केनैव। **ववहारेण वि** व्यवहारनयेनैव। एषा का। **दिट्ठि** दृष्टिः। दृष्टिः कोऽर्थः, सम्यक्त्वं। **एवहिं** इदानीं **णाणु चरित्तु सुणि** हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु। येन श्रुतेन किं भवति। **जें पावहि** येन सम्यग्ज्ञानचरित्रद्वयेन प्राप्नोषि। किं प्राप्नोषि। **परमेट्ठि** परमेष्ठिपदं मुक्तिपदमिति। अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा। "परिणाम जीव मुत्तं

---

**इमं स्वभावं** ] परद्रव्योंके ये स्वभाव [ **दुःखस्य** ] दुःखके [ **कारणं मत्वा** ] कारण जानकर [ **मोक्षस्य मार्गे** ] मोक्षके मार्गमें [ **भूत्वा** ] लगकर [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **परलोकः गम्यते** [ उत्कृष्ट लोकरूप मोक्षमें जाना चाहिये। **भावार्थ**—पहले कहे गये पुद्गलादि द्रव्योंके सहाय शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिक ये सब दुःखके कारण हैं, क्योंकि वीतराग सदा आनंदरूप स्वभावकर उत्पन्न जो अतींद्री सुख उससे विपरीत आकुलताके उपजानेवाले हैं, ऐसा जानकर हे जीव; तू भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमनरूप मोक्ष उसमें गमन कर ॥ २७ ॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योंके श्रद्धानरूपको सम्यग्दर्शन कहा है, अब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको हे प्रभाकरभट्ट; तू सुन, ऐसा मनमें रखकर यह दोहासूत्र कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट; [ **मया** ] मैंने [ **व्यवहारेणैव** ] व्यवहारनयसे तुझको [ **एषा दृष्टिः** ] ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप [ **नियमेन कथिता** ] अच्छी तरह कहा, [ **इदानीं** ] अब तू [ **ज्ञानं चारित्रं** ] ज्ञान और चारित्रको [ **शृणु** ] सुन, [ **येन** ] जिसके धारण करनेसे [ **परमेष्ठिनं प्राप्नोषि** ] सिद्धपरमेष्ठीके पदको पावेगा।

सपदेसं एय खित्त किरिया य। णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदं इदरम्हि यपवेसो।” परिणाम इत्यादि। 'परिणाम' परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनि इति। 'जीव' शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः, व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। 'मुत्तं' अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणा स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तद्भावान्मूर्तः पुद्गलः जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तं धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि। 'सपदेसं' लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्। 'एय' द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति। 'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। 'किरिया य' क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि। 'णिच्चं' धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तथापि

---

**भावार्थ**—व्यवहारसम्यक्त्वके कारणभूत छह द्रव्योंका सांगोपांग व्याख्यान करते हैं "परिणाम" इत्यादि गाथासे। इसका अर्थ यह है, कि इन छह द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव और पुद्गल दो ही हैं, अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं, लेकिन जीव पुद्गलकी तरह विभावव्यंजनपर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है, इसलिये मुख्यतासे परिणामी दो द्रव्य ही कहे हैं, शुद्धनिश्चयनयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यप्राण उनसे जीवता है, जीवेगा, पहले जी आया, और व्यवहारनयकर इंद्री, बल, आयु, स्वासोस्वासरूप द्रव्यप्राणोंकर जीता है, जीवेगा पहले जी चुका, इसलिये जीवको ही जीव कहा गया है, अन्य पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तीक एक पुद्गलद्रव्य ही है, अन्य पाँच अमूर्तीक हैं। उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों तो अमूर्तीक हैं, तथा जीवद्रव्य अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयकर मूर्तीक भी कहा जाता है, क्योंकि शरीरको धारण कर रहा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर अमूर्तीक ही है, लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी जीवद्रव्यको आदि लेकर पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं, वे सप्रदेशी हैं, और कालद्रव्य बहुप्रदेश स्वभावकायपना न होनेसे अप्रदेशी है, धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं, और जीव पुद्गल काल ये तीनों अनेक हैं। जीव तो अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, काल असंख्यात हैं,

मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये। 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि भवन्ति, जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्। 'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता च। शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्। वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव। 'सव्वगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोक-

---

सब द्रव्योंको अवकाश देनेमें समर्थ एक आकाश ही है, इसलिये आकाश क्षेत्र कहा गया है, बाकी पाँच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना, वह चलन हलनवती क्रिया कही गई है, यह क्रिया जीव पुद्गल दोनोंके ही है, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, जीवोंमें भी संसारी जीव हलन-चलनवाले हैं, इसलिये क्रियावंत हैं, और सिद्धपरमेष्ठी निःक्रिय हैं, उनके हलन चलन क्रिया नहीं है, द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जावे तो सभी द्रव्य नित्य हैं, और अर्थपर्याय जो षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभावपर्याय है, उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं, तो भी विभावव्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनोंकी है, इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है, अन्य चार द्रव्य विभावके अभावसे नित्य ही हैं, इस कारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य हैं, दो अनित्य हैं, तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं, कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं हैं, जीवको पाँचों ही द्रव्य कारणरूप हैं, पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है, धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थितिके कारण हैं, आकाशद्रव्य अवकाश देनेका कारण है, और काल वर्तनाका सहायी है। ये पाँचों द्रव्य जीवको कारण हैं, और जीव उनको कारण नहीं है। यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवोंको गुरू शिष्यादिरूप परस्पर उपकार करता है, तो भी पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अकारण हैं, और ये पाँचो कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर यह जीव यद्यपि बंध मोक्ष पुण्य पापका कर्ता नहीं है, तो भी अशुद्धनिश्चयनयकर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणत हुआ पुण्य पापके बंधका कर्ता होता है, और उनके

पूरणावस्थां विहायासर्वगतं नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवतीति। पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवतीति । कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । 'इदरम्हि यपवेसो' यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यानुप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति। तथा चोक्तम्—"अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥"। इदमत्र तात्पर्यम् । व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतेषु षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयम् ॥ २८ ॥ एवमेकोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतम् । इदं पुनरन्तरं स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति ।

---

फलका भोक्ता होता है, तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप निज शुद्धात्मद्रव्यका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप शुद्धोपयोगकर परिणत हुआ मोक्षका भी कर्ता होता है, और अनंतसुखका भोक्ता होता है । इसलिये जीवको कर्ता भी कहा जाता है, और भोक्ता भी कहा जाता है । शुभ अशुभ शुद्ध परिणमन ही सब जगह कर्तापना है, और पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अपने अपने परिणामरूप जो परिणमन वही कर्तापना है, पुण्य पापादिकका कर्तापना नहीं है, सर्वगतपना लोकालोक व्यापकताकी अपेक्षा आकाश ही में है, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य ये दोनों लोकाकाशव्यापी हैं. अलोकमें नहीं हैं, और जीवद्रव्यमें एक जीवकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें लोकपूरण अवस्थामें लोकमें सर्वगतपना है, तथा नाना जीवकी अपेक्षा सर्वगतपना नहीं है, पुद्गलद्रव्य लोकप्रमाण महास्कंधकी अपेक्षा सर्वगत है, अन्य पुद्गलकी अपेक्षा सर्वगत नहीं है, कालद्रव्य एक कालाणुकी अपेक्षा तो एकप्रदेशगत है, सर्वगत नहीं है, और नाना कालाणुकी अपेक्षा लोकाकाशके सब प्रदेशोंमें कालाणु हैं, इसलिये सब कालाणुओंकी अपेक्षा सर्वगत कह सकते हैं । इस नयविवक्षासे सर्वगतपनेका व्याख्यान किया । और मुख्यवृत्तिसे विचारा जावे, तो सर्वगतपना आकाशमें ही है, अथवा ज्ञानकी अपेक्षा जीवमें भी है, जीवका केवलज्ञान लोकालोक व्यापक है, इसलिये सर्वगत कहा । ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनयकर एक क्षेत्रावगाही रहते हैं, तो भी निश्चयनयकर अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, दूसरे द्रव्यमें जिनका प्रवेश नहीं है, सभी द्रव्य निज निज स्वरूपमें हैं, पररूप नहीं हैं—कोई किसीकी स्वभाव नहीं लेता । ऐसा ही कथन श्रीपंचास्तिकायमें है । "अण्णोण्णं" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि यद्यपि ये छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं, तो भी कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता, यद्यपि अन्यको अन्य

अथ संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं सम्यग्ज्ञानं प्रकटयति—

जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि ।
अप्पहँ केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥ २९ ॥

यद् यथा स्थितं द्रव्यं जीव तत् तथा जानाति य एव ।
आत्मनः संबन्धी भावः ज्ञानं मन्यस्व स एव ॥ २९ ॥

जं इत्यादि । जं यत् जह यथा थक्कउ स्थितं दव्वु द्रव्यं जिय हे जीव तं तत् तह तथा जाणइ जानाति जो जि य एव । य एव कः । अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबन्धी भावः परिणामः णाणु मुणिज्जहि ज्ञानं मन्यस्व जानीहि सो जि स एव पूर्वोक्त आत्मपरिणाम इति । तथा च । यद् द्रव्यं यथा स्थितं सत्तालक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वा गुणपर्यायलक्षणं वा सप्तभङ्ग्यात्मकं वा तत् तथा जानाति य आत्मसंबन्धी स्वपरपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् संज्ञानं भवति । अयमत्र भावार्थः । व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं

---

अवकाश देता है, तो भी अपना अपना अवकाश आपमें ही है, परमें नहीं है, यद्यपि ये द्रव्य हमेशासे मिल रहे हैं, तो भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते । यहाँ तात्पर्य यह है, कि व्यवहारसम्यक्त्वके कारण छह द्रव्योंमें वीतराग चिदानंद अनंत गुणरूप जो शुद्धात्मा है, वह शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित हुआ ध्यावने योग्य है ॥ २८ ॥

इस प्रकार उन्नीस दोहोंके स्थलमें निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहे । ऐसे चौदह दोहोंतक व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, जिसमें छह द्रव्योंका श्रद्धान मुख्य है ।

आगे संशय विमोह विभ्रम रहित जो सम्यग्ज्ञान है, उसका स्वरूप प्रगट करते हैं—

[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **यत्** ] ये सब द्रव्य [ **यथा स्थितं** ] जिस तरह अनादिकालके तिष्ठे हुए हैं, जैसा इनका स्वरूप हैं, [ **तत् तथा** ] उनको वैसा ही संशयादि रहित [ **य एव जानाति** ] जो जानता है, [ **स एव** ] वही [ **आत्मनः संबंधी भावः** ] आत्माका निजस्वरूप [ **ज्ञानं** ] सम्यग्ज्ञान है, ऐसा [ **मन्यस्व** ] तू मान । **भावार्थ**—जो द्रव्य है, वह सत्ता लक्षण है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, और सभी द्रव्य गुण पर्यायको धारण करते हैं, गुण पर्यायके विना कोई नहीं है । अथवा सब ही द्रव्य सप्तभंगीस्वरूप हैं, ऐसा द्रव्योंका स्वरूप जो निःसंदेह जाने, आप और परको पहचाने, ऐसा जो आत्माका भाव (परिणाम) वह सम्यग्ज्ञान है । सारांश यह है, कि व्यवहारनयकर विकल्प सहित अवस्थामें तत्त्वके विचारके समय आप और परका जानपना ज्ञान कहा है, और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधिसमय पदार्थोंका जानपना मुख्य नहीं

ज्ञानं भण्यते । निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले वहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमितिकृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते॥२९॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविपयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति—

**जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।**
**सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिँ चरणु हवेइ ॥ ३० ॥**

ज्ञात्वा मत्वा आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।
स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥ ३० ॥

जाणवि इत्यादि । **जाणवि** सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा **मण्णवि** तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्वा श्रद्धाय । कम् । **अप्पु परु** आत्मानं च परं च **जो** यः कर्ता **परभाउ** परभावं **चएइ** त्यजति **सो** स पूर्वोक्तः **णिउ** निजः **सुद्धउ भावडउ** शुद्धो भावो **णाणिहिं चरणु हवेइ** ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्ययानध्यवसायरहितेन ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्वा शङ्कादिदोषरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च यः कर्ता मायामिथ्यानिदानशल्यप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानन्दसुखरसास्वादतृप्तो भूत्वा तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति

---

लिया, केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान है । व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ २९ ॥

आगे निज और परद्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्प विकल्प हैं, उनके त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता होती है, वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक्चारित्र है, ऐसा कहते हैं—सम्यग्ज्ञानसे [ **आत्मानं च परं** ] आपको और परको [ **ज्ञात्वा** ] जानकर और सम्यग्दर्शनसे [ **मत्वा** ] आप और परकी प्रतीति करके [ **यः** ] जो [ **परभावं** ] परभावको [ **त्यजति** ] छोड़ता है [ **सः** ] वह [ **निजः शुद्धः भावः** ] आत्माका निज शुद्ध भाव [ **ज्ञानिनां** ] ज्ञानी पुरुषोंके [ **चरणं** ] चारित्र [ **भवति** ] होता है । **भावार्थ**—वीतराग सहजानंद अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्यग्ज्ञानसे पहले तो जानें, वह सम्यग्ज्ञान संशय विमोह और विभ्रम इन तीनोंसे रहित है । तथा शंकादि दोषोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है, उससे आप और परकी श्रद्धा करे, अच्छी तरह जानके प्रतीति करे, और माया मिथ्या निदान इन तीन शल्योंको आदि देकर समस्त चिंता-समूहके त्यागसे निज शुद्धात्मस्वरूपमें तिष्ठे है, वह परम आनंद अतीन्द्रीय सुखरसके आस्वादसे तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनयसे निश्चयचारित्र है ॥ ३० ॥

भावार्थः ॥ ३० ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणं व्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्ज्ञानचारित्रमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तम् ।

अथानन्तरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते, तत्रादौ तावत् रत्नत्रयभक्तभव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

**जो भत्तउ रयण-त्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।**
**अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण झेउ ॥ ३१ ॥**

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं एतत् ।
आत्मानं मुक्त्वा गुणनिलयं तस्यापि अन्यत् न ध्येयम् ॥ ३१ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः **भत्तउ** भक्तः। कस्य । **रयणत्तयहं** रत्नत्रयसंयुक्तस्य **तसु** तस्य जीवस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि हे **प्रभाकरभट्ट** । किं जानीहि । **लक्खणु** लक्षणं **एउ** इदमग्रे वक्ष्यमाणम् । इदं किम् । **अप्पा मिल्लिवि** आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम् । **गुणणिलउ** गुणनिलयं गुणगृहं **तासु वि** तस्यैव जीवस्य **अण्णु ण झेउ** निश्चयेनान्यद्बहिर्द्रव्यं ध्येयं न भवतीति । तथाहि । व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धान-

---

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका फल, मोक्षका मार्ग इनको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें निश्चय व्यवहाररूप निर्वाणके पंथकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान किया, और चौदह दोहोंमें छह द्रव्यकी श्रद्धारूप व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, तथा दो दोहोंमें सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका मुख्यतासे वर्णन किया । इस प्रकार उन्नीस दोहोंका स्थल पूरा हुआ ।

आगे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा-सूत्र कहते हैं, उनमेंसे पहले रत्नत्रयके भक्त भव्यजीवके लक्षण कहते हैं—[ **यः** ] जो जीव [ **रत्नत्रयस्य भक्तः** ] रत्नत्रयका भक्त है [ **तस्य** ] उसका [ **इदं लक्षणं** ] यह लक्षण [ **मन्यस्व** ] जानना, हे प्रभाकरभट्ट; रत्नत्रय धारकके ये लक्षण हैं । [ **गुणनिलयं** ] गुणोंके समूह [ **आत्मानं मुक्त्वा** ] आत्माको छोड़कर [ **तस्यापि अन्यत्** ] आत्मासे अन्य बाह्य द्रव्यको [ **न ध्येयं** ] न ध्यावे, निश्चयनयसे एक आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर वीतराग सर्वज्ञके कहे हुए शुद्धात्मतत्त्व आदि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंच अस्तिकायका श्रद्धान जानने योग्य है, और हिंसादि पाप त्याग करने योग्य हैं, व्रत शीलादि पालने योग्य हैं, ये लक्षण व्यवहाररत्नत्रयके हैं, सो व्यवहारका नाम भेद है, वह भेदरत्नमय आराधने योग्य है, उसके प्रभावसे निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति है । वीतराग सदा आनंदरूप जो निज शुद्धात्मा आत्मीक सुखरूप सुधारसके आस्वाद

ज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योऽसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि। इदं किम्। यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतस्वशुद्धात्मैव ध्येय इति। अत्रेदं तात्पर्यम्। योऽसावनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति॥ ३१॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः सन्तो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति—

**जे रयण-त्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति।**
**ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा झायंति॥ ३२॥**

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति।
ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति॥ ३२॥

जे इत्यादि। ये केचन **रयणत्तउ** रत्नत्रयम्। कथंभूतम्। **णिम्मलउ**

---

कर परिणत हुआ उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है, उसका जो भक्त (आराधक) उसके ये लक्षण हैं, यह जानो। वे कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहारनयकर सविकल्प अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिये पंचपरमेष्ठीका स्तवन करता है, जो पंचपरमेष्ठीका स्तवन देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है, और परम्पराय शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका कारण है, सो प्रथम अवस्थामें भव्यजीवोंको पंचपरमेष्ठी ध्यावने योग्य हैं, उनके आत्माका स्तवन, गुणोंकी स्तुति, वचनसे उनकी अनेक तरहकी स्तुति करनी, और मनसे उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य हैं, तो भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप परिणत जो निज शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, अन्य नहीं। तात्पर्य यह है, कि ध्यान करने योग्य या तो निज आत्मा है, या पंचपरमेष्ठी हैं, अन्य नहीं, प्रथम अवस्थामें तो पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना योग्य है, और निर्विकल्पदशामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है, निजरूप ही उपादेय हैं॥ ३१॥

आगे जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं, और अपनेको ही शिव जानते हैं, वे ही मोक्षपदके धारक हुए निज आत्माको ध्यावते हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—[ **ये ज्ञानिनः** ] जो ज्ञानी [ **निर्मलं रत्नत्रयं** ] निर्मल रागादि दोष रहित रत्नत्र-

निर्मलं रागादिदोषरहितम् । कथंभूता ये । णाणिय ज्ञानिनः । किं कुर्वन्ति । अप्पु भणंति पूर्वोक्तरत्नत्रयस्वरूपमेवात्मानं आत्मस्वरूपं कर्मतापन्नं भणंति मन्यन्ते ते आराहय ते पूर्वोक्ताः पुरुषाः आराधका भवन्ति । कस्य । सिवपयहं शिवपदस्य शिवशब्दवाच्यमोक्षस्य । मोक्षपदाराधकाः सन्तः किं कुर्वन्ति । णियअप्पा झायंति निजात्मानं कर्मतापन्नं ध्यायन्ति इति । तथा च ये केचन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः परमात्मानं सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं निश्चयरत्नत्रयमेवाभेदनयेन निजशुद्धात्मानं मन्यन्ते ते शिवशब्दवाच्यमोक्षपदाराधका भवन्ति । आराधकाः सन्तः किं ध्यायन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनं स्वशुद्धात्मस्वरूपं निश्चयनयेन ध्यायन्ति भावयन्तीत्यभिप्रायः ॥३२॥

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादिदोषरहितं ये ध्यायन्ति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभन्त इति प्रकटयति—

**अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे झायंति ।**
**ते पर णियमेँ परम-मुणि लहु णिव्वाणु लहंति ॥ ३३ ॥**

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायन्ति ।
ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ ३३ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा आत्मानं कर्मतापन्नम् । कथंभूतम् । गुणमउ गुणमयं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृतम् । पुनरपि कथंभूतम् । णिम्मलउ निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितं अणुदिणु दिनं दिनं प्रति अनुदिनमनवरतमित्यर्थः । इत्थंभूतमात्मानं जे झायंति ये केचन ध्यायन्ति ते पर ते एव नान्ये णियमें निश्चयेन । किंविशिष्टास्ते । परममुणि परममुनयः लहु लघु शीघ्रं लहंति लभन्ते । किं लभन्ते । णिव्वाणु निर्वाणमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । अत्रोक्तं भवद्भिर्य एव शुद्धात्म-

---

यको [ आत्मानं ] आत्मा [ भणंति ] कहते हैं, [ ते ] वे [ शिवपदस्य आराधकाः ] शिवपदके आराधक हैं, और वे ही [ निजात्मानं ] मोक्षपदके आराधक हुए अपने आत्माको [ ध्यायंति ] ध्यावते हैं । **भावार्थ**—जो कोई वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप आत्माको मानते हैं, वे ही मोक्षपदके आराधक हुए निश्चयनयकर केवल निजरूपको ही ध्यावते हैं ॥ ३२ ॥

आगे यह व्याख्यान करते हैं—जो अनंत गुणरूप रागादि दोष रहित निज आत्माको ध्यावते हैं, वे निश्चयसे शीघ्र ही मोक्षको पाते हैं, [ ये ] जो पुरुष [ गुणमयं ] केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप [ निर्मलं ] भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म मल रहित निर्मल [ आत्मानं ] आत्माको [ अनुदिनं ] निरंतर [ ध्यायंति ] ध्यावते हैं, [ ते परं ] वे ही [ परममुनयः ] परममुनि [ नियमेन ] निश्चयकर [ निर्वाणं ] निर्वाणको [ लघु ]

**ध्यानं कुर्वन्ति त एव मोक्षं लभन्ते न चान्ये । चारित्रसारादौ पुनर्भणितं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माकं संदेहोऽस्ति। अत्र श्रीयोगीन्द्रदेवाः परिहारमाहुः । तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः । तथा चोक्तं सर्वार्थसिद्धिटिप्पणिके । द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वमिति । तद्यथा । द्रव्यमात्मद्रव्यं तस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सा च रागादिविकल्पोपाधिरहिता तस्य सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्, निर्विकल्पसमाधिविषयत्वेनेन्द्रियमनोविकल्पातीतत्वात् । भावशब्देन स्वसंवेदनपरिणामः तस्य भावस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सूक्ष्मा कथमिति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पसमरसीभावविषयेन पञ्चेन्द्रियमनोविषयातीतत्वादिति । पुनरप्याह । इदं परद्रव्यावलम्बनं ध्यानं निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः कुत्रापि भणितमास्ते । परिहारमाह— ' अप्पा झायहि णिम्मलउ ' इत्यत्रैव ग्रन्थे निरन्तरं भणितमास्ते, ग्रन्थान्तरे च समाधिशतकादौ पुनश्चोक्तं तैरेव पूज्यपादस्वामिभिः—"आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ**

---

शीघ्र [ **लभंते** ] पाते हैं । **भावार्थ**—यह कथन श्रीगुरुने कहा, तब प्रभाकरभट्टने पूछा कि हे प्रभो; तुमने कहा कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं, वे ही मोक्षको पाते हैं, दूसरा नहीं । तथा चारित्रासारादिक ग्रंथोंमें ऐसा कहा है, जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान करे वे केवलज्ञानको पाते हैं । इस विषयमें मुझको संदेह है । तब श्रीयोगीन्द्रदेव समाधान करते हैं—द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता कही गई है । उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें भी ऐसा ही कथन है, द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता समझना, अन्य द्रव्यका कथन न लेना । यहाँ निज द्रव्य तथा निज गुण पर्यायका ही कथन है, अन्य द्रव्यका प्रयोजन नहीं है । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणु कहा जाता है । वह रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित है, उसको सूक्ष्मपना कैसे हो सकता है ? ऐसा शिष्यने प्रश्न किया । उसका समाधान इस तरह है—कि मन इन्द्रियोंके अगोचर होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है, तथा भाव ( स्वसंवेदनपरिणाम ) भी परमसूक्ष्म हैं, वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप हैं, वहाँ मन और इन्द्रियोंकी गम्य नहीं है, इसलिये सूक्ष्म है । ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्यने पूछा, कि तुमने परद्रव्यके आलम्बनरूप ध्यानका निषेध किया, और निज शुद्धात्माके ध्यानसे ही मोक्ष कहा । ऐसा कथन किस जगह कहा है ? इसका समाधान यह है—" अप्पा झायहि णिम्मलउ " निर्मल आत्माको ध्यावो, ऐसा कथन इस ही ग्रंथमें पहले कहा है, और समाधिशतकमें भी श्रीपूज्यपादस्वामीने

क्षणमुपजनयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः" । अस्यार्थः । आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मा कर्ता आत्मन्येवाधिकरणभूते असौ पूर्वोक्तात्मा आत्मना करणभूतेन क्षणमन्तर्मुहूर्तमात्रं उपजनयन् निर्विकल्पसमाधिनाराधयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः सर्वज्ञो जात इत्यर्थः । ये च तत्र द्रव्यभावपरमाणुध्येयलक्षणे शुक्लध्याने त्र्यधिकचत्वारिंशद्विकल्पा भणितास्तिष्ठन्ति ते पुनरनीहितवृत्त्या ग्राह्याः । केन दृष्टान्तेनेति चेत् । यथा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणकाले परमागमप्रसिद्धानधाप्रवृत्तिकरणादिविकल्पान् जीवः करोति न चात्रेहादिपूर्वकत्वेन स्मरणमस्ति तथात्र शुक्लध्याने चेति । इदमत्र तात्पर्यम् । प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयम्, पश्चात् चित्ते स्थिरे भूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्तः, एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः इति ॥ ३३ ॥

अथ सामान्यग्राहकं निर्विकल्पं सत्तावलोकदर्शनं कथयति—

**सयल-पयत्थहँ जं गहणु जीवहँ अग्गिमु होइ ।**
**वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥ ३४ ॥**

सकलपदार्थानां यद् ग्रहणं जीवानां अग्रिमं भवति ।
वस्तुविशेषविवर्जितं तत् निजदर्शनं पश्य ॥ ३४ ॥

सयल इत्यादि । **सयलपयत्थहं सकलपदार्थानां जं गहणु यद् ग्रहणमवलोक-**

---

कहा है "आत्मानम्" इत्यादि । अर्थात् जीवपदार्थ अपने स्वरूपको अपनेमें ही अपने करके एक क्षणमात्र भी निर्विकल्प समाधिकर आराधता हुआ वह सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है । जिस शुक्लध्यानमें द्रव्यपरमाणुकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुकी सूक्ष्मता ध्यान करने योग्य है, ऐसे शुक्लध्यानमें निजवस्तु और निजभावका ही सहारा है, परवस्तुका नहीं । सिद्धान्तमें शुक्लध्यानके ब्यालीस भेद कहे हैं, वे अवांछीक वृत्तिसे गौणरूप जानना, मुख्य वृत्तिसे न जानना । उसका दृष्टांत—जैसे उपशमसम्यक्त्वके ग्रहणके समय परमागममें प्रसिद्ध जो अधःकरणादि भेद हैं, उनको जीव करता है, वे वांछापूर्वक नहीं होते, सहज ही होते हैं, वैसे ही शुक्लध्यानमें भी ऐसे ही जानना । तात्पर्य यह है कि प्रथम अवस्थामें चित्तके थिर करनेके लिए और विषय-कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये परम्पराय मुक्तिके कारणरूप अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं, बादमें चित्तके स्थिर होनेपर साक्षात् मुक्तिका कारण जो निज शुद्धात्म-तत्त्व है, वही ध्यावने योग्य है । इस प्रकार साध्य-साधकभावको जानकर ध्यावने योग्य वस्तुमें विवाद नहीं करना, पंचपरमेष्ठीका ध्यान साधक है, और आत्मध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना ॥ ३३ ॥

आगे सामान्य ग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप दर्शनको कहते हैं—[यत्] जो

नम्। कस्य जीवहं जीवस्य अथवा बहुवचनपक्षे 'जीवहं' जीवानाम्। कथंभूतमवलोकनम्। अग्गिमु अग्रिमं सविकल्पज्ञानात्पूर्वं होइ भवति। पुनरपि कथंभूतम्। वत्थु-विसेसविवज्जियउ वस्तुविशेषविवर्जितं शुक्लमिदमित्यादिविकल्परहितं तं तत्पूर्वोक्तलक्षणं णियदंसणु निज आत्मा तस्य दर्शनमवलोकनं जोइ पश्य जानीहीति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। निजात्मा तस्य दर्शनमवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु। परिहारमाह। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनम्। अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति, तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयजनिततत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः ॥ ३४ ॥

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति—

**दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहँ विण्णाणु।**
**वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥ ३५ ॥**

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानम्।
वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानम् ॥ ३५ ॥

---

[**जीवानां**] जीवोंके [**अग्रिमं**] ज्ञानके पहले [**सकलपदार्थानां**] सब पदार्थोंका [**वस्तुविवर्जितं**] यह सफेद है, इत्यादि भेद रहित [**ग्रहणं**] सामान्यरूप देखना, [**तत्**] वह [**निजदर्शनं**] दर्शन है, [**पश्य**] उसको तू जान। **भावार्थ**—यहाँ प्रभाकरभट्ट पूछता है, कि आपने जो कहा कि निजात्माका देखना वह दर्शन है, ऐसा बहुत बार तुमने कहा है, अब सामान्य अवलोकनरूप दर्शन कहते है। ऐसा दर्शन तो मिथ्यादृष्टियोंके भी होता है, उनको भी मोक्ष कहनी चाहिये ? इसका समाधान—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये दर्शनके चार भेद हैं। इन चारोंमें मनकर जो देखना वह अचक्षुदर्शन है, जो आँखोंसे देखना वह चक्षुदर्शन है। इन चारोंमेंसे आत्माका अवलोकन छद्मस्थ-अवस्थामें मनसे होता है, और वह आत्म-दर्शन मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम, तथा क्षयसे होता है। सो सम्यग्दृष्टिके तो यह दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप होनेसे मोक्षका कारण है, जिसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व ही उपादेय है, और मिथ्यादृष्टियोंके तत्त्वश्रद्धान नहीं होनेसे आत्माका दर्शन नहीं होता। मिथ्यादृष्टियोंके स्थूलरूप परद्रव्यका देखना जानना मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये मोक्षका कारण भी नहीं है। सारांश यह है—कि तत्त्वार्थश्रद्धानके अभावसे सम्यक्त्वका अभाव है, और सम्यक्त्वके अभावसे मोक्षका अभाव है ॥ ३५ ॥

दंसणपुव्वु इत्यादि । दंसणपुव्वु सामान्यग्राहकनिर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनपूर्वकं हवेइ भवति फुडु स्फुटं जं यत् जीवहं जीवानाम् । किं भवति । विण्णाणु विज्ञानम् । किं कुर्वन् सन् । वत्थुविसेसु मुणंतु वस्तुविशेषं वर्णसंस्थानादिविकल्पपूर्वकं जानन् । जिय हे जीव । तं तत् मुणि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । अविचलु णाणु अविचलं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं ज्ञानमिति । तत्रेदं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं व्याख्यातम् । यद्यपि शुद्धात्मभावनाव्याख्यानकाले प्रस्तुतं न भवति तथापि भणितं भगवता । कस्मादिति चेत् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन दर्शनोपयोगश्चतुर्विधो भवति । तत्र चतुष्टयमध्ये द्वितीयं यदचक्षुर्दर्शनं मानसरूपं निर्विकल्पं यथा भव्यजीवस्य दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमक्षयलाभे सति शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपं वीतरागसम्यक्त्वं भवति तथैव च शुद्धात्मानुभूतिस्थिरतालक्षणं वीतरागचारित्रं भवति तदा काले तत्पूर्वोक्तं सत्तावलोकलक्षणं मानसं निर्विकल्पदर्शनं कर्तृ पूर्वोक्तनिश्चयसम्यक्त्वचारित्रबलेन निर्विकल्पनिजशुद्धात्मानुभूतिध्यानेन सहकारिकारणं भवति पूर्वोक्तभव्यजीवस्य न चाभव्यस्य । कस्मात् । निश्चयसम्यक्त्वचारित्राभावादिति भावार्थः ॥ ३५ ॥

---

आगे केवलज्ञानके पहले छद्मस्थोंके पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है, और केवलीभगवान्के दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं—आगे पीछे नहीं होते, यह कहते हैं—[ **यत्** ] जो [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **विज्ञानं** ] ज्ञान है, वह [ **स्फुटं** ] निश्चयकरके [ **दर्शनपूर्वं** ] दर्शनके बादमें [ **भवति** ] होता है, [ **तत् ज्ञानं** ] वह ज्ञान [ **वस्तुविशेषं जानन्** ] वस्तुकी विस्तीर्णताको जाननेवाला है, उस ज्ञानको [ **जीव** ] हे जीव; [ **अविचलं** ] संशय विमोह विभ्रमसे रहित [ **मन्यस्व** ] तू जान । **भावार्थ**—जो सामान्यको ग्रहण करे, विशेष न जाने, वह दर्शन है, तथा जो वस्तुका विशेष वर्णन आकार जाने वह ज्ञान है । यह दर्शन ज्ञानका व्याख्यान किया । यद्यपि यह व्यवहारसम्यग्ज्ञान शुद्धात्माकी भावनाके व्याख्यानके समय प्रशंसा योग्य नहीं है, तो भी प्रथम अवस्थामें प्रशंसा योग्य है, ऐसा भगवानने कहा है । क्योंकि चक्षु अचक्षु अवधि केवलके भेदसे दर्शनोपयोग चार तरहका होता है । उन चार भेदोंमें दूसरा भेद अचक्षुदर्शन मनसंबंधी निर्विकल्प भव्यजीवोंके दर्शनमोह चारित्रमोहके उपशम क्षयोपशम तथा क्षयके होनेपर शुद्धात्मानुभूति रुचिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है, और शुद्धात्मानुभूतिमें स्थिरतारूप वीतरागचारित्र होता है, उस समय पूर्वोक्त सत्ताके अवलोकनरूप मनसंबंधी निर्विकल्पदर्शन निश्चयचारित्रके बलसे विकल्प रहित निज शुद्धात्मानुभूतिके ध्यानकर सहकारी कारण होता है । इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान भव्यजीवके ही होता है, अभव्यके सर्वथा नहीं, क्योंकि

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सहमानः स एवाभेदेन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति—

**दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु ।**
**कम्महँ णिज्जर-हेउ तउ वुच्चइ संग-विहीणु ॥ ३६ ॥**

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः ।
कर्मणः निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥ ३६ ॥

दुक्खु वि इत्यादि । **दुक्खु वि सुक्खु सहंतु** दुःखमपि सुखमपि समभावेन सहमानः सन् **जिय** हे जीव । कोऽसौ कर्ता । **णाणिउ** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी । किंविशिष्टः । **झाणणिलीणु** वीतरागचिदानन्दैकाग्र्यध्याननिलीनो रतः स एवाभेदेन **कम्महं णिज्जरहेउ** शुभाशुभकर्मणो निर्जराहेतुरुच्यते न केवलं ध्यानपरिणतपुरुषो निर्जराहेतुरुच्यते **तउ** परद्रव्येच्छानिरोधरूपबाह्याभ्यन्तरलक्षणं द्वादशविधं तपश्च । किंविशिष्टः स तपोधनस्तत्तपश्च । **संगविहीणु** संगविहीनो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित इति। अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तमसंहननस्यैकाग्र-

---

अभव्यजीव मुक्तिका पात्र नहीं है । जो मुक्तिका पात्र होता है, उसीके व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति होती है । व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्तिका कारण है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ३५ ॥

आगे परमध्यानमें आरूढ़ ज्ञानी जीव समभावसे दुःख सुखको सहता हुआ अभेदनयसे निर्जराका कारण होता है, ऐसा दिखाते हैं;—[ **जीव** ] हे जीव; [ **ज्ञानी** ] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी [ **ध्याननिलीनः** ] आत्मध्यानमें लीन [ **दुःखं अपि सुखं** ] दुःख और सुखको [ **सहमानः** ] समभावोंसे सहता हुआ अभेदनयसे [ **कर्मणो निर्जराहेतुः** ] शुभ अशुभ कर्मोंकी निर्जराका कारण है, ऐसा भगवान्‌ने [**उच्यते**] कहा है, और [ **संगविहीनः तपः** ] बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित परद्रव्यकी इच्छाके निरोधरूप बाह्य अभ्यंतर अनशनादि बारह प्रकारके तपरूप भी वह ज्ञानी है । **भावार्थ**—यहाँ प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे प्रभो; आपने ध्यानसे निर्जरा कही, वह ध्यान एकाग्र चित्तका निरोधरूप उत्तम संहननवाले मुनिके होता है, जहाँ उत्तमसंहनन ही नहीं है, वहाँ ध्यान किस तरहसे हो सकता है ? उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—उत्तम संहननवाले मुनिके जो ध्यान कहा है, वह आठवें गुणस्थानसे लेकर उपशम क्षपकश्रेणीवालोंके जो शुक्लध्यान होता है ? उसकी अपेक्षा कहा गया है । उपशमश्रेणी वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच इन तीन संहननवालोंके होती है, उनके शुक्लध्यानका पहला पाया है, वे ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे आते हैं, और क्षपकश्रेणी एक वज्रवृषभनाराचसंहननवालेके ही होती है, वे आठवें गुणस्थानमें क्षपकश्रेणी

चिन्तानिरोधो ध्यानमिति ध्यानलक्षणं उत्तमसंहननाभावे कथं ध्यानमिति। भगवानाह। उत्तमसंहननेन यद्ध्यानं भणितं तदपूर्वगुणस्थानादिषूपशमक्षपकश्रेण्योर्यत् शुक्लध्यानं तदपेक्षया भणितम्। अपूर्वगुणस्थानादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं न भवति। तथाचोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे–"यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः। श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम्॥"। किं च। रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यचारित्रमाचरन्तु तपोधनाः। तथा चोक्तं तत्रेदम्–"चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति। तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः॥"। पुनश्चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते–"अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण लहहि इंदत्तं।

---

माँड़ते (प्रारंभ करते) हैं, उनके आठवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका पहला पाया (भेद) होता है, वह आठवें नववें दशवें तथा दशवेंसे बारहवें गुणस्थानमें स्पर्श करते हैं, ग्यारहवेंमें नहीं, तथा बारहवेंमें शुक्लध्यानका दूसरा पाया होता है, उसके प्रसादसे केवलज्ञान पाता है, और उसी भवमें मोक्षको जाता है। इसलिये उत्तम संहननका कथन शुक्लध्यानकी अपेक्षासे है। आठवें गुणस्थानसे नीचेके चौथेसे लेकर सातवेंतक शुक्लध्यान नहीं होता, धर्मध्यान छहों संहननवालोंके है, श्रेणीके नीचे धर्मध्यान ही है, उसका निषेध किसी संहननमें नहीं है। ऐसा ही कथन तत्त्वानुशासन नामक ग्रंथमें कहा है "यत्पुनः" इत्यादि। उसका अर्थ ऐसा है, कि जो वज्रकायके ही ध्यान होता है, ऐसा आगमका वचन है, वह दोनों श्रेणियोंमें शुक्लध्यान होनेकी अपेक्षा है, और श्रेणीके नीचे जो धर्मध्यान है, उसका निषेध (न होना) किसी संहननमें नहीं कहा है, यह निश्चयसे जानना। राग द्वेषके अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है, वह इस समय पंचमकालमें भरतक्षेत्रमें नहीं है, इसलिये साधुजन अन्य चारित्रका आचरण करो। चारित्रके पाँच भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात। उनमें इस समय इस क्षेत्रमें सामायिक छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं, इसलिये इनको ही आचरो। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है "चरितारो" इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है, कि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरण करनेवाले मौजूद नहीं है, तो क्या हुआ अपनी शक्तिके अनुसार तपस्वीजन सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो। फिर श्रीकुंदकुंदाचार्यने भी मोक्षपाहुड़में ऐसा ही कहा है "अज्ज वि"। उसका तात्पर्य यह है, कि अब भी इस पंचमकालमें मन वचन कायकी शुद्धतासे आत्माका ध्यान करके यह जीव इंद्र पदको पाता है, अथवा लौकांतिकदेव होता है, और वहाँसे च्युत होकर मनुष्यभव धारण करके मोक्षको पाता है। अर्थात् जो इस समय पहलेके तीन संहनन तो नहीं हैं, परंतु अर्धनाराच, कीलक, सृपाटिका,

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥"। अयमत्र भावार्थः। यथादित्रिकसंहनन-लक्षणवीतरागयथाख्यातचारित्राभावेऽपीदानीं शेषसंहननेनापि संसारस्थितिच्छेदकारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति ॥ ३६ ॥

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपापद्वयसंवरहेतुर्भवतीति दर्शयति—

**विण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ ।**
**पुण्णहँ पावहँ तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥ ३७ ॥**

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति ।
पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥ ३७ ॥

विण्णि वि इत्यादि । **विण्णि वि** द्वे अपि सुखदुःखे **जेण** येन कारणेन **सहंतु** सहमानः सन् । कोऽसौ कर्ता । **मुणि** मुनिः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी। **मणि** अविक्षिप्त-मनसि । **समभाउ** समभावं सहजशुद्धज्ञानानन्दैकरूपं रागद्वेषमोहरहितं परिणामं कर्मतापन्नं **करेइ** करोति परिणमति **पुण्णहं पावहं** पुण्यस्य पापस्य संबन्धी **तेण** तेन कारणेन **जिय** हे जीव **संवरहेउ** संवरहेतुः कारणं **हवेइ** भवतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः ।

---

ये आगेके तीन हैं, इन तीनोंसे सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो, तथा धर्मध्यानको आचरो । धर्मध्यानका अभाव छहों संहननोंमें नहीं है, शुक्लध्यान पहलेके तीन संहननोंमें ही होता है, उनमें भी पहला पाया ( भेद ) उपशमश्रेणीसंबंधी तीनों संहननोंमें है, और दूसरा तीसरा चौथा पाया प्रथम संहननवाले ही के होता है, ऐसा नियम है । इसलिये अब शुक्लध्यानके अभावमें भी हीन संहननवाले इस धर्मध्यानको आचरो । यह धर्मध्यान परम्पराय मुक्तिका मार्ग है, संसारकी स्थितिका छेदनेवाला है । जो कोई नास्तिक इस समय धर्मध्यानका अभाव मानते हैं, वे झूठ बोलनेवाले हैं, इस समय धर्मध्यान है, शुक्लध्यान नहीं है ॥३६॥

आगे जो मुनिराज सुख दुःखको सहते हुए समभाव रखते हैं, अर्थात् सुखमें तो हर्ष नहीं करते, और दुःखमें खेद नहीं करते, जिनके सुख दुःख दोनों ही समान हैं, वे ही साधु पुण्यकर्म पापकर्मके संवर ( रोकने ) के कारण हैं, आनेवाले कर्मोंको रोकते हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[ **येन** ] जिस कारण [ **द्वे अपि सहमानः** ] सुख दुःख दोनों को ही सहता हुआ [ **मुनिः** ] स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी [ **मनसि** ] निश्चित मनमें [ **समभावं** ] समभावोंको [ **करोति** ] धारण करता है, अर्थात् राग द्वेष मोह रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानंद-स्वरूप परिणमन करता है, विभावरूप नहीं परिणमता, [ **तेन** ] इसी कारण [ **हे जीव** ] हे जीव, वह मुनि [ **पुण्यस्य पापस्य संवरहेतुः** ] सहजमें ही पुण्य और पाप इन दोनोंके

कर्मोदयवशात् सुखदुःखे जातेऽपि योऽसौ रागादिरहितमनसि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मसंवित्तिं न त्यजति स पुरुष एवाभेदनयेन द्रव्यभावरूपपुण्यपापसंवरस्य हेतुः कारणं भवतीति ॥ ३७ ॥

अथ यावन्तं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावन्तं कालं संवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति—

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुँ सयल-वियप्प-विहीणु ॥ ३८ ॥

तिष्ठति यावन्तं कालं मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः ।
संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनम् ॥ ३८ ॥

अत्थ(च्छ)इ इत्यादि । अत्थ(च्छ)इ तिष्ठति । किं कृत्वा तिष्ठति । जित्तिउ कालु यावन्तं कालं प्राप्य । क्व तिष्ठति । अप्पसरूवि निजशुद्धात्मस्वरूपे । कथंभूतः सन् । णिलीणु निश्चयेन लीनो द्रवीभूतो वीतरागनित्यानन्दैकपरमसमरसीभावेन परिणतः, हे प्रभाकर इत्थंभूतपरिणामपरिणतं तपोधनमेवाभेदेन संवरणिज्जर जाणि तुहुं संवरनिर्जरास्वरूपं जानीहि त्वम् । पुनरपि कथंभूतम् । सयलवियप्पविहीणु सकलविकल्पहीनं ख्यातिपूजालाभप्रभृतिविकल्पजालावलीरहितमिति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वसूत्रद्वयभणितं तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् । तस्यैव निर्जरासंवरव्याख्यानस्योपसंहारोऽयमित्यभिप्रायः ॥ ३८ ॥ एवं मोक्षमोक्षमार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारोक्त-

---

संवरका कारण [ भवति ] होता है । **भावार्थ**—कर्मके उदयसे सुख दुःख उत्पन्न होनेपर भी जो मुनीश्वर रागादि रहित मनमें शुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप अपने निज शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता है, वही पुरुष अभेदनयकर द्रव्य भावरूप पुण्य पापके संवरका कारण है ॥ ३७ ॥

आगे जिस समय जितने कालतक रागादि रहित परिणामोंकर निज शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हुआ ठहरता है, तबतक संवर और निर्जराको करता है, ऐसा कहते हैं—[ **मुनिः** ] मुनिराज [ **यावंतं कालं** ] जबतक [ **आत्मस्वरूपे निलीनः** ] आत्मस्वरूपमें लीन हुआ [ **तिष्ठति** ] रहता है, अर्थात् वीतराग नित्यानंद परम समरसीभावकर परिणमता हुआ अपने स्वभावमें तल्लीन होता है, उस समय हे प्रभाकरभट्ट; [ **त्वं** ] तू [ **सकलविकल्पविहीनं** ] समस्त विकल्प समूहोंसे रहित अर्थात् ख्याति ( अपनी बड़ाई ) पूजा ( अपनी प्रतिष्ठा ) लाभको आदि देकर विकल्पोंसे रहित उस मुनिको [ **संवरनिर्जरा** ] संवर निर्जरा स्वरूप [ **जानीहि** ] जान । यहाँपर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जो कि पहले दो सूत्रोंमें कहा था, वही जानो । इस प्रकार संवर निर्जराका व्याख्यान संक्षेपरूपसे कहा गया है ॥ ३८ ॥ इस तरह मोक्ष मोक्ष-मार्ग और मोक्ष-फलका निरूपण करनेवाले दूसरे महाधिकारमें आठ दोहा-सूत्रोंसे अभेद-

सूत्राष्टकेनाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तम् । अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहि—

**कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।**
**संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥ ३९ ॥**

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।
संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥ ३९ ॥

कम्मु इत्यादि । **कम्मु पुरक्किउ** कर्म पुराकृतं **सो खवइ** स एव वीतरागस्वसंवेदनतत्त्वज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । **अहिणव पेसु ण देइ** अभिनवं कर्म प्रवेशं न ददाति । स कः । **संगु मुएविणु जो सयलु** संगं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा यः कर्ता समस्तम् । पश्चात्किं करोति । **उवसमभाउ करेइ** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणसमभावं करोति । तद्यथा । स एव पुराकृतं कर्म क्षपयति नवतरं संवृणोति य एव बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रफलभूतं वीतरागपरमानन्दैकसुखरसास्वादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—" साम्यमेवादराद्भाव्यं किमन्यैर्ग्रन्थविस्तरैः । प्रक्रियामात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि ॥ " ॥ ३९ ॥

---

रत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थल पूरा हुआ ।

आगे चौदह दोहोंमें परम उपशमभावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—[ **सः** ] वही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी [ **पुराकृतं कर्म** ] पूर्व उपार्जित कर्मोंको [ **क्षपयति** ] क्षय करता है, और [ **अभिनवं** ] नये कर्मोंको [ **प्रवेशं** ] प्रवेश [ **न ददाति** ] नहीं होने देता, [ **यः** ] जो कि [ **सकलं** ] सब [ **संगं** ] बाह्य अभ्यंतर परिग्रहको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **उपशमभावं** ] परम शांतभावको [ **करोति** ] करता है, अर्थात् जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र, तृण, कंचन इत्यादि वस्तुओंमें एकसा परिणाम रखता है । **भावार्थ**—जो मुनिराज सकल परिग्रहको छोड़कर सब शास्त्रोंका रहस्य जानके वीतराग परमानंद सुखरसका आस्वादी हुआ समभाव करता है, वही साधु पूर्वके कर्मोंका क्षय करता है, और नवीन कर्मोंको रोकता है । ऐसा ही कथन पद्मनंदिपच्चीसीमें भी है । " साम्यमेव " इत्यादि । इसका तात्पर्य यह है, कि आदरसे समभावको ही धारण करना चाहिये, अन्य ग्रंथोंके विस्तारोंसे क्या, समस्त ग्रंथ तथा सकल द्वादशांग इस समभावरूप सूत्रकी ही टीका है ॥ ३९ ॥

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

**दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।**
**इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥ ४० ॥**

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य यः समभावं करोति ।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ॥ ४० ॥

दंसणु इत्यादि । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं **तसु** निश्चयनयेन तस्यैव भवति । कस्य । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति **इयरहं** इतरस्य समभावरहितस्य **एक्कु वि अत्थि णवि** रत्नत्रयमध्ये नास्त्येकमपि **जिणवरु एउ भणेइ** जिनवरो वीतरागः सर्वज्ञ एवं भणतीति । तथाहि । निश्चयनयेन निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दमधुररसास्वादोऽयमात्मा निरन्तराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादाः कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति। तस्य कस्य । वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोपिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं यः समभावं करोतीति भावार्थः ॥४०॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकपायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति—

---

आगे जो जीव समभावको करता है, उसीके निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होता है, अन्यके नहीं, ऐसा दिखलाते हैं—[ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र [ **तस्य** ] उसीके निश्चयसे होते हैं, [ **यः** ] जो यति [ **समभावं** ] समभाव [ **करोति** ] करता है, [ **इतरस्य** ] दूसरे समभाव रहित जीवके [ **एकं अपि** ] तीन रत्नोंमेंसे एक भी [ **नैव अस्ति** ] नहीं है, [ **एवं** ] इस प्रकार [ **जिनवरः** ] जिनेन्द्रदेव [ **भणति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—निश्चयनयसे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभावके धारकके होता है, और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद मधुर रसका आस्वाद उस स्वरूप आत्मा है, तथा हमेशा आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक हैं, वे महा कटुक रसरूप अत्यंत विरस हैं, ऐसा जानना, वह सम्यग्ज्ञान और स्वरूपके आचरणरूप वीतरागचारित्र भी उसी समभावके धारण करनेवालेके ही होता है, जो मुनीश्वर वीतराग निर्विकल्प परम सामायिकभावकी भावनाके अनुकूल ( सन्मुख ) निर्दोष परमात्माके यथार्थ श्रद्धान यथार्थ ज्ञान और स्वरूपका यथार्थ आचरणरूप अखंडभाव धारण करता है, उसीके परमसमाधिकी सिद्धि होती है ॥ ४० ॥

**जाँवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।**
**होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ॥ ४१ ॥**

यावत् ज्ञानी उपशाम्यति तावत् संयतो भवति ।
भवति कषायानां वशे गतः जीवः असंयतः स एव ॥ ४१ ॥

जांवइ इत्यादि । **जांवइ** यदा काले **णाणिउ** ज्ञानी जीवः **उवसमइ** उपशाम्यति **तामइ** तदा काले **संजदु होइ** संयतो भवति । **होइ** भवति **कसायहं वसि गयउ** कषायवशं गतः **जीउ** जीवः । कथंभूतो भवति । **असंजदु** असंयतः । कोऽसौ । **सोइ** स एव पूर्वोक्तजीव इति । अयमत्र भावार्थः । अनाकुलत्वलक्षणस्य स्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमे यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतं परमात्माकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति । तथा चोक्तम्—" अकसायं तु चरित्तं कसायवसगदो असंजदो होदि । उवसमइ जम्हि काले तक्काले संजदो होदि " ॥ ४१ ॥

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति—

**जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।**
**मोह-कसाय-विवज्जियउ पर पावहि सम-बोहु ॥ ४२ ॥**

येन कषाया भवन्ति मनसि तं जीव मुञ्च मोहम् ।
मोहकषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥ ४२ ॥

---

आगे ऐसा कहते हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव शांतभावको धारण करता है, उसी समय संयमी होता है, तथा जब क्रोधादि कषायके वश होता है, तब असंयमी होता है— [ **यदा** ] जिस समय [ **ज्ञानी जीवः** ] ज्ञानी जीव [ **उपशाम्यति** ] शांतभावको प्राप्त होता है, [ **तदा** [ उस समय [ **संयतः भवति** ] संयमी होता है, और [ **कषायाणां** ] क्रोधादि कषायोंके [ **वशे गतः** ] आधीन हुआ [ **स एव** ] वही जीव [ **असंयतः** ] असंयमी [ **भवति** ] होता है । **भावार्थ**—आकुलता रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुए निर्विकल्प ( असली ) सुखका कारण जो परम शांतभाव उसमें जिस समय ज्ञानी ठहरता है, उसी समय संयमी कहलाता है, और आत्मभावनामें परम आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक अशुद्ध भावोंमें परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है ' अकसायं ' इत्यादि । अर्थात् कषायका जो अभाव है, वही चारित्र है, इसलिये कषायके आधीन हुआ जीव असंयमी होता है, और जब कषायोंको शांत करता है, तब संयमी कहलाता है ॥ ४१ ॥

आगे जिस मोहसे मनमें कषायें होतीं हैं, उस मोहको तू छोड़, ऐसा वर्णन करते हैं—

जेण इत्यादि । जेण येन वस्तुना वस्तुनिमित्तेन मोहेन वा । किं भवति । कसाय हवंति क्रोधादिकषाया भवन्ति । क्व भवन्ति । मणि मनसि सो तं जिय हे जीव मिल्लहि मुञ्च । कम् । तं पूर्वोक्तं मोहु मोहं मोहनिमित्तपदार्थं चेति । पश्चात् किं लभसे त्वम् । मोहकसायविवज्जियउ मोहकषायविवर्जितः सन् पर परं नियमेन पावहि प्राप्नोपि । कं कर्मतापन्नम् । समबोहु समबोधं रागद्वेषरहितं ज्ञानमिति । तथाहि । निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं हे जीव मोहं मुञ्च, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवन्ति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तम् "तं वत्थुं मुत्तव्वं जं पडि उपज्जए कसायग्गी । तं वत्थुमल्लिएज्जो ( तद् वस्तु अंगीकरोति, इति टिप्पणी ) जत्थुवसम्मो कसायाणं ॥" ॥ ४२ ॥

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनि रतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

**तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि ।**
**ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ॥ ४३ ॥**

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे ।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ॥ ४३ ॥

---

[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **येन** ] जिस मोहसे अथवा मोहके उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे [ **मनसि** ] मनमें [ **कषायाः** ] कषाय [ **भवंति** ] होवें, [ **तं मोहं** ] उस मोहको अथवा मोह निमित्तक पदार्थको [ **मुंच** ] छोड़, [ **मोहकषायविवर्जितः** ] फिर मोहको छोड़नेसे मोह कषाय रहित हुआ तू [ **परं** ] नियमसे [ **समबोधं** ] राग द्वेष रहित ज्ञानको [ **प्राप्नोपि** ] पावेगा । **भावार्थ**—निर्मोह निज शुद्धात्माके ध्यानसे निर्मोह निज शुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत मोहको हे जीव; छोड़ । जिस मोहसे अथवा मोह करनेवाले पदार्थसे कषाय रहित परमात्मतत्त्वरूप ज्ञानानंद स्वभावके विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, इन्हींसे संसार है, इसलिये मोहकषायके अभाव होनेपर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञानको तू पा सकेगा । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । "तं वत्थुं" इत्यादि । अर्थात् वह वस्तु मन वचन कायसे छोड़नी चाहिये, कि जिससे कषायरूपी अग्नि न उत्पन्न हो, तथा उस वस्तुको अंगीकार करना चाहिये, जिससे कषायें शांत हों । तात्पर्य यह है, कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टी पापियोंका संग सब तरहसे मोहकषायको उपजाते हैं, इससे ही मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है । वह सब प्रकारसे छोड़ना चाहिये, और सत्संगति तथा शुभ सामग्री ( कारण ) कषायोंको उपशमाती है,—कषायरूपी अग्निको बुझाती है, इसलिये उस संगति वगैरः को अंगीकार करना चाहिये ॥ ४२ ॥

तत्तातत्तु इत्यादि । तत्तातत्तु मुणेवि अन्तस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं मत्वा । क । मणि मनसि जे ये केचन वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानिनः थक्का स्थिता । क । समभावि परमोपशमपरिणामे ते पर त एव सुहिया सुखिनः इत्थु जगि अत्र जगति । के ते । जहं रइ येषां रतिः । क । अप्पसहावि स्वकीयशुद्धात्मस्वभावे इति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारेणानादिबन्धनबद्धस्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन प्रकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानन्तरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपरिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सदा मुक्तमेव, यद्यपि व्यवहारेणेन्द्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहारविस्ताररहितं चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्को-

---

आगे हेयोपादेय तत्त्वको जानकर परम शांतभावमें स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और निजशुद्धात्मामें जिनकी लीनता हुई, वे ही ज्ञानी परम सुखी हैं, ऐसा कथन करते हैं—[ **ये** ] जो कोई वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी जीव [ **तत्त्वातत्त्वं** ] आराधने योग्य निज पदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावोंको [ **मनसि** ] मनमें [ **मत्वा** ] जानकर [ **समभावे स्थिताः** ] शांतभावमें तिष्ठते हैं, और [ **येषां रतिः** ] जिनकी लगन [ **आत्मस्वभावे** ] निज शुद्धात्म स्वभावमें हुई है, [ **ते परं** ] वे ही जीव [ **अत्र जगति** ] इस ससारमें [ **सुखिनः** ] सुखी हैं। **भावार्थ**—यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिकालसे कर्मबंधनकर बँधा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग प्रदेश—इन चार तरहके बंधनोंसे रहित है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे अपने उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है, तो भी शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद सुखरूप अमृतका ही भोगनेवाला है, यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंके क्षय होनेके बाद मोक्षका पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा मुक्त ही है, यद्यपि व्यवहारनयकर इंद्रियजनित मति आदि क्षयोपशमिकज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है, तो भी निश्चयनयसे सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाववाला है, यद्यपि व्यवहारनयकर यह जीव नामकर्मसे प्राप्त देहप्रमाण है, तो भी निश्चयनयसे लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, यद्यपि व्यवहारनयसे प्रदेशोंके संकोच विस्तार सहित है, तो भी सिद्ध-अवस्थामें संकोच विस्तारसे चरमशरीरप्रमाण प्रदेशवाला है, और यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टंकोत्कीर्ण ज्ञानके अखंड स्वभावसे ध्रुव ही है।

ट्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य पश्चात् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्त एव धन्या इति भावार्थः । तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणे श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—"अस्त्यात्मानादिवद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी । ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपशमाहारविस्तारधर्मा । ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥" ॥ ४३ ॥

अथ योऽसावेवोपशमभावं करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति—

**बिण्णि वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ ।**
**बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥ ४४ ॥**

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति ।
बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ॥ ४४ ॥

बिण्णि वि इत्यादि । **बिण्णि वि** द्वावपि । द्वौ कौ । **दोस** दोषौ **हवंति** भवतः **तसु** तस्य तपोधनस्य **जो समभाउ करेइ** यः समभावं करोति रागद्वेषत्यागं करोति । तौ दोषौ **बंधु जि णिहणइ** वन्धमेव निहन्ति । कथंभूतं वन्धम् । **अप्पणउ** आत्मीयं **अणु** पुनः **जगु** जगत् प्राणिगणं **गहिलु करेइ** गहिलं पिशाचसमानं विकलं

---

इस तरह पहले निज शुद्धात्मद्रव्यको अच्छी तरह जानकर और आत्मस्वरूपसे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आप परका निश्चय करके वादमें समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंको छोड़कर वीतराग चिदानंद स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमें जो लीन हुए हैं, वे ही धन्य हैं । ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्वके लक्षणमें श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है, "नाभाव" इत्यादि । अर्थात् यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिका बँधा हुआ है, और अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, उन कर्मोंके क्षयसे मोक्षपदका भोक्ता है, ज्ञाता है, देखनेवाला है, अपनी देहके प्रमाण है, संसार-अवस्थामें प्रदेशोंके संकोच विस्तारको धारण करता है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है, और अपने गुण पर्याय सहित है । इस प्रकार आत्माके जाननेसे ही साध्यकी सिद्धि है, दूसरी तरह नहीं है ॥ ४३ ॥

आगे जो संयमी परम शांतभावका ही कर्ता है, उसकी निंदाद्वारा स्तुति तीन गाथाओंमें करते हैं—[ **यः** ] जो साधु [ **समभावं** ] राग द्वेषके त्यागरूप समभावको [ **करोति** ] करता है, [ **तस्य** ] उस तपोधनके [ **द्वौ अपि दोषौ** ] दो दोष [ **भवतः** ] होते हैं । [ **आत्मीयं वंधं एव निहंति** ] एक तो अपने वंधको नष्ट करता है, [ **पुनः** ] दूसरे [ **जगद् ग्रहिलं करोति** ] जगत्के प्राणियोंको वावला-पागल वना देता है ।

---

१ यह श्लोक अपूर्ण है, भाषामें 'नाभाव' आदि लिखा है ।

करोति । अयमत्र भावार्थः । समशब्देनात्राभेदनयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते, तेन कारणेन योऽसौ समं करोति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति । कथमिति चेत् । प्राकृतभाषया बंधुशब्देन ज्ञानावरणादिबन्धा भण्यन्ते गोत्रं च येन कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं निहन्ति तेन कारणेन स्तवनं भवति, अथवा येन कारणेन बन्धुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बन्धुघाती लोकव्यवहारभाषया निन्दापि भवतीति । तथा चोक्तम् । लोकव्यवहारे ज्ञानिनां लोकः पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ॥ ४४ ॥

अथ—

**अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।**
**सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ॥ ४५ ॥**

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ॥ ४५ ॥

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** न केवलं पूर्वोक्त अन्योऽपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति **तसु** तस्य तपोधनस्य । यः किं करोति । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । **सत्तु वि मिल्लिवि** शत्रुमपि मुञ्चति । कथंभूतं शत्रुम् । **अप्पणउ** आत्मीयम् । पुनश्च किं करोति । **परहं णिलीणु हवेइ** परस्यापि लीनः

---

**भावार्थ**—यह निंदाद्वारा स्तुति है । प्राकृत भाषामें बंधु शब्दसे ज्ञानावरणादि कर्मबंध भी लिया जाता है, तथा भाईको भी कहते हैं । यहाँपर बंधु-हत्या निंद्य है, इससे एक तो बंधु-हत्याका दोष आया तथा दूसरा दोष यह है, कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्र आभूषणका त्यागकर नग्न दिगंबर हो जाता है । कपड़े उतारकर नंगा होजाना उसे लोग गहला-पागल कहते हैं । ये दोनों लोकव्यवहारमें दोष हैं, इन शब्दोंके ऐसे अर्थ ऊपरसे निकाले हैं । परंतु दूसरे अर्थमें कोई दोष नहीं है, स्तुति ही है । क्योंकि कर्मबंध नाश करने ही योग्य है, तथा जो समभावका धारक है, वह आप नग्न दिगम्बर होजाता है, और अन्यको दिगम्बर कर देता है, सो मूढ़ लोग निंदा करते हैं । यह दोष नहीं है गुण ही है । मूढ़ लोगोंके जाननेमें ज्ञानीजन बावले हैं, और ज्ञानियोंके जाननेमें जगतके जन बावले हैं । क्योंकि ज्ञानी जगतसे विमुख हैं, तथा जगत् ज्ञानियोंसे विमुख है ॥ ४४ ॥

आगे समभावके धारक मुनिकी फिर भी निंदा-स्तुति करते हैं—[ **यः** ] जो [ **समभावं** ] समभावको [ **करोति** ] करता है, [ **तस्य** ] उस तपोधनके [ **अन्यः अपि दोषः** ] दूसरा भी दोष [ **भवति** ] है । क्योंकि [ **परस्य निलीनः** ] परके आधीन [ **भवति** ] होता है, और [ **आत्मीयं अपि** ] अपने आधीन भी [ **शत्रुं** ] शत्रुको

अधीनो भवति इति । अयमत्र भावार्थः । यो रागादिरहितस्य निजपरमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुञ्चति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन तस्य स्तुतिर्भवति । अथवा यथा लोकव्यवहारेण बन्धनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोऽपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोरधीनो भवति तेन कारणेन न निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥४५॥

अथ—

**अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।**
**वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ॥ ४६ ॥**

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति ।
विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ॥ ४६ ॥

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** न केवलं पूर्वोक्तोऽन्योऽपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति । **तसु** तस्य तपस्विनः । यः किं करोति । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । **वियलु हवेविणु** विकलः कलरहितः शरीररहितो भूत्वा **इक्कलउ** एकाकी पश्चात् **उप्परि जगहँ चडेइ** उपरितनभागे जगतो लोकस्यारोहणं करोतीति । अयमत्राभिप्रायः । यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशमरूपस्य निजशुद्धात्मनो भावनां करोति स कलशब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा

---

[ **मुंचति** ] छोड़ देता है। **भावार्थ**—जो तपोधन धन धान्यादिका राग त्यागकर परम शांतभावको आदरता है, राजा रंकको समान जानता है, उसके दोष कभी नहीं हो सकता । सदा स्तुतिके योग्य है, तो भी शब्दकी योजनासे निंदाद्वारा स्तुति की गई है। वह इस तरहसे है कि शत्रु शब्दसे कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्म-शत्रु उनको छोड़कर पर शब्दसे कहे गये परमात्माका आश्रय करता है। इसमें निंदा क्या हुई, बल्कि स्तुति ही हुई । परंतु लोकव्यवहारमें अपने आधीन शत्रुको छोड़कर किसी कारणसे पर शब्दसे कहे गये शत्रुके आधीन आप होता है, इसलिये लौकिक-निंदा हुई, यह शब्दके छलसे निंदा-स्तुति की गई । वह शब्दके श्लेष होनेसे रूपअलंकार कहा गया है ॥ ४५ ॥

आगे समदृष्टिकी फिर भी निंदा-स्तुति करते हैं—[ **यः** ] जो तपस्वी महामुनि [ **समभावं** ] समभावको [ **करोति** ] करता है, [ **तस्य** ] उसके [ **अन्यः अपि** ] दूसरा भी [ **दोषः** ] दोष [ **भवति** ] होता है, जोकि [ **विकलः भूत्वा** ] शरीर रहित होके अथवा बुद्धि धन वगैरःसे भ्रष्ट होकर [ **एकाकी** ] अकेला [ **जगतः उपरि** ] लोकके शिखरपर अथवा सबके ऊपर [ **आरोहति** ] चढ़ता है। **भावार्थ**—जो तपस्वी रागादि रहित परम उपशमभावरूप निज शुद्धात्माकी भावना करता है, उसकी शब्दके छलसे तो निंदा है, कि विकल

लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते अथवा यथा कोऽपि लोकमध्ये वित्त-विकलो भूतः सन् निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥ ४६ ॥

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

**जा णिसि सयलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ।**
**जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ ४६*१ ॥**

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति।
यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ ४६*१ ॥

जा णिसि इत्यादि। **जा णिसि** या वीतरागपरमानन्दैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरागाद्यन्धकारावगुण्ठिता सती रात्रिः प्रतिभाति। केषाम्। **सयलहं देहियहं** सकलानां स्वशुद्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनाम्। **जोग्गिउ तहिं जग्गेइ** परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालान्धकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जागर्ति। **जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु** यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्कायपरिणामव्यापारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जग-

---

अर्थात् बुद्धि वगैरःसे भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोकोंके ऊपर चढ़ता है। यह लोक-निंदा हुई। लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है ,कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित होकर तीन लोकके शिखर ( मोक्ष ) पर विराजमान हो जाता है। यह स्तुति ही है। क्योंकि जो अनंत सिद्ध हुए, तथा होंगे, वे शरीर रहित निराकार होके जगत्के शिखरपर विराजे हैं ॥ ४६ ॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं—[ **या** ] जो [ **सकलानां देहिनां** ] सब संसारी जीवोंकी [ **निशा** ] रात हैं, [ **तस्यां** ] उस रातमें [ **योगी** ] परम तपस्वी [ **जागर्ति** ] जागता है, [ **पुनः** ] और [ **यत्र** ] जिसमें [ **सकलं जगत्** ] सब संसारी जीव [ **जागर्ति** ] जाग रहे हैं, [ **तां** ] उस दशाको [ **निशां मत्वा** ] योगी रात मानकर [ **स्वपिति** ] योग-निद्रामें सोता है। **भावार्थ**—जो जीव वीतराग परमानंद-रूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं, मिथ्यात्व रागादि अंधकारसे मंडित हैं, इसलिये इन सबोंको वह परमानंद अवस्था रात्रिके समान माल्रम होती है। कैसे ये जगतके जीव हैं, कि आत्म-ज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं, और अपने स्वरूपसे विमुख हैं, जिनके जाग्रत-दशा नहीं हैं, अचेत सो रहे हैं, ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्व रागादि विकल्प-जालरूप अंधकारको दूरकर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है। तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित शुभ अशुभ मन वचन कायके परिणमनरूप व्यापारवाले स्थावर जंगम सकल अज्ञानी

ज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो ज्ञानी जनः सा णिसि मणिवि सुवेइ तां रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥४६*१॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

**णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।**
**जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥ ४७ ॥**

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ ४७ ॥

**णाणि** इत्यादि । **णाणि** परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **मुएप्पिणु** मुक्त्वा । कम् । **भाउ** भावम् । कथंभूतं भावम् । **समु** उपशमं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलापरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितम् । **कित्थु वि जाइ ण राउ** तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति । कस्मादिति चेत् । **जेण लहेसइ** येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति । कम् । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणं । **तेण जि** तेनैव समभावेन **अप्पसहाउ** निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं विहाय

---

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषय-कपायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान ( जागते ) नहीं रहते । इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे माळूम पड़ते हैं । जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषय-कपायरूप प्रपंच माळूम भी नहीं है । उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते, मन वचन कायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योग-निद्रामें मगन हो रहे हैं। सारांश यह है, कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है, और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टी जीव उनको आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचोंमें ( झगड़ोंमें ) लगे हुए है । प्रपंचकी सावधानी रखनेको भूल जाना वही परमार्थ है, तथा बाह्य विषयोंमें जाग्रत होना ही भूल है ॥ ४६*१ ॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें राग नहीं करते, ऐसा दिखलाते हैं—[ **ज्ञानी** ] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी मुनि [ **शमं भावं** ] समभावको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **क्वापि** ] किसी पदार्थमें [ **रागं न याति** ] राग नहीं करता, [ **येन** ] इसी कारण [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानमयी निर्वाणपद [ **प्राप्स्यति** ] पावेगा, [ **तेनैव** ] और उसी समभावसे [ **आत्मस्वभावं** ] केवलज्ञान पूर्ण

बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

**भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।**
**सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥ ४८ ॥**

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ ४८ ॥

भणइ इत्यादि । **भणइ** भणति नैव **भणावइ** नैवान्यं भणन्तं प्रेरयति **णवि थुणइ** नैव स्तौति **णिंदइ णाणि ण कोइ** निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् सन् । **सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ** जानन् । कम् । परं भावं परिणामम् । कथंभूतम् । समं रागद्वेषरहितम् । कारणम् । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं

---

आत्मस्वभावको आगे पावेगा । **भावार्थ**—जो अनंत सिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं, और जो होवेंगे, इसी भावसे होंगे । इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके विना अन्य उपायसे शुद्धात्माका लाभ नहीं हैं । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । **समभाव** उसे कहते हैं, जो पंचेन्द्रीके विषयोंकी अभिलाषासे रहित वीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥ ४७ ॥

आगे कहते हैं, कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है न किसीको पढ़ाता है, न किसीको प्रेरणा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता हैं—[ **ज्ञानि** ] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [ **कमपि न** ] न किसीका [ **भणति** ] शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरु होकर किसीको [ **भाणयति** ] पढ़ाता है, [ **नैव स्तौति निंदति** ] न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता है, [ **सिद्धेः कारणं** ] मोक्षका कारण [ **समं भावं** ] एक समभावको [ **परं** ] निश्चयसे [ **जानन्** ] जानता हुआ [ **तमेव** ] केवल आत्मस्वरूपमें अचल होरहा है, अन्य कुछ भी शुभ अशुभ कार्य नहीं करता । **भावार्थ**—परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ़ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र वही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न

कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्तावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति ॥ ४८ ॥

अथ वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्छाव्रतादिसंकल्पविकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति—

**गंथहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।**
**गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ४९ ॥**

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ४९ ॥

गंथहं इत्यादि । **गंथहं उप्परि** ग्रन्थस्य वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रन्थरचनारूपशास्त्रस्योपरि **परममुणि** परमतपस्वी **देसु वि करइ ण** द्वेषमपि न करोति **न राउ** रागमपि । येन तपोधनेन किं कृतम् । **गंथहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ** ग्रन्थात्सकाशाद्येन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति । तद्यथा । मिथ्यात्वं, स्त्र्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः, क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डरूपा वाह्यपरिग्रहाः इत्थंभूतान् वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च यो वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहा-

---

किसीसे सीखता है, न स्तुति करता है, न निंदा करता है । जिसके शत्रु मित्र सुख दुःख सब एक समान हैं ॥ ४८ ॥

आगे वाह्य अंतरंग परिग्रहकी इच्छासे पाँच इंद्रियोंके विषय-भोगोंका वांछक हुआ देहमें ममता नहीं करता, तथा मिथ्यात्व अव्रत आदि समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा उसे जानता है, वह परिग्रहमें तथा विषय देहसंबंधी व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता, ऐसा चार-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—[ **ग्रंथस्य उपरि** ] अंतरंग वाह्य परिग्रहके ऊपर अथवा शास्त्रके ऊपर जो [ **परममुनिः** ] परम तपस्वी [ **रागं द्वेषमपि न करोति** ] राग और द्वेष नहीं करता है [ **येन** ] जिस मुनिने [ **आत्मस्वभावः** ] आत्माका स्वभाव [ **ग्रंथात्** ] ग्रंथसे [ **भिन्नः विज्ञातः** ] जुदा जान लिया है । **भावार्थ**—मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अंतरंग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु ( घर ), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस वाह्य परिग्रह—इस प्रकार चौवीस तरहके वाह्य अभ्यंतर परिग्रहोंको तीन जगतमें, तीनों कालोंमें, मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़ और शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप

द्भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति। अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥ ४९ ॥

अथ—

**विसयहँ उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ।**
**विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५० ॥**

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम्।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ५० ॥

विसयहं इत्यादि। **विसयहं उप्परि** विषयाणामुपरि **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि करोति न च रागमपि येन किं कृतं **विसयहं जेण वियाणियउ** विषयेभ्यो येन विज्ञातः। कोऽसौ विज्ञातः। **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः। कथंभूतो भिन्न इति। तथा च। द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्टश्रुतानुभूतान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मानमनुभवति स मुनिः पञ्चे-

---

वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर परवस्तुसे अपनेको भिन्न जानता है, वो ही परिग्रहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता है। यहाँपर ऐसा व्याख्यान निर्ग्रंथ मुनिको ही शोभा देता है, परिग्रहधारीको नहीं शोभा देता है, ऐसा तात्पर्य जानना ॥ ४९ ॥

आगे विषयोंके ऊपर वीतरागता दिखलाते हैं—[ **परममुनिः** ] महामुनि [ **विषयाणां उपरि** ] पाँच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंपर [ **रागमपि द्वेषं** ] राग और द्वेष [ **न करोति** ] नहीं करता, अर्थात् मनोज्ञ विषयोंपर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयोंपर द्वेष नहीं करता, क्योंकि [ **येन** ] जिनसे [ **आत्मस्वभावः** ] अपना स्वभाव [ **विषयेभ्यः** ] विषयोंसे [ **भिन्नः विज्ञातः** ] जुदा समझ लिया है। इसलिये वीतराग दशा धारण करली है। **भावार्थ**—द्रव्येन्द्री भावेन्द्री और इन दोनोंसे ग्रहण करने योग्य देखे सुने अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अतींद्रियसुखके रसके आस्वादनेसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न अपने आत्माको जो मुनि अनुभवता है, वो ही विषयोंमें राग द्वेष नहीं करता। यहाँपर तात्पर्य यह है, कि जो पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखसे निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्म-सुखमें तृप्त होता है, उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है,

न्द्रियविषयेषु रागद्वेषौ न करोति। अत्र यः पञ्चेन्द्रियविषयसुखान्निवर्त्य स्वशुद्धात्मसुखे तृप्तो भवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति भावार्थः ॥५०॥

अथ—

**देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।**
**देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५१ ॥**

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम्।
देहाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ५१ ॥

देहहं इत्यादि। **देहहं उप्परि** देहस्योपरि **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न रागमपि। येन किं कृतम्। **देहहं जेण वियाणियउ** देहात्सकाशाद्येन विज्ञातः। कोऽसौ। **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः। कथंभूतो विज्ञातः। तस्माद्देहाद्भिन्न इति। तथाहि—"सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं। जं इंदियेहिं लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा ॥" इति गाथाकथितलक्षणं दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव देहाद्भिन्नं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति। अत्र य एव सर्वप्रकारेण देहममत्वं

---

और विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥ ५० ॥

आगे साधु देहके ऊपर भी राग द्वेष नहीं करता—[ **परममुनिः** ] महामुनि [ **देहस्य उपरि** ] मनुष्यादि शरीरके ऊपर भी [ **रागमपि द्वेषं** ] राग और द्वेषको [ **न करोति** ] नहीं करता अर्थात् शुभ शरीरसे राग नहीं करता, अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं करता, [ **येन** ] जिसने [ **आत्मस्वभावः** ] निजस्वभाव [ **देहात्** ] देहसे [ **भिन्नः विज्ञातः** ] भिन्न जान लिया है। देह तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है, जड़ चैतन्यका क्या संबंध ?। **भावार्थ**—इन इंद्रियोंसे जो सुख उत्पन्न हुआ है, वह दुःखरूप ही है। ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है। 'सपरं' इत्यादि। इसका तात्पर्य ऐसा है, कि जो इंद्रियोंसे सुख प्राप्त होता है, वह सुख दुःखरूप ही है, क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नहीं है, बाधा सहित है, निराबाध नहीं है, नाशके लिये हुए है, जिसका नाश होजाता है, बन्धका कारण है, और विषम है। इसलिये इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है। ऐसा इस गाथामें जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसे देहजनित सुखको मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़े। वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके बलसे आकुलता रहित परमसुखरूप निज परमात्मामें स्थित होकर जो महामुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्माको जानता है, वही

स्त्यक्त्वा देहसुखं नानुभवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरस्येति तात्पर्यार्थः ॥५१॥

अथ—

**वित्ति-णिवित्तिहिँ परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।**
**बंधहँ हेउ वियाणियउ एयहँ जेण सहाउ ॥ ५२ ॥**

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
बन्धस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥ ५२ ॥

वित्तिणिवित्तिहिं इत्यादि । **वित्तिणिवित्तिहिं** वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न च रागम् । येन किं कृतम् । **बंधहं हेउ वियाणियउ** बन्धस्य हेतुर्विज्ञातः । कोऽसौ । **एयहं जेण सहाउ** एतयोर्व्रताव्रतयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठान्तरम् । "भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहं अप्पसहाउ" भिन्नो येन विज्ञातः । कोऽसौ । आत्मस्वभावः । काभ्याम् । एताभ्यां व्रताव्रतविकल्पाभ्यां सकाशादिति । तथाहि । येन व्रताव्रतविकल्पौ पुण्यपापबन्धकारणभूतौ विज्ञातौ स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । हे भगवन् यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्धमिति ।

---

देहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता । जो सब तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको नहीं अनुभवता, उसीके लिये यह व्याख्यान शोभा देता है, और देहबुद्धिवालोंको नहीं शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥ ५१ ॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि राग द्वेष नहीं करता, ऐसा कहते हैं— [ **परममुनिः** ] महामुनि [ **वृत्तिनिवृत्त्योः** ] प्रवृत्ति और निवृत्तिमें [ **रागं अपि द्वेषं** ] राग और द्वेषको [ **न करोति** ] नहीं करता, [ **येन** ] जिसने [ **एतयोः** ] इन दोनोंका [ **स्वभावः** ] स्वभाव [ **बंधस्य हेतुः** ] कर्मबंधका कारण [ **विज्ञातः** ] जान लिया है । **भावार्थ**—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता । जिसने इन दोनोंका स्वभाव बंधका कारण जानलिया है । अथवा पाठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता है, कि जिसने आत्माका स्वभाव भिन्न जानलिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है । जहाँ व्रत अव्रतका विकल्प नहीं है । ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप बंधके कारण हैं । ऐसा जिसने जानलिया, वह आत्मामें तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने पूछा, हे भगवन्; जो व्रतपर राग नहीं करे, तो व्रत क्यों धारण करे ? ऐसे कथनमें व्रतका निषेध होता है । तब योगीन्द्राचार्य कहते हैं, कि व्रतका अर्थ यह है, कि

भगवानाह । व्रतं कोऽर्थः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथा चोक्तम्—' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ' । अथवा । " रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् । तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥ " प्रसिद्धं पुनरहिंसादिव्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथमेकदेशव्रतमितिचेत् । तथाहि । जीवघाते निवृत्तिर्जीवदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः, अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरित्यादिरूपेणैकदेशं व्रतम् । रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्पकल्लोलमालारहिते त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं व्रतं भवतीति । कश्चिदाह । व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति । भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतम्, घटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । परिहारमाह । भरतेश्वरोऽपि पूर्वं जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानन्तरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतविकल्पं कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते सति दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधलक्षणे

---

सब शुभ अशुभ भावोंसे निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथोंमें भी " रागद्वेषौ " इत्यादिसे कहा है । अर्थ यह है कि राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ हैं, तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं हैं, अन्य पदार्थके संबंधसे हैं । इसलिये इन दोनोंको छोड़े । अथवा " हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं " ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है, कि प्राणियोंको पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन हरना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना, वही व्रत है । ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, वे व्यवहारनयकर एकोदेशरूप व्रत हैं । यही दिखलाते हैं—जीवघातमें निर्वृत्ति, जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्य वचनमें निवृत्ति सत्य वचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान ( चोरी ) से निवृत्ति, अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि स्वरूपसे एकोदेशव्रत कहा जाता है, और राग द्वेषरूप संकल्प विकल्पोंकी कल्लोलोंसे रहित तीन गुप्तिसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है । अर्थात् अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशव्रत और शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होना वह पूर्ण व्रत है । इसलिये प्रथम अवस्थामें व्रतका निषेध नहीं है एकोदेश व्रत है, और पूर्ण अवस्थामें सर्वदेश व्रत है । यहाँपर कोई यदि प्रश्न करे, कि व्रतसे क्या प्रयोजन? आत्मभावनासे ही मोक्ष होता है । भरतजी महाराजने क्या व्रत धारण किया था? वे तो दो घड़ीमें ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये । इसका समाधान ऐसा है, कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिरके केशलुंचन किये, हिंसादि पापोंकी निर्वृत्तिरूप पाँच महाव्रत आदरे । फिर एक अंतर्मुहूर्तमें समस्त विकल्प रहित मन वचन काय रोकनेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें ठहरकर निर्विकल्प हुए । वे शुद्धात्माका ध्यान, देखे सुने और भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान बन्धादि विकल्पोंसे रहित ऐसे ध्यानमें तल्लीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा, और मुनि हुए तभी केवली हुए, तब भरतेश्वरने अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया । इसलिये महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं हुई । इसपर कोई मूर्ख ऐसा विचार लेवे, कि जैसा उनको हुआ

निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैवं वक्तव्यम् । यद्येकस्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हिं किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—"पुव्वमभाविदजोगो मरणे आराहओ जदि वि कोई । खन्नगनिधिदिट्ठंतं तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥" ॥ ५२ ॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् । अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—योऽसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बन्धमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

**बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।**
**सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥ ५३ ॥**

बन्धस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।
स परं मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥ ५३ ॥

**बंधहं** इत्यादि । **बंधहं** बन्धस्य **मोक्खहं** मोक्षस्य **हेउ** हेतुः कारणम् । कथंभूतम् । **णिउ** निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपम् । **जो णवि जाणइ कोइ** यो नैव जानाति कश्चित् ।

---

वैसे हमको भी होवेगा । ऐसा विचार ठीक नहीं है । यदि किसी एक अंधेको किसी तरहसे निधिका लाभ हुआ, तो क्या सभीको ऐसा हो सकता है ? सबको नहीं होता । भरत सरीखे भरत ही हुए । इसलिये अन्य भव्यजीवोंको यही योग्य है, कि तप संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही "पुव्वं" इत्यादि गाथासे दूसरी जगह भी कहा है । अर्थ ऐसा है, कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नहीं किया, और मरणके समय जो कभी आराधक हो जावे, तो यह बात ऐसी जानना, कि जैसे किसी अंधे पुरुषको निधिका लाभ हुआ हो । ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं हो सकती । कभी कहींपर होवे तो होवे ॥ ५२ ॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल, और मोक्षके मार्गके कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें परम उपशांतभावके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थलमें चौदह दोहे पूर्ण हुए ।

आगे निश्चयनयकर पुण्य पाप दोनों ही समान हैं, ऐसा चौदह दोहोंमें कहते हैं । जो कोई स्वभावपरिणामको मोक्षका कारण और विभावपरिणामको बंधका कारण निश्चयसे ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पापका कर्ता होता है, अन्य नहीं, ऐसा मनमें धारणकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—[ **यः कश्चित्** ] जो कोई जीव [ **बंधस्य**

**सो पर** स एव **मोहिं** मोहेन **करइ** करोति **जिय** हे जीव **पुण्णु वि पाउ वि** पुण्यमपि पापमपि । कतिसंख्योपेते अपि । **दोइ** द्वे अपीति । तथाहि । निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतत्रयं कारणं, तस्मात्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थः ॥ ५३ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योऽसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति—

**दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।**
**मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥ ५४ ॥**

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।
मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स परं ते करोति ॥ ५४ ॥

**दंसणणाणचरित्त** इत्यादि । **दंसणणाणचरित्तमउ** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं **जो णवि अप्पु मुणेइ** यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । किं कृत्वा न जानाति । **मोक्खहं कारणु भणिवि** मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्वा **जिय** हे जीव **सो पर ताइं करेइ** स एव पुरुषस्ते पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजशुद्धात्मभावनोत्थ-

---

**मोक्षस्य हेतुः** ] बंध और मोक्षका कारण [ **निजः** ] अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद [ **नैव जानाति** ] नहीं जानता है, [ **स एव** ] वही [ **पुण्यमपि पापमपि** ] पुण्य और पाप [ **द्वे अपि** ] दोनोंको ही [**मोहेन**] मोहसे [**करोति**] कर्ता है । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिसे विपरीत जो मिथ्यादर्शन निज शुद्धात्माके ज्ञानसे विपरीत मिथ्याज्ञान, और निज शुद्धात्मद्रव्यमें निश्चल स्थिरतासे उलटा जो मिथ्याचारित्र इन तीनोंको वंधका कारण और इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षका कारण ऐसा जो नहीं जानता है । वही मोहके वशसे पुण्य पापका कर्ता होता है । पुण्यको उपादेय जानके कर्ता है, पापको हेय समझता है ॥ ५३ ॥

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमता जो आत्मा वह ही मुक्तिका कारण है, जो ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पाप दोनोंको कर्ता है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **यः** ] जो [ **दर्शनज्ञानचारित्रमयं** ] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी [ **आत्मानं** ] आत्माको [ **नैव मनुते** ] नहीं जानता, [ **स एव** ] वही [ **हे जीव** ] हे जीव; [ **ते** ] उन पुण्य पाप दोनोंको [ **मोक्षस्य कारणं** ] मोक्षके कारण [ **भणित्वा** ] जानकर

वीतरागसहजानन्दैकरूपसुखरसास्वादरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव स्वशुद्धात्मनि वीतरागसहजानन्दैकस्वसंवेदनपरिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, वीतरागसहजानन्दैकपरमसमरसीभावेन तत्रैव निश्चलस्थिरत्वं सम्यक्चारित्रं इत्येतैस्त्रिभिः परिणतमात्मानं योऽसौ मोक्षकारणं न जानाति स एव पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं च करोतीति। यस्तु पूर्वोक्तरत्नत्रयपरिणतमात्मानमेव मोक्षमार्गं जानाति तस्य तु सम्यग्दृष्टेर्यद्यपि संसारस्थितिच्छेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थः ॥ ५४ ॥

अथ योऽसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहेन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति—

**जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।**
**सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥ ५५ ॥**

यः नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे।
स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिण्डते लोके ॥ ५५ ॥

जो इत्यादि। **जो णवि मण्णइ** यः कर्ता नैव मन्यते **जीउ** जीवः। किं न मन्यते। **समु** समाने। के। **पुण्णु वि पाउ वि दोइ** पुण्यमपि पापमपि द्वे **सो** स जीवः **चिरु दुक्खु सहंतु** चिरं बहुतरं कालं दुःखं सहमानः सन् **जिय** हे जीव **मोहिं हिंडइ लोइ** मोहेन मोहितः सन् हिण्डते भ्रमति। क। लोके संसारे इति। तथा च। यद्यप्यसद्भूत-

---

[ **करोति** ] करता है। **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुखरसका आस्वाद उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मामें वीतराग नित्यानंद स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान और वीतरागपरमानंद परम समरसीभावकर उसीमें निश्चय स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र—इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा उसको जो जीव मोक्षका कारण नहीं जानता, वह ही पुण्यको आदरने योग्य जानता है, और पापको त्यागने योग्य जानता है। तथा जो सम्यग्दृष्टी जीव रत्नत्रयस्वरूप परिणत हुए आत्माको ही मोक्षका मार्ग जानता है, उसके यद्यपि संसारकी स्थितिके छेदनका कारण, और सम्यक्त्वादि गुणसे परम्पराय मुक्तिका कारण ऐसी तीर्थंकरनामप्रकृति आदि शुभ ( पुण्य ) प्रकृतियोंको ( कर्मोंको ) अवांछितवृत्तिसे ग्रहण करता है, तो भी उपादेय नहीं मानता है। कर्मप्रकृतियोंको त्यागने योग्य ही समझता है ॥ ५४ ॥

आगे जो निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनोंको समान नहीं मानता, वह मोहसे मोहित हुआ संसारमें भटकता है, ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **जीवः** ] जीव [ **पुण्यमपि पापमपि द्वे** ] पुण्य और पाप दोनोंको [ **समाने** ] समान [ **नैव मन्यते** ] नहीं मानता,

व्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवतः। एवं नयविभागेन योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोहशुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह। यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति—

**वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति।**
**जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति ॥ ५६ ॥**

---

[ **सः** ] वह जीव [ **मोहेन** ] मोहसे मोहित हुआ [ **चिरं** ] बहुत कालतक [ **दुःखं सहमानः** ] दुःख सहता हुआ [ **लोके** ] संसारमें [ **हिंडते** ] भटकता है। **भावार्थ**—यद्यपि असद्भूत ( असत्य ) व्यवहारनयसे द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनयसे भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपसमें भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर पुण्य पाप रहित शुद्धात्मासे दोनों ही भिन्न हुए बंधरूप होनेसे दोनों समान ही हैं। जैसे सोनेकी वेड़ी और लोहेकी वेड़ी ये दोनों ही बंधका कारण हैं—इससे समान हैं। इस तरह नय-विभागसे जो पुण्य पापको समान नहीं मानता, वह निर्मोही शुद्धात्मासे विपरीत जो मोहकर्म उससे मोहित हुआ संसारमें भ्रमण करता है। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट बोला, यदि ऐसा ही है, तो कितने ही परमतवादी पुण्य पापको समान मानकर स्वच्छंद हुए रहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? तब योगीन्द्रदेवने कहा—जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्तिसे गुप्त वीतरागनिर्विकल्पसमाधिको पाकर ध्यानमें मग्न हुए पुण्य पापको समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है। परंतु जो मूढ़ परमसमाधिको न पाकर भी गृहस्थ-अवस्थामें दान पूजा आदि शुभ क्रियाओंको छोड़ देते हैं, और मुनि-पदमें छह आवश्यककर्मोंको छोड़ते हैं, वे दोनों बातोंसे भ्रष्ट हैं। न तो यती हैं, न श्रावक हैं। वे निंदा योग्य ही हैं। तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना ॥ ५५ ॥

आगे जिस पापके फलसे यह जीव नरकादिमें दुःख पाकर उस दुःखके दूर करनेके

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वन्ति ॥ ५६ ॥

**वर जिय** इत्यादि । **वर जिय** वरं किंतु हे जीव **पावइं सुंदरइं** पापानि सुन्दराणि समीचीनानि **भणंति** कथयन्ति । के । **णाणिय** ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । **ताइं** तानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि । **जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति** जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमतिं मुक्तियोग्यमतिं यानि कुर्वन्ति ।

---

लिये धर्मके सन्मुख होता है, वह पापका फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है, ऐसा दिखलाते हैं–[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **यानि** ] जो पापके उदय [ **जीवानां** ] जीवोंको [ **दुःखानि जनित्वा** ] दुःख देकर [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **शिवमतिं** ] मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि [ **कुर्वंति** ] कर देवे, तो [ **तानि पापानि** ] वे पाप भी [ **वरं सुंदराणि** ] बहुत अच्छे हैं, ऐसा [ **ज्ञानिनः** ] ज्ञानी [ **भणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—कोई जीव पाप करके नरकमें गया, वहाँपर महान दुःख भोगे, उससे कोई समय किसी जीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तिके तीन कारण हैं । पहला तो यह है, कि तीसरे नरकतक देवता उसे संबोधनेको (चेतावने को) जाते हैं, सो कभी कोई जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण–पूर्वभवका स्मरण और तीसरा नरककी पीड़ाकरि दुःखी हुआ नरकको महान् दुःखका स्थान जान नरकके कारण जो हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह और आरंभादिक हैं, उनको खराब जानके पापसे उदास होवे । तीसरे नरकतक ये तीन कारण हैं । आगेके चौथे पाँचवें छट्ठे सातवें नरकमें देवोंका गमन न होनेसे धर्म-श्रवण तो है नहीं, लेकिन जातिस्मरण है, तथा वेदनाकर दुःखी होके पापसे भयभीत होना–ये दो ही कारण हैं । इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इस नयसे कोई भव्यजीव पापके उदयसे खोटी गतिमें गया, और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे, तथा सम्यक्त्व पावे, तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है । यही श्रीयोगीन्द्राचार्यने मूलमें कहा है–जो पाप जीवोंको दुःख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्गमें बुद्धिको लगावें, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं । तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तपसे देव भी हुआ और देवसे मरके एकेंद्री हुआ तो वह देव-पर्याय पाना किस कामका । अज्ञानीके देव-पद पाना भी वृथा है । जो कभी ज्ञानके प्रसादसे उत्कृष्ट देव होके बहुत कालतक सुख भोगके देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको पावे, तो उसके समान दूसरा क्या होगा । जो नरकसे भी निकलकर कोई भव्यजीव मनुष्य होके महाव्रत धारण करके मुक्ति पावें, तो वह भी अच्छा है । ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पापके प्रभावसे दुःख

अयमत्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवस्तत्पापजनितदुःखमपि श्रेष्ठमिति। कस्मादिति चेत्। 'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति" इति वचनात्॥५६॥

अथ निदानबन्धोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति—

**मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति ।**
**जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥ ५७ ॥**

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयन्ति ॥ ५७ ॥

**मं पुणु** इत्यादि । **मं पुणु** मा पुनः न पुनः **पुण्णइं भल्लाइं** पुण्यानि भद्राणि भवन्तीति **णाणिय ताइं भणंति** ज्ञानिनः पुरुषास्तानि पुण्यानि कर्मतापन्नानि भणन्ति । यानि किं कुर्वन्ति । **जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति** यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु शीघ्रं दुःखानि जनयन्ति । तद्यथा । निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखानुभवविपरीतेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपूर्वकज्ञानतपोदानादिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादिति चेत् । निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते । रावणा-

---

भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूलकारण पापको जानके उस पापसे उदास होवें, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि पाप-क्रिया हमेशा निंदनीक है। भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप श्रीवीतरागदेवके धर्मको जो धारण करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक, और दुःखी धारण करे तब भी ठीक । क्योंकि शास्त्रका वचन है, कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होते हैं ॥ ५६ ॥

आगे निदानबंधसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं, इसलिये अच्छे नहीं हैं—[ **पुनः** ] फिर [ **तानि पुण्यानि** ] वे पुण्य भी [ **मा भद्राणि** ] अच्छे नहीं हैं, [ **यानि** ] जो [ **जीवस्य** ] जीवको [ **राज्यानि दत्त्वा** ] राज देकर [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **दुःखानि** ] नरकादि दुःखोंको [ **जनयंति** ] उपजाते हैं, [ **ज्ञानिनः** ] ऐसा ज्ञानी पुरुष [ **भणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परमानंद अतींद्रियसुखका अनुभव उससे विपरीत जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी वांछारूप निदानबंधपूर्वक दान तप आदिकसे उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं, वे हेय हैं । क्योंकि वे निदानबंधसे उपार्जन किये पुण्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसम्पदा देते हैं । उस राज्यविभूतिको अज्ञानी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादिकके दुःख पाता है, रावणकी

दिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुनर्निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थः। तथा चोक्तम्—'ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवान्तरे'। इत्यादिवचनात् ॥ ५७ ॥

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं, तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति—

**वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।**
**मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥ ५८ ॥**

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व ।
मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ॥ ५८ ॥

वर इत्यादि । **वर णियदंसणअहिमुहउ** वरं किंतु निजदर्शनाभिमुखः सन् **मरणु वि जीव लहेसि** मरणमपि हे जीव । लभस्व भज । **मा णियदंसणविम्मुहउ** मा पुनर्निजदर्शनविमुखः सन् **पुण्णु वि जीव करेसि** पुण्यमपि हे जीव करिष्यसि । तथा च स्वकीयनिर्दोषिपरमात्मानुभूतिरुचिरूपं त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणनिश्चयचारित्राविनाभूतं वीतरागसंज्ञं निश्चयसम्यक्त्वं भण्यते तदभिमुखः सन् हे जीव मरणमपि लभस्व दोषो नास्ति तेन विना पुण्यं मा कार्षीरिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः

---

तरह । इसलिये अज्ञानियोंके पुण्य-कर्म भी होता है, और जो निदानबंध रहित ज्ञानी पुरुष हैं, वे दूसरे भवमें राज्यादि भोगोंको पाते हैं, तो भी भोगोंको छोड़कर जिनराजकी दीक्षा धारण करते हैं । धर्मको सेवनकर ऊर्ध्वगतिगामी बलदेव आदिककी तरह होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि भवान्तरमें निदानबंध नहीं करते हुए जो महामुनि हैं, वे महान् तपकर स्वर्गलोक जाते हैं । वहाँसे चयकर बलभद्र होते हैं । वे देवोंसे अधिक सुख भोगकर राजका त्याग करके मुनिव्रतको धारणकर या तो केवलज्ञान पाके मोक्षको ही पधारते हैं, या बड़ी ऋद्धिके धारी देव होते हैं, फिर मनुष्य होकर मोक्षको पाते हैं ॥ ५७ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवोंको मरण भी सुखकारी है, उनका मरना अच्छा है, और सम्यक्त्वके विना पुण्यका उदय भी अच्छा नहीं है—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **निजदर्शनाभिमुखः** ] जो अपने सम्यग्दर्शनके सन्मुख होकर [ **मरणमपि** ] मरणको भी [ **लभस्व वरं** ] पावे, तो अच्छा है, परन्तु [ **जीव** ] हे जीव; [ **निजदर्शनविमुखः** ] अपने सम्यग्दर्शनसे विमुख हुआ [ **पुण्यमपि** ] पुण्य भी [ **करिष्यसि** ] करे [ **मा वरं** ] तो अच्छा नहीं । **भावार्थ**—निर्दोष निज परमात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चयचारित्र उससे अविनाभावी ( तन्मयी ) जो वीतरागनिश्चय-

पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते। सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपार्जित-पापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम्। सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति। कस्मात्। तेन निदानबद्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः। तथा चोक्तम्—"वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः। न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते॥"॥ ५८॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति—

**जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति।**
**तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति॥ ५९॥**

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनन्तं लभन्ते।
तेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तं सहन्ते॥ ५९॥

जे णिय इत्यादि। जे ये केचन **णियदंसणअहिमुहा** निजदर्शनाभिमुखास्ते पुरुषाः। **सोक्खु अणंतु लहंति** सौख्यमनन्तं लभन्ते। अपरे केचन **तिं विणु पुण्णु**

---

सम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ है जीव; जो तू मरण भी पावे, तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्वके विना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टी जीव पुण्य सहित हैं, तो भी पापी ही कहे हैं। तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं, वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र भोगते हैं, तो भी पुण्याधिकारी ही कहे हैं। इसलिये जो सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा। मरकर ऊपरको जावेंगे, और जो सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य-कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है। वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र ( नीच ) देव तथा क्षुद्र मनुष्य होके संसार-वनमें भटकेंगे। यदि पूर्वके पुण्यको यहाँ भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोगके नरक-निगोदमें पड़ेंगे। इसलिये मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी भला नहीं है। निदानबंध पुण्यसे भवान्तरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे। सम्यग्दृष्टी प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते हैं, लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है, इसलिये सदा सुखी ही होवेंगे। आयुके अंतमें नरकसे निकलके मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टी जो पुण्यके उदयसे देव भी हुए हैं, तो भी देवलोकसे आकर एकेंद्री होवेंगे। ऐसा दूसरी जगह भी "वरं" इत्यादि श्लोकसे कहा है, कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा, और सम्यक्त्व रहितका स्वर्गमें निवास भी नहीं शोभा देता॥ ५८॥

अब इसी बातको फिर भी दृढ़ करते हैं—[ **ये** ] जो [ **निजदर्शनाभिमुखाः** ] सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं, वे [ **अनन्तं सुखं** ] अनन्त सुखको [ **लभन्ते** ] पाते हैं। [ **तेन विना** ]

करंता वि तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि । दुक्खु अणंतु सहंति दुःखमनन्तं सहन्त इति । तथाहि । निजशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वाभिमुखा ये ते केचनास्मिन्नेव भवे धर्मपुत्रभीमार्जुनादिवदक्षयसुखं लभन्ते, ये केचन पुनर्नकुलसहदेवादिवत् स्वर्गसुखं लभन्ते । ये तु सम्यक्त्वरहितास्ते पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तमनुभवन्तीति तात्पर्यम् ॥ ५९ ॥

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति—

**पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।**
**मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ६० ॥**

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥ ६० ॥

पुण्णेण इत्यादि । **पुण्णेण होइ विहवो** पुण्येन विभवो विभूतिर्भवति, **विहवेण मओ** विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति, **मएण मइमोहो** विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति । **मइमोहेण य पावं** मतिमूढत्वेन पापं भवति, **ता पुण्णं अम्ह मा होउ** तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकं मा भूदिति । तथाच । इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन

---

और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे [ **पुण्यं कुर्वाणा अपि** ] पुण्य भी करते हैं, तो भी पुण्यके फलसे अल्प सुख पाके संसारमें [ **अनंतं दुःखं** ] अनन्त दुःख [ **सहंते** ] भोगते हैं । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्वके सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं, वे इसी भवमें युधिष्ठिर, भीम, अर्जुनकी तरह अविनाशी सुखको पाते हैं, और कितने ही नकुल सहदेवकी तरह अहमिंद्र-पदके सुख पाते हैं । तथा जो सम्यक्त्वसे रहित मिथ्यादृष्टीजीव पुण्य भी करते हैं, तो भी मोक्षके अधिकारी नहीं हैं, संसारीजीव ही हैं, यह तात्पर्य जानना ॥५९॥

आगे निश्चयसे मिथ्यादृष्टियोंके पुण्यका निषेध करते हैं— [ **पुण्येन** ] पुण्यसे घरमें [ **विभवः** ] धन [ **भवति** ] होता है, और [ **विभवेन** ] धनसे [ **मदः** ] अभिमान [**मदेन**] मानसे [ **मतिमोहः** ] बुद्धि-भ्रम होता है, [ **मतिमोहेन** ] बुद्धिके भ्रम होनेसे ( अविवेकसे ) [ **पापं** ] पाप होता है, [ **तस्मात्** ] इसलिये [ **पुण्यं** ] ऐसा पुण्य [ **अस्माकं** ] हमारे [ **मा भवतु** ] न होवे । **भावार्थ**—भेदाभेदरत्नत्रयकी आराधनासे रहित, देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप निदानबंधके परिणामों सहित जो मिथ्यादृष्टी संसारी अज्ञानी जीव हैं, उसने पहले उपार्जन किये भोगोंकी वांछारूप पुण्य उसके फलसे प्राप्त हुई घरमें सम्पदा होनेसे अभिमान ( घमंड ) होता है, अभिमानसे बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है, और पापसे भव भवमें अनंत दुःख पाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टि-

जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः इति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्—"सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृतेः । येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥" ॥ ६० ॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति–

**देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ ।**
**कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥ ६१ ॥**

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।
कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः शान्तिः भणति ॥ ६१ ॥

देवहं इत्यादि । **देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ** देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति **कम्मक्खउ पुणु होइ णवि** कर्मक्षयःपुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति।एवं कोऽसौ भणति। **अज्जउ** आर्यः। किंनामा। **सन्ति** शान्तिः नामा **भणेइ** भणति कथयति

---

योंका पुण्य पापका ही कारण है । जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम पांडवादिक विवेकी जीव हैं, उनको पुण्यबंध अभिमान नहीं उत्पन्न करता, परम्पराय मोक्षका कारण है। जैसे अज्ञानियोंके पुण्यका फल विभूति गर्वका कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है । वे सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पोंको छोड़कर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टिजीव चक्रवर्ती बलभद्र-पदमें भी निरहंकार रहे । ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है, कि पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष होगये हैं, कि जिनके वचनमें सत्य, बुद्धिमें शास्त्र, मनमें दया, पराक्रमरूप भुजाओंमें शूरवीरता, याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान, और मोक्षमार्गमें गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुणका अहंकार नहीं हुआ । उनके नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, परंतु अब बड़ा अचंभा है, कि इस पंचमकालमें लेशमात्र भी गुण नहीं हैं, तो भी उनके उद्धतपना है, यानी गुण तो रंचमात्र भी नहीं, और अभिमानमें बुद्धि रहती है ॥ ६० ॥

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्यबंध होता है, उससे परम्पराय मोक्ष होता है, साक्षात् मोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं—[ **देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां** ] श्रीवीतरागदेव, द्वादशांग शास्त्र, और दिगम्बर साधुओंकी [ **भक्त्या** ] भक्ति करनेसे [ **पुण्यं भवति** ] मुख्यतासे पुण्य होता है, [ **पुनः** ] लेकिन [ **कर्मक्षयः** ] तत्काल कर्मोंका क्षय [ **नैव भवति** ] नहीं होता, ऐसा [ **आर्यः शांतिः** ] शांति नाम आर्य अथवा कपट रहित संत पुरुष [ **भणति** ]

इति । तथाहि । सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्षः । अत्राह प्रभाकरभट्टः । यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगररामपाण्डवादयोऽपि निरन्तरं पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना निर्भरभक्ताः सन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति । भगवानाह । यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशान्तरस्थितसीतादिस्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्दैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिताः सन्तः संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसंबन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति । अयमत्र भावार्थः । तेषां पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुम्बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमास्रवतीति ॥ ६१ ॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दां करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति—

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ ।
णियमेँ पाउ हवेइ तसु जेँ संसारु भमेइ ॥ ६२ ॥

---

कहते हैं । **भावार्थ**—सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है, और परम्पराय मोक्ष होता है । जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टी हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाहिरी भक्ति होती है, उससे पुण्यका ही बंध है, कर्मका क्षय नहीं है । ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया हे प्रभो; जो पुण्य मुख्यतासे मोक्षका कारण नहीं है, तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नहीं है । जो ग्रहण योग्य नहीं है, तो भरत, सगर, राम पांडवादिक महान् पुरुषोंने निरंतर पंचपरमेष्ठीके गुण-स्मरण क्यों किये ? और दान पूजादि शुभ क्रियाओंसे पूर्ण होकर क्यों पुण्यका उपार्जन किया ? तब श्रीगुरुने उत्तर दिया—कि जैसे परदेशमें स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्रीके पाससे आये हुए किसी मनुष्यसे बातें करता है—उसका सन्मान करता है, और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रियाके हैं, कुछ उसके प्रसादके कारण नहीं है । उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान् पुरुष वीतराग परमानंदरूप मोक्षसे लक्ष्मीके सुख अमृत-रसके प्यासे हुए संसारकी स्थितिके छेदनेके लिये विषय कषायकर उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंके नाशका कारण श्रीपंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हैं, और दान पूजादिक करते हैं, परंतु उनकी दृष्टि केवल निज परिणतिपर है, परवस्तुपर नहीं है । पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि शुभ क्रियाको परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृतिका आस्रव होता है । जैसे किसानकी दृष्टि अन्नपर है, तृण भूसादिपर नहीं है । विना चाहा पुण्यका बंध सहजमें ही होजाता है । वह उनको संसारमें नहीं भटका सकता है । वे तो शिवपुरीके ही पात्र हैं ॥ ६१ ॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारं भ्रमति ॥ ६२ ॥

देवहं इत्यादि । **देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ** देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्यबन्धहेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारणभूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति । **णियमें पाउ हवेइ तसु** नियमेन पापं भवति तस्य । येन पापबन्धेन किं भवति । **जें संसारु भमेइ** येन पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा । निजपरमात्मपदार्थोपलम्भरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपव्यवहारसम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दां करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गतिसंसारं भ्रमतीति भावार्थः ॥ ६२ ॥

अथ पूर्वसूत्रद्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति—

**पावेँ णारउ तिरिउ जिउ पुण्णेँ अमरु वियाणु ।**
**मिस्सेँ माणुस गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ॥ ६३ ॥**

पापेन नारकः तिर्यग् जीवः पुण्येनामरो विजानीहि ।
मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणम् ॥ ६३ ॥

पावें इत्यादि । **पावें** पापेन **णारउ तिरिउ** नारको भवति तिर्यग्भवति । कोऽसौ । **जिउ** जीवः **पुण्णें अमरु वियाणु** पुण्येनामरो देवो भवतीति जानीहि । **मिस्सें माणुसगइ लहइ** मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते । **दोहि वि खइ णिव्वाणु** द्वयोरपि कर्मक्षयेऽपि निर्वाणमिति । तद्यथा । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्व-

---

आगे देव शास्त्र गुरुकी जो निंदा करता है, उसके महान् पापका बंध होता है, वह पापी पापके प्रभावसे नरक निगोदादि खोटी गतिमें अनंतकाल तक भटकता है—[ **देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां** ] वीतरागदेव, जिनसूत्र, और निर्ग्रंथमुनियोंसे [ **यः** ] जो जीव [ **विद्वेषं** ] द्वेष [ **करोति** ] करता है, [ **तस्य** ] उसके [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **पापं** ] पाप [ **भवति** ] होता है, [ **येन** ] जिस पापके कारणसे वह जीव [ **संसारं** ] संसारमें [ **भ्रमति** ] भ्रमण करता है । अर्थात् परम्पराय मोक्षके कारण और साक्षात् पुण्यबंधके कारण जो देव शास्त्र गुरू हैं, इनकी जो निंदा करता है, उसके नियमसे पाप होता है, पापसे दुर्गतिमें भटकता है । **भावार्थ**—निज परमात्मद्रव्यकी प्राप्तिकी रुचि वही निश्चयसम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व, उसके मूल अरहंत देव, निर्ग्रंथ गुरू, और दयामयी धर्म, इन तीनोंकी जो निंदा करता है, वह मिथ्यादृष्टी होता है । वह मिथ्यात्वका महान् पाप बाँधता है । उस पापसे चतुर्गति संसारमें भ्रमता है ॥ ६२ ॥

आगे पहले दो सूत्रोंमें कहे गये पुण्य और पाप फल हैं, उनको दिखाते हैं—[ **जीवः** ] यह जीव [ **पापेन** ] पापके उदयसे [ **नारकः तिर्यग्** ] नरकगति और तिर्यंचगति पाता

भावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकतिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः। तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति। तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति। तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः। तथा चोक्तम्—"पावेण णरयतिरियं गम्मइ धम्मेण देवलोयम्मि। मिस्सेण माणुसत्तं दोण्हं पि खएण णिव्वाणं"॥६३॥

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनां त्यजन्तीति त्रिकलेन कथयति—

**वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहँ कारणु जेण।**
**करइ करावइ अणुमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण॥ ६४॥**

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन।
करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन॥ ६४॥

वंदणु इत्यादि। **वंदणु णिंदणु पडिकमणु** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम्। किंविशिष्टम्। **पुण्णहं कारणु** पुण्यस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **करइ करावइ अणुमणइ** करोति कारयति अनुमोदयति, **एक्कु वि** एकमपि, **णाणि ण तेण** ज्ञानी

---

है, [ **पुण्येन** ] पुण्यसे [ **अमरः** ] देव होता है, [ **मिश्रेण** ] पुण्य और पाप दोनोंके मेलसे [ **मनुष्यगतिं** ] मनुष्यगतिको [ **लभते** ] पाता है, और [ **द्वयोरपि क्षये** ] पुण्य पाप दोनोंके ही नाश होनेसे [ **निर्वाणं** ] मोक्षको पाता है, ऐसा [ **विजानीहि** ] जानो। **भावार्थ**—सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो पापकर्म उसके उदयसे नरक तिर्यंचगतिका पात्र होता है, आत्मस्वरूपसे विपरीत शुभ कर्मोंके उदयसे देव होता है, दोनोंके मेलसे मनुष्य होता है, और शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत इन दोनों पुण्य पापोंके क्षयसे निर्वाण (मोक्ष) मिलता है। मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है, वह शुद्धोपयोग निज शुद्धात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप है। इसलिये इस शुद्धोपयोगके विना किसी तरह भी मुक्ति नहीं हो सकती, यह सारांश जानो। ऐसा ही सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें भी हरएक जगह कहा गया है। जैसे—यह जीव पापसे नरक तिर्यंचगतिको जाता है, और धर्म (पुण्य) से देवलोकमें जाता है, पुण्य पाप दोनोंके मेलसे मनुष्यदेहको पाता है, और दोनोंके क्षयसे मोक्ष पाता है॥ ६३॥

आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, और निश्चयआलोचनारूप जो शुद्धोपयोग उसमें ठहरकर व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, और व्यवहारआलोचनारूप शुभोपयोगको छोड़े, ऐसा कहते हैं—[ **वंदनं** ] पंचपरमेष्टीकी वंदना, [ **निंदनं** ] अपने

पुरुषो न तेन कारणेनेति। तथाहि। शुद्धनिर्विकल्पपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीतरागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति, वीतरागचिदानन्दैकानुभूतिभावनाबलेन भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भण्यते, निजशुद्धात्मोपलम्भबलेन वर्तमानोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्षविषादादिपरिणामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथक्करणं निश्चयालोचनमिति। इत्थंभूते निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रये स्थित्वा योऽसौ व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तत्त्रयानुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगं च त्यजन् स ज्ञानी भण्यते न चान्य इति भावार्थः ॥ ६४ ॥

अथ—

**वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु।**
**एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ६५ ॥**

---

अशुभ कर्मकी निंदा, और [ **प्रतिक्रमणं** ] अपराधोंकी प्रायश्चित्तादि विधिसे निवृत्ति, ये सब [ **येन पुण्यस्य कारणं** ] जो पुण्यके कारण हैं, मोक्षके कारण नहीं हैं, [ **तेन** ] इसलिये पहली अवस्थामें पापके दूर करनेके लिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है, कराता है, और करते हुएको भला जानता है, तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्थामें [ **ज्ञानी** ] ज्ञानी जीव [ **एकमपि** ] इन तीनोंमेंसे एक भी [ **न करोति** ] न तो करता, [ **कारयति** ] न कराता है, और न [ **अनुमन्यते** ] करते हुएको भला जानता है। **भावार्थ**—केवल शुद्ध स्वरूपमें जिसका चित्त लगा हुआ है, ऐसा निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी भावनाके बलसे देखे सुने और अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप जो भूतकालके रागादि दोष उनका दूर करना, वह **निश्चयप्रतिक्रमण,** वीतराग चिदानन्द शुद्धात्माकी अनुभूतिकी भावनाके बलसे होनेवाले भोगोंकी वांछारूप रागादिकका त्याग वह **निश्चयप्रत्याख्यान,** और निज शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे वर्तमान उदयमें आये जो शुभ अशुभके कारण हर्ष विषादादि अशुद्ध परिणाम उनको निज शुद्धात्मद्रव्यसे जुदा करना वह **निश्चयआलोचन,** इस तरह निश्चयप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनामें ठहरकर जो कोई व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहारआलोचना, इन तीनोंके अनुकूल वन्दना निंदा आदि शुभोपयोग हैं, उनको छोड़ता है, वही ज्ञानी कहा जाता है, अन्य नहीं। सारांश यह है, कि ज्ञानी जीव पहले तो अशुभको त्यागकर शुभमें प्रवृत्त होता है, बाद शुभको भी छोड़के शुद्धमें लग जाता है। पहले किये हुए अशुभ कर्मोंकी निवृत्त वह **व्यवहारप्रतिक्रमण,** अशुभपरिणाम होनेवाले हैं, उनका रोकना वह **व्यवहारप्रत्याख्यान,** और वर्तमानकालमें शुभकी प्रवृत्ति अशुभकी निवृत्ति वह **व्यवहारआलोचन** है। व्यवहारमें तो अशुभका त्याग शुभका अंगीकार होता है, और निश्चयमें शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होता है ॥ ६४ ॥

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तम् ।
एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रम् ॥ ६५ ॥

**वंदणु णिंदणु पडिकमणु** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । **णाणिहु एहु ण जुत्तु** ज्ञानिनामिदं न युक्तम् । किं कृत्वा । **एक्कु जि मेल्लिवि** एकमेव मुक्त्वा । एकं कम् । **णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु** ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पञ्चेन्द्रियभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानन्दपरमसमरसीभावलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थो योऽसौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति तात्पर्यम् ॥ ६५ ॥

अथ—

**वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु ।**
**पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥ ६६ ॥**

वन्दतां निन्दतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य ।
परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मात् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ ६६ ॥

वंदउ इत्यादि । **वंदउ णिंदउ पडिकमउ** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणं करोतु । **भाउ असुद्धउ जासु** भावः परिणामः न शुद्धो यस्य, **पर** परं नियमेन **तसु** तस्य पुरुषस्य **संजमु अत्थि णवि** संयमोऽस्ति नैव । कस्मान्नास्ति । **जं** यस्मात् कारणात् **मणसुद्धि**

---

आगे इसी कथनको दृढ़ करते हैं—[ **वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं** ] वंदना, निंदा, और प्रतिक्रमण [ **इदं** ] ये तीनों [ **ज्ञानिनां** ] पूर्ण ज्ञानियोंको [ **युक्तं न** ] ठीक नहीं हैं, [ **एकमेव** ] एक [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानमय [ **शुद्धं पवित्रं भावं** ] पवित्र शुद्ध भावको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर अर्थात् इसके सिवाय ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नहीं है । **भावार्थ**—पाँच इन्द्रियोंके भोगोंकी वांछाको आदि लेकर संपूर्ण विभावोंसे रहित जो केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप परमात्मतत्त्व उसके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न जो परमानंद परमसमरसीभाव वही हुआ अमृत-रस उसके आस्वादसे पूर्ण जो ज्ञानमयीभाव उसे छोड़कर अन्य व्यवहारप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनाके अनुकूल वंदन निंदनादि शुभोपयोग विकल्प-जाल हैं, वे पूर्ण ज्ञानीको करने योग्य नहीं हैं । प्रथम अवस्थामें ही हैं, आगे नहीं हैं ॥ ६५ ॥

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं—[ **वंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु** ] निःशंक वंदना करो, निंदा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन [ **यस्य** ] जिसके [ **अशुद्धो भावः** ] जबतक अशुद्ध परिणाम हैं, [ **तस्य** ] उसके [ **परं** ] नियमसे [ **संयमः** ] संयम [ **नैव अस्ति** ]

ण तासु मनःशुद्धिर्न तस्येति । तद्यथा । नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षै-र्विषयकषायाधीनैः ख्यातिपूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपञ्चोत्पन्नै-रपध्यानैर्यस्य चित्तं रञ्जितं वासितं तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणा-दिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥ एवं मोक्षमोक्षफल-मोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि-व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तम् । अथानन्तरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादन-मुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रान्तरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा । प्रथमसूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनन्तरं पञ्चदश-सूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं केवलज्ञानादिगुण-स्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणास्तिष्ठन्तीति प्रतिपादयति—

**सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु ।**
**सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥ ६७ ॥**

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ ६७ ॥

---

नहीं हो सकता, [ **यस्मात्** ] क्योंकि [ **तस्य** ] उसके [ **मनःशुद्धिः न** ] मनकी शुद्धता नहीं है । जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके संयम कहाँसे हो सकता है ? **भावार्थ**—नित्यानंद एक-रूप निज शुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी ( उलटे ) जो विषय कषाय उनके आधीन आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रँगा हुआ है, उसके द्रव्यरूप व्यवहारवंदना निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं ? जो वह बाह्य-क्रिया करता है, तो भी उसके भावसंयम नहीं है । सिद्धान्तमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं, वो आर्त रौद्र स्वरूप खोटे ध्यान अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सैंकड़ों मनोरथोंके विकल्पोंकी मालाके ( पंक्तिके ) प्रपंच कर उत्पन्न हुए हैं । जबतक ये चित्तमें हैं, तबतक बाह्य-क्रिया क्या कर सकती है ? कुछ नहीं कर सकती ॥ ६६ ॥

इस तरह मोक्ष मोक्ष-फल मोक्षमार्गादिका कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे चौदह दोहे कहे । आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे इकतालीस दोहोंमें व्याख्यान करते हैं; और आठ दोहोंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे कहते हैं, तथा तेरह दोहोंमें केवल-ज्ञानादि गुणस्वरूपकर सब जीव समान हैं, ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विकल्पकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण रहते हैं,

सुद्धहं इत्यादि । **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनां **संजमु** इन्द्रियसुखाभिलाषनिवृत्तिबलेन षड्जीवनिकायहिंसानिवृत्तिबलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोपयोगिनामेव । अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव संभवतः । अथवा सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयमः सोऽपि लभ्यते तेषामेव । **सील्ह** स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवृत्तिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं, व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिरक्षणं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । **तउ** द्वादशविधतपश्चरणबलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रतपनं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव । **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनां **दंसणु** छद्मस्थावस्थायां स्वशुद्धात्मनि रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्वं केवलदर्शनं वा तेषामेव । **णाणु** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवलज्ञानं वा **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनामेव। **कम्मक्खउ** परमात्मस्वरूपोपलब्धिलक्षणो द्रव्यभावकर्मक्षयः **हवइ** तेषामेव भवति । **सुद्धउ** शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुषो वा **तेण** **पहाणु** येन कारणेन पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेयः इति

---

ऐसा वर्णन करते हैं—[ **शुद्धानां** ] शुद्धोपयोगियोंके ही [ **संयमः शीलं तपः** ] पाँच इन्द्री छट्ठे मनको रोकनेरूप संयम शील और तप [ **भवति** ] होते हैं, [ **शुद्धानां** ] शुद्धोंके ही [ **दर्शनं ज्ञानं** ] सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदनज्ञान और [ **शुद्धानां** ] शुद्धोपयोगियोंके ही [ **कर्मक्षयः** ] कर्मोंका नाश होता हैं, [ **तेन** ] इसलिये [ **शुद्धः** ] शुद्धोपयोग ही [ **प्रधानः** ] जगतमें मुख्य है । **भावार्थ**—शुद्धोपयोगियोंके पाँच इन्द्री छट्ठे मनका रोकना, विषयाभिलाषकी निवृत्ति, और छह कायके जीवोंकी हिंसासे निवृत्ति, उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना, उसका नाम **संयम** है, वह होता है, अथवा उपेक्षासंयम अर्थात् तीन गुप्तिमें आरूढ़ और उपहृतसंयम अर्थात् पाँच समितिका पालना, अथवा सरागसंयम अर्थात् शुभोपयोगरूप संयम और वीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परमसंयम वह उन शुद्ध चेतनोपयोगियोंके ही होता है । **शील** अर्थात् अपनेसे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्ध भावकी रक्षा करना वह भी निश्चयशील है, और देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यंचनी, तथा काठ पत्थर चित्रामादिकी अचेतन स्त्री-ऐसे चार प्रकारकी स्त्रियोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना, वह व्यवहारशील है, ये दोनों शील शुद्ध चित्तवालोंके ही होते हैं । **तप** अर्थात् बारह तरहका तप उसके बलसे भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप सब वस्तुओंमें इच्छा छोड़कर शुद्धात्मामें मग्न रहना, काम क्रोधादि शत्रुओंके वशमें न होना, प्रतापरूप विजयरूप जितेंद्री रहना । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होता है । **दर्शन** अर्थात् साधक अवस्थामें तो शुद्धात्मामें रुचिरूप सम्यग्दर्शन और

तात्पर्यम् । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलम्—" सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं । सुद्धस्स य णिव्वाणं सो चिय सुद्धो णमो तस्स ॥ " ॥ ६७ ॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति—

**भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।**
**चउ-गइ-दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥ ६८ ॥**

भावो विशुद्धः आत्मीयः धर्मं भणित्वा लाहि ।
चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धराति जीवं पतन्तमिमम् ॥ ६८ ॥

भाउ इत्यादि । **भाउ** भावः परिणामः । कथंभूतः । **विसुद्धउ** विशेषेण शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितः **अप्पणउ** आत्मीयः **धम्मु भणेविणु लेहु** धर्मं भणित्वा मत्वा प्रगृह्णीथाः । यो धर्मः किं करोति । **चउगइदुक्खहं जो धरइ** चतुर्गतिदुःखेभ्यः सकाशात् उद्धृत्य यः कर्ता धरति । कं धरति । **जीउ पडंतउ एहु** जीवमिमं प्रत्यक्षीभूतं संसारे पतन्तमिति । तद्यथा । धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते । संसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्षपदे धरतीति धर्म इति

---

केवली अवस्थामें उस सम्यग्दर्शनका फलरूप संशय, विमोह, विभ्रम रहित निज परिणामरूप क्षायिकसम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी शुद्धोंके ही होता है । **ज्ञान** अर्थात् वीतराग स्वसंवेदन-ज्ञान और उसका फल केवलज्ञान वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है, और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मका नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है । इसलिये शुद्धोपयोग-परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगत्में प्रधान है । क्योंकि संयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इसलिये शुद्धोपयोगके समान अन्य नहीं है, ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही अन्य ग्रन्थोंमें हरएक जगह " सुद्धस्स " इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है, कि शुद्धोपयोगीके ही मुनि-पद कहा है, और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है, और वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥ ६७ ॥

आगे यह कहते हैं, कि निश्चयसे अपना शुद्ध भाव ही धर्म है—[ **विशुद्धः भावः** ] मिथ्यात्व रागादिसे रहित जो शुद्ध परिणाम है, वही [ **आत्मीयः** ] अपना है, और अशुद्ध परिणाम अपने नहीं हैं, सो शुद्ध भावको ही [ **धर्मं भणित्वा** ] धर्म समझकर [ **गृह्णीथाः** ] अंगीकार करो । [ **यः** ] जो आत्म-धर्म [ **चतुर्गतिदुःखेभ्यः** ] चारों गतियोंके दुःखोंसे [ **पतंतं** ] संसारमें पड़े हुए [ **इमं जीवं** ] इस जीवको निकालकर [ **धरति** ] आनंद-स्थानमें रखता है । **भावार्थ**—धर्म शब्दका शब्दार्थ ऐसा है, कि संसारमें पड़ते हुए प्राणियोंको

धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः । तस्य तु मध्ये वीतराग-सर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते । तथा अहिंसालक्षणो धर्मः, सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति । सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव। वस्तुस्वभावो धर्मः सोऽपि तथैव । तथा चोक्तम्–"धम्मो वत्थुसहावो" इत्यादि । एवंगुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतन्तं धरतीति धर्मः । अत्राह शिष्यः । पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे गुणा लभ्यन्ते । अत्र तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः, तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते । को विशेषः । परिहारमाह । तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्या एतावान् विशेषः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥ ६८ ॥

---

निकालकर मोक्ष-पदमें रखे, वह धर्म है । वह मोक्ष-पद देवेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रोंकर वंदने योग्य है । जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है, उसीमें जिनभाषित सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है, वह भी जीवके शुद्ध भावोंके विना नहीं होता, यति श्रावकका धर्म भी शुद्ध भावोंके विना नहीं होता, उत्तम क्षमादि दक्षलक्षणधर्म भी शुद्ध भाव विना नहीं हो सकता, और रत्नत्रयधर्म भी शुद्ध भावोंके विना नहीं हो सकता । ऐसा ही कथन जगह जगह ग्रंथोंमें है, "सद्दृष्टि" इत्यादि श्लोकसे—उसका अर्थ यह है, कि धर्मके ईश्वर भगवान्‌ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंको धर्म कहा है । जिस धर्मके ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं, वह राग, द्वेष, मोह रहित परिणाम-धर्म है, वह जीवका स्वभाव ही है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगह भी "धम्मो" इत्यादि गाथासे कहा है, कि जो आत्म-वस्तुका स्वभाव है, वह धर्म है, उत्तम क्षमादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है, रत्नत्रय धर्म है, और जीवोंकी रक्षा यह धर्म है । यह जिनभाषित धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पड़ते हुए जीवोंको उद्धारता है । यहाँ शिष्यने प्रश्न किया, कि जो पहले दोहेमें तो तुमने शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण कहे, और यहाँ आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है, उसमें धर्म पाये जाते हैं, तो पहले दोहेमें और इसमें क्या भेद है ? उसका समाधान—पहले दोहेमें तो शुद्धोपयोग मुख्य कहा था, और इस दोहेमें धर्म मुख्य कहा है । शुद्धोपयोगका ही नाम धर्म है, तथा धर्मका ही नाम शुद्धोपयोग है । शब्दका भेद है, अर्थका भेद नहीं है, दोनोंका तात्पर्य एक है । इसलिये सब तरह शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है, वही धर्म है ॥ ६८ ॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति—

**सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।**
**जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥ ६९ ॥**

सिद्धेः संबन्धी पन्थाः भावो विशुद्ध एकः।
यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥ ६९ ॥

सिद्धिहिं इत्यादि। **सिद्धिहिं केरा** सिद्धेर्मुक्तेः संबन्धी **पंथडा** पन्था मार्गः। कोऽसौ। **भाउ** भावः परिणामः। कथंभूतः। **विसुद्धउ** विशुद्धः **एक्कु** एक एवाद्वितीयः। **जो तसु भावहं मुणि चलइ** यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति। **सो किम होइ विमुक्कु** स मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति। तद्यथा। योऽसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः। यस्तस्मात् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किंतु नैव। अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गस्तेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरन्तरं कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ ६९ ॥

अथ क्वापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति—

**जहिँ भावइ तहिँ जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।**
**केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥ ७० ॥**

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव।
कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥ ७० ॥

जहिं भावइ इत्यादि। **जहिं भावइ तहिं** यत्र देशे प्रतिभाति तत्र **जाहि**

---

आगे शुद्ध भाव ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **सिद्धेः संबंधी** ] मुक्तिका [ **पंथाः** ] मार्ग [ **एकः विशुद्धः भावः** ] एक शुद्ध भाव ही है। [ **यः मुनिः** ] जो मुनि [ **तस्मात् भावात्** ] उस शुद्ध भावसे [ **चलति** ] चलायमान हो जावे, तो [**सः**] वह [**कथं**] कैसे [**विमुक्तः**] मुक्त [**भवति**] हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं हो सकता। **भावार्थ**—जो समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित जीवका शुद्ध भाव है, वही निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षका मार्ग है। जो मुनि शुद्धात्म परिणामसे च्युत हो जावे, वह किस तरह मोक्षको पासकता है ? नहीं पा सकता। मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छुकको वही भाव हमेशा करना चाहिये ॥ ६९ ॥

आगे यह प्रकट करते हैं, कि किसी देशमें जाओ, चाहे जो तप करो, तो भी चित्तकी शुद्धिके बिना मोक्ष नहीं है—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **यत्र** ] जहाँ [ **भाति** ] तेरी इच्छा हो

गच्छ जिय हे जीव। जं भावइ करि तं जि यदनुष्ठानं प्रतिभाति कुरु तदेव। केम्वइ मोक्खु ण अत्थि कथमपि केनापि प्रकारेण मोक्षो नास्ति पर परं नियमेन। कस्मात्। चित्तहं सुद्धि ण चित्तस्य शुद्धिर्न जं जि यस्मादेव कारणात् इति। तथाहि। ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपदुर्ध्यानैः शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतैर्यावत्कालं चित्तं रञ्जितं मूर्च्छितं तन्मयं तिष्ठति तावत्कालं हे जीव क्वापि देशान्तरे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि मोक्षो नास्तीति। अत्र कामक्रोधादिभिरपध्यानैर्जीवो भोगानुभवं विनापि शुद्धात्मभावनाच्युतः सन् भावेन कर्माणि बध्नाति तेन कारणेन निरन्तरं चित्तशुद्धिः कर्तव्येति भावार्थः ॥ तथा चोक्तम्—"कंखिदकलुसिदभूदो हु कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो। णवि भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ॥" ॥ ७० ॥

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति—

**सुह-परिणामेँ धम्मु पर असुहेँ होइ अहम्मु।**
**दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥ ७१ ॥**

शुभपरिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः।
द्वाभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥ ७१ ॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **सुहपरिणामें धम्मु पर** शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या। **असुहें होइ अहम्मु** अशुभ-

---

[ तत्र ] उसी देशमें [ **याहि** ] जा, और [ **यत्** ] जो [ **भाति** ] अच्छा लगे, [ **तदेव** ] वही [ **कुरु** ] कर, [ **परं** ] लेकिन [ **यदेव** ] जबतक [ **चित्तस्य शुद्धिः न** ] मनकी शुद्धि नहीं है, तबतक [ **कथमपि** ] किसी तरह [ **मोक्षो नास्ति** ] मोक्ष नहीं हो सकता। **भावार्थ**—बड़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तुका लाभ, और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप खोटे ध्यान, ( जो कि शुद्धात्मज्ञानके शत्रु हैं ) इनसे जबतक यह चित्त रँगा हुआ है, अर्थात् विषय-कषायोंसे तन्मयी है, तबतक हे जीव; किसी देशमें जा, तीर्थादिकोंमें भ्रमण कर, अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है। सारांश यह है, कि काम-क्रोधादि खोटे ध्यानसे यह जीव भोगोंके सेवनके विना भी शुद्धात्म-भावनासे च्युत हुआ, अशुद्ध भावोंसे कर्मोको बाँधता है। इसलिये हमेशा चित्तकी शुद्धता रखनी चाहिये। ऐसा ही कथन दूसरी जगह भी "कंखिद" इत्यादि गाथासे कहा है, इस लोक और परलोकके भोगोंका अभिलाषी और कषायोंसे कालिमारूप हुआ अवर्तमान विषयोंका वांछक और वर्तमान विषयोंमें अत्यंत आसक्त हुआ अति मोहित होनेसे भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बाँधता है ॥ ७० ॥

आगे शुभ अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगोंको कहते हैं—[ **शुभपरिणामेन** ] दान पूजादि शुभ परिणामोंसे [ **धर्मः** ] पुण्यरूप व्यवहारधर्म [ **परं** ] मुख्यतासे [ **भवति** ]

परिणामेन भवत्यधर्मः पापम् । **दोहिं वि एहिं विवज्जियउ** द्वाभ्यां एताभ्यां शुभाशुभपरिणामाभ्यां विवर्जितः । कोऽसौ । **सुद्धु** शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितपरिणामस्तत्परिणतपुरुषो वा । किं करोति । **ण बंधइ** न बध्नाति । किम् । **कम्मु** ज्ञानावरणादिकर्मेति । तद्यथा । कृष्णोपाधिपीतोपाधिस्फटिकवदयमात्मा क्रमेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण परिणामत्रयं परिणमति । तेन तु मिथ्यात्वविषयकषायाद्यवलम्बनेन पापं बध्नाति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुगुणस्मरणदानपूजादिना संसारस्थितिच्छेदपूर्वकं तीर्थकरनामकर्मादिविशिष्टगुणपुण्यमनीहितवृत्त्या बध्नाति । शुद्धात्मावलम्बनेन शुद्धोपयोगेन तु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपं मोक्षं च लभते इति । अत्रोपयोगत्रयमध्ये मुख्यवृत्त्या शुद्धोपयोग एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७१ ॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमान्तरस्थलं गतम् ॥

अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

**दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।**
**जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥ ७२ ॥**

---

होता है, [ **अशुभेन** ] विषय कषायादि अशुभ परिणामोंसे [ **अधर्मः** ] पाप होता है, [ **अपि** ] और [ **एताभ्यां** ] इन [ **द्वाभ्यां** ] दोनोंसे [ **विवर्जितः** ] रहित [ **शुद्धः** ] मिथ्यात्व रागादि रहित शुद्ध परिणाम अथवा परिणामधारी पुरुष [ **कर्म** ] ज्ञानावरणादि कर्मको [ **न** ] नहीं [ **बध्नाति** ] बाँधता । **भावार्थ**—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्ज्वल है, उसके जो काला डंक लगावें, तो काला माळूम होता है, और पीला डंक लगावें, तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध स्फटिक ही है, उसी तरह यह आत्मा क्रमसे अशुभ शुभ शुद्ध इन परिणामोंसे परिणत होता है । उनमेंसे मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभके अवलम्बन ( सहायता ) से तो पापको ही बाँधता है, उसके फलसे नरक निगोदादिके दुःखोंको भोगता है, और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियोंके गुणस्मरण और दानपूजादि शुभ क्रियाओंसे संसारकी स्थितिका छेदनेवाला जो तीर्थंकरनामकर्म उसको आदि ले विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियोंको अवांछीक वृत्तिसे बाँधता है । तथा केवल शुद्धात्माके अवलम्बनरूप शुद्धोपयोगसे उसी भवमें केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्षको पाता है । इन तीन प्रकारके उपयोगोंमेंसे सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है । और शुभ अशुभ इन दोनोंमेंसे अशुभ तो सब प्रकारसे निषिद्ध है, नरक निगोदका कारण है, किसी तरह उपादेय नहीं है—हेय है, तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्थामें उपादेय है, और परम अवस्थामें उपादेय नहीं है, हेय है ॥ ७१ ॥

दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसा ।
जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥ ७२ ॥

दाणिं इत्यादि । **दाणिं लब्भइ भोउ पर** दानेन लभ्यते पञ्चेन्द्रियभोगः परं नियमेन । **इंदत्तणु वि तवेण** इन्द्रत्वमपि तपसा लभ्यते । **जम्मणमरणविवज्जियउ** जन्ममरणविवर्जितं **पउ** पदं स्थानं **लब्भइ** लभ्यते प्राप्यते । केन । **णाणेण** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेनेति । तथाहि । आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाभ्युदयरूपः पञ्चेन्द्रियभोग एव । सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिपूर्वकेणैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥

---

इस प्रकार इकतालीस दोहोंके महास्थलमें पाँच दोहोंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं— [ **दानेन** ] दानसे [ **परं** ] नियम करके [ **भोगः** ] पाँच इंद्रियोंके भोग [ **लभ्यते** ] प्राप्त होते हैं, [ **अपि** ] और [ **तपसा** ] तपसे [ **इंद्रत्वं** ] इंद्र-पद मिलता है, तथा [ **ज्ञानेन** ] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे [ **जन्ममरणविवर्जितं** ] जन्म जरा मरणसे रहित [ **पदं** ] जो मोक्ष-पद वह [ **लभ्यते** ] मिलता है । **भावार्थ**—आहार अभय औषध और शास्त्र इन चार तरहके दानोंको यदि सम्यक्त्व रहित करे, तो भोगभूमिके सुख पाता है, तथा सम्यक्त्व सहित दान करे, तो परम्पराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, तो भी निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानकर मोक्ष ही है । यहाँ प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे भगवन्; जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है, तो सांख्यादिक भी ऐसा ही कहते हैं, कि ज्ञानसे ही मोक्ष है, उनको क्यों दूषण देते हो ? तब श्रीगुरुने कहा—इस जिनशासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है, सो वीतराग कहनेसे वीतरागचारित्र भी आ जाता है, और सम्यक् पदके कहनेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक ओषधियाँ आ जाती हैं, परंतु वस्तु एक ही कहलाती है, उसी तरह वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके

अथ तमेवार्थं विपक्षदूषणद्वारेण दृढयति—

**देउ णिरंजणु इउँ भणइ णाणिं मुक्खु ण भंति ।**
**णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥ ७३ ॥**

देवः निरञ्जन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः ।
ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमन्ति ॥ ७३ ॥

देउ इत्यादि । **देउ** देवः । किंविशिष्टः । **णिरंजणु** निरञ्जनः अनन्तज्ञानादिगुणसहितोऽष्टादशदोषरहितश्च **इउं भणइ** एवं भणति । एवं किम् । **णाणिं मुक्खु** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । **ण भंति** न भ्रान्तिः संदेहो नास्ति । **णाणविहीणा जीवडा** पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवाः **चिरु संसारु भमंति** चिरं बहुतरं कालं संसारं परिभ्रमन्ति इति । अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्त्वादित्रयमस्ति तथापि सम्यग्ज्ञानस्यैव मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनादिति भावार्थः ॥ ७३ ॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निश्चिनोति—

**णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।**
**बहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥**

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः ।
बहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्कणो न भवति ॥ ७४ ॥

णाण इत्यादि । **णाणविहीणहं** ख्यातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम

---

कहनेसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनों आजाते हैं । सांख्यादिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है, और सम्यक् विशेषण नहीं है, केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं, सो वह मिथ्याज्ञान है, इसलिये दूषण देते हैं, यह जानना ॥ ७२ ॥

आगे इसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ़ करते हैं—[ **निरंजनः** ] अनन्त ज्ञानादि गुण सहित, और अठारह दोष रहित, जो [ **देवः** ] सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, वे [ **एवं** ] ऐसा [ **भणति** ] कहते हैं, कि [ **ज्ञानेन** ] वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे ही [ **मोक्षः** ] मोक्ष है, [ **न भ्रांतिः** ] इसमें संदेह नहीं है । और [ **ज्ञानविहीनाः** ] स्वसंवेदनज्ञानकर रहित जो [ **जीवाः** ] जीव हैं, वे [ **चिरं** ] बहुत कालतक [ **संसारं** ] संसारमें [ **भ्रमंति** ] भटकते हैं । **भावार्थ**—यहाँ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं, तो भी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है । क्योंकि श्रीजिनवचनमें ऐसा कथन किया है, कि जिसका कथन किया जावे, वह मुख्य होता है, अन्य गौण होता है, ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

आगे फिर भी इसी कथनको दृष्टांत और दार्ष्टांतसे निश्चित करते हैं—[ **ज्ञानविहीनस्य** ]

कोऽपि न जानातीति मत्वा वीतरागपरमानन्दैकसुखरसानुभवरूपं चित्तशुद्धिमकुर्वाणस्य बहिरङ्गबकवेषेण लोकरञ्जनं मायास्थानं तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलमालात्यागेन निजशुद्धात्मसंवित्तिनिश्चयेन संज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन विना **मोक्खपउ** मोक्षपदं स्वरूपं **जीव** हे जीव **म कासु वि जोइ** मा कस्याप्यद्राक्षीः। दृष्टान्तमाह। **बहुएं सलिलविरोलियइं** बहुनापि सलिलेन मथितेन **करु** करो हस्तः **चोप्पडउ ण होइ** चिक्कणः स्निग्धो न भवतीति। अत्र यथा बहुतरमपि सलिले मथितेऽपि हस्तः स्निग्धो न भवति, तथा वीतरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन ज्ञानेन विना बहुनापि तपसा मोक्षो न भवतीति तात्पर्यम् ॥ ७४ ॥

अथ निश्चयनयेन यन्निजात्मबोधज्ञानबाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

**जं णिय-बोहहँ बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।**
**दुक्खहँ कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥ ७५ ॥**

यत् निजबोधाद्बाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन।
दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ॥ ७५ ॥

जं इत्यादि। **जं** यत् **णियबोहहँ बाहिरउ** दानपूजातपश्चरणादिकं कृत्वापि दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षावासितचित्तेन रूपलावण्यसौभाग्यबलदेववासुदेवकामदेवेन्द्रादि-

---

जो सम्यग्ज्ञानकर रहित मलिन चित्त है, अर्थात अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा लाभादि दुष्ट भावोंसे जिसका चित्त परिणत हुआ है, और मनमें ऐसा जानता है, कि हमारी दुष्टताको कोई नहीं जान सकता, ऐसा समझकर वीतराग परमानंद सुखरसके अनुभवरूप चित्तकी शुद्धिको नहीं करता, तथा बाहरसे बगुलाकासा भेष मायाचाररूप लोकरंजनके लिये धारण किया है, यही सत्य है, इसी भेषसे हमारा कल्याण होगा, इत्यादि अनेक विकल्पोंकी कल्लोलोंसे अपवित्र है, ऐसे [ **कस्यापि** ] किसी अज्ञानीके [ **मोक्षपदं** ] मोक्ष-पदवी [ **जीव** ] हे जीव; [ **मा द्राक्षीः** ] मत देख अर्थात् विना सम्यग्ज्ञानके मोक्ष नहीं होता। उसका दृष्टांत कहते हैं। [ **बहुना** ] बहुत [ **सलिलविलोडितेन** ] पानीके मथनेसे भी [ **करः** ] हाथ [ **चिक्कणो** ] चीकना [ **न भवति** ] नहीं होता। क्योंकि जलमें चिकनापन है ही नहीं। जैसे जलमें चिकनाई नहीं है, वैसे बाहिरी भेषमें सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञानके विना महान् तप करो, तो भी मोक्ष नहीं होता। क्योंकि सम्यग्ज्ञानका लक्षण वीतराग शुद्धात्माकी अनुभूति है, वही मोक्षका मूल है। वह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न नहीं है, तीनों एक हैं ॥ ७४ ॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञानसे बहिर्मुख बाह्य पदार्थोंका ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं—[ **यत्** ] जो [ **निजबोधात्** ] आत्म-

पदप्राप्तिरूपभाविभोगाशाकरणं यन्निदानबन्धस्तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पज्वालावलीरहितत्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्बाह्यम्। **णाणु वि कज्जु ण तेण** शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नास्ति। कस्मादिति चेत्। **दुक्खहं कारणु** दुःखस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **तउ** वीतरागस्वसंवेदनरहितं तपः **जीवहं** जीवस्य **होइ** भवति **खणेण** क्षणमात्रेण कालेनेति। अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितं तपश्चरणं च मुख्यवृत्त्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ७५ ॥

अथ येन मिथ्यात्वरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति—

**तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ।**
**दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ॥ ७६ ॥**

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः।
दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥ ७६ ॥

---

ज्ञानसे [ **बाह्यं** ] बाहर ( रहित ) [ **ज्ञानमपि** ] शास्त्र वगैरका ज्ञान भी है, [ **तेन** ] उस ज्ञानसे [ **कार्यं न** ] कुछ काम नहीं [ **येन** ] क्योंकि [ **तपः** ] वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप [ **क्षणेन** ] शीघ्र ही [ **जीवस्य** ] जीवको [ **दुःखस्य कारणं** ] दुःखका कारण [ **भवति** ] होता है। **भावार्थ**—निदानबंध आदि तीन शल्योंको आदि ले समस्त विषयाभिलापरूप मनोरथोंके विकल्पजालरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थोंका शास्त्रद्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं। कार्य तो एक निज आत्माके जाननेसे है। यहाँ शिष्यने प्रश्न किया, कि निदानबंध रहित आत्मज्ञान तुमने बतलाया, उसमें निदानबंध किसे कहते हैं ? उसका समाधान—जो देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियोंके भोगोंसे जिसका चित्त रँग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य सौभाग्यका अभिलाषी वासुदेव चक्रवर्ती-पदके भोगोंकी वांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगोंकी अभिलाषा करे, वह निदानबंध है, सो यह बड़ी शल्य ( काँटा ) है। इस शल्यसे रहित जो आत्मज्ञान उसके विना शब्द-शास्त्रादिका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी दुःखका कारण है। ज्ञान रहित तपसे जो संसारकी सम्पदायें मिलती हैं, वे क्षणभंगुर हैं। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि आत्मज्ञानसे रहित जो शास्त्रका ज्ञान और तपश्चरणादि हैं, उनसे मुख्यताकर पुण्यका बंध होता है। उस पुण्यके प्रभावसे जगतकी विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है। इसलिये अज्ञानियोंका तप और श्रुत यद्यपि पुण्यका कारण हैं, तो भी मोक्षका कारण नहीं है ॥ ७५ ॥

आगे जिससे मिथ्यात्व रागादिककी वृद्धि हो, वह आत्मज्ञान नहीं है, ऐसा निरूपण

तं इत्यादि । तं तत् णियणाणु जि होइ ण वि निजज्ञानमेव न भवति वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वपरिज्ञानमेव न भवति । येन ज्ञानेन किं भवति । जेण पवड्ढइ येन प्रवर्धते । कोऽसौ । राउ शुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दप्रतिवन्धकपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरागः । अत्र दृष्टान्तमाह । दिणयरकिरणहं पुरउ जिय दिनकरकिरणानां पुरतो हे जीव किं विलसइ किं विलसति किं शोभते अपि तु नैव । कोऽसौ । तमराउ तमोरागस्तमोव्याप्तिरिति । अत्रेदं तात्पर्यम् । यस्मिन् शास्त्राभ्यासज्ञाने जातेऽप्यनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखप्रतिपक्षभूता आकुलत्वोत्पादका रागादयो वृद्धिं गच्छन्ति तन्निश्चयेन ज्ञानं न भवति । कस्मात् । विशिष्टमोक्षफलाभावादिति ॥ ७६ ॥

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति—

**अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।**
**तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ॥ ७७ ॥**

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिनां अन्यन्न सुन्दरं वस्तु ।
तेन न विषयेषु मनो रमते जानतां परमार्थम् ॥ ७७ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा मिल्लिवि** शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मपदार्थं मुक्त्वा **णाणियहं** ज्ञानिनां मिथ्यात्वरागादिपरिहारेण निजशुद्धात्मद्रव्यपरिज्ञानपरिणतानां

---

करते हैं—[ जीव ] हे जीव; [ तत् ] वह [ निजज्ञानं एव ] वीतराग नित्यानंद अखंडस्वभाव परमात्मतत्त्वका परिज्ञान ही [ नापि ] नहीं [ भवति ] है, [ येन ] जिससे [ रागः ] परद्रव्यमें प्रीति [ प्रवर्धते ] बढ़े, [ दिनकरकिरणानां पुरतः ] सूर्यकी किरणोंके आगे [ तमोरागः ] अंधकारका फैलाव [ किं विलसति ] कैसे शोभायमान हो सकता है ? नहीं हो सकता । **भावार्थ**—शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परम आनंद उसके शत्रु पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा जिसमें हो, वह निज ( आत्म ) ज्ञान नहीं है, अज्ञान ही है । जिस जगह वीतरागभाव है, वही सम्यग्ज्ञान है । इसी वातको दृष्टांत देकर दृढ़ करते हैं, सो सुनो । हे जीव; जैसे सूर्यके प्रकाशके आगे अंधेरा नहीं शोभा देता, वैसे ही आत्मज्ञानमें विषयोंकी अभिलाषा ( इच्छा ) नहीं शोभती । यह निश्चयसे जानना । शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी जो निराकुलता न हो, और आकुलताके उपजानेवाले आत्मीक-सुखके वैरी रागदिक जो वृद्धिको प्राप्त हों, तो वह ज्ञान किस कामका । ज्ञान तो वह है, जिससे आकुलता मिट जावे । इससे यह निश्चय हुआ, कि वाह्य पदार्थोंका ज्ञान मोक्ष-फलके अभावसे कार्यकारी नहीं है ॥ ७६ ॥

आगे ज्ञानी जीवोंके निज शुद्धात्मभावके विना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—[ आत्मानं ] आत्माको [ मुक्त्वा ] छोड़कर [ ज्ञानिनां ] ज्ञानि-

**अण्णु ण सुंदरु वत्थु** अन्यन्न सुन्दरं समीचीनं वस्तु प्रतिभाति येन कारणेन **तेण ण विसयहं मणु रमइ** तेन कारणेन शुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेषु पञ्चेन्द्रियविषयरूपकामभोगेषु मनो न रमते । किं कुर्वताम् । **जाणंतहं** जानतां **परमत्थु** वीतरागसहजानन्दैकपारमार्थिकसुखाविनाभूतं परमात्मानमेवेति तात्पर्यम् ॥ ७७ ॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

**अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।**
**मरगउ जें परियाणियउ तहुं कच्चें कउ गण्णु ॥ ७८ ॥**

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।
मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन कुतो गणना ॥ ७८ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा मिल्लिवि** आत्मानं मुक्त्वा । कथंभूतम् । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणमयं **चित्ति** मनसि **ण लग्गइ** न लगति न रोचते न प्रतिभाति । किम् । **अण्णु** निजपरमात्मस्वरूपादन्यत् । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । **मरगउ जें परियाणियउ** मरकतरत्नविशेषो येन परिज्ञातः । **तहुं** तस्य रत्नपरीक्षापरिज्ञानसहितस्य पुरुषस्य **कच्चें कउ गण्णु** काचेन किं गहनं किमपेक्षा तस्येत्याभिप्रायः ॥ ७८ ॥

---

योंको [ **अन्यद् वस्तु** ] अन्य वस्तु [ **सुंदरं न** ] अच्छी नहीं लगती, [ **तेन** ] इसलिये [ **परमार्थं जानतां** ] परमात्म-पदार्थको जाननेवालोंका [ **मनः** ] मन [ **विषयाणां** ] विषयोंमें [ **न रमते** ] नहीं लगता। **भावार्थ**—मिथ्यात्व रागादिकके छोड़नेसे निज शुद्धात्म द्रव्यके यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत होगया है, ऐसे ज्ञानियोंको शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्माको छोड़के दूसरी कोई भी वस्तु सुंदर नहीं भासती । इसीलिये उनका मन कभी विषय-वासनामें नहीं रमता । ये विषय कैसे हैं। जोकि शुद्धात्माकी प्राप्तिके शत्रु हैं। ऐसे ये भव-भ्रमणके कारण हैं, काम-भोगरूप पाँच इंद्रियोंके विषय उनमें मूढ़ जीवोंका ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टीका मन नहीं रमता। कैसे हैं सम्यग्दृष्टी, जिन्होंने वीतराग सहजानंद अखंड सुखमें तन्मय परमात्मतत्त्वको जान लिया है । इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय-वासनाके अनुरागी ह, वे अज्ञानी हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे विषय-विकारसे सदा विरक्त ही हैं ॥ ७७ ॥

आगे इसी कथनको दृष्टांतसे दृढ़ करते हैं—[ **ज्ञानमयं आत्मानं** ] केवलज्ञानादि अनंतगुणमयी आत्माको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **अन्यत्** ] दूसरी वस्तु [ **चित्ते** ] ज्ञानियोंके मनमें [ **न लगति** ] नहीं रुचती । उसका दृष्टांत यह है, कि [ **येन** ] जिसने [ **मरकतः** ] मरकतमणि ( रत्न ) [ **परिज्ञातः** ] जान लिया, [ **तस्य** ] उसको [ **काचेन** ] काँचसे [ **किं गहनं** ] क्या प्रयोजन है ? **भावार्थ**—जिसने रत्न पा लिया, उसको काँचके टुकड़ोंकी क्या

अथ कर्मफलं भुञ्जानः सन् योऽसौ रागद्वेषं करोति स कर्म बध्नातीति कथयति—

**भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइँ जो जि करेइ ।**
**भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्मु जणेइ ॥ ७९ ॥**

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।
भावं असुन्दरं सुन्दरमपि स परं कर्म जनयति ॥ ७९. ॥

**भुंजंतु वि** इत्यादि । **भुंजंतु वि** भुञ्जानोऽपि । किम् । **णियकम्मफलु** वीतरागपरमाह्लादरूपशुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं **मोहइं** निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहोदयेन **जो जि करेइ** य एव पुरुषः करोति । कम् । **भाउ** भावं परिणामम् । किंविशिष्टम् । **असुंदरु सुंदरु वि** अशुभं शुभमपि **सो पर** स एव भावः **कम्मु जणेइ** शुभाशुभं कर्म जनयति । अयमत्र भावार्थः । उदयागते कर्मणि योऽसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ करोति स एव कर्म बध्नाति ॥ ७९ ॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योऽसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न बध्नातीति कथयति—

**भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिं राउ ण जाइ ।**
**सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥ ८० ॥**

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।
स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥ ८० ॥

**भुंजंतु वि** इत्यादि । **भुंजंतु वि** भुञ्जानोऽपि । किम् । **णियकम्मफलु** निजकर्मफलं

---

जरूरत है ? उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया, उसके दूसरे पदार्थोंकी वांछा नहीं रहती ॥ ७८ ॥

आगे कर्म-फलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है, वह कर्मोंको बाँधता है—[ **य-एव** ] जो जीव [ **निजकर्मफलं** ] अपने कर्मोंके फलको [ **भुंजानोऽपि** ] भोगता हुआ भी [ **मोहेन** ] मोहसे [ **असुंदरं सुंदरं अपि** ] भले और बुरे [ **भावं** ] परिणामोंको [**करोति**] करता है, [ **सः** ] वह [ **परं** ] केवल [ **कर्म जनयति** ] कर्मको उपजाता ( बाँधता ) है । **भावार्थ**—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो अशुद्ध रागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है, वह नये कर्मोंका बंध करता है । सारांश यह है, कि जो निज स्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें राग द्वेष करता है, वही कर्मोंको बाँधता है ॥ ७९ ॥

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता, वह कर्मोंको भी नहीं बाँधता, ऐसा

निजशुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितं पूर्वं यत् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं **जो** यो जीवः **तहिं** तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे **राउ ण जाइ** रागं न गच्छति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृततृप्तः सन् रागद्वेषौ न करोति **सो** स जीवः **णवि बंधइ** नैव बध्नाति । किं न बध्नाति । **कम्मु** ज्ञानावरणादि कर्म **पुणु** पुनरपि । येन कर्मबन्धाभावपरिणामेन किं भवति । **संचिउ जेण विलाइ** पूर्वसंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं गच्छतीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । कर्मोदयफलं भुञ्जानोऽपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति **सांख्यादयोऽपि** वदन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्रनिरपेक्षा वदन्ति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्यम् ॥ ८० ॥

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुञ्चति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति—

**जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।**
**सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥ ८१ ॥**

---

कहते हैं—[ **निजकर्मफलं** ] अपने बाँधे हुए कर्मोंके फलको [ **भुंजानोपि** ] भोगता हुआ भी [ **तत्र** ] उस फलके भोगनेमें [ **यः** ] जो जीव [ **रागं** ] राग द्वेषको [ **न याति** ] नहीं प्राप्त होता [ **सः** ] वह [ **पुनः कर्म** ] फिर कर्मको [ **नैव** ] नहीं [ **बध्नाति** ] बाँधता, [ **येन** ] जिस कर्मबंधाभाव परिणामसे [ **संचितं** ] पहले बाँधे हुए कर्म भी [ **विलीयते** ] नाश होजाते हैं । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माके ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग चिदानंद परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृतसे तृप्त हुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता, वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नहीं बाँधता है, और नये कर्मोंका बंधका अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा ही होती है । यह संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मूल है ? ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे प्रभो; " कर्मके फलको भोगता हुआ भी ज्ञानसे नहीं बँधता " ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—हम तो आत्मज्ञान संयुक्त ज्ञानी जीवोंकी अपेक्षासे कहते हैं, वे ज्ञानके प्रभावसे कर्म-फल भोगते हुए भी राग द्वेष भाव नहीं करते । इसलिये उनके नये बंधका अभाव है, और जो मिथ्यादृष्टी ज्ञानभावसे बाह्य पूर्वोपार्जितकर्म-फलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं, उनके अवश्य बंध होता है । इस तरह सांख्य नहीं कहता, वह वीतरागचारित्रसे रहित कथन करता है । इसलिये उन सांख्यादिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ॥ ८० ॥

य: अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुञ्चति अत्र ।
स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थम् ॥ ८१ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः कर्ता **अणुमेत्तु वि** अणुमात्रमपि सूक्ष्ममपि **राउ** रागं वीतरागसदानन्दैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पञ्चेन्द्रियविषयसुखाभिलाषरागं **मणि** मनसि **जाम ण मिल्लइ** यावन्तं कालं न मुञ्चति **एत्थु** अत्र जगति **सो णवि मुचइ** स जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादिकर्मणा **ताव** तावन्तं कालं **जिय** हे जीव । किं कुर्वन्नपि । **जाणंतु वि** वीतरागानुष्ठानरहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मतत्त्वमिति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावज्ञानेऽपि शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतरागचारित्रभावनां विना मोक्षं न लभत इति ॥ ८१ ॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति कथयति—

**बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।**
**ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥ ८२ ॥**

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।
तावत् न मुच्यते यावत् नैव एनं परमार्थं मनुते ॥ ८२ ॥

बुज्झइ इत्यादि । **बुज्झइ** बुध्यते । कानि । **सत्थइं** शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि बुध्यते **तउ चरइ** तपश्चरति **पर** परं किंतु **परमत्थु ण वेइ** परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन

---

आगे जबतक परमाणुमात्र भी रागको नहीं छोड़ता-धारण करता है, तबतक कर्मोंसे नहीं छूटता, ऐसा कथन करते हैं—[ **यः** ] जो जीव [ **अणुमात्रं अपि** ] थोड़ा भी [ **रागं** ] राग [ **मनसि** ] मनमेंसे [ **यावत्** ] जबतक [ **अत्र** ] इस संसारमें [ **न मुंचति** ] नहीं छोड़ देता है, [ **तावत्** ] तबतक [ **जीव** ] हे जीव; [ **परमार्थं** ] निज शुद्धात्मतत्त्वको [ **जानन्नपि** ] शब्दसे केवल जानता हुआ भी [ **नैव** ] नहीं [ **मुच्यते** ] मुक्त होता । **भावार्थ**—जो वीतराग सदा आनंदरूप शुद्धात्मभावसे रहित पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है, मनमें थोड़ासा भी राग रखता है, वह आगमज्ञानसे आत्माको शब्द-मात्र जानता हुआ भी वीतरागचारित्रकी भावनाके विना मोक्षको नहीं पाता ॥ ८१ ॥

आगे जो निर्विकल्प आत्म-भावनासे शून्य है, वह शास्त्रको पढ़ता हुआ भी तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थको नहीं जानता है, ऐसा कहते हैं—[ **शास्त्राणि** ] शास्त्रोंको [ **बुध्यते** ] जानता है, [ **तपः चरति** ] और तपस्या करता है, [ **परं** ] लेकिन [ **परमार्थं** ]

वहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पशुद्धात्मविश्रान्तिलक्षणवीतरागचारित्रसाध्यो योऽसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजशुद्धात्मा तत्र निरन्तरानुष्ठानाभावात् ताव ण मुंचइ तावन्तं कालं न मुच्यते । केन । कर्मणा जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ यावन्तं कालं नैवैनं पूर्वोक्तलक्षणं परमार्थं मनुते जानाति श्रद्धत्ते सम्यगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्थानीयः शास्त्रविकल्पस्त्यज्यत इति ॥ ८२ ॥

अथ योऽसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुञ्चति निश्चयेन देहस्थं शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति—

**सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु ।**
**देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥ ८३ ॥**

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हन्ति विकल्पम् ।
देहे वसन्तमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानम् ॥ ८३ ॥

---

परमात्माको [ **ने वेत्ति** ] नहीं जानता है, [ **यावत्** ] और जवतक [ **एवं** ] पूर्व कहे हुए [ **परमार्थं** ] परमात्माको [ **नैव मनुते** ] नहीं जानता, या अच्छी तरह अनुभव नहीं करता है, [ **तावत्** ] तवतक [ **न मुच्यते** ] नहीं छूटता । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है, तो भी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदनज्ञान ही से जानने योग्य है, यद्यपि वाह्य सहकारीकारण अनशनादि वारह प्रकारके तपसे साधा जाता है, तो भी निश्चयनयसे निर्विकल्पवीतरागचारित्र ही से आत्माकी सिद्धि है । जिस वीतरागचारित्रका शुद्धात्मामें विश्राम होना ही लक्षण है । सो वीतरागचारित्रके आगमज्ञानसे तथा वाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है । जवतक निज शुद्धात्मतत्त्वके स्वरूपका आचरण नहीं है, तवतक कर्मोंसे नहीं छूट सकता । यह निःसंदेह जानना, जवतक परमतत्त्वको न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभवे, तवतक कर्मवंधसे नहीं छूटता । इससे यह निश्चय हुआ, कि कर्मबंधसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही है, और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता है, जैसे दीपकसे वस्तुको देखकर वस्तुको उठा लेते हैं, और दीपकको छोड़ देते हैं, उसी तरह शुद्धात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्मतत्त्वको जानकर उस शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिये, और शास्त्रका विकल्प छोड़ना चाहिये । शास्त्र तो दीपकके समान है, तथा आत्मवस्तु रत्नके समान है ॥ ८२ ॥

आगे जो शास्त्रको पढ़ करके भी विकल्पको नहीं छोड़ता, और निश्चयसे शुद्धात्माको नहीं मानता, जो कि शुद्धात्मदेव देहरूपी देवालयमें मौजूद है, उसे न ध्यावता है, वह मूर्ख है,

सत्थु इत्यादि । **सत्थु पढंतु वि** शास्त्रं पठन्नपि **होइ जडु स** जडो भवति यः किं करोति । **जो ण हणेइ वियप्पु** यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वरागादिविकल्पं न हन्ति । न केवलं विकल्पं न हन्ति । **देहि वसंतु वि** देहे वसन्तमपि **णिम्मलउ** निर्मलं कर्ममलरहितं **णवि मण्णइ** नैव मन्यते न श्रद्धत्ते । कम् । **परमप्पु** निजपरमात्मानमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुप्तसमाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयम् । यदा तु त्रिगुप्तिगुप्तसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च बहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्ध्यर्थं च परेषां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोधनीयः । कथमिति चेत् । इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समीचीनं न प्रतिभाति तर्हि त्वमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यम् ॥ ८३ ॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति—

**बोह-णिमित्तेँ सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।**
**तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥ ८४ ॥**

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र ।
तेनापि बोधो न यस्य वरः स किं मूढो न तथ्यम् ॥ ८४ ॥

---

ऐसा कहते हैं—[ **यः** ] जो जीव [ **शास्त्रं** ] शास्त्रको [ **पठन्नपि** ] पढ़ता हुआ भी [ **विकल्पं** ] विकल्पको [ **न हंति** ] नहीं दूर करता, ( मेंटता ) वह [ **जडो भवति** ] मूर्ख है, जो विकल्प नहीं मेंटता, वह [ **देहे** ] शरीरमें [ **वसंतमपि** ] रहते हुए भी [ **निर्मलं परमात्मानं** ] निर्मल परमात्माको [ **नैव मन्यते** ] नहीं श्रद्धानमें लाता । **भावार्थ**—शास्त्रके अभ्यासका तो फल यह है, कि रागादि विकल्पोंको दूर करना, और निज शुद्धात्माको ध्यावना । इसलिये इस व्याख्यानको जानकर तीन गुप्तिमें अचल हो परमसमाधिमें आरूढ होके निजस्वरूपका ध्यान करना । लेकिन जबतक तीन गुप्तियाँ न हों, परमसमाधि न आवे, (होसके) तबतक विषय कषायोंके हटानेके लिये परजीवोंको धर्मोपदेश देना, उसमें भी परके उपदेशके बहानेसे मुख्यताकर अपना जीव हीको संबोधना । वह इस तरह है, कि परको उपदेश देते अपनेको समझावे । जो मार्ग दूसरोंको छुड़ावे, वह आप कैसे करे । इससे मुख्य संबोधन अपना ही है । परजीवोंको ऐसा ही उपदेश है, जो यह बात मेरे मनमें अच्छी नहीं लगती, तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मनमें विचार करो ॥ ८३ ॥

आगे ज्ञानके लिये शास्त्रको पढ़ते हुए भी जिसके आत्म-ज्ञान नहीं है, वह मूर्ख है, ऐसा

बोह इत्यादि। बोधनिमित्तेन किल शास्त्रं लोके पठ्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न यस्य। कथंभूतः। वरो विशिष्टः। स किं मूढो न भवति किंतु भवत्येव तथ्यमिति। तद्यथा। अत्र यद्यपि लोकव्यवहारेण कविगमकवादिवाग्मित्वादिलक्षणशास्त्रजनितो बोधो भण्यते तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशकाध्यात्मशास्त्रोत्पन्नो वीतरागस्वसंवेदनरूपः स एव बोधो ग्राह्यो न चान्यः। तेनानुबोधेन विना शास्त्रे पठितेऽपि मूढो भवतीति। अत्र यः कोऽपि परमात्मबोधजनकमल्पशास्त्रं ज्ञात्वापि वीतरागभावनां करोति स सिद्ध्यतीति। तथा चोक्तम्—"वीरा वेरग्गपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति। ण हु सिज्झंति विरागेण विणा पढिदेसु वि सव्वसत्थेसु॥"। परं किंतु—"अक्खरडा जोयंतु ठिउ अप्पि ण दिण्णउ चित्तु। कणविरहियउ पलालु जिमु पर संगहिउ बहुत्तु॥" इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां बहुशास्त्रज्ञानिनां दूषणा न कर्तव्या। तैर्बहुश्रुतैरप्यन्येषामल्पश्रुततपोधनानां दूषणा न कर्तव्या। कस्मादिति चेत्। दूषणे कृते सति परस्परं रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तेन ज्ञानतपश्चरणादिकं नश्यतीति भावार्थः॥८४॥

---

कथन करते हैं—[ **अत्र लोके** ] इस लोकमें [ **किल** ] नियमसे [ **बोधनिमित्तेन** ] ज्ञानके निमित्त [ **शास्त्रं** ] शास्त्र [**पठ्यते**] पढ़े जाते हैं, [**तेनापि**] परंतु शास्त्रके पढ़नेसे भी [**यस्य**] जिसको [ **वरः बोधः न** ] उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, [ **स** ] वह [ **किं** ] क्या [ **मूढः न** ] मूर्ख नहीं है? [ **तथ्यं** ] मूर्ख ही है इसमें संदेह नहीं। **भावार्थ**—इस लोकमें यद्यपि लोक-व्यवहारसे नवीन कविताका कर्ता कवि, प्राचीन काव्योंकी टीकाके कर्त्ताको गमक, जिससे वादमें कोई न जीत सके ऐसा वादित्व, और श्रोताओंके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रका वक्ता होनेरूप वाग्मित्व, इत्यादि लक्षणोंवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है, तो भी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदनरूप ही ज्ञानकी अध्यात्म-शास्त्रोंमें प्रशंसा की गई है। इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके विना शास्त्रोंके पढ़े हुए भी मूर्ख हैं। और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाला छोटे थोड़े शास्त्रोको भी जानकर वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी भावना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। ऐसा ही कथन ग्रंथोंमें हरएक जगह कहा है, कि वैराग्यमें लगे हुए जो मोह शत्रुको जीतनेवाले हैं, वे थोड़े शास्त्रोंको ही पढ़कर सुधर जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं, और वैराग्यके विना सब शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते। यह निश्चय जानना परंतु यह कथन अपेक्षासे है। इस बहानेसे शास्त्र पढ़नेका अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं, उनको दूषण न देना। जो शास्त्रके अक्षर बता रहा है, और आत्मामें चित्त नहीं लगाया, वह ऐसे जानना कि जैसे किसीने कण रहित बहुत भूसेका ढेर कर लिया हो,

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

**तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ ।**
**णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥ ८५ ॥**

तीर्थं तीर्थं भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥ ८५ ॥

तीर्थं तीर्थं प्रति भ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति । कस्मादिति चेत् । ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति । तथाहि । निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादस्यन्दिसुन्दरानन्दरूपनिर्मलनीरपूरप्रवाहनिर्झरज्ञानदर्शनादिगुणसमूहचन्दनादिद्रुमवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थयात्रिकसमूहश्रवणसुखकरदिव्यध्वनिरूपराजहंसप्रभृतिविविधपक्षिकोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गङ्गादितीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गङ्गादिकम् । परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृशं संसारतरणोपायकारणभूतत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिरतानां निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थंकरपरमदेवादिगुणस्मरणहेतुभूतं मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति ।

---

वह किसी कामका नहीं है । इत्यादि पीठिकामात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं, उनकी निंदा नहीं करनी, और जो बहुश्रुत हैं, उनको भी अल्प शास्त्रज्ञोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि परके दोष ग्रहण करनेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तपका नाश होता है, यह निश्चयसे जानना ॥ ८४ ॥

आगे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे रहित जीवोंको तीर्थ-भ्रमण करनेसे भी मोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं—[ **तीर्थं तीर्थं** ] तीर्थ तीर्थ प्रति [ **भ्रमतां** ] भ्रमण करनेवाले [ **मूढानां** ] मूर्खोंको [ **मोक्षः** ] मुक्ति [ **न भवति** ] नहीं होती, [ **जीव** ] हे जीव; [ **येन** ]; क्योंकि जो [ **ज्ञानविवर्जितः** ] ज्ञान रहित हैं, [ **स एव** ] वह [ **मुनिवरः न भवति** ] मुनीश्वर नहीं हैं, संसारी हैं । मुनीश्वर तो वे ही हैं, जो समस्त विकल्प-जालोंसे रहित होके अपने स्वरूपमें रमें, वे ही मोक्ष पाते हैं । **भावार्थ**—निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग-परम आनंदरूप निर्मल जल उसके धारण करनेवाले और ज्ञान दर्शनादि गुणोंके समूहरूपी चंदनादि वृक्षोंके वनोंसे शोभित तथा देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्यजीवरूपी तीर्थ-यात्रियोंके कानोंको सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनिसे शोभायमान और अनेक मुनिजनरूपी राजहंसोंको आदि लेकर नाना तरहके पक्षियोंके शब्दोंसे महामनोहर जो अरहंत वीतराग सर्वज्ञ वे ही निश्चयसे महातीर्थ हैं, उनके समान अन्य तीर्थ नहीं हैं । वे ही संसारके तरनेके कारण परमतीर्थ हैं । जो परमसमाधिमें लीन महामुनि हैं, उनके वे ही तीर्थ हैं, निश्चयनयसे निज शुद्धात्म-

अयमत्र भावार्थः । पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥ ८५ ॥

अथ ज्ञानिनां तथैवाज्ञानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति—

**णाणिहिँ मूढहँ मुणिवरहँ अंतरु होइ महंतु ।**
**देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवहँ भिण्णु मुणंतु ॥ ८६ ॥**

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अन्तरं भवति महत् ।
देहमपि मुञ्चति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ॥ ८६ ॥

ज्ञानिनां मूढानां च मुनिवराणां अन्तरं विशेषो भवति । कथंभूतम् । महत् । कस्मादिति चेत् । देहमपि मुञ्चति । कोऽसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्सकाशाद्भिन्नं मन्यमानो जानन् इति । तथा च । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी पुत्रकलत्रादिबहिर्द्रव्यं तावद्दूरे तिष्ठतु शुद्धबुद्धैकस्वभावात् स्वशुद्धात्मस्वरूपात्सकाशात् पृथग्भूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति । मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥ ८६ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रैर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमन्तरस्थलं समाप्तम् । तदनन्तरं तत्रैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमन्तरस्थलं प्रारभ्यते ।

---

तत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है, और व्यवहारनयसे तीर्थंकर परमदेवादिके गुणस्मरणके कारण मुख्यतासे शुभ बंधके कारण ऐसे जो कैलास सम्मेदशिखर आदि निर्वाण-स्थान हैं, वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं। जो तीर्थ तीर्थ प्रतिभ्रमण करे, और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं हो, वह अज्ञानी है। उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बड़ा भेद दिखलाते हैं—[ **ज्ञानिनां** ] सम्यग्दृष्टी भावलिंगी [ **मूढानां** ] मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी [ **मुनिवराणां** ] मुनियोंमें [ **महत् अंतरं** ] बड़ाभारी भेद [ **भवति** ] है। [ **ज्ञानी** ] क्योंकि ज्ञानी मुनि तो [ **देहं अपि** ] शरीरको भी [ **जीवाद्भिन्नं** ] जीवसे जुदा [ **मन्यमानः** ] जानकर [ **मुंचति** ] छोड़ देते हैं, अर्थात् शरीरका भी ममत्व छोड़ देते हैं, तो फिर पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है? ये तो प्रत्यक्षसे जुदे हैं, और द्रव्यलिंगीमुनि लिंग ( भेष ) में आत्म-बुद्धिको रखता है। **भावार्थ**—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी महामुनि मन वचन काय इन तीनोंसे अपनेको भिन्न जानता है, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको ममता नहीं है, पिता माता पुत्र कलत्रादिकी तो बात अलग रहे जो अपने आत्म-स्वभावसे निज देहको ही जुदा जानता है। जिसके परवस्तुमें आत्मभाव नहीं है। और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है। यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है।

तद्यथा—

**लेणहँ इच्छइ मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।**
**बहु-विह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥ ८७ ॥**

लातुं इच्छति मूढः परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
बहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः अपि एष विशेषः ॥ ८७ ॥

**लातुं ग्रहीतुं इच्छति । कोऽसौ । मूढो बहिरात्मा । परं कोऽर्थः, नियमेन । किम् । भुवनमप्येतत्तु अशेषं समस्तम् । केन कृत्वा । बहुविधधर्ममिषेण व्याजेन । हे जीव द्वयोरप्येष विशेषः । कयोर्द्वयोः । पूर्वोक्तसूत्रकथितज्ञानिजीवस्यात्रसूत्रोक्तपुनरज्ञानिजीवस्य च । तथाहि । वीतरागसहजानन्दैकसुखास्वादरूपः स्वशुद्धात्मैव उपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव परमात्मनः समस्तमिथ्यात्वरागाद्यास्रवेभ्यः पृथग्रूपेण परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव रागादिपरिहाररूपेण निश्चलचित्तवृत्तिः सम्यक्चारित्रं इत्येवं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं तत्त्रयात्मकमात्मानमरोचमानस्तथैवाजानन्नभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । समस्तं जगद्धर्मव्याजेन ग्रहीतुमिच्छति, पूर्वोक्तज्ञानी तु त्यक्तुमिच्छतीति भावार्थः ॥ ८७ ॥**

**अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्बंधहेतुं जानन् सन् लज्जां करोतीति प्रकटयति—**

---

परको अपना मानें वह बँधता है, और न मानें वह मुक्त होता है । यह निश्चयसे जानना ॥ ८६ ॥ इस प्रकार इकतालीस दोहोंके महास्थलके मध्यमें पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे दूसरा अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

अब परिग्रहत्यागके व्याख्यानको आठ दोहोंमें कहते हैं—[ **द्वयोः अपि** ] ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंमें [ **एष विशेषः** ] इतना ही भेद है, कि [ **मूढः** ] अज्ञानीजन [ **बहुविधधर्ममिषेण** ] अनेक तरहके धर्मके बहानेसे [ **एतद् अशेषं** ] इस समस्त [ **भुवनं अपि** ] जगत्को ही [ **परं** ] नियमसे [ **लातुं इच्छति** ] लेनेकी इच्छा करता है, अर्थात् सब संसारके भोगोंकी इच्छा करता हैं, तपश्चरणादि कायक्लेशसे स्वर्गादिके सुखोंको चाहता है, और ज्ञानीजन कर्मोंके क्षयके लिये तपश्चरणादि करता है, भोगोंका अभिलाषी नहीं है । **भावार्थ**—वीतराग सहजानंद अखंडसुखका आस्वादरूप जो शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, ऐसी जो रुचि वह सम्यग्दर्शन, समस्त मिथ्यात्व रागादि आस्रवसे भिन्नरूप उसी परमात्माका जो ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान, और उसीमें निश्चल चित्तकी वृत्ति वह सम्यक्चारित्र, यह निश्चयरत्नत्रयरूप जो शुद्धात्माकी रुचि जिसके नहीं, ऐसा मूढ़जन आत्माको नहीं जानता हुआ, और नहीं अनुभवता हुआ जगत्के समस्त भोगोंको धर्मके बहानेसे लेना चाहता है, तथा ज्ञानीजन समस्त भोगोंसे उदास है, जो विद्यमान भोग थे, वे सब छोड़ दिये और आगामी वांछा नहीं है ऐसा जानना ॥ ८७ ॥

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥ ८८ ॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रान्तः ।
एतैः लज्जते ज्ञानी बन्धस्य हेतुं जानन् ॥ ८८ ॥

शिष्यार्जिकादीक्षादानेन पुस्तकप्रभृत्युपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति। कोऽसौ। मूढः। कथंभूतः। निर्भ्रान्तः एतैर्बहिर्द्रव्यैर्लज्जां करोति। कोऽसौ। ज्ञानी। किं कुर्वन्नपि। पुण्यबन्धहेतुं जानन्नपि। तथा च। पूर्वसूत्रोक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निजशुद्धात्मस्वभावमश्रद्दधानो विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव वीतरागचारित्रेणाभावयंश्च मूढात्मा। किं करोति। पुण्यबन्धकारणमपि जिनदीक्षादानादिशुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्तिकारणं मन्यते। ज्ञानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबन्धकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यम् ॥ ८८ ॥

अथ चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पथे पात्यते [?] इति प्रतिपादयति—

चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ चेल्ला-चेल्लियएहिँ ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहिँ ॥ ८९ ॥

चट्टैः पट्टैः कुण्डिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।
मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पथे पातितास्तैः ॥ ८९ ॥

---

आगे शिष्योंका करना, पुस्तकादिका संग्रह करना, इन बातोंसे अज्ञानी प्रसन्न होता है, और ज्ञानीजन इनको बंधके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता, इनके संग्रहमें लज्जावान् होता है—[ **मूढः** ] अज्ञानीजन [ **शिष्यार्जिकापुस्तकैः** ] चेला चेली पुस्तकादिकसे [ **तुष्यति** ] हर्षित होता है, [ **निर्भ्रांतः** ] इसमें कुछ संदेह नहीं है, [ **ज्ञानी** ] और ज्ञानीजन [ **एतैः** ] इन बाह्य पदार्थोंसे [ **लज्जते** ] शरमाता है, क्योंकि इन सबोंको [ **बंधस्य हेतुं** ] बंधका कारण [ **जानन्** ] जानता है। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप जो निज शुद्धात्मा उसको न श्रद्धान करता, न जानता और न अनुभव करता जो मूढात्मा वह पुण्यबंधके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुण्यबंधके कारण जानता है, परम्पराय मुक्तिके कारण मानता है। यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है, तो भी ऐसा मानता है, कि निश्चयनयसे ये मुक्तिके कारण नहीं हैं ॥ ८८ ॥

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका संघ ये मुनियोंको मोह

चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैः शिष्यार्जिकादिपरिवारैश्च कर्तृभूतैर्मोहं जनयित्वा। केषाम्। मुनिवराणां, पश्चादुन्मार्गे पातितास्ते तु तैः। तथाहि। यथा कश्चिदजीर्णभयेन विशिष्टाहारं त्यक्त्वा लङ्घनं कुर्वन्नास्ते पश्चादजीर्णप्रतिपक्षभूतं किमपि मिष्टौषधं गृहीत्वा जिह्वालाम्पट्येनौषधेनापि अजीर्णं करोत्यज्ञानी इति, न च ज्ञानीति, तथा कोऽपि तपोधनो विनीतवनितादिकं मोहभयेन त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा च शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनीरोगत्वप्रतिपक्षभूतमजीर्णरोगस्थानीयं मोहमुत्पाद्यात्मनः। किं कृत्वा। किमप्यौषधस्थानीयमुपकरणादिकं गृहीत्वा। कोऽसावज्ञानी न तु ज्ञानीति। इदमत्र तात्पर्यम्। परमोपेक्षासंयमधरेण शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतः सर्वोऽपि तावत्परिग्रहस्त्याज्यः। परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति। तथा चोक्तम्—"रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु। धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्॥" ॥ ८९ ॥

---

उत्पन्न कराके खोटे मार्गमें पटक देते हैं—[ **चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः** ] पीछी कमंडलु पुस्तक और [ **शिष्यार्जिकाभिः** ] मुनि श्रावकरूप चेला, अर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ [ **मुनिवराणां** ] मुनिवरोंको [ **मोहं जनयित्वा** ] मोह उत्पन्न कराके [ **तैः** ] वे [ **उत्पथे** ] उन्मार्गमें (खोटे मार्गमें) [ **पातिताः** ] डाल देते हैं। **भावार्थ**—जैसे कोई अजीर्णके भयसे मनोज्ञ आहारको छोड़कर लंघन करता है, पीछे अजीर्णको दूर करनेवाली कोई मीठी ओषधिको लेकर जिह्वाका लंपटी होके मात्रासे अधिक लेके ओषधिका ही अजीर्ण करता है, उसी तरह अज्ञानी कोई द्रव्यलिंगी यती विनयवान् पतिव्रता स्त्री आदिको मोहके डरसे छोड़कर जिनदीक्षा लेके अजीर्ण समान मोहके दूर करनेके लिये वैराग्य धारण करके ओषधि समान जो उपकरणादि उनको ही ग्रहण करके उन्हींका अनुरागी (प्रेमी) होता है, उनकी वृद्धिसे सुख मानता है, वह ओषधिका ही अजीर्ण करता है। मात्राप्रमाण ओषधि लेवे, तो वह रोगको हर सके। यदि ओषधिका ही अजीर्ण करे-मात्रासे अधिक लेवे, तो रोग नहीं जाता, उलटी रोगकी वृद्धि ही होती है। यह निःसंदेह जानना। इससे यह निश्चय हुआ जो परमोपेक्षासंयम अर्थात् निर्विकल्प परमसमाधिरूप तीन गुप्तिमयी परम शुद्धोपयोगरूप संयमके धारक हैं, उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत सब ही परिग्रह त्यागने योग्य हैं। शुद्धोपयोगी मुनियोंके कुछ भी परिग्रह नहीं है, और जिनके परमोपेक्षा संयम नहीं लेकिन व्यवहार संयम है, उनके भावसंयमकी रक्षाके निमित्त हीन संहननके होनेपर उत्कृष्ट शक्तिके अभावसे यद्यपि तपका साधन शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्न जलका ग्रहण होता है, उस अन्न जलके लेनेसे मन-

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुञ्चनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मा वञ्चित इति निरूपयति—

**केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण।**
**सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ॥ ९० ॥**

केनापि आत्मा वञ्चितः शिरो लुञ्चित्वा क्षारेण।
सकला अपि संगा न परिहृता जिनवरलिङ्गधरेण ॥ ९० ॥

**केनाप्यात्मा वञ्चितः। किं कृत्वा। शिरोलुञ्चनं कृत्वा। केन। भस्मना। कस्मादिति चेत्। यतः सर्वेऽपि संगा न परिहृताः। कथंभूतेन भूत्वा। जिनवरलिङ्गधारकेणेति। तद्यथा। वीतरागनिर्विकल्पनिजानन्दैकरूपसुखरसास्वादपरिणतपरमात्मभावनास्वभावेन तीक्ष्णशस्त्रोपकरणेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तमनोरथकल्लोलमालात्यागरूपं मनोमुण्डनं पूर्वमकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुण्डनं कृत्वापि केनाप्यात्मानं वञ्चितम्। कस्मात्। सर्वसंगपरित्यागाभावादिति। अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दपरिग्रहं कृत्वा तु जगत्त्रये**

---

मूत्रादिकी बाधा भी होती है, इसलिये शौचका उपकरण कमंडलु, और संयमोपकरण पीछी, और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको ग्रहण करते हैं, तो भी इनमें ममता नहीं है, प्रयोजनमात्र प्रथम अवस्थामें धारते हैं। ऐसा दूसरी जगह "रम्येषु" इत्यादिसे कहा है, कि मनोज्ञ स्त्री आदिक वस्तुओंमें जिसने मोह छोड़ दिया है, ऐसा महामुनि संयमके साधन पुस्तक पीछी कमंडलु आदि उपकरणोंमें वृथा मोहको कैसे कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर करनेके लिये ओषधिका सेवन करे, तो क्या मात्रासे अधिक ले सकता है? ऐसा कभी नहीं करेगा, मात्राप्रमाण ही लेगा ॥ ८९ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसने जिनदीक्षा धरके केशोंका लोंच किया, और सकल परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसने अपनी आत्मा ही को वंचित किया—[ **केनापि** ] जिस किसीने [ **जिनवरलिंगधरेण** ] जिनवरका भेष धारण करके [ **क्षारेण** ] भस्मसे [ **शिरः** ] शिरके केश [ **लुंचित्वा** ] लौंच किये, ( उखाड़े ) लेकिन [ **सकला अपि संगाः** ] सब परिग्रह [ **न परिहृताः** ] नहीं छोड़े, उसने [ **आत्मा** ] अपनी आत्माको ही [ **वंचितः** ] ठग लिया। **भावार्थ**—वीतराग निर्विकल्पनिजानंद अखंडरूप सुखरसका जो आस्वाद उसरूप परिणमी जो परमात्माकी भावना वही हुआ तीक्ष्ण शस्त्र उससे बाहिरके और अंतरके परिग्रहोंकी वाञ्छा आदि ले समस्त मनोरथ उनकी कल्लोल-मालाओंका त्यागरूप मनका मुंडन वह तो नहीं किया, और जिनदीक्षारूप शिरोमुंडन कर भेष रखा, सब परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसने अपनी आत्मा ठगी। ऐसा कथन समझकर

कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च दृष्टश्रुतानुभूतनिःपरिग्रहशुद्धात्मानुभूतिविपरीतपरिग्रहकाङ्क्षा त्यजेत्यभिप्रायः ॥ ९० ॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिङ्गं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृह्णन्ति ते छर्दिं कृत्वा पुनरपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति—

**जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति ।**
**छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥ ९१ ॥**

ये जिनलिङ्गं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लान्ति ।
छर्दिं कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दिं गिलन्ति ॥ ९१ ॥

ये केचन जिनलिङ्गं गृहीत्वापि मुनयस्तपोधना इष्टपरिग्रहान् लान्ति गृह्णन्ति । ते किं कुर्वन्ति । छर्दिं कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दिं गिलन्तीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतनपरिग्रहः पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधनापेक्षया छात्रादिः सचित्तः, पिच्छकमण्डल्वादिः पुनरचित्तः, उपकरणसहितश्छात्रादिस्तु मिश्रः । अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः, द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः, पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावकर्मरूपस्तु मिश्रः । वीतरागत्रिगुप्तसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणा-

---

निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदस्वरूपको अंगीकार करके तीनों-काल तीनों लोकमें मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाकर देखे सुने अनुभवे जो परिग्रह उनकी वांछा सर्वथा त्यागनी चाहिये । ये परिग्रह शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत हैं ॥ ९० ॥

आगे जो सर्वसंगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहणकर फिर परिग्रहको धारण करता है, वह वमन करके पीछे निगलता है, ऐसा कथन करते हैं—[ **ये** ] जो [ **मुनयः** ] मुनि [ **जिनलिंगं** ] जिनलिंगको [ **धृत्वापि** ] ग्रहणकर [ **इष्टपरिग्रहान्** ] फिर भी इच्छित परिग्रहोंको [ **लांति** ] ग्रहण करते हैं, [ **जीव** ] हे जीव; [ **ते एव** ] वे ही [ **छर्दिं कृत्वा** ] वमन करके [ **पुनः** ] फिर [ **तां छर्दिं** ] उस वमनको पीछे [ **गिलंति** ] निगलते हैं । **भावार्थ**—परिग्रहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन परिग्रह पुत्र कलत्रादि, अचेतन परिग्रह आभरणादि, और मिश्र परिग्रह आभरण सहित स्त्री पुत्रादि, साधुकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह शिष्यादि, अचित्त परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि, और मिश्र परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह मिथ्यात्व रागादि, अचित्त परिग्रह द्रव्यकर्म नोकर्म, और मिश्र परिग्रह द्रव्यकर्म भावकर्म दोनों मिले हुए । अथवा वीतराग त्रिगुप्तिमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त

स्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारी जीवस्तु मिश्रश्चेति । एवंविधबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं जिनलिङ्गं गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणमिष्टपरिग्रहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारग्राहकपुरुषसदृशा भवन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम्–" त्यक्त्वा स्वकीयपितृमित्रकलत्रपुत्रान् सक्तोऽन्यगेहवनितादिषु निर्मुमुक्षुः । दोर्भ्यां पयोनिधिसमुद्गतनक्रचक्रं प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः ॥ " ॥ ९१ ॥

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च दहन्तीति कथयति—

**लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।**
**खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥ ९२ ॥**

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजन्ति ।
कीलानिमित्तं तेऽपि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥ ९२ ॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन शिवसंगं शिवशब्दवाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते मुनयस्तपोधनाः । किं कुर्वन्ति । लोहकीलिकाप्रायं निःसारेन्द्रियसुखनिमित्तं देवशब्दवाच्यं निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलशब्दवाच्यं दिव्यपरमौदा-

---

परिग्रह सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पाँच द्रव्यका विचार, और मिश्र परिग्रह गुणस्थान मार्गणास्थान जीवसमासादिरूप संसारीजीवका विचार । इस तरह बाहिरके और अंतरके परिग्रहसे रहित जो जिनलिंग उसे ग्रहण कर जो अज्ञानी शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिग्रहको ग्रहण करते हैं, वे वमन करके पीछे आहार करनेवालोंके समान निंदाके योग्य होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो जीव अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र इनको छोड़कर परके घर और पुत्रादिकमें मोह करते हैं, अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्य-शाखाओंमें राग करते हैं, वे भुजाओंसे समुद्रको तैरके गायके खुरसे बने हुए गढ़ेके जलमें डूबते हैं । कैसा है समुद्र, जिसमें जलचरोंके समूह प्रगट हैं, ऐसे अथाह समुद्रको तो बाहोंसे तिर जाता है, लेकिन गायके खुरके जलमें डूबता है । यह बड़ा अचंभा है । घरका ही संबंध छोड़ दिया तो पराये पुत्रोंसे क्या राग करना ? नहीं करना ॥ ९१ ॥

आगे जो अपनी प्रसिद्धि ( बड़ाई ) प्रतिष्ठा और परवस्तुका लाभ इन तीनोंके लिये आत्म-ध्यानको छोड़ते हैं, वे लोहेके कीलेके लिये देव तथा देवालयको जलाते हैं—[ **ये** ] जो कोई [ **लाभस्य** ] लाभ [ **कीर्तेः कारणेन** ] और कीर्तिके कारण [ **शिवसंगं** ] परमात्माके ध्यानको [ **त्यजंति** ] छोड़ देते हैं, [ **ते अपि मुनयः** ] वे ही मुनि [ **कीलानिमित्तं** ] लोहेके कीलेके लिये अर्थात् कीलेके समान असार इंद्रिय-सुखके निमित्त [ **देवकुलं** ] मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थानको तथा [ **देवं** ] आत्मदेवको [ **दहंति** ]

रिकशरीरं च दहन्तीति । कथमिति चेत् । यदा ख्यातिपूजालाभार्थं शुद्धात्मभावनां त्यक्त्वा वर्तन्ते तदा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धो भवति तेन ज्ञानावरणकर्मणा केवलज्ञानं प्रच्छाद्यते केवलदर्शनावरणेन केवलदर्शनं प्रच्छाद्यते वीर्यान्तरायेण केवलवीर्यं प्रच्छाद्यते मोहोदयेनानन्तसुखं च प्रच्छाद्यत इति । एवंविधानन्तचतुष्टयस्यालाभे परमौदारिकशरीरं च न लभन्त इति । यदि पुनरनेकभवे परिच्छेद्यं कृत्वा शुद्धात्मभावनां करोति तदा संसारस्थितिं छित्त्वाऽद्यकालेऽपि स्वर्गं गत्वागत्य शीघ्रं शाश्वतसुखं प्राप्नोतीति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्—"सग्गो तवेण सव्वो वि पावए किं तु झाणजोएण । जो पावइ सो पावइ परभवे सासयं सोक्खं ॥" ॥ ९२ ॥

अथ यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेणात्मानं महान्तं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति—

**अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गंथहिं तत्थु ।**
**सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥ ९३ ॥**

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुकं ग्रन्थैः तथ्यम् ।
स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थम् ॥ ९३ ॥

**आत्मानं मन्यते य एव मुनिः । कथंभूतं मन्यते । गुरुकं महान्तम् । कैः ।**

---

भवकी आतापसे भस्म कर देते हैं । **भावार्थ**—जिस समय ख्याति पूजा लाभके अर्थ शुद्धात्माकी भावनाको छोड़कर अज्ञान भावोंमें प्रवर्त होते हैं, उस समय ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंध होता है । उस ज्ञानावरणादिके बंधसे ज्ञानादि गुणका आवरण होता है । केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढँक जाता है, मोहके उदयसे अनंतसुख, वीर्यांतरायके उदयसे अनंतबल, और केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन आच्छादित होता है । इस प्रकार अनंतचतुष्टयका आवरण हो रहा है । उस अनंतचतुष्टयके अलाभमें परमौदारिक शरीरको नहीं पाता, क्योंकि जो उसी भवमें मोक्ष जाता है, उसीके परमौदारिक शरीर होता है । इसलिये जो कोई समभावमें शुद्धात्माकी भावना करे, तो अभी स्वर्गमें जाकर पीछे विदेहोंमें मनुष्य होकर मोक्ष पाता है । ऐसा ही कथन दूसरी जगह शास्त्रोंमें लिखा है, कि तपसे स्वर्ग तो सभी पाते हैं, परंतु जो कोई ध्यानके योगसे स्वर्ग पाता है, वह परभवमें सासते ( अविनाशी ) सुखको ( मोक्षको ) पाता है । अर्थात् स्वर्गसे आकर मनुष्य होके मोक्ष पाता है, उसीका स्वर्ग पाना सफल है, और जो कोरे ( अकेले ) तपसे स्वर्ग पाके फिर संसारमें भ्रमता है, उसका स्वर्ग पाना वृथा है ॥ ९२ ॥

आगे जो बाह्य अभ्यंतर परिग्रहसे अपनेको महंत मानता है, वह परमार्थको नहीं जानता, ऐसा दिखलाते हैं—[ **य एव** ] जो [ **मुनिः** ] मुनि [ **ग्रंथैः** ] बाह्य परिग्रहसे [ **आत्मानं** ] अपनेको [ **गुरुकं** ] महंत ( बड़ा ) [ **मन्यते** ] मानता है, अर्थात् परिग्रहसे

ग्रन्थैर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहैस्तथ्यं सत्यं स पुरुषः परमार्थेन वस्तुवृत्त्या नैव बुध्यते परमार्थमिति जिनो वदति। तथाहि। निर्दोषिपरमात्मविलक्षणैः पूर्वसूत्रोक्तसचित्ताचित्तमिश्रपरिग्रहैर्ग्रन्थरचनारूपशब्दशास्त्रैर्वा आत्मानं महान्तं मन्यते यः स परमार्थशब्दवाच्यं वीतरागपरमानन्दैकस्वभावं परमात्मानं न जानातीति तात्पर्यम् ॥ ९३ ॥

ग्रन्थेनात्मानं महान्तं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्—

**बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ।**
**जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥ ९४ ॥**

बुध्यमानानां परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोऽपि।
जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोऽपि ॥ ९४ ॥

बुध्यमानानाम्। कम्। परमार्थम्, हे जीव गुरुत्वं लघुत्वं वा नास्ति। कस्मान्नास्ति। जीवाः सर्वेऽपि परमब्रह्मस्वरूपाः। तदपि कस्मात्। येन कारणेन ब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा केवलज्ञानेन सर्वं जानाति यथा तथा निश्चयनयेन सोऽप्येको विवक्षितो जीवः संसारी सर्वं जानातीत्यभिप्रायः ॥ ९४ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमित-

---

ही गौरव जानता है, [ **तथ्यं** ] निश्चयसे [ **सः** ] वही पुरुष [ **परमार्थेन** ] वास्तवमें [ **परमार्थं** ] परमार्थको [ **नैव बुध्यते** ] नहीं जानता, [ **जिनः भणति** ] ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं। **भावार्थ**—निर्दोष परमात्मासे परान्मुख जो पूर्वसूत्रमें कहे गये सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह हैं, उनसे अपनेको महंत मानता है, जो मैं बहुत पढ़ा हूँ। ऐसा जिसके अभिमान है, वह परमार्थ यानी वीतराग परमानंदस्वभाव निज आत्माको नहीं जानता। आत्म-ज्ञानसे रहित है, यह निःसंदेह जानो ॥ ९३ ॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है, कि जो ग्रंथसे अपनेको महंत मानता है, वह परमार्थको क्यों नहीं जानता? इसका समाधान आचार्य करते हैं।—[ **हे जीव** ] हे जीव; [ **परमार्थं** ] परमार्थको [ **बुध्यमानानां** ] समझनेवालोंके [ **कोऽपि** ] कोई जीव [ **गुरुः लघुः** ] बड़ा छोटा [ **न अस्ति** ] नहीं है, [ **सकला अपि** ] सभी [ **जीवाः** ] जीव [ **परब्रह्म** ] परमब्रह्मस्वरूप हैं, [ **येन** ] क्योंकि निश्चयनयसे [ **सोऽपि** ] वह सम्यग्दृष्टी एक भी जीव [ **विजानाति** ] सबको जानता है। **भावार्थ**—जो परमार्थको नहीं जानता, वह परिग्रहसे तो गुरुता समझता हैं, और परिग्रहके न होनेसे लघुपना जानता है, यही भूल है। यद्यपि गुरुता लघुता कर्मके आवरणसे जीवोंमें पायी जाती है, तो भी शुद्धनयसे सब समान हैं, तथा ब्रह्म अर्थात् सिद्धपरमेष्टी केवलज्ञानसे सबको जानते हैं, सबको देखते हैं, उसी प्रकार निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टी सब जीवोंको शुद्धरूप ही देखता हैं ॥ ९४ ॥ इस तरह इकतालीस दोहोंके महास्थलमें परिग्रह त्यागके

महास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्यानमुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमन्तरस्थलं समाप्तम् ॥ अत ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति ।

तद्यथा—

**जो भत्तउ रयण-त्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।**
**अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥ ९५ ॥**

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।
तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां स तस्य करोति न भेदम् ॥ ९५ ॥

जो इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **जो** यः **भत्तउ** भक्तः । कस्य । **रयणत्तयहं** रत्नत्रयस्य **तसु** तस्य पुरुषस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि । किम् । **लक्खणु एउ** लक्षणं इदं प्रत्यक्षीभूतम् । इदं किम् । **अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ** तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां शरीरे **सो तसु करइ ण भेउ** स ज्ञानी तस्य जीवस्य देहभेदेन भेदं न करोति । तथाहि । योऽसौ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयस्य निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमात्मनो वा भक्तः तस्येदं लक्षणं जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट । क्वापि देहे तिष्ठतु जीवस्तथापि शुद्धनिश्चयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणैर्भेदं न करोतीति ।

---

व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहोंका तीसरा अंतरस्थल पूर्ण हुआ । आगे तेरह दोहोंतक शुद्ध निश्चयसे सब जीव केवलज्ञानादिगुणसे समान हैं, इसलिये सोलहवान (ताव) के सुवर्णकी तरह भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, ऐसा निश्चय करते हैं ।

वह ऐसे है—[ **यः** ] जो मुनि [ **रत्नत्रयस्य** ] रत्नत्रयकी [ **भक्तः** ] आराधना (सेवा) करनेवाला है, [ **तस्य** ] उसके [ **इदं लक्षणं** ] यह लक्षण [ **मन्यस्व** ] जानना, कि [ **कस्यामपि कुड्यां** ] किसी शरीरमें जीव [ **तिष्ठतु** ] रहे, [ **सः** ] वह ज्ञानी [ **तस्य भेदं** ] उस जीवका भेद [ **न करोति** ] नहीं करता, अर्थात् देहके भेदसे गुरुता लघुताका भेद करता है, परंतु ज्ञानदृष्टिसे सबको समान देखता है । **भावार्थ**—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी निश्चयरत्नत्रयका आराधकका ये लक्षण प्रभाकरभट्ट तू निःसंदेह जान, जो किसी शरीरमें कर्मके उदयसे जीव रहे, परंतु निश्चयसे शुद्ध बुद्ध (ज्ञानी) ही है । जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे जीवोंमें वान-भेद नहीं है, केवलज्ञानादि अनंत गुणोंसे सब जीव समान हैं । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, हे भगवन्; जो जीवोंमें देहके भेदसे भेद नहीं है, सब समान हैं, तब जो वेदान्ती एक ही आत्मा मानते हैं, उनको क्यों दोष देते हो ? तब श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं,—कि शुद्धसंग्रहनयसे सेना एक ही कही जाती है, लेकिन सेनामें अनेक हैं, तो भी ऐसे कहते हैं, कि सेना आई, सेना गई, उसी

अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । हे भगवन् जीवानां यदि देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन वदन्त्येक एव जीवस्तन्मतमायातम् । भगवानाह । शुद्धसंग्रहनयेन सेनावनादिवज्जात्यपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्त्यपेक्षया वने भिन्नभिन्नवृक्षवत् सेनायां भिन्नभिन्नहस्त्यश्वादिवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ ९५ ॥

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति, ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैकत्ववत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानन्तीति दर्शयति—

**जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।**
**केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥ ९६ ॥**

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।
केवलज्ञानेन ज्ञानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥ ९६ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं तिहुयणसंठियहं** श्वेतकृष्णरक्तादिभिन्नभिन्नवस्त्रैर्वेष्टितानां षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नसुवर्णानां यथा व्यवहारेण वस्त्रवेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवनसंस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निश्चयनयेनापि **मूढा भेउं करंति** मूढात्मानो भेदं कुर्वन्ति । **केवलणाणिं** वीतरागसदानन्दैकसुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन वीतरागस्वसंवेदन **णाणि** ज्ञानिनः **फुडु** स्फुटं निश्चितं **सयलु वि** समस्तमपि जीवराशिं **एक्कु मुणंति** संग्रहनयेन समुदायं प्रत्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ॥ ९६ ॥

---

प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद नहीं हैं, सब एक जाति हैं, और व्यवहारनयसे व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न हैं, अनंत जीव हैं, एक नहीं है । जैसे वन एक कहा जाता है, और वृक्ष जुदे जुदे हैं, उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है, लेकिन द्रव्य जुदे जुदे हैं, तथा जैसे सेना एक है, परन्तु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक हैं, उसी तरह जीवोंमें जानना ॥ ९५ ॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं । जीवपनेसे कोई कम बढ़ नहीं हैं, कर्मके उदयसे शरीर-भेद हैं, परंतु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे ही परके संयोगसे भेद माळूम होता है, तो भी सुवर्णपनेसे सब समान हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[ **त्रिभुवनसंस्थितानां** ] तीन भुवनमें रहनेवाले [ **जीवानां** ] जीवोंका [ **मूढाः** ] मूर्ख ही [ **भेदं** ] भेद [ **कुर्वंति** ] करते हैं, और [ **ज्ञानिनः** ] ज्ञानी जीव [ **केवलज्ञानेन** ] केवलज्ञानसे [ **स्फुटं** ] प्रगट [ **सकलमपि** ] सब जीवोंको [ **एकं मन्यंते** ] समान जानते हैं । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर सोलहवानके सुवर्ण भिन्न भिन्न वस्त्रोंमें लपेटें तो वस्त्रके भेदसे भेद है, परंतु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है, परंतु जीवपनेसे भेद नहीं है । देहका भेद देखकर मूढ़ जीव भेद मानते हैं,

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति—

**जीवा सयल वि णाणमय जम्मण-मरण-विमुक्क ।**
**जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क ॥ ९७ ॥**

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरणविमुक्ताः ।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥ ९७ ॥

जीवा इत्यादि । **जीवा सयल वि णाणमय** व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन झंपितं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात्सर्वेऽपि जीवा ज्ञानमयाः **जम्मणमरणविमुक्क** व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानन्दैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः । **जीवपएसहिँ सयल सम** यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वहानिवृद्ध्यभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः । **सयल वि सगुणहिँ एक्क** यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानन्तसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मझंपितास्तिष्ठन्ति, तथापि निश्चयेन कर्माभावात्

---

और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपनेसे सब जीवोंको समान मानता है । सभी जीव केवलज्ञान-वेलिके कंद सुख-पंक्ति है, कोई कम बढ़ नहीं है ॥ ९६ ॥

आगे केवलज्ञानादि लक्षणसे शुद्धसंग्रहनयकर सब जीव एक हैं, ऐसा कहते हैं— **[सकला अपि]** सभी **[जीवाः]** जीव **[ज्ञानमयाः]** ज्ञानमयी हैं, और **[जन्ममरणविमुक्ताः]** **[जीवप्रदेशैः]** अपने अपने प्रदेशोंसे **[सकलाः समाः]** सब समान हैं, **[अपि]** और **[सकलाः]** सब जीव **[स्वगुणैः एके]** अपने केवलज्ञानादि गुणोंसे समान हैं । **भावार्थ**— व्यवहारसे लोक अलोकका प्रकाशक और निश्चयनयसे निज शुद्धात्मद्रव्यका ग्रहण करनेवाला जो केवलज्ञान वह यद्यपि व्यवहारनयसे केवलज्ञानावरणकर्मसे ढँका हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चयनयसे केवलज्ञानावरणका अभाव होनेसे केवलज्ञानस्वभावसे सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं । यद्यपि व्यवहारनयकर सब संसारी जीव जन्म मरण सहित हैं, तो भी निश्चयनयकर वीतराग निजानंदरूप अतीन्द्रिय सुखमयी हैं, जिनकी आदि भी नहीं और अंत भी नहीं ऐसे हैं, शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत जन्म मरणके उत्पन्न करनेवाले जो कर्म उनके उदयके अभावसे जन्म मरण रहित हैं । यद्यपि संसार-अवस्थामें व्यवहारनयकर प्रदेशोंका संकोच विस्तारको धारण करते हुए देहप्रमाण हैं,

सर्वेऽपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति । अत्र यदुक्तं शुद्धात्मनः स्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यम् ॥ ९७ ॥

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति—

**जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु ।**
**तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ॥ ९८ ॥**

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शनं ज्ञानम् ।
तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ॥ ९८ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं लक्खणु जिणवरहिं भासिउ दंसणणाणु** यद्यपि व्यवहारेण संसारावस्थायां मत्यादिज्ञानं चक्षुरादिदर्शनं जीवानां लक्षणं भवति तथापि निश्चयेन केवलदर्शनं केवलज्ञानं च लक्षणं भाषितम् । कैः जिनवरैः । **तेण ण किज्जइ भेउ तहं** तेन कारणेन व्यवहारेण देहभेदेऽपि केवलज्ञानदर्शनरूप-निश्चयलक्षणेन तेषां न क्रियते भेदः । यदि किम् । **जइ मणि जाउ विहाणु** यदि चेन्मनसि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानादित्योदयेन जातः । कोऽसौ । प्रभातसमय इति । अत्र यद्यपि षोडशवर्णिकालक्षणं बहूनां सुवर्णानां मध्ये समानं तथाप्येकस्मिन् सुवर्णे गृहीते शेषसुवर्णानि सहैव नायान्ति । कस्मात् । भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तथा यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं सर्वजीवानां तथाप्येकस्मिन् विवक्षितजीवे

---

और मुक्त-अवस्थामें चरम ( अंतिम ) शरीरसे कुछ कम देहप्रमाण हैं, तो भी निश्चयनय-कर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं, हानि-वृद्धि न होनेसे अपने प्रदेशोंकर सब समान हैं, और अद्यपि व्यवहारनयसे संसार-अवस्थामें इन जीवोंके अव्याबाध अनंत सुखा-दिगुण कर्मोंसे ढँके हुए हैं, तो भी निश्चयनयकर कर्मके अभावसे सभी जीव गुणोंकर समान हैं । ऐसा जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही ध्यान करने योग्य है ॥ ९७ ॥

आगे जीवोंका ज्ञान-दर्शन लक्षण कहते हैं—[ **जीवानां लक्षणं** ] जीवोंका लक्षण [ **जिनवरैः** ] जिनेंद्रदेवने [ **दर्शनं ज्ञानं** ] दर्शन और ज्ञान [ **भाषितं** ] कहा है, [ **तेन** ] इसलिये [ **तेषां** ] उन जीवोंमें [ **भेदः** ] भेद [ **न क्रियते** ] मत कर, [ **यदि** ] अगर [ **मनसि** ] तेरे मनमें [ **विभातः जातः** ] ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होगया है, अर्थात् हे शिष्य; तू सबको समान जान । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयसे संसारी-अवस्थामें मत्यादि ज्ञान, और चक्षुरादि दर्शन, जीवके लक्षण कहे हैं, तो भी निश्चयनयकर-केवलदर्शन केवलज्ञान ये ही लक्षण हैं, ऐसा जिनेंद्रदेवने वर्णन किया है । इसलिये व्यवहारनयकर देह-भेदसे भी भेद नहीं है, केवलज्ञानदर्शनरूप निजलक्षणकर सब समान हैं, कोई भी बड़ा छोटा नहीं है । जो तेरे मनमें वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप

पृथक्कृते शेषजीवाः सहैव नायान्ति । कस्मात् । भिन्नप्रदेशत्वात् । तेन कारणेन ज्ञायते यद्यपि केवलज्ञानदर्शनं समानं तथापि प्रदेशभेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति—

**बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।**
**ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥ ९९ ॥**

ब्रह्मणां भुवने वसतां ये नैव भेदं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं जानन्ति ॥ ९९ ॥

बंभहं इत्यादि । **बंभहं** ब्रह्मणः शुद्धात्मनः । किं कुर्वतः । **भुवणि वसंताहं** भुवने त्रिभुवने वसतः तिष्ठतः **जे णवि भेउ करंति** ये नैव भेदं कुर्वन्ति । केन । शुद्धसंग्रहनयेन **ते परमप्पपयासयर** ते ज्ञानिनः परमात्मस्वरूपस्य प्रकाशकाः सन्तः **जोइय** हे योगिन् अथवा बहुवचनेन हे योगिनः । किं कुर्वन्ति । **विमलु मुणंति** विमलं संशयादिरहितं शुद्धात्मस्वरूपं मन्यन्ते जानन्तीति । तद्यथा । यद्यपि । जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वं भण्यते तथापि व्यक्त्यपेक्षया प्रदेशभेदेन भिन्नत्वं नगरस्य गृहादिपुरुषादिभेदवत् । कश्चिदाह । यथैकोऽपि चन्द्रमा बहुजलघटेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यते तथैकोऽपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति । परिहारमाह । बहुषु जलघटेषु चन्द्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चन्द्राकारेण परिणता न

---

सूर्यका उदय हुआ है, और मोह-निद्राके अभावसे आत्म-बोधरूप प्रभात हुआ है, तो तू सबोंको समान देख। जैसे यद्यपि सोलहवानीके सोने सब समान वृत्त हैं, तो भी उन सुवर्ण-राशियोंमेंसे एक सुवर्णको ग्रहण किया, तो उसके ग्रहण करनेसे सब सुवर्ण साथ नहीं आते, क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षण सब जीव समान हैं, तो भी एक जीवका ग्रहण करनेसे सबका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न भिन्न हैं, इससे यह निश्चय हुआ, कि यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षणसे सब जीव समान हैं, तो भी प्रदेश सबके जुदे जुदे हैं, यह तात्पर्य जानना ॥ ९८ ॥

आगे जातिके कथनसे सब जीवोंकी एक जाति है, परंतु द्रव्य अनंत हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[ **भुवने** ] इस लोकमें [ **वसतः** ] रहनेवाले [ **ब्रह्मणः** ] जीवोंका [ **भेदं** ] भेद [ **ये** ] जो [ **नैव** ] नहीं [ **कुर्वंति** ] करते हैं, [ **ते** ] वे [ **परमात्मप्रकाशकराः** ] परमात्माके प्रकाश करनेवाले [ **योगिन्** ] हे योगी; [ **विमलं** ] अपने निर्मल आत्माको [ **जानंति** ] जानते हैं। इसमें संदेह नहीं है। **भावार्थ**—यद्यपि जीव-राशिकी अपेक्षा जीवोंकी एकता है, तो भी प्रदेशभेदसे प्रगटरूप सब जुदे जुदे हैं। जैसे वृक्ष-जातिकर वृक्षोंका एकपना है, तो भी सब वृक्ष जुदे जुदे हैं, और पहाड़-जातिसे सब पहाड़ोंका एकत्व है, तो भी सब जुदे जुदे हैं, तथा रत्न-जातिसे रत्नोंका एकत्व है, परंतु सब रत्न पृथक् पृथक् हैं,

चाकाशस्थचन्द्रमाः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति । यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुखप्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति, न च तथा, तथैक-चन्द्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको ब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चन्द्रवन्नानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥ ९९ ॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—

**राय-दोस वे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।**
**ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १०० ॥**

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति ।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ १०० ॥

राय इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **रायदोस वे परिहरिवि** वीतरागनिजानन्दैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य **जे** ये

---

घट-जातिकी अपेक्षा सब घटोंका एकपना है, परंतु सब जुदे जुदे हैं, और पुरुष-जातिकर सबकी एकता है, परंतु सब अलग अलग हैं। उसी प्रकार जीव-जातिकी अपेक्षासे सब जीवोंका एकपना है, तो भी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं। इसपर कोई परवादी प्रश्न करता है, कि जैसे एक ही चन्द्रमा जलके भरे बहुत घड़ोंमें जुदा जुदा भासता है, उसी प्रकार एक ही जीव बहुत शरीरोंमें भिन्न भिन्न भास रहा है। उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं—जो बहुत जलके घड़ोंमें चन्द्रमाकी किरणोंकी उपाधिसे जल-जातिके पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारके परिणत हो गये हैं, लेकिन आकाशमें स्थित चन्द्रमा तो एक ही है, चन्द्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं होगया। उनका दृष्टान्त देते हैं। जैसे कोई देवदत्तनामा पुरुष उसके मुखकी उपाधि ( निमित्त ) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे शोभायमान काचका महल उसमें वे काचरूप पुद्गल ही अनेक मुखके आकारके परिणत हुए हैं, कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है। जो कदाचित् देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे, तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिम्ब चेतन हो जावें। परंतु चेतन नहीं होते, जड़ ही रहते हैं, । उसी प्रकार एक चन्द्रमा भी अनेकरूप नहीं परिणमता। वे जलरूप पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारमें परिणत हो जाते हैं। इसलिए ऐसा निश्चय समझना, कि जो कोई ऐसा कहते हैं, कि एक ही ब्रह्मके नानारूप दीखते है। यह कहना ठीक नहीं है। जीव जुदे जुदे हैं ॥ ९९ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे जुदे हैं, परंतु जातिसे एक हैं, और गुणोंकर समान हैं, ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है— [ ये ] जो [ **रागद्वेषौ,**

**केचन सम जीव णियंति** सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समानान् सदृशान् जीवान् निर्गच्छन्ति जानन्ति ते ते पुरुषाः । कथंभूताः । **समभावि परिट्ठिया** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः सन्तः **लहु णिव्वाणु लहंति** लघु शीघ्रं आत्यन्तिकस्वभावैकाचिन्त्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभन्त इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १०० ॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति—

**जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।**
**देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ॥ १०१ ॥**

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।
देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥ १०१ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **दंसणु णाणु** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायाणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिच्छित्तिसमर्थं विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च । **जिय** हे जीव **लक्खणु जाणइ जो जि** लक्षणं जानाति य एव **देहविभेएं भेउ तहं** देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्म-

---

राग और द्वेषको [ **परिहृत्य** ] दूर करके [ **जीवाः समाः** ] सब जीवोंको समान [ **निर्गच्छंति** ] जानते हैं, [ **ते** ] वे साधु [ **समभावे** ] समभावमें [ **प्रतिष्ठिताः** ] विराजमान [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **निर्वाणं** ] मोक्षको [ **लभंत** ] पाते हैं । **भावार्थ**—वीतराग निजानंदस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुख जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो महान् पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान गिनते हैं, वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते हैं । **समभावका** लक्षण ऐसा है, कि जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जानें। जो अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे, यह सब समभावका प्रभाव है । समभावसे मोक्ष मिलता है । कैसा है वह मोक्षस्थान, जो अत्यंत अद्भुत अचिंत्य केवलज्ञानादि अनंत गुणोंका स्थान है । यहाँ यह व्याख्यान जानकर राग द्वेषको छोड़के शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव उसका सेवन सदा करना चाहिए । यही इस ग्रंथका अभिप्राय है ॥ १०० ॥

आगे सब जीवोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन साधारण लक्षण हैं, इनके बिना कोई जीव नहीं है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं, ऐसा कहते हैं— [ **जीवानां** ] जीवोंके [ **दर्शनं ज्ञानं** ] दर्शन और ज्ञान [ **लक्षणं** ] निज लक्षणको [ **य एव** ] जो कोई [ **जानाति** ] जानता है, [ **हे जीव** ] हे जीव [ **स एव ज्ञानी** ] वही ज्ञानी [ **देहविभेदेन** ] देहके भेदसे [ **तेषां भेदं** ] उन जीवोंके भेदको [ **किं मन्यते** ] क्या मान

भावनारहितेन जीवेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं **णाणि कि मण्णइ** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी किं मन्यते । नैव । कम् । **सो जि** तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन ब्रह्माद्वैतवादिनो नानाजीवान्न मन्यन्ते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणसुखदुःखादिके जाते सर्वजीवानां तस्मिन्नेव क्षणे जीवितमरणसुखदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥ १०१ ॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योऽसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

**देह-विभेयइँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु ।**
**सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु ॥ १०२ ॥**

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रम् ।
स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ॥ १०२ ॥

देह इत्यादि । **देहविभेयइं** देहममत्वमूलभूतानां ख्यातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्यानानां विपरीतस्य स्वशुद्धात्मध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदु-

---

सकता है, नहीं मान सकता । **भावार्थ**—तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेमें समर्थ जो केवलदर्शन केवलज्ञान है, उसे निज लक्षणोंसे जो कोई जानता है, वही सिद्ध-पद पाता है । जो ज्ञानी अच्छी तरह इन निज लक्षणोंको जान लेवे वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नहीं मान सकता । अर्थात् देहसे उत्पन्न जो विषय-सुख उनके रसके आस्वादसे विमुख शुद्धात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किये जो ज्ञानावरणादिकर्म, उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके भेदसे जीवोंका भेद, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी कदापि नहीं मान सकता । देहमें भेद हुआ तो क्या, गुणसे सब समान हैं, और जीव-जातिकर एक हैं। यहाँपर जो कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती नाना जीवोंको नहीं मानते हैं, और वे एक ही जीव मानते हैं, उनकी यह बात अप्रमाण है। उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है । वह इस तरह है, कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी समय जीवना, मरना, सुख, दुःखादि होना चाहिये, क्योंकि उनके मतमें वस्तु एक है । परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता । इसलिये उनका वस्तु एक मानना वृथा है, ऐसा जानो ॥ १०१ ॥

आगे जीव ही को जानते हैं, परंतु उसके लक्षण नहीं जानते, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[ **यः** ] जो [ **देहविभेदेन** ] शरीरोंके भेदसे [ **जीवानां** ]

दयजनितेन देहभेदेन **जो कुणइ** यः करोति । कम् । **जीवहं भेउ विचित्तु** जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादिदेहरूपं, **सो णवि लक्खणु मुणइ तहं** स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानाम् । किंलक्षणम् । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणानां जीवानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यचाण्डालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति तात्पर्यम् ॥ १०२ ॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवन्ति न च जीवा इति दर्शयति—

**अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ विहि-वसिँ हौंति जे बाल ।**
**जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सयकाल ॥ १०३ ॥**

अङ्गानि सूक्ष्माणि बादराणि विधिवशेन भवन्ति ये बालाः ।
जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सदाकाले ॥ १०३ ॥

**अंगइं** इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **अंगइं सुहुमइं बादरइं** अङ्गानि सूक्ष्मबादराणि जीवानां **विहिवसिं हौंति** विधिवशाद्भवन्ति अङ्गोद्भवपञ्चेन्द्रियविषयकांक्षामूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवाञ्छारूपनिदानबन्धादीनि यान्यप-

---

जीवोंका [ **विचित्रं** ] नानारूप [ **भेदं** ] भेद [ **करोति** ] करता है, [ **स** ] वह [ **तेषां** ] उन जीवोंका [ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] दर्शन ज्ञान चारित्र [ **लक्षणं** ] लक्षण [ **नैव मनुते** ] नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा ( पहचान ) नहीं है । **भावार्थ**—देहके ममत्वके मूल कारण ख्याति ( अपनी बड़ाई ) पूजा और लाभरूप जो आर्त रौद्रस्वरूप खोटे ध्यान उनसे रहित निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है, उसके भेदसे भेद मानता है, उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नहीं है । यद्यपि पापके उदयसे नरक-योनि, पुण्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर-देह तथा मायाचारसे पशुका शरीर मिलता है, अर्थात् इन शरीरोंके भेदोंसे जीवोंकी अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं, परंतु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब तुल्य हैं । उपयोग लक्षणके विना कोई जीव नहीं है । इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं । निश्चयनयसे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र चांडालादि देहके भेद देखकर राग द्वेष नहीं करना चाहिये । सब जीवोंसे मैत्रीभाव करना यही तात्पर्य है ॥ १०२ ॥

आगे सूक्ष्म बादरशरीर जीवोंके कर्मके सम्बंधसे होते हैं, सो सूक्ष्म बादर स्थावर जंगम ये सब शरीरके भेद हैं, जीव तो चिद्रूप है, सब भेदोंसे रहित है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **सूक्ष्माणि** ] सूक्ष्म [ **बादराणि** ] और बादर [ **अंगानि** ] शरीर [ **ये** ] तथा जो [ **बालाः** ] बाल वृद्ध तरुणादि अवस्थायें [ **विधिवशेन** ] कर्मोंसे [ **भवंति** ] होती हैं,

ध्यानानि, तद्विलक्षणा यासौ स्वशुद्धात्मभावना तद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंज्ञं कर्म तद्वशेन भवन्त्येव। न केवलमङ्गानि भवन्ति जे बाल ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेऽपि विधिवशेनैव। अथवा संबोधनं हे बाल अज्ञान। जिय पुणु सयल वि तित्तडा जीवाः पुनः सर्वेऽपि तत्प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं प्रत्यनन्ताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरेकैकोऽपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रस्तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः। क्व। सव्वत्थ वि सर्वत्र लोके। न केवलं लोके सयकाल सर्वत्र कालत्रये तु। अत्र जीवानां बादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणापेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ १०३ ॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति प्रतिपादयति—

**सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु वि एइ।**
**एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥ १०४ ॥**

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते।
एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥ १०४ ॥

सत्तु वि इत्यादि। सत्तु वि शत्रुरपि मित्तु वि मित्रमपि जीव असेसु वि

---

[ **पुनः** ] और [ **जीवाः** ] जीव तो [ **सकला अपि** ] सभी [ **सर्वत्र** ] सब जगह [ **सर्वकाले अपि** ] और सब कालमें [ **तावंतः** ] उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यातप्रदेशी ही है। **भावार्थ**—जीवोंके शरीर व बाल वृद्धादि अवस्थायें कर्मोंके उदयसे होती हैं। अर्थात् अंगोंसे उत्पन्न हुए जो पंचेंद्रियोंके विषय उनकी वांछा जिनका मूल कारण है, ऐसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान बंधादि खोटे ध्यान उनसे विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं, और बाल वृद्धादि अवस्थायें होती हैं। ये अवस्थायें कर्मजनित हैं, जीवकी नहीं हैं। हे अज्ञानी जीव; यह बात तू निःसंदेह जान। ये सभी जीव द्रव्यप्रमाणसे अनंत हैं, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने मिले हुए देहके प्रमाण हैं, तो भी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं। सब लोकमें सब कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना। बादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित होना समझकर ( देखकर ) जीवोंमें भेद मत जानो। विशुद्ध ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब ही जीव समान हैं, कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नहीं है, ऐसा जानना ॥ १०३ ॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नहीं करता है, वह निश्चयकर जीवका लक्षण जानता है, ऐसा कहते हैं—[ **एते अशेषा अपि** ] ये सभी [ **जीवाः** ] जीव हैं, उनमेंसे [ **शत्रुरपि** ] कोई एक किसीका शत्रु भी है, [ **मित्रं अपि** ] मित्र भी है, [ **आत्मा** ]

जीवा अशेषा अपि एइ एते प्रत्यक्षीभूताः एक्कु करेविणु जो मुणइ एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्रजीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योऽसौ जीवानां शुद्धसंग्रहनयेनैकत्वं मन्यते सो अप्पा जाणेइ स वीतराग-सहजानन्दैकस्वभावं शत्रुमित्रादिविकल्पकल्लोलमालारहितमात्मानं जानातीति भावार्थः ॥ १०४ ॥

अथ योऽसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति—

**जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव ।**
**तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥ १०५ ॥**

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।
तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥ १०५ ॥

जो णवि इत्यादि । जो णवि मण्णइ यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे जीव । कतिसंख्योपेतान् । सयल वि समस्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । एक्कसहाव वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चये-नैकस्वभावान् । तासु ण थक्कइ भाउ समु तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः ।

---

अपना है, और [ **परः** ] दूसरा है । ऐसा व्यवहारसे जानकर [ **यः** ] जो ज्ञानी [ **एकत्वं कृत्वा** ] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [ **मनुते** ] समान मानता है, [ **सः** ] वही [ **आत्मानं** ] आत्माके स्वरूपको [ **जानाति** ] जानता है । **भावार्थ**—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं, परंतु जो ज्ञानी सबको एक दृष्टिसे देखता है—समान जानता है । शत्रु, मित्र, जीवित, मरण, लाभ, अलाभ आदि सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिकचारित्र उसके प्रभावसे जो जीवोंको शुद्ध संग्रहनयकर जानता है, सबको समान मानता है, वही अपने निज स्वरूपको जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि विकल्प—जालसे रहित है, ऐसे निजस्वरूपको समताभावके विना नहीं जान सकता ॥ १०४ ॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता, उसके समभाव नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **यः** ] जो [ **सकलानपि** ] सभी [ **जीवान्** ] जीवोंको [ **एकस्वभावान्** ] एक स्वभाववाले [ **नैव मन्यते** ] नहीं जानता, [ **तस्य** ] उस अज्ञानीके [ **समः भावः** ] समभाव [ **न तिष्ठति** ] नहीं रहता, [ **यः** ] जो समभाव [ **भवसागरे** ] संसार-समुद्रके तैरनेको [ **नौः** ] नावके समान है । **भावार्थ**—जो अज्ञानी सब जीवोंको समान नहीं मानता, अर्थात् वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे नहीं देखता, सकल ज्ञायक परम निर्मल केवलज्ञानादि गुणोंकर निश्चयनयसे सब जीव

भवसायरि जो णाव संसारसमुद्रे यो नावस्तरणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमोपशमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थातव्य-मित्यभिप्रायः ॥ १०५ ॥

अथ जीवानां योऽसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति—

**जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्मु वि जीउ ण होइ ।**
**जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥ १०६ ॥**

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्म अपि जीवो न भवति ।
येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ १०६ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **भेउ जि** भेद एव **कम्मकिउ** निर्भेद-शुद्धात्मविलक्षणेन कर्मणा कृतः, **कम्मु वि जीउ ण होइ** ज्ञानावरणादिकर्मैव विशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावं जीवस्वरूपं न भवति । कस्मान्न भवतीति चेत् । **जेण विभि-ण्णउ होइ तहं** येन कारणेन विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किं कृत्वा । **कालु लहेविणु कोइ** वीतरागपरमात्मानुभूतिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धजीवस्वभावाद्विलक्षणं मनोज्ञामनोज्ञस्त्रीपुरु-षादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्तव्यमिति ॥ १०६ ॥

---

एकसे हैं, ऐसी जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा निस्संदेह जानो । कैसा है समभाव, जो संसार-समुद्रसे तारनेके लिये जहाजके समान है । यहाँ ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमशांतभावरूप शुद्धात्मामें लीन होना योग्य है ॥ १०५ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है, वह सब कर्मजनित हैं, ऐसा प्रगट करते हैं—[ **जीवानां** ] जीवोंमें [ **भेदः** ] नर नारकादि भेद [ **कर्मकृत एव** ] कर्मोंसे ही किया गया है, और [ **कर्म अपि** ] कर्म भी [ **जीवः** ] जीव [ **न भवति** ] नहीं होसकता । [ **येन** ] क्योंकि वह जीव [ **कमपि** ] किसी [ **कालं** ] समयको [ **लब्ध्वा** ] पाकर [ **तेभ्यः** ] उन कर्मोंसे [ **विभिन्नः** ] जुदा [ **भवति** ] होजाता है । **भावार्थ**—कर्म शुद्धात्मासे जुदे हैं, शुद्धात्मा भेद-कल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं, जीवका स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बाँधता है । सो कर्मका बंध अनादिकालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव वीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है । कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है, जो जीवके भवस्थिति समीप ( थोड़ी ) रही हो, तभी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, और सम्यक्त्व उत्पन्न होजावे, तभी कर्म-कलंकसे छूट सकता है। तात्पर्य यह है, कि जो टंकोत्कीर्ण

अतः कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति—

**एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु ।**
**इक्कइँ देवइँ जेँ वसइ ति-हुयणु एहु असेसु ॥ १०७ ॥**

एकं कुरु मा द्वौ कुरु मा कुरु वर्णविशेषम् ।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतद् अशेषम् ॥ १०७ ॥

एक्कु करे इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **एक्कु करे** सेनावनादिवज्जीवजात्यपेक्षया सर्वमेकं कुरु । **मण बिण्णि करि** मा द्वौ कार्षीः । **मं करि वण्णविसेसु** मनुष्यजात्यपेक्षया ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिवर्णभेदं मा कार्षीः, यतः कारणात् **इक्कइं देवइं** एकेन देवेन अभेदनयापेक्षया शुद्धैकजीवद्रव्येण **जें** येन कारणेन **वसइ** वसति । किं कर्तृ । **तिहुयणु** त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थो जीवराशिः **एहु** एषः प्रत्यक्षीभूतः । कतिसंख्योपेतः । **असेसु** अशेषं समस्त इति । त्रिभुवनग्रहणेन इह त्रिभुवनस्थो जीवराशिर्गृह्यते इति तात्पर्यम् । तथाहि । लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवैर्निरन्तरं भृतस्तिष्ठति । बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव त्रसैः क्वचिदपि । तथा ते जीवाः शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्त्यपेक्षया केवलज्ञानादिगुणरूपास्तेन कारणेन स एव जीवराशिः यद्यपि व्यवहारेण कर्मकृतस्तिष्ठति तथापि निश्चयनयेन शक्तिरूपेण परमब्रह्मस्वरूपमिति भण्यते, परमविष्णुरिति भण्यते, परमशिव इति च । तेनैव कारणेन स एव जीवराशिः केचन परमब्रह्ममयं जगद्वदन्ति, केचन परमविष्णुमयं वदन्ति, केचन पुनः

---

ज्ञायक एक शुद्ध स्वभाव उससे विलक्षण जो स्त्री पुरुषादि शरीरके भेद उनको देखकर रागादि खोटे ध्यान नहीं करने चाहिये ॥ १०६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि तू शुद्ध संग्रहनयकर जीवोंमें भेद मत कर—[ **एकं कुरु** ] हे आत्मन्; तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, [ **मा द्वौ कार्षीः** ] इसलिये राग और द्वेष मत कर, [ **वर्णविशेषं** ] मनुष्य-जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्ण-भेदको भी [ **मा कार्षीः** ] मत कर, [ **येन** ] क्योंकि [ **एकेन देवेन** ] अभेदनयसे शुद्ध आत्माके समान [ **एतद् अशेषं** ] ये सब [ **त्रिभुवनं** ] तीनलोकमें रहनेवाली जीव-राशि [ **वसति** ] ठहरी हुई है, अर्थात् जीवपनेसे सब एक हैं । **भावार्थ**—सब जीवोंकी एक जाति है । जैसे सेना और वन एक है, वैसे जातिकी अपेक्षा सब जीव एक हैं । नर नारकादि भेद और ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्रादि वर्ण-भेद सब कर्मजनित हैं, अभेदनयसे सब जीवोंको एक जानो । अनंत जीवोंकर यह लोक भरा हुआ है । उस जीव-राशिमें भेद ऐसे हैं—जो पृथ्वीकायसूक्ष्म, जलकायसूक्ष्म, अग्निकायसूक्ष्म, वायुकायसूक्ष्म, नित्यनिगोदसूक्ष्म, इतरनिगोदसूक्ष्म—इन छह तरहके सूक्ष्म जीवोंकर तो यह लोक निरन्तर भरा हुआ है, सब जगह इस लोकमें सूक्ष्म जीव हैं । और पृथ्वीकायबादर, जलकायबादर, अग्निकायबादर, वायुकायबादर, नि-

परमशिवमयमिति च। अत्राह शिष्यः। यद्येवंभूतं जगत्संमतं भवतां तर्हि परेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिः। परिहारमाह। यदि पूर्वोक्तनयविभागेन केवलज्ञानादिगुणापेक्षया वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण मन्यन्ते तदा तेषां दूषणं नास्ति, यदि पुनरेकः पुरुषविशेषो व्यापी जगत्कर्ता ब्रह्मादिनामास्तीति मन्यन्ते तदा तेषां दूषणम्। कस्माद् दूषणमिति चेत्। प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वात् साधकप्रमाणप्रमेयचिन्ता तर्के विचारिता तिष्ठत्यत्र तु नोच्यते अध्यात्मशास्त्रत्वादित्यभिप्रायः ॥ १०७ ॥ इति षोडशवर्णिकासुवर्णदृष्टान्तेन केवलज्ञानादिलक्षणेन सर्वे जीवाः समाना भवन्तीति व्याख्यानमुख्यतया त्रयोदशसूत्रैरन्तरस्थलं गतम्। एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये चतुर्भिरन्तरस्थलैः शुद्धोपयोगवीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिग्रहत्यागसर्वजीवसमानताप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकचत्वारिंशत्सूत्रैर्महास्थलं समाप्तम्।

---

निगोदबादर, इतरनिगोदबादर, और प्रत्येकवनस्पति—ये जहाँ आधार है वहाँ हैं। सो कहीं पाये जाते हैं, कहीं नहीं पाये जाते, परंतु ये भी बहुत जगह हैं। इस प्रकार स्थावर तो तीनों लोकोंमें पाये जाते हैं, और दोइंद्री, तेइंद्री, चौइंद्री, पंचेंद्री तिर्यंच ये मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं, अधोलोक ऊर्ध्वलोकमें नहीं। उनमेंसे दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री जीव कर्मभूमिमें ही पाये जाते हैं, भोगभूमिमें नहीं। भोगभूमिमें गर्भज पंचेंद्री सैनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति तिर्यंच हैं। तथा मनुष्य मध्यलोकमें ढाई द्वीपमें पाये जाते हैं, अन्य जगह नहीं, देवलोकमें स्वर्गवासी देव देवी पाये जाते है, अन्य पंचेंद्री नहीं, पाताललोकमें ऊपरके भागमें भवनवासीदेव तथा व्यंतरदेव और नीचेके भागमें सात नरकोंके नारकी पंचेंद्री हैं, अन्य कोई नहीं और मध्यलोकमें भवनवासी व्यंतरदेव तथा ज्योतिषीदेव ये तीन जातिके देव और तिर्यंच पाये जाते हैं। इस प्रकार त्रसजीव किसी जगह हैं, किसी जगह नहीं हैं। इस तरह यह लोक जीवोंसे भरा हुआ है। सूक्ष्मस्थावरके विना तो लोकका कोई भाग खाली नहीं है, सब जगह सूक्ष्मस्थावर भरे हुए हैं। ये सभी जीव शुद्ध परिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा केवलज्ञानादि गुणरूप हैं। इसलिये यद्यपि यह जीव-राशि व्यवहारनयकर कर्माधीन है, तो भी निश्चयनयकर शक्तिरूप परब्रह्मस्वरूप है। इन जीवोंको ही परमविष्णु कहना, परमशिव कहना चाहिये। यही अभिप्राय लेकर कोई एक ब्रह्ममयी जगत् कहते हैं, कोई एक विष्णुमयी कहते हैं, कोई एक शिवमयी कहते हैं। यहाँपर शिष्यने प्रश्न किया, कि तुम भी जीवोंको परब्रह्म मानते हो, तथा परमविष्णु परमशिव मानते हो, तो अन्यमतवालोंको क्यों दूषण देते हो? उसका समाधान—हम तो पूर्वोक्त नयविभागकर केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा वीतराग सर्वप्रणीत मार्गसे जीवोंको एसा मानते हैं, तो दूषण नहीं है। इस तरह वे

अत ऊर्ध्वं 'परु जाणंतु वि' इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यन्ते स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति—

**परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति ।**
**पर-संगइँ परमप्पयहँ लक्खहँ जेण चलंति ॥ १०८ ॥**

परं जानन्तोऽपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजन्ति ।
परसंगेन परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलन्ति ॥ १०८ ॥

परु जाणंतु वि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **परु जाणंतु वि** परद्रव्यं जानन्तोऽपि । के ते । **परममुणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताः परममुनयः । किं कुर्वन्ति । **परसंसग्गु चयंति** परसंसर्गं त्यजन्ति निश्चयेनाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-शरीरादिनोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतजनोऽपि परद्रव्यं भण्यते । तत्संसर्गं परिहरन्ति । यतः कारणात् **परसंसग्गइं**[?] पूर्वोक्तबाह्याभ्यन्तरपरद्रव्यसंसर्गेण **परमप्पयहं** वीतरागानित्यानन्दैकस्वभावपरमसमरसीभावपरिणतपरमात्मतत्त्वस्य । कथंभूतस्य । **लक्खहं** लक्ष्यस्य ध्येयभूतस्य

---

नहीं मानते हैं। वे एक कोई पुरुष जगत्का कर्त्ता हर्त्ता मानते हैं। इसलिये उनको दूषण दिया जाता है, क्योंकि जो कोई एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त है, उस शुद्ध बुद्धको कर्त्ता हर्त्तापना हो ही नहीं सकता, और इच्छा है वह मोहकी प्रकृति है। भगवान् मोहसे रहित हैं, इसलिये कर्त्ता हर्त्ता नहीं हो सकते। कर्त्ता हर्त्ता मानना प्रत्यक्ष विरोध है। हम तो जीव-राशिको परमब्रह्म मानते हैं, उसी जीव-राशिसे लोक भरा हुआ है। अन्यमती ऐसा मानते हैं, कि एक ही ब्रह्म अनंतरूप होरहा है। जो वही एक सबरूप हो रहा होवे, तो नरक निगोद स्थानको कौन भोगे ? इसलिये जीव अनंत हैं। इन जीवोंको ही परमब्रह्म परमशिव कहते हैं, ऐसा तू निश्चयसे जान ॥ १०७ ॥ इस प्रकार सोलहवानीके सोनेके दृष्टान्तद्वारा केवलज्ञानादि लक्षणसे सब जीव समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे तेरह दोहा-सूत्र कहे। इस तरह मोक्ष-मार्ग, मोक्ष-फल, और मोक्ष इन तीनोंको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें चार अंतरस्थलोंका इकतालीस दोहोंका महास्थल समाप्त हुआ। इनमें शुद्धोपयोग, वीतरागस्वसंवेदनज्ञान, परिग्रह, त्याग और सब जीव समान हैं, ये कथन किया।

आगे 'पर जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहा पर्यंत तीसरा महाधिकार कहते हैं, उसीमें ग्रंथको समाप्त करते हैं—[**परममुनयः**] परममुनि [**परं जानंतोऽपि**] उत्कृष्ट आत्मद्रव्यको जानते हुए भी [**परसंसर्ग**] परद्रव्य जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, उनके सम्बंधको [**त्यजंति**] छोड़ देते हैं। [**येन**] क्योंकि [**परसंसर्गेण**] परद्रव्यके सम्बंधसे

धनुर्विद्याभ्यासप्रस्तावे लक्ष्यरूपस्यैव जेण चलंति येन कारणेन चलन्ति त्रिगुप्तिसमाधेः सकाशात् च्युता भवन्तीति । अत्र परमध्यानविघातकत्वान्मिथ्यात्वरागादिपरिणामस्तत्परिणतः पुरुपरूपो वा परसंसर्गस्त्यजनीय इति भावार्थः ॥ १०८ ॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति—

**जो सम-भावहँ बाहिरउ तिं सहु मं करि संगु ।**
**चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥ १०९ ॥**

यः समभावाद् बाह्यः तेन सह मा कुरु संगम् ।
चिन्तासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अङ्गः ॥ १०९ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः कोऽपि **समभावहं बाहिरउ** जीवितमरणलाभालाभादिसमभावानुकूलविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपसमभावबाह्यः । **तिं सहु मं करि संगु** तेन सह संसर्गं मा कुरु हे आत्मन् । यतः किम् । **चिंतासायरि पडहि** रागद्वेषादिकल्लोलरूपे चिन्तासमुद्रे पतसि । **पर** परं नियमेन । **अण्णु वि** अन्यदपि दूषणं भवति । किम् । **डज्झइ** दह्यते व्याकुलं भवति । किं दह्यते । **अंगु** शरीरं इति । अयमत्र भावार्थः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिभावनाप्रति-

---

[ **लक्ष्यस्य** ] ध्यानकरने योग्य जो [ **परमात्मनः** ] परमपद उससे [ **चलंति** ] चलायमान हो जाते हैं । **भावार्थ**—शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें लीन हुए परद्रव्योंके साथ सम्बंध छोड़ देते हैं । अंदरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि ये सब परद्रव्य कहे जाते हैं, । वे मुनिराज एक आत्मभावके सिवाय सब परद्रव्यका संसर्ग (सम्बंध) छोड़ देते हैं । तथा रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी, असंयमी जीवोंका सम्बंध छोड़ देते हैं । इनके संसर्गसे परमपद जो वीतरागनित्यानंद अमूर्तस्वभाव परमसमरसीभावरूप जो परमात्मतत्त्व ध्यावने योग्य है, उससे चलायमान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधिसे रहित हो जाते हैं । यहाँपर परमध्यानके घातक जो मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम तथा रागी द्वेषी पुरुषोंका संसर्ग सर्वथा त्याग करना चाहिये यह सारांश है ॥ १०८ ॥

आगे उन्हीं परद्रव्योंके संबंधको फिर छुड़ानेका कथन करते हैं—[ **यः** ] जो कोई [ **समभावात्** ] समभाव अर्थात् निजभावसे [ **बाह्यः** ] बाह्य पदार्थ हैं, [ **तेन सह** ] उनके साथ [ **संगं** ] संग [ **मा कुरु** ] मत कर । क्योंकि उनके साथ संग करनेसे [ **चिंतासागरे** ] चितारूपी समुद्रमें [ **पतसि** ] पड़ेगा, [ **परं** ] केवल [ **अन्यदपि** ] और भी [**अंगः**] शरीर [ **दह्यते** ] दाहको प्राप्त होगा, अर्थात् अंदरसे जलता रहेगा । **भावार्थ**—जो कोई जीवित, मरण, लाभ, अलाभादिमें तुल्यभाव उसके संमुख जो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म द्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निजभाव उसरूप समभावसे जो जुदे पदार्थ हैं,

पक्षभूतरागादिस्वकीयपरिणाम एव निश्चयेन पर इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यात्व-रागादिपरिणतपुरुषः सोऽपि कथंचित्, नियमो नास्तीति ॥ १०९ ॥

अथैतदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति—

**भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिँ ।**
**वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तेँ पिट्टियइ घणेहिँ ॥ ११० ॥**

भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्गः खलैः ।
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः ॥ ११० ॥

**भल्लाहं वि** इत्यादि । **भल्लाहं वि** भद्राणामपि स्वस्वभावसहितानामपि **णासंति गुण** नश्यन्ति परमात्मोपलब्धिलक्षणगुणाः । येषां किम् । **जहं संसग्गु** येषां संसर्गः । कैः सह । **खलेहिं** परमात्मपदार्थप्रतिपक्षभूतैर्निश्चयनयेन स्वकीयबुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादिपरिणामैः खलैर्दुष्टैर्व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । **वइसाणरु लोहहं मिलिउ** वैश्वानरो लोहमिलितः । **तें** तेन कारणेन **पिट्टियइ घणेहिं** पिट्टनक्रियां लभते । कैः घनैरिति । अत्रानाकुलत्वसौख्यविघातको येन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धाद्यपध्यानपरिणाम एव

---

उनका संग छोड़ दे । क्योंकि उनके संगसे चिंतारूपी समुद्रमें गिर पड़ेगा । जो समुद्र राग द्वेषरूपी कल्लोलोंसे व्याकुल है । उनके संगसे मनमें चिंता उत्पन्न होगी, और शरीरमें दाह होगा । यहाँ तात्पर्य यह है, कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिकी भावनासे विपरीत जो रागादि अशुद्ध परिणाम वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं, और व्यवहारनयकर मिथ्यात्वी रागी-द्वेषी पुरुष पर कहे गये हैं । इन सबकी संगति सर्वदा दुःख देनेवाली है, किसी प्रकार सुखदायी नहीं है, ऐसा निश्चय है ॥ १०९ ॥

आगे परद्रव्यका प्रसंग महान् दुःखरूप है, यह कथन दृष्टांतसे दृढ़ करते हैं—[ **खलैः सह** ] दुष्टोंके साथ [ **येषां** ] जिनका [ **संसर्गः** ] संबंध है, वह [ **भद्राणां अपि** ] उन विवेकी जीवोंके भी [ **गुणाः** ] सत्य शीलादि गुण [ **नश्यन्ति** ] नष्ट हो जाते हैं, जैसे [ **वैश्वानरः** ] आग [ **लोहेन** ] लोहेसे [ **मिलितः** ] मिल जाती है, [ **तेन** ] उसी [ **घनैः** ] घनोंसे [ **पिट्टयते** ] पीटी-कूटी जाती है । **भावार्थ**—विवेकी जीवोंके शीलादि गुण मिथ्यादृष्टी रागी द्वेषी अविवेकी जीवोंकी संगतिसे नाश हो जाते हैं । अथवा आत्माके निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावोंके सम्बंधसे मलिन हो जाते हैं । जैसे अग्नि लोहेके संगसे पीटी-कूटी जाती है । यद्यपि आगको घन कूट नहीं सकता, परंतु लोहेकी संगतिसे अग्नि भी कूटनेमें आती है, उसी तरह दोषोंके संगसे गुण भी मलिन हो जाते हैं । यह कथन जानकर आकुलता रहित सुखके घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप

अथ—

**जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तव-हलं महा-विउलं ।**
**तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥ १११*३ ॥**

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलम् ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥ १११*३ ॥

**जइ इच्छसि** यदि इच्छसि **भो साधो द्वादशविधतपःफलम्** । कथंभूतम् । **महद्विपुलं** स्वर्गापवर्गरूपं **ततः** कारणात् वीतरागनिजानन्दैकसुखरसास्वादानुभवेन तृप्तो भूत्वा **मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं** वर्जय इति तात्पर्यम् ॥ १११*३ ॥

उक्तं च—

**जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।**
**ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥ १११*४ ॥**

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।
ते मुनयः भोजनगृध्राः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ॥ १११*४ ॥

जे इत्यादि । **जे सरसिं संतुट्ठमण** ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः **विरसि कसाउ वहंति** विरसे विरसाहारे सति कषायं वहन्ति कुर्वन्ति ते ते पूर्वोक्ताः **मुणि** मुनयस्तपोधनाः **भोयणघार गणि** भोजनविषये गृध्रसदृशान्

---

साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रतका साधन शरीर है, तथा शरीरका साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाला आहारादि चार प्रकारका दान उसको श्रावक भक्तिसे देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक योगीश्वर महातपोधन आहारको ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते हैं । राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभावके शत्रु हैं, यह सारांश हुआ ॥ १११*२ ॥

आगे फिर भी भोजनकी लालसाको त्याग कराते हैं—[ **भो साधो** ] हे योगी; [ **यदि** ] जो तू [ **द्वादशविधतपःफलं** ] बारह प्रकार तपका फल [ **महद्विपुलं** ] बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष [ **इच्छसि** ] चाहता है, [ **ततः** ] तो वीतराग निजानंद एक सुखरसका आस्वाद उसके अनुभवसे तृप्त हुआ [ **मनोवचनयोः** ] मन वचन और [ **काये** ] कायसे [**भोजनगृद्धिं**] भोजनकी लोलुपताको [**विवर्जयस्व**] त्याग कर दे । यह सारांश है ॥१११*३॥

और भी कहा है—[ **ये** ] जो योगी [ **सरसेन** ] स्वादिष्ट आहारसे [ **संतुष्टमनसः** ] हर्षित होते हैं, और [ **विरसे** ] नीरस आहारमें [ **कषायं** ] क्रोधादि कषाय [ **वहंति** करते हैं, [ **ते मुनयः** ] वे मुनि [ **भोजने गृध्राः** ] भोजनके विषयमें गृद्धपक्षीके समान हैं,

गणय मन्यस्व जानीहि । इत्थंभूताः सन्तः णवि परमत्थु मुणंति नैव परमार्थं मन्यन्ते जानन्तीति । अयमत्र भावार्थः । गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते । कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । शुद्धोपयोग रमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति ॥ १११*४ ॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

**रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहिं णासंति ।**
**अलि-उल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥ ११२ ॥**

रूपे पतङ्गाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति ।
अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥ ११२ ॥

रूवि इत्यादि । रूपे समासक्ताः पतङ्गाः शब्दे मृगा गजाः स्पर्शैः गन्धेनालि-

---

ऐसा तू [ **गणय** ] समझ । वे [ **परमार्थं** ] परमतत्त्वको [ **नैव मन्यंते** ] नहीं समझते हैं । **भावार्थ**—जो कोई वीतरागके मार्गसे विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहारसे खुश होते हैं, कभी किसीके घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मनमें हर्ष करें, आहारके देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं । यदि किसीके घर रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थको बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजनके लोलुपी हैं । गृद्धपक्षीके समान हैं । ऐसे लोलुपी यती देहमें अनुरागी होते हैं, परमात्म-पदार्थको नहीं जानते । गृहस्थोंके तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं । जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परासे मोक्ष पावे । क्योंकि श्रावकका दानादिक ही परमधर्म है । वह ऐसे हैं, कि ये गृहस्थ-लोग हमेशा विषय कषायके आधीन हैं, इनसे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है, अर्थात् गृहस्थोंके शुभोपयोगकी ही मुख्यता है । और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या । श्रावकका तो यही बड़ा धरम है, जो कि यती, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे । और यतीका यही धर्म है, अन्न जलादिमें राग न करे, और मान अपमानमें समताभाव रक्खे । गृहस्थके घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले । जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे । दूध दही घी मिष्टान्न इनमें इच्छा न करे । यही जिनमार्गमें यतीकी रीति है ॥ १११*४ ॥

आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिके अभावमें जो विषयी जीव पाँच इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, उनका अकाज ( विनाश ) होता है, ऐसा दिखलाते हैं—[ रूपे ] रूपमें लीन हुए

प्रसिद्धा देवता पिट्टनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पञ्चेन्द्रियशरीरसंबन्धेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितो जीवो घनघातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं सहत इति॥ ११४ ॥

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति—

**जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।**
**णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११५ ॥**

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।
स्नेहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥ ११५ ॥

रागादिस्नेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं हे योगिन् स्नेहं परित्यज । कस्मात् । स्नेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन स्नेहेनासक्तं सकलं जगन्निःस्नेहशुद्धात्मभावनारहितं विविधशरीरमानसरूपं बहुदुःखं सहमानं पश्येति । अत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं मुक्त्वा तत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ स्नेहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम्। उक्तं च—"तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यते क्वचित् । स्नेहानुविद्धहृदयं दुःखमेव पदे पदे ॥" ॥ ११५ ॥

अथ स्नेहदोषं दृष्टान्तेन द्रढयति—

**जल-सिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।**
**णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥ ११६॥**

---

तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टी जीव घनघातके समान नरकादि दुःखोंको बहुत कालतक भोगता है ॥ ११४ ॥

आगे स्नेहका त्याग दिखलाते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; रागादि रहित वीतराग परमात्मपदार्थके ध्यानमें ठहरकर ज्ञानका वैरी [ **स्नेहं** ] स्नेह (प्रेम) को [ **परित्यज** ] छोड़, [ **स्नेहः** ] क्योंकि स्नेह [ **भद्रः न भवति** ] अच्छा नहीं है, [ **स्नेहासक्तं** ] स्नेहमें लगा हुआ [ **सकलं जगत्** ] समस्त संसारीजीव [ **दुःखं सहमानं** ] अनेक प्रकार शरीर और मनके दुःख सह रहे हैं, उनको तू [ **पश्य** ] देख । ये संसारीजीव स्नेह रहित शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिये नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं । दुःखका मूल एक देहादिकका स्नेह ही है। **भावार्थ**—यहाँ भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्व रागादिमें स्नेह नहीं करना, यह सारांश है। क्योंकि ऐसा कहा भी है, कि जबतक यह जीव जगत्से स्नेह न करे, तबतक सुखी है, और जो स्नेह सहित हैं, जिनका मन स्नेहसे बँध रहा है, उनको हर जगह दुःख ही है ॥ ११५ ॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखम् ।
स्नेहं लगित्वा तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्य ॥ ११६ ॥

**जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखं स्नेहनिमित्तं तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्येति । अत्र वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमसेवमाना अजानन्तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन निश्चलचित्तेनाभावयन्तश्च जीवा मिथ्यामार्गं रोचमानाः पञ्चेन्द्रियविषयासक्ताः सन्तो नरनारकादिगतिषु यन्त्रपीडनक्रकचविदारणशूलारोहणादि नानादुःखं सहन्त इति भावार्थः ॥ ११६ ॥**

**उक्तं च—**

**ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए।**
**वोदह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥ ११७ ॥**

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके ।
यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया ॥ ११७ ॥

**ते चैव धन्यास्ते चैव सत्पुरुषास्ते जीवन्तु जीवलोके । ते के । वोदहशब्देन यौवनं स एव द्रहो महाह्रदस्तत्र पतिताः सन्तस्तरन्ति ये चैव । कया । लीलयेति । अत्र विषयाकांक्षारूपस्नेहजलप्रवेशरहितेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रामूल्यरत्नभाण्डपूर्णेन निजशुद्धात्मभावनापोतेन यौवनमहाह्रदं ये तरन्ति त एव धन्यास्त एव सत्पुरुषा इति तात्पर्यम् ॥ ११७ ॥**

---

आगे स्नेहका दोष दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—[**तिलनिकरं**] जैसे तिलोंका समूह [**स्नेहं लगित्वा**] स्नेह (चिकनाई) के सम्बन्धसे [**जलसिंचनं**] जलसे भीगना, [**पादनिर्दलनं**] पैरोंसे खुँदना, [**यंत्रेण**] घानीमें [**पुनः पुनः**] बार बार [**पीडनदुःखं**] पिलनेका दुःख [**सहमानं**] सहता है, उसे [**पश्य**] देखो। **भावार्थ**—जैसे स्नेह (चिकनाई तेल) के सम्बन्ध होनेसे तिल घानीमें पेरे जाते हैं, उसी तरह जो पंचेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हैं—मोहित हैं, वे नाशको प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ११६ ॥

इस विषयमें कहा भी है—[**ते चैव धन्याः**] वे ही धन्य हैं, [**ते चैव सत्पुरुषाः**] वे ही सज्जन हैं, और [**ते**] वे ही जीव [**जीवलोके**] इस जीवलोकमें [**जीवंतु**] जीवते हैं, [**ये चैव**] जो [**यौवनद्रहे**] जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालावमें [**पतिताः**] पड़े हुए विषय-रसमें नहीं डूबते, [**लीलया**] लीला (खेल) मात्रमें ही [**तरंति**] तैर जाते हैं। वे ही प्रशंसा योग्य हैं। **भावार्थ**—यहाँ विषय-वांछारूप जो स्नेह-जल उसके प्रवेशसे रहित जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नोंसे भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जहाज उससे यौवन अवस्थारूपी महान् तालावको तैर जाते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, वे ही धन्य हैं, यह सारांश जानना, बहुत विस्तारसे क्या लाभ है ॥ ११७ ॥

किं वहुना विस्तरेण—

**मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिँ छंडिवि वहु-विहु रज्जु ।**
**भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ ११८ ॥**

मोक्षः एव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा वहुविधं राज्यम् ।
भिक्षाभोजन जीव त्वं करोपि न आत्मीयं कार्यम् ॥ ११८ ॥

मोक्खु जि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **मोक्खु जि साहिउ** मोक्ष एव साधितः निरवशेपनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकज्ञानादिगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षः स साधितः । कैः । **जिणवरहिं** जिनवरैः । किं कृत्वा । **छंडिवि** त्यक्त्वा । किम् । **वहुविहु रज्जु** सप्ताङ्गं राज्यम् । केन । भेदाभेदरत्नत्रयभावनावलेन । एवं ज्ञात्वा **भिक्खभरोडा जीव** भिक्षाभोजन हे जीव **तुहुं** त्वं **करहि ण अप्पउ कज्जु** किं न करोपि आत्मीयं कार्यमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ११८ ॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति संबोधयति—

**पावहि दुक्खु महंतु तुहुँ जिय संसारि भमंतु ।**
**अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥ ११९ ॥**

---

आगे मोक्षका कारण वैराग्यको दृढ़ करते हैं—[ **जिनवरैः** ] जिनेश्वरदेवने [ **वहुविधं** ] अनेक प्रकारका [ **राज्यं** ] राज्यका विभव [ **त्यक्त्वा** ] छोड़कर [ **मोक्ष एव** ] मोक्षको ही [ **साधितः** ] साधन किया, परंतु [ **जीव** ] हे जीव; [ **भिक्षाभोजन** ] भिक्षासे भोजन करनेवाला [ **त्वं** ] तू [ **आत्मीयं कार्यं** ] अपने आत्माका कल्याण भी [ **न करोपि** ] नहीं करता । **भावार्थ**—समस्त कर्ममल-कलंकसे रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंका स्थान तथा संसार-अवस्थासे अन्य अवस्थाका होना, वह मोक्ष कहा जाता है, उसी मोक्षको वीतरागदेवने राज्यविभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्यके सात अंग हैं, राजा, मंत्री, सेना वगैरः । ये जहाँ पूर्ण हों, वह उत्कृष्ट राज्य कहलाता है, वह राज्य तीर्थंकरदेवका है, उसको छोड़नेमें वे तीर्थंकर देरी नहीं करते । लेकिन तू निर्धन होकर आत्म-कल्याण नहीं करता । तू माया-जालको छोड़कर महान् पुरुषोंकी तरह आत्म-कार्य कर । उन महान् पुरुषोंने भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाके वलसे निजस्वरूपको जानकर विनाशीक राज्य छोड़ा, अविनाशी राज्यके लिये उद्यमी हुए । यहाँपर ऐसा व्याख्यान समझकर वाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना, तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर दुर्धर तप करना यह सारांश हुआ ॥ ११८ ॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।
अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्षं महान्तम् ॥ ११९ ॥

पावहि इत्यादि । **पावहि दुक्खु महंतु** प्राप्नोषि दुःखं महद्रूपं **तुहुं** त्वं **जिय** हे जीव । किं कुर्वन् । **संसारि भमंतु** निश्चयेन संसारे विपरीतशुद्धात्मविलक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चभेदभिन्नं संसारं भ्रमन् । तस्मात्किं कुरु । **अट्ठ वि कम्मइं णिद्दलिवि** शुद्धात्मोपलंभबलेनाष्टापि कर्माणि निर्मूल्य **वच्चहि** व्रज । कम् । **मुक्खु** स्वात्मोपलब्धिलक्षणं मोक्षम् । तथा चोक्तम्—' सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः ' । कथंभूतं मोक्षम् । **महंतु** केवलज्ञानादिमहागुणयुक्तत्वान्महान्तमित्यभिप्रायः ॥ ११९ ॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दुःखं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोषीति शिक्षां प्रयच्छति—

**जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ ।**
**चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥ १२० ॥**

जीव अणुमात्राण्यपि दुःखानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।
चतुर्गतिदुःखानां कारणानि कर्माणि करोषि किं तथापि ॥ १२० ॥

जिय इत्यादि । **जिय** हे मूढजीव **अणुमित्तु वि** अणुमात्राण्यपि । कानि । **दुक्खडा** दुःखानि **सहण ण सक्कहि** सोढुं न शक्नोषि **जोइ** पश्य । यद्यपि **चउगइ-**

---

आगे हे जीव; तू भी श्रीजिनराजकी तरह आठ कर्मोंका नाशकर मोक्षको जा, ऐसा समझाते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **त्वं** ] तू [ **संसारे** ] संसार-वनमें [ **भ्रमन्** ] भटकता हुआ [ **महद् दुःखं** ] महान् दुःख [ **प्राप्नोषि** ] पावेगा, इसलिये [ **अष्टापि कर्माणि** ] ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंको [ **निर्दल्य** ] नाश कर, [ **महांतं मोक्षं** ] सबमें श्रेष्ठ मोक्षको [ **व्रज** ] जा। **भावार्थ**—निश्चयकर संसारसे रहित जो शुद्धात्मा उससे जुदा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच तरहके परावर्तनस्वरूप संसार उसमें भटकता हुआ चारों गतियोंके दुःख पावेगा, निगोद-राशिमें अनंतकालतक रुलेगा। इसलिये आठ कर्मोंका क्षय करके शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे रागादिकका नाश कर, निर्वाणको जा। कैसा है वह निर्वाण, जो निजस्वरूपकी प्राप्ति वही जिसका स्वरूप है, और जो सबमें श्रेष्ठ है। केवलज्ञानादि महान् गुणोंकर सहित है। जिसके समान दूसरा कोई नहीं ॥ ११९ ॥

आगे जो थोड़े दुःख भी सहनेको असमर्थ है, तो ऐसे काम क्यों करता है, कि जन्मोंसे अनंतकालतक दुःख तू भोगे, ऐसी शिक्षा देते हैं—[ **जीव** ] हे मूढ़जीव; तू [ **अणुमात्राण्यपि** ] परमाणुमात्र ( थोड़े ) भी [ **दुःखानि** ] दुःख [ **सोढुं** ] सहनेको [ **न शक्नोषि** ] नहीं समर्थ है, [ **पश्य** ] देख [ **तथापि** ] तो फिर [ **चतुर्गतिदुःखानां** ] चार

**दुक्खहं कारणइं** परमात्मभावनोत्पन्नतात्त्विकवीतरागनित्यानन्दैकविलक्षणानां नारकादिदुःखानां कारणभूतानि **कम्मइं कुणहि** किं कर्माणि करोषि किमर्थं तोइ यद्यपि दुःखान्यनिष्टानि न भवन्ति तथापि इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा कर्मास्रवप्रतिपक्षभूतरागादिविकल्परहिता निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १२० ॥

अथ वहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिन्तयतीति प्रतिपादयति—

**धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइँ करइ अयाणु ।**
**मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ १२१ ॥**

धान्धे (?) पतितं सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानि ।
मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नव चिन्तयति आत्मानम् ॥ १२१ ॥

**धंधइ** इत्यादि । **धंधइ** धान्धे मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तोत्पन्ने दुर्ध्यानार्तरौद्रव्यासंगे **पडियउ** पतितं व्यासक्तम् । किम् । **सयलु जगु** समस्तं जगत्, शुद्धात्मभावनापराङ्मुखो मूढप्राणिगणः **कम्मइं करइ** कर्माणि करोति । कथंभूतं जगत् । **अयाणु** विशिष्टभेदज्ञानरहितं **मोक्खहं कारणु** अनन्तज्ञानादिस्वरूपमोक्षकारणं **एक्कु खणु** एकक्षणमपि **णवि चिंतइ** नैव ध्यायति । कम् । **अप्पाणु** वीतरागपरमाह्लादरसास्वादपरिणतं स्वशुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ १२१ ॥

---

गतियोंके दुःखके [ **कारणानि कर्माणि** ] कारण जो कर्म हैं, [ **किं करोपि** ] उनको क्यों करता है, **भावार्थ**—परमात्मकी भावनासे उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानंद परम स्वभाव उससे भिन्न जो नरकादिकके दुःख उनके कारण कर्म ही हैं । जो दुःख तुझे अच्छे नहीं लगते, दुःखोंको अनिष्ट जानता है, तो दुःखके कारण कर्मोंको क्यों उपार्जन करता है ? मत कर । यहाँपर ऐसा व्याख्यान जानकर कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रागादिक विकल्प-जालोंसे रहित जो निज शुद्धात्माकी भावना वही करनी चाहिये, ऐसा तात्पर्य जानना ॥ १२० ॥

आगे बाहरके परिग्रहमें लीन हुए जगत्के प्राणी क्षणमात्र भी आत्माका चिंतवन नहीं करते, ऐसा कहते हैं—[ **धांधे पतितं** ] जगत्के धंधेमें पड़ा हुआ [ **सकलं जगत्** ] सब जगत् [ **अज्ञानि** ] अज्ञानी हुआ [ **कर्माणि** ] ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंको [ **करोति** ] करता है, परंतु [ **मोक्षस्य कारणं** ] मोक्षके कारण [ **आत्मानं** ] शुद्ध आत्माको [ **एकं क्षणं** ] एकक्षण भी [ **नैव चिंतयति** ] नहीं चिन्तवन करता । **भावार्थ**—भेदविज्ञानसे रहित ये मूढ प्राणी शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख हैं, इसलिये शुभाशुभ कर्मोंका ही बंध करता है, और अनंतज्ञानादिस्वरूप मोक्षका कारण जो वीतराग परमानंदरूप निजशुद्धात्मा उसका एकक्षण भी विचार नहीं करता । सदा ही आर्त रौद्र ध्यानमें लग रहा है ऐसा सारांश है ॥ १२१ ॥

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

**जोणि-लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।**
**पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥ १२२ ॥**

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।
पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ॥ १२२ ॥

जोणि इत्यादि । **जोणिलक्खइं परिभमइ** चतुरशीतियोनिलक्षाणि परिभ्रमति । कोऽसौ । **अप्पा** बहिरात्मा । किं कुर्वन् । **दुक्खु सहंतु** निजपरमात्मतत्त्वध्यानोत्पन्नवीतरागसदानन्दैकरूपान्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं शारीरमानसदुःखं सहमानः । कथंभूतः सन् । **पुत्तकलत्तहिं मोहियउ** निजपरमात्मभावनाप्रतिपक्षभूतैः पुत्रकलत्रैः मोहितः । किंपर्यन्तम् । **जाव ण** यावत्कालं न । किम् । **णाणु** ज्ञानम् । किंविशिष्टम् । **महंतु** महतो मोक्षलक्षणस्यार्थस्य साधकत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं महदित्युच्यते । तेन कारणेन तदेव निरन्तरं भावनीयमित्यभिप्रायः ॥ १२२ ॥

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति—

**जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।**
**कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिँ दिट्ठु ॥ १२३ ॥**

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजनं तनुः इष्टम् ।
कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टम् ॥ १२३ ॥

---

आगे उसी बातको दृढ़ करते हैं—[ **यावत्** ] जबतक [ **महत् ज्ञानं न** ] सबसे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है, तबतक [ **आत्मा** ] यह जीव [ **पुत्रकलत्रैः मोहितः** ] पुत्र स्त्री आदिकोंसे मोहित हुआ [ **दुःखं सहमानः** ] अनेक दुःखोंको सहता हुआ [ **योनिलक्षाणि** ] चौरासी लाख योनियोंमें [ **परिभ्रमति** ] भटकता फिरता है । **भावार्थ**—यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें अनेक तरहके ताप सहता हुआ भटक रहा है, निज परमात्मतत्त्वके ध्यानसे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप निर्व्याकुल अतीन्द्रिय सुखसे विमुख जो शरीरके तथा मनके नाना तरहके सुख दुःखोंको सहता हुआ भ्रमण करता है । निज परमात्माकी भावनाके शत्रु जो देहसम्बंधी माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र, कलत्रादि उनसे मोहित है, तबतक अज्ञानी है, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे रहित है, वह ज्ञान मोक्षका साधन है, ज्ञान ही से मोक्षकी सिद्धि होती है । इसलिये हमेशा ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये ॥ १२२ ॥

आगे हे जीव; तू घर परिवार और शरीरादिका ममत्व मत कर, ऐसा समझाते

जीव इत्यादि । **जीव म जाणहि** हे जीव मा जानीहि **अप्पणउं** आत्मीयम् । किम् । **घरु परियणु तणु इट्ठु** गृहं परिजनं शरीरमिष्टमित्रादिकम् । कथंभूतमेतत् । **कम्मायत्तउ** शुद्धचेतनास्वभावादमूर्तात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणं यत्कर्म तदुदयेन निर्मितत्वात् कर्मायत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । **कारिमउ** अकृत्रिमात् टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतत्वात् कृत्रिमं विनश्वरम् । इत्थंभूतं **दिट्ठु** दृष्टम् । कैः । **जोइहिं** परमज्ञानसंपन्नदिव्ययोगिभिः । क्व दृष्टम् । **आगमि** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमे इति । अत्रेदमध्रुवव्याख्यानं ज्ञात्वा ध्रुवे स्वशुद्धात्मस्वभावे स्थित्वा गृहादिपरद्रव्ये ममत्वं न कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ १२३ ॥

अथ गृहपरिवारादिचिन्तया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति—

**मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु ।**
**तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥ १२४ ॥**

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिन्तयन् ।
ततः वरं चिन्तय तपः एव तपः प्राप्नोषि मोक्षं महान्तम् ॥ १२४ ॥

मुक्खु इत्यादि । **मुक्खु** कर्ममलकलङ्करहितकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं मोक्षं **ण पावहि** न प्राप्नोषि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च **जीव** हे मूढ जीव **तुहुं** त्वम् । किं कुर्वन् सन् । **घरु परियणु चिंतंतु** गृहपरिवारा-

---

हैं—[ **जीव** ] हे जीव; तू [ **गृहं** ] घर [ **परिजनं** ] परिवार [ **तनुः** ] शरीर [ **इष्टं** ] और मित्रादिकोंको [ **आत्मीयं मा जानीहि** ] अपने मत जान, क्योंकि [ **आगमे** ] परमागममें [ **योगिभिः** ] योगियोंने [ **दृष्टं** ] ऐसा दिखलाया है, कि ये [ **कर्मायत्तं** ] कर्मोंके आधीन हैं, और [ **कृत्रिमं** ] विनाशीक हैं । **भावार्थ**—ये घर वगैरह शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तीक निज आत्मासे भिन्न जो शुभाशुभ कर्म उसके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये कर्माधीन हैं, और विनश्वर होनेसे शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत हैं । शुद्धात्मद्रव्य किसीका बनाया हुआ नहीं है, इसलिये अकृत्रिम है, अनादि सिद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है । जो टाँकीसे गढ़ा हुआ न हो विना ही गढ़ी पुरुषाकार अमूर्तीक मूर्ति है । ऐसे आत्मस्वरूपसे ये देहादिक भिन्न हैं, ऐसा सर्वज्ञकथित परमागममें परमज्ञानके धारी योगीश्वरोंने देखा है । यहाँपर पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर आदि सबको अनित्य जानकर नित्यानंदरूप निज शुद्धात्म स्वभावमें ठहरकर गृहादिक परद्रव्यमें ममता नहीं करना ॥ १२३ ॥

आगे घर परिवारादिककी चिंतासे मोक्ष नहीं मिलती, ऐसा निश्चय करते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **त्वं** ] तू [ **गृहं परिजनं** ] घर परिवार वगैरःकी [ **चिंतयन्** ] चिंता

दिकं परद्रव्यं चिन्तयन् सन् तो ततः कारणात् वरि वरं किंतु चिंतहि चिन्तय ध्याय । किम् । तउ जि तउ तपस्तप एव विचिन्तय नान्यत् । तपश्चरणाचिन्तनात् किं फलं भवति । पावहि प्राप्नोषि । कम् । मोक्खु पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षम् । कथंभूतम् । महंतु तीर्थकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रितत्वान्महान्तमिति । अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानन्दपरमात्मरूपे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा गृहादिममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १२४ ॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति—

**मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।**
**पुत्त-कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥ १२५ ॥**

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि ।
पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥ १२५ ॥

मारिवि इत्यादि । **मारिवि जीवहं लक्खडा** रागादिविकल्परहितस्य स्वस्वभावनालक्षणस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यन्तरे वधं कृत्वा बहिर्भागे चानेकजीवलक्षाणाम् । केन हिंसोपकरणेन । **पुत्तकलत्तहं कारणइं** पुत्रकलत्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपतीक्ष्णशस्त्रेण । **जं जिय पाउ करीसि** हे जीव यत्पापं करिष्यसि **तं तुहुं एक्कु सहीसि** तत्पापफलं त्वं कर्ता नरकादिगतिष्वेकाकी सन्

---

करता हुआ [ **मोक्षं** ] मोक्ष [ **न प्राप्नोति** ] कभी नहीं पासकता, [ **ततः** ] इसलिये [ **वरं** ] उत्तम [ **तपः एव तपः** ] तपका ही बारम्बार [ **चिंतय** ] चिंतवन कर, क्योंकि तपसे ही [ **महांतं मोक्षं** ] श्रेष्ठ मोक्ष सुखको [ **प्राप्नोषि** ] पा सकेगा । **भावार्थ**—तू गृहादि परवस्तुओंको चिंतवन करता हुआ कर्म-कलंक रहित केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्षको नहीं पावेगा, और मोक्षका मार्ग जो निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रय उसको भी नहीं पावेगा । इन गृहादिके चिंतवनसे भव-वनमें भ्रमण करेगा । इसलिये इनका चिंतवन तो मत कर, लेकिन बारह प्रकारके तपका चिंतवन कर । इसीसे मोक्ष पायगा । वह मोक्ष तीर्थंकर परमदेवाधिदेव महापुरुषोंसे आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट है । मोक्षके समान अन्य पदार्थ नहीं । यहाँ परद्रव्यकी इच्छाको रोककर वीतराग परम आनंदरूप जो परमात्मस्वरूप उसके ध्यानमें ठहरकर घर परिवारादिकका ममत्व छोड़, एक केवल निजस्वरूपकी भावना करना यह तात्पर्य है । आत्म-भावनाके सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है ॥ १२४ ॥

आगे जीवहिंसाका दोष दिखलाते हैं—[ **जीवानां लक्षाणि** ] लाखों जीवोंको [ **मारयित्वा** ] मारकर [ **जीव** ] हे जीव; [ **यत्** ] जो तू [ **पापं करिष्यसि** ] पाप करता है, [ **पुत्रकलत्राणां** ] पुत्र स्त्री वगैरहके [ **कारणेन** ] कारण [ **तत् त्वं** ] उसके फलको

सहिष्यसे हि । अत्र रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा भण्यते। कस्मात् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा । तदपि कस्मात् । निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात् । इति ज्ञात्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याज्येति भावार्थः । तथा चोक्तं निश्चयहिंसालक्षणम्–" रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेत्ति देसिदं समए । तेसिं चेवुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ " ॥ १२५ ॥

अथ तमेव हिंसादोषं द्रढयति—

**मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि ।**
**तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइँ जीव लहीसि ॥ १२६ ॥**

---

तू [ **एक** ] अकेला [ **सहिष्यसे** ] सहेगा । **भावार्थ**—हे जीव; तू पुत्रादि कुटुम्बके लिये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करता है, तथा अंतरंगमें रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य प्राणोंका घात करता है, अपने प्राण रागादिक मैलसे मैले करता है, और बाह्यमें अनेक जीवोंकी हिंसा करके अशुभ कर्मोंको उपार्जन करता है, उनका फल तू नरकादि गतिमें अकेला सहेगा । कुटुम्बके लोग कोई भी तेरे दुःखके बटानेवाले नहीं हैं, तू ही सहेगा । श्रीजिनशासनमें हिंसा दो तरहकी है । एक आत्मघात दूसरी परघात । उनमेंसे जो मिथ्यात्व रागादिकके निमित्तसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप जो तीक्ष्ण शस्त्र उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंको हतना, वह निश्चयहिंसा है, रागादिककी उत्पत्ति वह निश्चयहिंसा है । क्योंकि इन विभावोंसे निज भाव घाते जाते हैं । ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चयहिंसा त्यागना । यही निश्चयहिंसा आत्मघात है । और प्रमादके योगसे अविवेकी होकर एकेंद्री दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री पंचेंद्री जीवोंका घात करना वह परघात है । जब इसने परजीवका घात विचारा, तब इसके परिणाम मलिन हुए, और भावोंकी मलिनता ही निश्चयहिंसा है, इसलिये परघातरूप हिंसा आत्मघातका कारण है । जो हिंसक जीव हैं, वह परजीवोंका घातकर अपना घात करता है । यह स्वदया परदयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना । हिंसाके समान अन्य पाप नहीं है । निश्चयहिंसाका स्वरूप सिद्धांतमें दूसरी जगह ऐसा कहा है—जो रागादिकका अभाव वही शास्त्रमें अहिंसा कही है, और रागादिककी उत्पत्ति वहीं हिंसा है, ऐसा कथन जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिखलाया है । अर्थात् जो रागादिकका अभाव वह स्वदया और जो प्रमाद रहित विवेकरूप करुणाभाव वह परदया है । यह स्वदया परदया धर्मका मूलकारण है । जो पापी हिंसक होगा उसके परिणाम निर्मल नहीं होसकते, ऐसा निश्चय है, परजीव घात तो उसकी आयुके अनुसार है, परंतु इसने जब परघात विचारा, तब आत्मघाती हो चुका ॥ १२५ ॥

मारयित्वा चूर्णयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं कारिष्यासि ।
तत्तदपेक्षया अनन्तगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥ १२६ ॥

मारिवि इत्यादि । **मारिवि** बहिर्विषये अन्यजीवान् प्राणिप्राणवियोगलक्षणेन मारयित्वा **चूरिवि** हस्तपादाद्येकदेशच्छेदरूपेण चूरयित्वा । कान् । **जीवडा** जीवान् निश्चयेनाभ्यन्तरे तु मिथ्यात्वरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्रेण शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयप्राणांश्च **जं तुहुं दुक्खु करीसि** यद्दुःखं त्वं कर्ता करिष्यसि तेषु पूर्वोक्तस्वपरजीवेषु **तं तह पासि अणंतगुणु** तद्दुःखं तदपेक्षया अनन्तगुणं **अवसइं** अवश्यमेव **जीव** हे मूढजीव **लहीसि** प्राप्नोषीति । अत्रायं जीवो मिथ्यात्वरागादिपरिणतः पूर्वं स्वयमेव निजशुद्धात्मप्राणं हिनस्ति बहिर्विषये अन्यजीवानां प्राणघातो भवतु मा भवतु नियमो नास्ति । परघातार्थं तप्तायःपिण्डग्रहणेन स्वहस्तदाहवत् इति भावार्थः । तथा चोक्तम्— "स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् । पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥" ॥ १२६ ॥

---

आगे उसी हिंसाके दोषको फिर निंदते हैं, और दयाधर्मको दृढ़ करते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **यत् त्वं** ] जो तू [ **जीवान्** ] परजीवोंको [ **मारयित्वा** ] मारकर [ **चूरयित्वा** ] चूरकर [ **दुःखं करिष्यसि** ] दुःखी करता है, [ **तत्** ] उसका फल [ **तदपेक्षया** ] उसकी अपेक्षा [ **अनंतगुणं** ] अनंतगुणा [ **अवश्यमेव** ] निश्चयसे [ **लभसे** ] पावेगा । **भावार्थ**—निर्दयी होकर अन्य जीवोंके प्राण हरना, परजीवोंका शस्त्रादिकसे घात करना; वह मारना है, और हाथ पैर आदिकसे, तथा लाठी आदिसे परजीवोंको काटना, एकदेश मारना वह चूरना है, यह हिंसा ही महा पापका मूल है । निश्चयनयसे अभ्यन्तरमें मिथ्यात्व रागादिरूप तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शुद्धात्मानुभूतिरूप अपने निश्चयप्राणोंको हत रहा है, क्लेशरूप करता है, उसका फल अनंत दुःख अवश्य सहेगा । इसलिये हे मूढ़ जीव, परजीवोंको मत मारे, और मत चूरे, तथा अपने भाव हिंसारूप मत कर, उज्ज्वल भाव रख, जो तू जीवोंको दुःख देगा, तो निश्चयसे अनंतगुणा दुःख पावेगा । यहाँ सारांश यह है—जो यह जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ पहले तो अपने भावप्राणोंका नाश करता है, परजीवका घात हो या न हो, परजीवका घात तो उसकी आयु पूर्ण होगई हो, तब होता है, अन्यथा नहीं, परंतु इसने जब परका घात विचारा, तब यह आत्मघाती हो चुका । जैसे गरम लोहेका गोला पकड़नेसे अपने हाथ तो निस्संदेह जल जाते हैं । इससे यह निश्चय हुआ, कि जो परजीवोंपर खोटे भाव करता है, वह आत्मघाती है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो आत्मा कषायवाला है, निर्दयी है, वह पहले तो आप ही अपनेसे अपना घात करता है, इसलिये आत्मघाती है, पीछे परजीवका घात होवे, या न होवे । जीवकी आयु बाकी रही हो, तो यह नहीं मार सकता, परंतु इसने मारनेके भाव किये;

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

**जीव वहंतहँ णरय-गइ अभय-पदाणेँ सग्गु ।**
**बे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु ॥ १२७ ॥**

जीवं घ्नतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः ।
द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥ १२७ ॥

जीव वहंतहं इत्यादि । जीव वहंतहं निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं वधं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेन्द्रियबलायुःप्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च वधं कुर्वतां णरयगइ नरकगतिर्भवति अभयपदाणें निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां च कुर्वतां सग्गु स्वस्याभयप्रदानेन मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयप्रदानेन स्वर्गश्चेति बे पह जवला दरिसिया एवं द्वौ पन्थानौ समीपे दर्शितौ । जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव त्वमिति । कश्चिदज्ञानी प्राह । प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे पापबन्धो भविष्यतीति । परिहारमाह । कथंचिद्भेदाभेदः । तथाहि—स्वकीय-

---

इस कारण निस्संदेह हिंसक हो चुका, और जब हिंसाके भाव हुए, तब ये कषायवान् हुआ । कषायवान् होना ही आत्मघात है ॥ १२६ ॥

आगे जीवहिंसाका फल नरकगति है, और रक्षा करनेसे स्वर्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—[ **जीवं घ्नतां** ] जीवोंको मारनेवालोंकी [ **नरकगतिः** ] नरकगति होती है, [ **अभयप्रदानेन** ] अभयदान देनेसे [ **स्वर्गः** ] स्वर्ग होता है, [ **द्वौ पन्थानौ** ] ये दोनों मार्ग [ **समीपे** ] अपने पास [ **दर्शितौ** ] दिखलाये हैं, [ **यत्र** ] जिसमें [ **रोचते** ] तेरी रुचि हो, [ **तत्र** ] उसीमें [ **लग** ] तू लग जा । **भावार्थ**—निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणामरूप निजघात और व्यवहारनयकर परजीवोंके इंद्री, बल, आयु, श्वासोच्छासरूप प्राणोंका विनाश उसरूप परप्राणघात सो प्राणघातियोंके नरकगति होती है । हिंसक जीव नरक ही के पात्र हैं । निश्चयनयकर वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावोंका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहारनयकर परप्राणियोंके प्राणोंकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप **अभयदान** है, उसके करनेवालोंके स्वर्ग मोक्ष होता है, इसमें संदेह नहीं है । इनमेंसे जो अच्छा मालूम पड़े उसे करो । ऐसी श्रीगुरूने आज्ञा की । ऐसा कथन सुनकर कोई अज्ञानी जीव तर्क करता है, कि जो ये प्राण जीवसे जुदे हैं, कि नहीं ? यदि जीवसे जुदे नहीं हैं, तो जैसे जीवका नाश

प्राणे हते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबन्धः । यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न स्यान्न च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापबन्धोऽपि न च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ १२७ ॥

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति——

**मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।**
**सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥ १२८ ॥**

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्तः मा तुषं कण्डय ।
शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥ १२८ ॥

---

नहीं है, वैसे प्राणोंका भी नाश नहीं होसकता ? अगर जुदे हैं, अर्थात् जीवसे सर्वथा भिन्न हैं, तो इन प्राणोंका नाश नहीं होसकता । इस प्रकारसे जीवहिंसा है ही नहीं, तुम जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो ? इसका समाधान—जो ये इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास और प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं, किसी नयसे भिन्न हैं । ये दोनों नय प्रमाणीक हैं । अब अभेद कहते हैं, सो सुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो व्यवहारनयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है, उसीसे पापका बंध होता है । और जो इन प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें, देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें, तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता है, वैसे अपने देहके घातमें भी दुःख न होना चाहिये, इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकत्व दीखता है, परंतु निश्चयसे एकत्व नहीं है । यदि निश्चयसे एकपना होवे, तो देहके विनाश होनेसे जीवका विनाश हो जावे, सो जीव अविनाशी है । जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता है, तब देह नहीं जाती है । इसलिये जीव और देहमें भेद भी है । यद्यपि निश्चयनयकर भेद है, तो भी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है, सो जीवको दुःखी करना यही हिंसा है, और हिंसासे पापका बंध होता है । निश्चयनयकर जीवका घात नहीं होता, यह तूने कहा, वह सत्य है, परंतु व्यवहारनयकर प्राणवियोगरूप हिंसा है ही, और व्यवहारनयकर ही पाप है, और पापका फल नरकादिकके दुःख हैं, वे भी व्यवहारनयकर ही हैं । यदि तुझे नरकके दुःख अच्छे लगते हैं, तो हिंसा कर, और नरकका भय है, तो हिंसा मत कर । ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका संशय मेंटा ॥ १२७ ॥

मूढा इत्यादि। **मूढा सयलु वि कारिमउ** हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पञ्चेन्द्रियविषयरूपं समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं **भुल्लउ मं तुस कंडि** भ्रान्तो भूत्वा तुषकण्डनं मा कुरु। एवं विनश्वरं ज्ञात्वा **सिवपहि णिम्मलि** शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो मुक्तात्मा तस्य प्राप्त्युपायः पन्था निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादिरहितत्वेन निर्मलः **करहि रइ** इत्थंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु **घरु परियणु लहु छंडि** पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं शीघ्रं त्यजेति तात्पर्यम् ॥ १२८ ॥

अथ पुनरप्यध्रुवानुपेक्षां प्रतिपादयति—

**जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ।**
**जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥ १२९ ॥**

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि।
जीवेन यातेन देहो न गतः इमं दृष्टान्तं पश्य ॥ १२९ ॥

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **सयलु वि कारिमउ** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावादकृत्रिमाद्वीतरागनित्यानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनः सकाशाद् यदन्यन्मनोवाक्कायव्यापाररूपं तत्समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं **णिक्कारिमउ ण कोइ** अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं संसारे किमपि नास्ति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह। **जीविं**

---

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं, कि तू मोक्ष-मार्गमें प्रीति कर—[ **मूढ** ] हे मूढ़ जीव, [ **सकलमपि** ] शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक [ **कृत्रिमं** ] विनाशवाले हैं, तू [ **भ्रांतः** ] भ्रम ( भूल ) से [ **तुषं मा कंडय** ] भूसेका खंडन मत कर। तू [ **निर्मले** [ परमपवित्र [ **शिवपथे** ] मोक्ष-मार्गमें [ **रतिं** ] प्रीति [ **कुरु** ] कर, [ **गृहं परिजनं** ] और मोक्ष-मार्गका उद्यमी होके घर परिवार आदिको [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **त्यज** ] छोड़। **भावार्थ**—हे मूढ़; शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेन्द्री विषयरूप पदार्थ नाशवान् हैं, तू भ्रमसे भूला हुआ असार भूसेके कूटनेकी तरह कार्य न कर, इस सामग्रीको विनाशीक जानकर शीघ्र ही मोक्ष-मार्गके घातक घर परिवार आदिकको छोड़कर, मोक्ष-मार्गका उद्यमी होके, ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्तिका उपाय जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीति कर। जो मोक्ष-मार्ग रागादिकसे रहित होनेसे महा निर्मल है ॥ १२८ ॥

आगे फिर भी अनित्यानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **सकलमपि** ] सभी [ **कृत्रिमं** ] विनश्वर हैं, [ **निःकृत्रिमं** ] अकृत्रिम [ **किमपि** ] कोई भी वस्तु [ **न** ] नहीं है, [ **जीवेन याता** ] जीवके जानेपर उसके साथ [ **देहो न गतः** ] शरीर भी नहीं जाता,

जंतिं कुडि ण गय शुद्धात्मतत्त्वभावनारहितेन मिथ्यात्वविषयकषायासक्तेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तत्कर्मसहितेन जीवेन भवान्तरं प्रति गच्छतापि कुडिशब्दवाच्यो देहः सहैव न गत इति हे जीव इहु पडिछंदा जोइ इमं दृष्टान्तं पश्येति। अत्रेदमध्रुवं ज्ञात्वा देहममत्वप्रभृतिविभावरहितनिजशुद्धात्मपदार्थभावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ १२९ ॥

अथ तपोधनं प्रत्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

**देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु।**
**वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ १३० ॥**

देवकुलं देवोऽपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोऽपि काव्यम्।
वृक्षः यद् दृश्यते कुसुमितं इन्धनं भविष्यति सर्वम् ॥ १३० ॥

देउलु इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। देउलु निर्दोषिपरमात्मस्थापनाप्रतिमाया रक्षणार्थं देवकुलं मिथ्यात्वदेवकुलं वा, देउ वि तस्यैव परमात्मनोऽनन्तज्ञानादिगुणस्मरणार्थं धर्मप्रभावनार्थं वा प्रतिमास्थापनारूपो देवो रागादिपरिणतदेवताप्रतिमारूपो वा, सत्थु वीतरागनिर्विकल्पात्मतत्त्वप्रभृतिपदार्थप्रतिपादकं शास्त्रं मिथ्याशास्त्रं वा, गुरु लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानादिगुणसमृद्धस्य परमात्मनः प्रच्छादको मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपो महाऽज्ञानान्धकारदर्पो तद्व्यापियद्वचनदिनकरकिरणविदारितः सन् क्षणमात्रेण च विलयं गतः स च जिनदीक्षादायकः श्रीगुरुः तद्विपरीतो मिथ्यागुरुर्वा, तित्थु वि संसारतरणोपायभूतनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारूपनिश्चयतीर्थं

---

[ इमं दृष्टांतं ] इस दृष्टान्तको [ पश्य ] प्रत्यक्ष देखो। **भावार्थ**—हे योगी; टंकोत्कीर्ण ( अघटित घाट—विना टाँकीका गढ़ा ) अमूर्तीक पुरुषाकार आत्मा केवल ज्ञायक स्वभाव अकृत्रिम वीतराग परमानंदस्वरूप, उससे जुदे जो मन वचन कायके व्यापार उनको आदि ले सभी कार्य पदार्थ विनश्वर हैं। इस संसारमें देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है, जैसा शुद्ध बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादिमेंसे कोई भी नहीं है, सब क्षणभंगुर हैं। शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित जो मिथ्यात्व विषय कषाय हैं उनसे आसक्त होके जीवने जो कर्म उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंसे जब यह जीव परभवमें गमन करता है, तब शरीर भी साथ नहीं जाता। इसलिये इस लोकमें इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादिकी ममता छोड़ना चाहिये, और सकल विभाव रहित निज शुद्धात्म पदार्थकी भावना करनी चाहिये ॥ १२९ ॥

आगे मुनिराजोंको देवल आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुए अध्रुवानुप्रेक्षाको कहते हैं—[ देवकुलं ] अरहंतदेवकी प्रतिमाका स्थान जिनालय [ देवोऽपि ] श्रीजिनेंद्रदेव [ शास्त्रं ] जैनशास्त्र [ गुरुः ] दीक्षा देनेवाले गुरु [ तीर्थमपि ] संसार-सागरसे

तत्स्वरूपरतः परमतपोधनानां आवासभूतं तीर्थकदम्बकमपि मिथ्यातीर्थसमूहो वा, वेउ वि निर्दोषिपरमात्मोपदिष्टवेदशब्दवाच्यः सिद्धान्तोऽपि परकल्पितवेदो वा, कव्वु शुद्धजीवपदार्थादीनां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्धविचित्रकथाकाव्यं वा, वच्छु परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनामकर्म तदुदयजनितं वृक्षकदम्बकं जो दीसइ कुसुमियउ यद् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं इंधणु होसइ सव्वु तत्सर्वं कालाग्नेरिन्धनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थः । अत्र तथा तावत् पञ्चेन्द्रियविषये मोहो न कर्तव्यः, प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनादिनिमित्तानि देवकुलदेवप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्मभावना कालेन कर्तव्येति संबन्धः ॥ १३० ॥

---

तैरनेके कारण परमतपस्वियोंके स्थान सम्मेदशिखर आदि [ **वेदोऽपि** ] द्वादशांगरूप सिद्धांत [ **काव्यं** ] गद्य पद्यरूप रचना इत्यादि [ **यद् वस्तु कुसुमितं** ] जो वस्तु अच्छी या बुरी दीखनेमें आती हैं, वे [ **सर्वं** ] सब [ **इंधनं** ] कालरूपी अग्निका ईंधन [ **भविष्यति** ] हो जावेगी । **भावार्थ**—निर्दोषि परमात्मा श्रीअरहंतदेव उनकी प्रतिमाके पधरानेके लिये जो गृहस्थोंने **देवालय** ( जैनमंदिर ) बनाया है, वह विनाशीक हैं, अनंत ज्ञानादिगुणरूप श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा धर्मकी प्रभावनाके अर्थ भव्यजीवोंने देवालयमें स्थापन की है, उसे देव कहते हैं, वह भी विनश्वर है । यह तो जिनमंदिर और जिनप्रतिमाका निरूपण किया, इसके सिवाय अन्य देवोंके मंदिर और अन्यदेवकी प्रतिमायें सब ही विनश्वर हैं; वीतरागनिर्विकल्प जो आत्मतत्त्व उसको आदि ले जीव अजीवादि सकल पदार्थ उनका निरूपण करनेवाला जो जैन**शास्त्र** वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्तिकी अपेक्षा नित्य है, तो भी वक्ता श्रोता पुस्तकादिककी अपेक्षा विनश्वर ही है, और जैन सिवाय जो सांख्य पातंजल आदि परशास्त्र हैं, वे भी सब विनाशीक हैं । जिनदीक्षाके देनेवाले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानादि गुणोंकर पूर्ण परमात्माके रोकनेवाला जो मिथ्यात्व रागादि परिणत महा अज्ञानरूप अंधकार उसके दूर करनेके लिये सूर्यके समान जिनके वचनरूपी किरणोंसे मोहांधकार दूर होगया है, ऐसे महामुनि **गुरु** हैं, वे भी विनश्वर हैं, आर उनके आचरणसे विपरीत जो अज्ञान तापस मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं । संसार-समुद्रके तरनेका कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी भावनारूप जो निश्चयतीर्थ उसमें लीन परमतपोधनका निवासस्थान सम्मेदशिखर गिरनार आदिक **तीर्थ** वे भी विनश्वर हैं, और जिनतीर्थके सिवाय जो पर यतियोंका निवास वे परतीर्थ वे भी विनाशीक हैं । निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव उनकर उपदेश किया गया जो द्वादशांग सिद्धांत वह **वेद** है, वह यद्यपि सदा सनातन है, तो भी क्षेत्रकी अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय किसी क्षेत्रमें पाया जाता है, किसी समय नहीं पाया जाता, भरतक्षेत्र ऐरावत

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमध्रुवमिति प्रकटयति—

**एक्कु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु ।**
**पुहविहिँ णिम्मिउ भंगुरउ एहउ वुज्झि विसेसु ॥ १३१ ॥**

एकमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
पृथिव्यां निर्मापितं भङ्गुरं एतद् बुध्यस्व विशेषम् ॥ १३१ ॥

**एक्कु जि** इत्यादि । **एक्कु जि** एकमेव **मेल्लिवि** मुक्त्वा । किम् । **बंभु परु** परमब्रह्मशब्दवाच्यं नानावृक्षभेदभिन्नवनमिव नानाजीवजातिभेदभिन्नं शुद्धसंग्रहनयेन शुद्धजीवद्रव्यं **भुवणु वि** भुवनमपि **एहु** इदं प्रत्यक्षीभूतम् । कतिसंख्योपेतम् । **असेसु** अशेषं समस्तमपि । कथंभूतमिदं सर्वं **पुहविहिं णिम्मिउ** पृथिव्यां लोके निर्मापितं **भंगुरउ** विनश्वरं **एहउ वुज्झि विसेसु** इमं विशेषं बुध्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट,

---

क्षेत्रमें कभी प्रगट हो जाता है, कभी विलय हो जाता है, और महाविदेहक्षेत्रमें यद्यपि प्रवाहकर सदा शाश्वता है, तो भी वक्ता श्रोता व्याख्यानकी अपेक्षा विनश्वर है, वे ही वक्ता श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते, इसलिये विनश्वर है, और परमतियोंकर कहा गया जो हिंसारूप वेद वह भी विनश्वर है । शुद्ध जीवादि पदार्थोंका वर्णन करनेवाली संस्कृत प्राकृत छटारूप गद्य व छंदबंधरूप पद्य उस स्वरूप और जिसमें विचित्र कथायें हैं, ऐसे सुंदर काव्य कहे जाते हैं, वे भी विनश्वर हैं । इत्यादि जो जो वस्तु सुन्दर और खोटे कवियोंकर प्रकाशित खोटे काव्य भी विनश्वर हैं । इत्यादि जो जो वस्तु सुन्दर और असुन्दर दीखती हैं, वे सब कालरूपी अग्निका ईंधन हो जावेगीं । तात्पर्य यह है, कि सब भस्म हो जावेंगी, और परमात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किया जो वनस्पतिनामकर्म उसके उदयसे वृक्ष हुआ, सो वृक्षोंके समूह जो फूले फले दीखते हैं, वे सब ईंधन हो जावेंगे । संसारका सब ठाठ क्षणभंगुर है, ऐसा जानकर पंचेंद्रियोंके विषयोंमें मोह नहीं करना, विषयका राग सर्वथा त्यागना योग्य है । प्रथम अवस्थामें यद्यपि धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका निमित्त जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म, तथा जैनधर्मी इनमें प्रेम करना योग्य है, तो भी शुद्धात्माकी भावनाके समय यह धर्मानुराग भी नीचे दरजेका गिना जाता है, वहाँपर केवल वीतरागभाव ही है ॥१३०॥

आगे शुद्धात्मस्वरूपसे अन्य जो सामग्री है, वह सभी विनश्वर है, ऐसा व्याख्यान करते हैं—[ **एकं परं ब्रह्म एव** ] एक शुद्ध जीवद्रव्यरूप परब्रह्मको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **पृथिव्यां** ] इस लोकमें [ **इदं अशेषं भुवनमपि निर्मापितं** ] इस समस्त लोकके पदार्थोंकी रचना है, वह सब [ **भंगुरं** ] विनाशीक है, [ **एतद् विशेषं** ] इस विशेष बातको तू [ **बुध्यस्व** ] जान। **भावार्थ**—शुद्धसंग्रहनयकर समस्त जीव-राशि एक है । जैसे नाना प्रकारके वृक्षोंकर भरा हुआ वन एक कहा जाता है, उसी तरह नाना प्रकारके जीव-जाति

अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धजीवतत्त्वं मुक्त्वान्यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं विनश्वरमिति ॥ १३१ ॥

अथ पूर्वोक्तमध्रुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवनयोस्तृष्णा न कर्तव्येति कथयति—

**जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।**
**तेँ कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ १३२ ॥**

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः ।
तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ॥ १३२ ॥

जे दिट्ठा इत्यादि । **जे दिट्ठा** ये केचन दृष्टाः । क्व । **सूरुग्गमणि** सूर्योदये **ते अत्थवणि ण दिट्ठ** ते पुरुषा गृहधनधान्यादिपदार्था वा अस्तमने न दृष्टाः, एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा । **तें कारणिं वढ धम्मु करि** तेन कारणेन वत्स पुत्र सागारानगारधर्मं कुरु । **धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ** धने यौवने वा का तृष्णा न कापीति । तद्यथा । गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या तर्हि किं कर्तव्यम् । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यम् । नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्वि-

---

करके एक कहे जाते हैं । वे सब जीव अविनाशी हैं, और सब देहादिकी रचना विनाशीक दीखती है । शुभ अशुभ कर्मकर जो देहादिक इस जगत्में रची गई हैं, वह सब विनाशीक है, हे प्रभाकर भट्ट; ऐसा विशेष तू जान, देहादिकको अनित्य जान, और जीवोंको नित्य जान । निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव परब्रह्म ( शुद्ध जीवतत्त्व ) उससे भिन्न जो पाँच इंद्रियोंका विषयवन वह क्षणभंगुर जानो ॥ १३१ ॥

आगे पूर्वोक्त विषय-सामग्रीको अनित्य जानकर धन यौवन और विषयोंमें तृष्णा नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—[ **वत्स** ] हे शिष्य; [ **ये** ] जो कुछ पदार्थ [ **सूर्योद्गमने** ] सूर्यके उदय होनेपर [ **दृष्टाः** ] देखे थे, [ **ते** ] वे [ **अस्तमने** ] सूर्यके अस्त होनेके समय [ **न दृष्टाः** ] नहीं देखे जाते, नष्ट हो जाते हैं [ **तेन कारणेन** ] इस कारण तू [ **धर्मं** ] धर्मको [ **कुरु** ] पालन कर, [ **धने यौवने** ] धन और यौवन अवस्थामें [ **का तृष्णा** ] क्या तृष्णा कर रहा है । **भावार्थ**—धन, धान्य, घर, मनुष्य, पशु, आदिक पदार्थ जो सवेरेके समय देखे थे, वे सांझके समयमें नहीं दीखते, नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जगत्का ठाठ विनाशीक जानकर इन पदार्थोंकी तृष्णा छोड़, और श्रावकका तथा यतीका धर्म स्वीकार कर, धन यौवनमें क्या तृष्णा कर रहा है । ये तो जलके बबूलेके समान क्षणभंगुर हैं । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि गृहस्थी धनकी तृष्णा न करे तो क्या करे ? उसका उत्तर—निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक जो यती उनकी सब तरह गृहस्थको सेवा करनी चाहिये, चार प्रकारका दान देना,

कल्पपरमसमाधौ स्थातव्यम् । यौवनेऽपि तृष्णा न कर्तव्या, यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्यक्त्वा विषयप्रतिपक्षभूते वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ १३२ ॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति—

**धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खें चम्ममएण ।**
**खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥ १३३ ॥**

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।
खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥ १३३ ॥

**धम्मु** इत्यादि । **धम्मु ण संचिउ** धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहिधर्मो न कृतः, दर्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावकधर्मरूपो वा । **तउ ण किउ** तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादिद्वादशविधतपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निरन्तरं भावना न कृता । केन कृत्वा । **रुक्खें चम्ममएण** वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिर्वृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा **णरइ पडिव्वउ तेण** नरके पतितव्यं तेन । किं कृत्वा । **खज्जिवि** भक्षयित्वा । कया कर्तृभूतया । **जरउद्देहियए** जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यम् । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद-

धर्मकी इच्छा रखनी, धनकी इच्छा नहीं करनी । जो किसी दिन प्रत्याख्यानकी चौकड़ीके उदयसे श्रावकके व्रतमें भी रहे, तो देव पूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, दान, शील, उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे, और जो बड़ी शक्ति होवे, तो सब परिग्रहका त्यागकर यतीके व्रत धारण करके निर्विकल्प परमसमाधिमें रहे । यतीको तो सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें । धन यौवन असार है, यौवन अवस्थामें विषय तृष्णा न करें, विषयका राग छोड़कर विषयोंसे परान्मुख जो वीतराग निजानंद एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी चाहिये ॥ १३२ ॥

आगे जो धर्मसे रहित हैं, और तपश्चरण भी नहीं करते हैं, उनका मनुष्य-जन्म वृथा है, ऐसा कहते हैं—[ **येन** ] जिसने [ **चर्ममयेन वृक्षेण** ] मनुष्य शरीररूपी चर्ममयी वृक्षको पाकर उससे [ **धर्मः न कृतः** ] धर्म नहीं किया, [ **तपो न कृतं** ] और तप भी नहीं किया, उसका शरीर [ **जरोद्रेहिकया खादयित्वा** ] बुढ़ापारूपी दीमकके कीड़ेकर खाया जायगा, फिर [ **तेन** ] उसको मरणकर [ **नरके** ] नरकमें [ **पतितव्यं** ] पड़ना पड़ेगा । **भावार्थ**—गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थका-धर्म नहीं किया, दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके भेदरूप श्रवकका

रत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं नो चेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति ॥ १३३ ॥

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

**अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।**
**तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ॥ १३४ ॥**

अरे जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुखं स्वजनं अपहर ।
तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयाति संसारे ॥ १३४ ॥

**अरि जिय** इत्यादि । **अरि जिय** अहो भव्यजीव **जिणपइ भत्ति करि** जिनपदे भक्तिं कुरु गुणानुरागवचननिमित्तं जिनश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मे रतिं कुरु, **सुहि सज्जणु अवहेरि** संसारसुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं सुखं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मात् । **तिं बप्पेण वि** तेन स्नेहितपित्रापि **कज्जु णवि** कार्यं नैव । यः किं करोति । **जो पाडइ** यः पातयति । क । **संसारि** संसारसमुद्रे । तथाच । हे आत्मन् , अनादिकाले दुर्लभे वीतरागसर्वज्ञप्रणीते रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा

---

धर्म नहीं धारण किया, तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी इच्छाका निरोध कर अनशन वगैरः बारह प्रकारका तप नहीं किया, तपश्चरणके बलसे शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर निरंतर भावना नहीं की, मनुष्यके शरीररूप चर्ममयी वृक्षको पाकर यतीका व श्रावकका धर्म नहीं किया, उनका शरीर वृद्धावस्थारूपी दीमकके कीड़े खावेंगे, फिर वह नरकमें जावेगा । इसलिये गृहस्थको तो यह योग्य है, कि निश्चयरत्नत्रयकी श्रद्धाकर निजस्वरूप उपादेय जान, व्यवहार रत्नत्रयरूप श्रावकका धर्म पालना । और यतीको यह योग्य है, कि निश्चयरत्नत्रयमें ठहरकर व्यवहार-रत्नत्रयके बलसे महा तप करना । अगर यतीका व श्रावकका धर्म नहीं बना, अणुव्रत महाव्रत नहीं पाले, तो महा दुर्लभ मनुष्य-देहका पाना निष्फल है, उससे कुछ फायदा नहीं ॥ १३३ ॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं, कि तू मुनिराजके चरणारविंदोंकी परमभक्ति कर, [ **अरे जीव** ] हे भव्य जीव; तू [ **जिनपदे** ] जिनपदमें [ **भक्तिं कुरु** ] भक्ति कर, और जिनेश्वरके कहे हुए जिनधर्ममें प्रीति कर, [ **सुखे** ] संसार सुखके निमित्तकारण [ **स्वजनं** ] जो अपने कुटुम्बके जन उनको [ **अपहर** ] त्याग अन्यकी तो बात क्या है ? [ **तेन पित्रापि नैव कार्यं** ] उस महास्नेहरूप पितासे भी कुछ काम नहीं है, [ **यः** ] जो [ **संसारे** ] संसार-समुद्रमें इस जीवको [ **पातयति** ] पटक देवे । **भावार्थ**—हे आत्माराम;

शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु। इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति। अत्रायं भावार्थः। विषयसुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति। तथा चोक्तम्—"विसयहं कारणि सव्वु जणु जिम अणुराउ करेइ। तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पडेइ॥" ॥ १३४ ॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मा वञ्चित इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

**जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि।**
**अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥१३५॥**

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा।
आत्मा वञ्चितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥ १३५॥

जेण इत्यादि। **जेण** येन जीवेन **ण चिण्णउ** न चरितं न कृतम्। किम्। **तवयरणु** बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणम्। किं कृत्वा। **णिम्मलु चित्तु करेवि** कामक्रोधादिरहितं वीतरागचिदानन्दैकसुखामृततृप्तं निर्मलं चित्तं कृत्वा। **अप्पा वंचिउ तेण** आत्मा वञ्चितः तेन नियमेन। किं कृत्वा। **लहेवि** लब्ध्वा। किम्। **माणुसजम्मु** मनुष्यजन्मेति। तथाहि। दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेऽपि च निर्विकल्पसमाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति। येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आत्म-

---

अनादिकालसे दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ राग द्वेष मोह रहित शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म, उसमें भी छह आवश्यकरूप यतीका धर्म, तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर। इस धर्मसे विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उसे छोड़, और इस धर्मके सन्मुख जो पर कुटुम्बका भी मनुष्य हो उससे प्रीति कर। तात्पर्य यह है, कि यह जीव जैसे विषय-सुखसे प्रीति करता है, वैसे जो जिनधर्मसे करे, तो संसारमें नहीं भटके। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जैसे विषयोंके कारणोमें यह जीव बारम्बार प्रेम करता है, वैसे जो जिनधर्ममें करे, तो संसारमें भ्रमण न करे ॥ १३४ ॥

आगे जिसने चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपना आत्मा ठग लिया, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[**येन**] जिस जीवने [**तपश्चरणं**] बाह्याभ्यन्तर तप [**न चीर्णं**] नहीं किया, [**निर्मलं चित्तं**] महा निर्मल चित्त [**कृत्वा**] करके [**तेन**] उसने [**मनुष्यजन्म**] मनुष्य-जन्मको [**लब्ध्वा**] पाकर [**परं**] केवल [**आत्मा वंचितः**] अपना आत्मा ठग लिया। **भावार्थ**—महान् दुर्लभ इस मनुष्य-देहको पाकर जिसने विषयकषाय सेवन किये, और क्रोधादि रहित वीतराग चिदानंद

वञ्चक इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को त्ति णत्थि संदेहो । अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते ॥” ॥ १३५ ॥

अत्र पञ्चेन्द्रियविजयं दर्शयति—

**ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।**
**चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥ १३६ ॥**

एते पञ्चेन्द्रियकरभकाः जीव मुक्तान् मा चारय ।
चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयन्ति संसारे ॥ १३६ ॥

ए इत्यादि। ए एते प्रत्यक्षीभूताः **पंचिंदियकरहडा** अतीन्द्रियसुखास्वादरूपात्परमात्मनः सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पञ्चेन्द्रियकरहटा उग्राः **जिय** हे मूढजीव **मोक्कला म चारि** स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखपराङ्मुखो भूत्वा स्वेच्छया मा चारय व्याघुट्य। यतः किं कुर्वन्ति । **पाडहिं** पातयन्ति । कम् । जीवम् । क्व । **संसारे** निःसंसारशुद्धात्मप्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारे **पुणु** पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वम् । **चरिवि** चरित्वा भक्षणं कृत्वा । किम् । **विसयवणु** पञ्चेन्द्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ॥ १३६ ॥

---

सुखरूपी अमृतकर प्राप्त अपना निर्मल चित्त करके अनशनादि तप न किया, वह आत्मघाती है, अपने आत्माका ठगनेवाला है। एकेंद्री पर्यायसे विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे असेनी पंचेंद्री होना, असेनी पंचेंद्रियसे सेनी होना, सेनी तिर्यंचसे मनुष्य होना दुर्लभ है। मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, सतसंग, धर्मश्रवण, धर्मका धारण, और उसे जन्म-पर्यंत निवाहना ये सब बातें दुर्लभ हैं, सबमें दुर्लभ ( कठिन ) आत्मज्ञान है, जिससे कि चित्त शुद्ध होता है। ऐसी महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अंगीकार करके निर्विकल्प समाधिके बलसे रागादिका त्यागकर परिणाम निर्मल करने चाहिये, जिन्होंने चित्तको निर्मल नहीं किया, वे आत्माको ठगनेवाले हैं। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि चित्तके बँधनेसे यह जीव कर्मोंसे बँधता है। जिनका चित्त परिग्रहसे धन धान्यादिकसे आसक्त हुआ, वे ही कर्मबंधसे बँधते हैं, और जिनका चित्त परिग्रहसे छूटा आशा ( तृष्णा ) से अलग हुआ, वे ही मुक्त हुए। इसमें संदेह नहीं है। यह आत्मा निर्मल स्वभाव है, सो चित्तके मैले होनेसे मैला होता है ॥ १३५ ॥

आगे पाँच इंद्रियोंका जीतना दिखलाते हैं—[ **एते** ] ये प्रत्यक्ष [ **पंचेन्द्रियकरभकाः** ] पाँचइंद्रीरूपी ऊँट हैं, उनको [ **स्वेच्छया** ] अपनी इच्छासे [ **मा चारय** ] मत चरने दे, क्योंकि [ **अशेषं** ] सम्पूर्ण [ **विषयवनं** ] विषय-वनको [ **चरित्वा** ] चरके [ **पुनः** ] फिर ये [ **संसारे** ] संसारमें ही [ **पातयंति** ] पटक देंगे। **भावार्थ**—ये पाँचों इंद्री अतींद्रिय-सुखके आस्वादनरूप परमात्मामें परान्मुख हैं, उनको हे मूढजीव; तू शुद्धात्माकी

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति—

**जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ ।**
**इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥ १३७ ॥**

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति ।
इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥ १३७ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **विसमी जोयगइ** विषमा योगगतिः । कस्मात् । **मणु संठवण ण जाइ** निजशुद्धात्मन्यतिचपलं मर्कटप्रायं मनो धर्तुं न याति । तदपि कस्मात् । **इंदियविसय जि सुक्खडा** इन्द्रियविषयेषु यानि सुखानि **वलि वलि तित्थु जि जाइ** वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादि-वासनावासितपञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥ १३७ ॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

**सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु ।**
**होयवि पंचहँ बाहिरउ झायंतउ परमत्थु ॥ १३७*५ ॥**

स योगी यः पालयति (?) दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
भूत्वा पञ्चभ्यः बाह्यः ध्यायन् परमार्थम् ॥ १३७*५ ॥

---

भावनासे पराङ्मुख होकर इनको स्वच्छंद मतकर, अपने वशमें रख, ये तुझे संसारमें पटक देंगे, इसलिये इनको विषयोंसे पीछे लौटा । संसारसे रहित जो शुद्ध आत्मा उससे उलटा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकारका संसार उसमें ये पंचेन्द्रीरूपी ऊँट स्वच्छंद हुए विषय-वनको चरके जगतके जीवोंको जगतमें ही पटक देंगे, यह तात्पर्य जानना ॥ १३६ ॥

आगे ध्यानकी कठिनता दिखलाते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **योगगतिः** ] ध्यानकी गति [ **विषमा** ] महाविषम है, क्योंकि [ **मनः** ] चित्तरूपी बन्दर चपल होनेसे [ **संस्थापयितुं न याति** ] निज शुद्धात्मामें स्थिरताको नहीं प्राप्त होता । क्योंकि [ **इंद्रिय-विषयेषु एव** ] इन्द्रियके विषयोंमें ही [ **सुखानि** ] सुख मान रहा है, इसलिये [ **तत्र एव** ] उन्हीं विषयोंमें [ **पुनः पुनः** ] फिर फिर अर्थात् बार बार [ **याति** ] जाता है । **भावार्थ**—वीतराग परम आनंद समरसी भावरूप अतींद्रिय सुखसे रहित जो यह संसारी जीव हैं, उसका मन अनादिकालकी अविद्याकी वासनामें बस रहा है, इसलिये पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखोंमें आसक्त है, इन जगत्के जीवोंका मन बारम्बार विषय-सुखोंमें जाता है, और निजस्वरूपमें नहीं लगता है, इसलिये ध्यानकी गति विषम ( कठिन ) है ॥ १३७ ॥

सो इत्यादि । **सो जोइउ** स योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । **जो जोगवइ** यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किम् । **दंसणु णाणु चरित्तु** निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयम् । किं कृत्वा । **होयवि** भूत्वा । कथंभूतम् । **बाहिरउ** बाह्यः । केभ्यः । **पंचहं** पञ्चपरमेष्ठिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पञ्चमगतिसुखविनाशकेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यः । किंकुर्वाणः । **झायंतउ** ध्यायन् सन् । कम् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यम् । योगशब्दस्यार्थः कथ्यते—'युज्' समाधौ इति धातुनिष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरुच्यते । अथवानन्तज्ञानादिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः, स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥१३७*५॥

अथ पञ्चेन्द्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति—

**विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।**
**भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥ १३८ ॥**

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।
भ्रान्त जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्कन्धे कुठारम् ॥ १३८ ॥

विसय इत्यादि । **विसयसुहइं** निर्विषयान्नित्याद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् परमात्मसुखात्प्रतिकूलानि विषयसुखानि **बे दिवहडा** दिनद्वयस्थायीनि भवन्ति । **पुणु** पुनः पश्चादिनद्वयानन्तरं **दुक्खहं परिवाडि** आत्मसुखबहिर्मुखेन विषयासक्तेन जीवेन यान्युपार्जितानि पापानि तदुदयजनितानां नारकादिदुःखानां परिपाटी प्रस्तावः

---

आगे स्थल-संख्याके बाह्य जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उनको कहते हैं—[ **स योगी** ] वही ध्यानी है, [ **यः** ] जो [ **पंचभ्यः बाह्यः** ] पंचेंद्रियोंसे बाहर ( अलग ) [ **भूत्वा** ] होकर [ **परमार्थं** ] निज परमात्माका [ **ध्यायन्** ] ध्यान करता हुआ [ **दर्शनं ज्ञानं चारित्रं** ] दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयको [ **पालयति** ] पालता है, रक्षा करता है । **भावार्थ**—जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयमें ही लीन हैं, जो पंचमगतिरूपी मोक्षके सुखको विनाश करनेवाली और पाँचपरमेष्ठीकी भावनासे रहित ऐसी पंचेन्द्रियोंसे जुदा होगया है, वही योगी है । योग शब्दका अर्थ ऐसा है, कि अपना मन चेतनमें लगाना वह योग जिसके हो, वही योगी है, वही ध्यानी है, वही तपोधन है, यह निःसंदेह जानना ॥ १३७*५ ॥

आगे पंचेन्द्रियोंके सुखको विनाशीक बतलाते हैं—[ **विषयसुखानि** ] विषयोंके सुख [ **द्वे दिवसे** ] दो दिनके हैं, [ **पुनः** ] फिर बादमें [ **दुःखानां परिपाटी** ] ये विषय

एवं ज्ञात्वा **मुल्लउ जीव** हे भ्रांत जीव **म वाहि तुहुं** मा निक्षिप त्वम् । कम् । **कुहाडि** कुठारम् । क । **अप्पण खंधि** आत्मीयस्कन्धे । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा विषयसुखं त्यक्त्वा वीतरागपरमात्मसुखे च स्थित्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ १३८ ॥

अथात्मभावनार्थं योऽसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति—

**संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।**
**सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥ १३९ ॥**

सतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।
स दैवेन एव मुण्डितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ॥ १३९ ॥

संता इत्यादि । **संता विसय** कटुकविषप्रख्यान् किंपाकफलोपमानलब्धपूर्वनिरुपरागशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपनिश्चयधर्मचौरान् विद्यमानविषयान् **जो परिहरइ** यः परिहरति **बलि किज्जउं हउं तासु** बलिं पूजां करोमि तस्याहमिति। श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयगुणानुरागं प्रकटयन्ति । विद्यमानविषयत्यागे दृष्टान्तमाह । **सो दइवेण जि मुंडियउ** स दैवेन मुण्डितः । स कः । **सीसु खडिल्लउ जासु** शिरः खल्वाटं यस्येति । अत्र पूर्वकाले देवागमनं दृष्ट्वा सप्तर्द्धिरूपं धर्मातिशयं दृष्ट्वा अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानोत्पत्तिं दृष्ट्वा भरतसगररामपाण्डवादिकमनेकराजाधिराजमणिमुकुटाकिरण-

---

दुःखकी परिपाटी हैं, ऐसा जानकर [ **भ्रांत जीव** ] हे भोले जीव; [ **त्वं** ] तू [ **आत्मनः स्कंधे** ] अपने कंधेपर [ **कुठारं** आप ही कुल्हाड़ीको [ **मा वाहय** ] मत चलावे । **भावार्थ**—ये विषय क्षणभंगुर हैं, बारम्बार दुर्गतिके दुःखके देनेवाले हैं, इसलिये विषयोंका सेवना अपने कंधेपर कुल्हाड़ीका मारना है, अर्थात् नरकमें अपनेको डुबोना है, ऐसा व्याख्यान जानकर विषय-सुखोंको छोड़, वीतराग परमात्म-सुखमें ठहर कर निरन्तर शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥ १३८ ॥

आगे आत्म-भावनाके लिये जो विद्यमान विषयोंको छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं—[ **यः** ] जो कोई ज्ञानी [ **सतः विषयान्** ] विद्यमान विषयोंका [ **परिहरति** ] छोड़ देता है, [ **तस्य** ] उसकी [ **अहं** ] मैं [ **बलिं** ] पूजा [ **करोमि** ] करता हूँ, क्योंकि [ **यस्य शीर्षं** ] जिसका शिर [ **खल्वाटं** ] गंजा है, [ **सः** ] वह तो [ **दैवेन एव** ] दैवकर ही [ **मुंडितः** ] मूड़ा हुआ है, वह मुंडित नहीं कहा जा सकता । **भावार्थ**—जो देखनेमें मनोज्ञ ऐसा इन्द्राइनिका विष-फल उसके समान ये मौजूद विषय हैं, ये वीतराग शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप निश्चयधर्मस्वरूप रत्नके चोर हैं, उनको जो ज्ञानी छोड़ते हैं, उनकी बलिहारी श्रीयोगीन्द्रदेव करते हैं, अर्थात् अपना गुणानुराग प्रगट करते हैं, जो

कलापचुम्बितपादारविन्दाजिनधर्मरतं दृष्ट्वा च परमात्मभावनार्थं केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनारतानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति तत्राश्चर्यं नास्ति । इदानीं पुनर् "देवागमपरिहीणे कालेऽतिशयवर्जिते । केवलोत्पत्तिहीने तु हलचक्रधरोज्झिते ॥" इति श्लोककथितलक्षणे दुष्षमकाले यत्कुर्वन्ति तदाश्चर्यमिति भावार्थः ॥ १३९ ॥

अथ मनोजये कृते सतीन्द्रियजयः कृतो भवतीति प्रकटयति—

**पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।**
**मूल विणट्ठइ तरु-वरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥ १४० ॥**

पञ्चानां नायकं वशीकुरुत येन भवन्ति वशे अन्यानि ।
मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥ १४० ॥

---

वर्तमान विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनको छोड़ते हैं, वे महापुरुषोंकर प्रशंसा योग्य हैं, अर्थात् जिनके सम्पदा मौजूद है, वे सब त्यागकर वीतरागके मारगको आराधें, वे तो सत्पुरुषोंसे सदा ही प्रशंसाके योग्य हैं, और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं हैं, परंतु तृष्णासे दुःखी होरहा है, अर्थात् जिसके विषय तो विद्यमान नहीं हैं, तो भी उनका अभिलाषी है, वह महा निंद्य है । चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें देवोंका आगमन था, उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी, और नानाप्रकारकी ऋद्धियोंके धारी महामुनियोंका अतिशय देखकर ज्ञानकी प्राप्ति होती थी, तथा अन्य जीवोंको अवधि मनःपर्यय केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्वकी सिद्धि होती थी । जिनके चरणारविन्दोंको बड़े बड़े मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे, ऐसे बड़े बड़े राजाओंकर सेवनीक भरत सगर राम पांडवादि अनेक चक्रवर्ती बलभद्र नारायण तथा मंडलीक राजाओंको जिनधर्ममें लीन देखकर भव्यजीवोंको जिनधर्मकी रुचि उपजती थी, तब परमात्म-भावनाके लिए विद्यमान विषयोंका त्याग करते थे । और जबतक गृहस्थपनेमें रहते थे, तबतक दान-पूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकारके संघकी सेवा करते थे । इसलिये पहले समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न होनेका अचंभा नहीं था । लेकिन अब इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नहीं है । ऐसा कहा भी है, कि इस पंचमकालमें देवोंका आगमन तो बंद होगया है, और कोई अतिशय नहीं देखा जाता । यह काल धर्मके अतिशयसे रहित है, और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है, तथा हलधर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुषोंसे रहित है, ऐसे दुःषमकालमें जो भव्यजीव धर्मको धारण करते हैं, यती श्रावकके व्रत आचरते हैं, यह अचंभा है । वे पुरुष धन्य हैं, सदा प्रशंसा योग्य हैं ॥ १३९ ॥

आगे मनके जीतनेसे इंद्रियोंका जय होता है, जिसने मनको जीता, उसने सब इन्द्रियोंको

पंचहं इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। पंचहं पञ्चज्ञानप्रातिपक्षभूतानां पञ्चेन्द्रियाणां णायकु रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनोनायकं हे भव्याः वसिकरहु विशिष्टभेदभावनाङ्कुशबलेन स्वाधीनं कुरुत। येन स्वाधीनेन किं भवति। जेण होंति वसि अण्ण येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति। दृष्टान्तमाह। मूल विणट्ठइ तरुवरहं मूले विनष्टे तरुवरस्य अवसइं सुक्कहिं पण्ण अवश्यं नियमेन शुष्यन्ति पर्णानि इति। अयमत्र भावार्थः। निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेन्द्रियो भवति। तथा चोक्तम्— "येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः। स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः॥" ॥१४०॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियन्तं कालं गमिष्यसीति संबोधयति—

**विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तिउ कालु गमीसि।**
**सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि॥१४१॥**

विषयासक्तः जीव त्वं कियन्तं कालं गमिष्यसि।
शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे॥१४१॥

---

जीत लीया, ऐसा व्याख्यान करते हैं—[ **पंचानां नायकं** ] पाँच इन्द्रियोंके स्वामी मनको [ **वशीकुरुत** ] तुम वशमें करो [ **येन** ] जिस मनके वश होनेसे [ **अन्यानि वशे भवंति** ] अन्य पाँच इन्द्रियें वशमें हो जाती हैं। जैसे कि [ **तरुवरस्य** ] वृक्षकी [ **मूले विनष्टे** ] जड़के नाश होजानेसे [ **पर्णानि** ] पत्ते [ **अवश्यं शुष्यंति** ] निश्चयसे सूख जाते हैं। **भावार्थ**—पाँचवाँ ज्ञान जो केवलज्ञान उससे परान्मुख स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियोंका स्वामी मन है, जो कि रागादि विकल्प रहित परमात्माकी भावनासे विमुख और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वाँछारूप आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंको आदि लेकर अनेक विकल्प-जालमयी मन है। यह चंचलमनरूपी हस्ती उसको भेदविज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो, अपने आधीन करो। जिसके वश करनेसे सब इन्द्रियें वशमें होसकती हैं, जसे जड़के टूट जानेसे वृक्षके पत्ते आप ही सूख जाते हैं। इसलिये निज शुद्धात्मकी भावनाकेलिये जिस तिस तरह मनको जीतना चाहिये। ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है, कि उस उपायसे उदास नहीं होना। जगत्से उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना॥१४०॥

आगे जीवको उपदेश देते हैं, कि हे जीव; तू विषयोंमें लीन होकर अनंतकालतक भटका, और अब भी विषयासक्त है, सो विषयासक्त हुआ कितने कालतक भटकेगा, अब

विसय इत्यादि । **विसयासत्तउ** शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दस्यन्दिपारमार्थिकसुखानुभवरहितत्वेन विषयासक्तो भूत्वा **जीव** हे अज्ञानिजीव **तुहुं** त्वं **कित्तिउ कालु गमीसि** कियन्तं कालं गमिष्यसि वहिर्मुखभावेन नयसि । तर्हि किं करोमीत्यस्य प्रत्युत्तरमाह । **सिवसंगमु करि** शिवशब्दवाच्यो योऽसौ केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वकीयशुद्धात्मा तत्र संगमं संसर्गं कुरु । कथंभूतम् । **णिच्चलउ** घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि मेरुवन्निश्चलं तेन निश्चलात्मध्यानेन **अवसइं मुक्खु लहीसि** नियमेनानन्तज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति तात्पर्यम् ॥ १४१ ॥

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षीस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति—

**इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिँ वि म जाहि ।**
**जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥ १४२ ॥**

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर क्वापि मा गच्छ ।
ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥ १४२ ॥

इहु इत्यादि । **इहु** इमं प्रत्यक्षीभूतं शिवसंगमं शिवसंसर्गं शिवशब्दवाच्योऽनन्तज्ञानादिस्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबन्धं **परिहरिवि** परिहृत्य त्यक्त्वा **गुरुवड** हे तपोधन **कहिं वि म जाहि** शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ

---

तो मोक्षका साधन कर, ऐसा संबोधन करते हैं—[ **जीव** ] हे अज्ञानी जीव; [ **त्वं** ] तू [ **विषयासक्तः** ] विषयोंमें आसक्त होके [ **कियंतं कालं** ] कितना काल [ **गमिष्यसि** ] वितायेगा [ **शिवसंगमं** ] अब तो शुद्धात्माका अनुभव [ **निश्चलं** ] निश्चलरूप [ **कुरु** ] कर, जिससे कि [ **अवश्यं** ] अवश्य [ **मोक्षं** ] मोक्षको [ **लभसे** ] पावेगा । **भावार्थ**—हे अज्ञानी; तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप अविनाशी सुखके अनुभवसे रहित हुआ विषयोंमें लीन होकर कितने कालतक भटकेगा । पहले तो अनंतकालतक भ्रमा, अब भी भ्रमणसे नहीं थका, सो बहिर्मुख परिणाम करके कबतक भटकेगा ? अब तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभव कर, निज भावोंका संबंध कर । घोर उपसर्ग और बाईस परीषहकी उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो आत्म-ध्यान उसको धारण कर, उसके प्रमादसे निःसंशय मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष-पदार्थ अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यादि अनंतगुणोंका ठिकाना है, सो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ॥ १४१ ॥

आगे निजस्वरूपका संसर्ग तू मत छोड़, निजस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा ही बार बार उपदेश करते हैं—[ **गुरुवर** ] हे तपोधन; [ **शिवसंगमं** ] आत्म-कल्याणको [ **परिहृत्य** ] छोड़कर [ **क्वापि** ] तू कहीं भी [ **मा गच्छ** ] मत जा, [ **ये** ] जो कोई अज्ञानी जीव

क्वापि गमनं मा कार्षीः। **जे सिवसंगमि लीण णवि** ये केचन विषयकषायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि लीनास्तन्मया न भवन्ति **दुक्खु सहंता वाहि** व्याकुलत्वलक्षणं दुःखं सहमानास्सन्तः पश्येति । अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः परमात्मा स एव शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोऽपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥ १४२ ॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति—

**कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु ।**
**जीविं विण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ १४३ ॥**

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोऽपि अनन्तः ।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वम् ॥ १४३ ॥

कालु इत्यादि । **कालु अणाइ** गतकालो अनादिः **अणाइ जिउ** जीवोऽप्यनादिः **भवसायरु वि अणंतु** भवः संसारस्य एव समुद्रः सोऽप्यनादिरनन्तश्च । **जीविं विण्णि ण पत्ताइं** एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागाद्यधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन द्वयं न लब्धम् । द्वयं किम् । **जिणु सामिउ सम्मत्तु** अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-

---

[ **शिवसंगमे** ] निजभावमें [ **नैव लीनाः** ] नहीं लीन होते हैं, वे सब [ **दुःखं** ] दुःखको [ **सहमानाः** ] सहते हैं, ऐसा तू [ **पश्य** ] देख । **भावार्थ**—यह आत्म-कल्याण प्रत्यक्षमें संसार-सागरके तैरनेका उपाय है, उसको छोड़कर हे तपोधन; तू शुद्धात्माकी भावनाके शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि हैं, उनमें कभी गमन मत कर, केवल आत्मस्वरूपमें मगन रह । जो कोई अज्ञानी विषय-कषायके वश होकर शिवसंगम ( निजभाव ) में लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलतारूप दुःख भव-वनमें सहता देख । संसारीजीव सभी व्याकुल ह, दुःखरूप हैं, कोई सुखी नहीं है, एक शिवपद ही परम आनंदका धाम है । जो अपने स्वभावमें निश्चयनयकर ठहरनेवाला केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा उसीका नाम शिव है, ऐसा सब जगह जानना । अथवा निर्वाणका नाम शिव है, अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नहीं है, जैसा कि नैयायिक वैशेषिकोंने जगत्का कर्त्ता हर्त्ता कोई शिव माना है, ऐसा तू मत मान । तू अपने स्वरूपको अथवा केवलज्ञानियोंको अथवा मोक्षपदको शिव समझ । यही श्रीवीतरागदेवकी आज्ञा है ॥ १४२ ॥

आगे सम्यग्दर्शनको दुर्लभ दिखलाते हैं—[ **कालः अनादिः** ] काल भी अनादि है, [ **जीवो अनादिः** ] जीव भी अनादि हैं, और [ **भवसागरोऽपि** ] संसार-समुद्र भी [ **अनंतः** ] अनादि अनंत है । लेकिन [ **जीवेन** ] इस जीवने [ **जिनः स्वामी सम्यक्त्वं** ]

**सहितः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितो जिनस्वामी परमाराध्यः । ' सिवसंगमु सम्मत्तु ' इति पाठान्तरे स एव शिवशब्दवाच्यो न चान्यः पुरुषविशेषः, सम्यक्त्वशब्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वम् , व्यवहारेण तु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादिश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थः ॥ १४३ ॥**

---

जिनराजस्वामी और सम्यक्त्व [ **द्वे** ] ये दो [ **न प्राप्ते** ] नहीं पाये । **भावार्थ**—काल जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादिकालसे भटकते हुए इस जीवने मिथ्यात्व-रागादिकके वश होकर शुद्धात्मस्वरूप अपना न देखा, न जाना । यह संसारी जीव अनादिकालसे आत्म-ज्ञानकी भावनासे रहित है। इस जीवने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये, परंतु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्रीजिनराजस्वामी न पाये । यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टी है, और क्षुद्र देवोंका उपासक है । श्रीजिनराज भगवान्की भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवोंका उपासक हुआ सम्यग्दर्शन नहीं हुआ । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि अनादिका मिथ्यादृष्टी होनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं होसकता ? क्योंकि " भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ " ऐसा शास्त्रका वचन है, अर्थात् भव भवमें इस जीवने जिनवर पूजे और गुरू वंदे । परंतु तुम कहते हो, कि इस जीवने भव-वनमें भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये, उसका समाधान—जो भाव-भक्ति इसके कभी न हुई, भाव-भक्ति तो सम्यग्दृष्टीके ही होती है, और बाह्यलौकिक-भक्ति इसके संसारके प्रयोजनके लिये हुई वह गिनतीमें नहीं । ऊपरकी सब बातें निःसार ( थोथी ) हैं, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टीके नहीं होती । ज्ञानी जीव ही जिनराजके दास हैं, सो सम्यक्त्व विना भाव-भक्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें संदेह नहीं है । जो जिनवरस्वामीको पाते, तो उसीके समान होते, ऊपरी लोग-दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस कामकी, यह जानना । अब श्रीजिनदेवका और सम्यग्दर्शनका स्वरूप सुनो । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं । वे जिनस्वामी हैं, वे ही परम आराधने योग्य हैं, तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चयसम्यक्त्व ( वीतराग सम्यक्त्व ) अथवा वीतराग सर्वज्ञदेवके उपदेशे हुए षट् द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, और पाँच अस्तिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकारका सम्यक्त्व है । निश्चयका नाम वीतराग है, व्यवहारका नाम सराग है । एक तो चौथे पदका यह अर्थ है, और दूसरे ऐसा " सिवसंगमु सम्मत्तु " इसका अर्थ ऐसा है, कि शिव जो जिनेन्द्रदेव उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीवको नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ । सम्यक्त्व होवे तो परमात्माका भी परिचय होवे ॥ १४३ ॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति—

**घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु।**
**पासु कयंतेँ मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु॥ १४४॥**

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः।
पाशः कृतान्तेन मण्डितः अविचलः निस्सन्देहम्॥ १४४॥

**घरवासउ इत्यादि। घरवासउ गृहवासम्।** अत्र गृहशब्देन वासमुख्यभूता स्त्री ग्राह्या। तथा चोक्तम्—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"। **मा जाणि जिय** हे जीव त्वमात्महितं मा जानीहि। कथंभूतो गृहवासः। **दुक्कियवासउ एहु** समस्तदुष्कृतानां पापानां वासः स्थानमेषः, **पासु कयंतेँ मंडियउ** अज्ञानिजीवबन्धनार्थं पाशो मण्डितः। केन। कृतान्तनाम्ना कर्मणा। कथंभूतः। **अविचलु** शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतेन मोहबन्धनेनाबद्धत्वादविचलः **णिस्संदेहु** संदेहो न कर्तव्य इति। अयमत्र भावार्थः। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपक्षभूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः, मनःशुद्ध्यभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति। तथा चोक्तम्—"कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुलीक्रियते मनः। यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः॥" ॥ १४४॥

---

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके शत्रुरूप गृहवासको दोष देते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; तू इसको [ **गृहवासं** ] घर वास [ **मा जानीहि** ] मत जान, [ **एषः** ] यह [ **दुष्कृतवासः** ] पापका निवासस्थान है, [**कृतांतेन**] यमराजने (कालने) अज्ञानी जीवोंके बाँधनेके लिये यह [ **पाशः मंडितः** ] अनेक फाँसोंसे मंडित [ **अविचलः** ] बहुत मजबूत बंदीखाना बनाया है, इसमें [ **निस्संदेहं** ] सन्देह नहीं है। **भावार्थ**—यहाँ घर शब्दसे मुख्यरूप स्त्री जानना, स्त्री ही घरका मूल है, स्त्री विना गृहवास नहीं कहलाता। ऐसा ही दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है, कि घरको घर मत जानो, स्त्री ही घर है, जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया, उन्होंने घरका त्याग किया। यह घर मोहके बँधनकर अति दृढ़ बँधा हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है, कि शुद्धात्मज्ञान दर्शन शुद्ध भावरूप जो परमात्म-पदार्थ उसकी भावनासे विमुख जो विषय कषाय हैं, उनसे यह मन व्याकुल होता है। इसलिये मनकी शुद्धिके विना गृहस्थके यतिकी तरह शुद्धात्माका ध्यान नहीं होता। इस कारण घरका त्याग करना योग्य है, घरके विना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता। ऐसी दूसरी जगह भी कहा है, कि कषायोंसे और इन दुष्ट इन्द्रियोंसे मन व्याकुल होता है, इसलिये गृहस्थ लोग आत्म-भावना कर नहीं सकते॥१४४॥

अथ गृहममत्वत्यागानन्तरं देहममत्वत्यागं दर्शयति—

**देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिँ अप्पणउ किं अण्णु ।**
**पर-कारणि मण गुरुव तुहुँ सिव-संगमु अवगण्णु ॥ १४५ ॥**

देहोऽपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयं किमन्यत् ।
परकारणे मा मुह्य (?) त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥ १४५ ॥

देहु वि इत्यादि । **देहु वि जित्थु ण अप्पणउ** देहोऽपि यत्र नात्मीयः **तहिँ अप्पणउ किं अण्णु** तत्रात्मीयाः किमन्ये पदार्था भवन्ति, किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा **परकारणि** परस्य देहस्य वहिर्भूतस्य स्त्रीवस्त्राभरणोपकरणादिग्रहनिमित्तेन **मण गुरुव तुहुं सिवसंगमु अवगण्णु** हे तपोधन शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मभावनात्यागं मा कार्षीरिति । तथाहि । अमूर्तेन वीतरागस्वभावेन निजशुद्धात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा तिष्ठति योऽसौ देहः सोऽपि जीवस्वरूपं न भवति इति ज्ञात्वा वहिःपदार्थे ममत्वं त्यक्त्वा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १४५ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यक्तीकरोति—

**करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिँ पाविज्जइ सुक्खु ।**
**जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥ १४६ ॥**

कुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखम् ।
योगिन् अन्यं मा चिन्तय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥ १४६ ॥

करि इत्यादि । **करि** कुरु । कम् । **सिवसंगमु** शिवशब्दवाच्यशुद्धबुद्धैकस्वभाव-

---

आगे घरकी ममता छुड़ाकर शरीरका ममत्व छुड़ाते हैं—[ **यत्र** ] जिस संसारमें [ **देहोऽपि** ] शरीर भी [ **आत्मीयः न** ] अपना नहीं है, [ **तत्र** ] उसमें [ **अन्यत्** ] अन्य [ **आत्मीयं किं** ] क्या अपना हो सकता है ? [ **त्वं** ] इस कारण तू [ **शिवसंगमं** ] मोक्षका संगम [ **अवगण्य** ] छोड़कर [ **परकारणे** ] पुत्र स्त्री वस्त्र आभूषण आदि उपकरणोंमें [ **मा मुह्य** ] ममत्व मत कर। **भावार्थ**—अमूर्त वीतराग भावरूप जो निज शुद्धात्मा उससे व्यवहारनयकर दूध पानीकी तरह यह देह एकमेक हो रही है, ऐसी देह, जीवका स्वरूप नहीं है, तो पुत्र कलत्रादि धन-धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे ? ऐसा जानकर वाह्य पदार्थोंमें ममता छोड़कर शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप जो वीतराग निर्विकल्पसमाधि उसमें ठहरकर सब प्रकारसे शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥ १४५ ॥

आगे इसी अर्थको फिर भी दूसरी तरह प्रगट करते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी हंस; [ **त्वं** ] तू [ **एकं शिवसंगमं** ] एक निज शुद्धात्माकी ही भावना [ **परं** ] केवल

निजशुद्धात्मभावनासंसर्ग एक्कु पर तमेवैकं जहिं पाविज्जइ सुक्खु यत्र स्वशुद्धात्मसंसर्गे प्राप्यते । किम् । अक्षयानन्तसुखम् । जोइय अण्णु म चिंति तुहुं हे योगिन् स्वभावत्वादन्यचिन्तां मा कार्षीस्त्वं जेण ण लब्भइ येन कारणेन बहिश्चिन्तया न लभ्यते । कोऽसौ । मुक्खु अव्याबाधसुखादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्यम् ॥१४६॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति—

**बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।**
**जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥ १४७ ॥**

बलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारम् ।
यदि अवष्टभ्यते ततः क्वथति अथ दह्यते तर्हि क्षारः ॥१४७॥

बलि किउ इत्यादि । बलि किउ बलिः क्रियते मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियते । किम् । माणुसजम्मडा मनुष्यजन्म । किंविशिष्टम् । देक्खंतहं पर सारु बहिर्भागे व्यवहारेण पश्यतामेव सारभूतम् । कस्मात् । जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ यद्यवष्टभ्यते भूमौ निक्षिप्यते ततः कुत्सितरूपेण परिणमति । अह डज्झइ तो छारु अथवा दह्यते तर्हि भस्म भवति । तद्यथा । हस्तिशरीरे दन्ताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक्शरीरे दृश्यते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा घुणभक्षितेक्षुदण्डवत्परलोकवीजं कृत्वा निस्सारमपि सारं क्रियते । कथमिति चेत् ।

---

[ कुरु ] कर, [ यत्र ] जिसमें कि [ सुखं प्राप्येत ] अतीन्द्रिय सुख पावे, [ अन्यं मा ] अन्य कुछ भी मत [ चिंतय ] चिंतवन कर, [ येन ] जिससे कि [ मोक्षः न लभ्यते ] मोक्ष न मिले । **भावार्थ**—हे जीव; तू शुद्ध बुद्ध अखंड स्वभाव निज शुद्धात्माका चिन्तवन कर, यदि तू शिवसंग करेगा तो अतीन्द्रिय सुख पावेगा । जो अनंत सुखको प्राप्त हुए वे केवल आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त हुए, दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिये हे योगी; तू अन्य कुछ भी चिन्तवन मत कर, परके चिंतवनसे अव्याबाध अनंत सुखरूप मोक्षको नहीं पावेगा । इसलिये निजस्वरूपका ही चिन्तन कर ॥ १४६ ॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्य-जन्म निष्फल है, ऐसा कहते हैं—[ मनुष्यजन्म ] इस मनुष्य-जन्मको [ बलिः क्रियते ] मस्तकके ऊपर वार डालो, जो कि [ पश्यतां परं सारं ] देखनेमें केवल सार दीखता है, [ यदि अवष्टभ्यते ] जो इस मनुष्य-देहको भूमिमें गाड़ दिया जावे, [ ततः ] तो [ क्वथति ] सड़कर दुर्गन्धरूप परिणमे, [ अथ ] और जो [ दह्यते ] जलाइये [ तर्हि ] तो [ क्षारः ] राख हो जाता है । **भावार्थ**—इस मनुष्य-देहको व्यवहारनयसे बाहरसे देखो तो सार मालूम

यथा घुणभक्षितेक्षुदण्डे बीजे कृते सति विशिष्टेक्षूणां लाभो भवति तथा निःसार-शरीराधारेण वीतरागसहजानन्दैकस्वशुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप-निश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन तत्साधकव्यवहाररत्नत्रयभावनाबलेन च स्वर्गापवर्गफलं गृह्णत इति तात्पर्यम् ॥ १४७ ॥

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन तथाहि—

**उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार ।**
**देहहँ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ॥ १४८ ॥**

उद्वर्तय म्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान् ।
देहस्य सकलं निरर्थं गतं यथा दुर्जने उपकाराः ॥ १४८ ॥

**उव्वलि** इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **उव्वलि** उद्वर्तनं कुरु **चोप्पडि** तैलादिम्रक्षणं कुरु, **चिट्ठ करि** मण्डनरूपां चेष्टां कुरु, **देहि सुमिट्ठाहार** देहि सुमृष्टाहारान् । कस्य । **देहहं** देहस्य । **सयल णिरत्थ गय** सकलाअपि विशिष्टाहारा-दयो निरर्थका गताः । केन दृष्टान्तेन । **जिमु दुज्जणि उवयार** दुर्जने यथोपकारा इति । तद्यथा । यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्त्वा अस्थिरेणापि

---

होता है, यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यंचोंके शरीरमें तो कुछ सार भी दिखता है, जैसे हाथीके शरीरमें दाँत सार है, सुरह गौके शरीरमें बाल सार हैं इत्यादि । परन्तु मनुष्य-देहमें सार नहीं है, घुनके खाये हुए गन्नेकी तरह मनुष्य-देहको असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिये । जैसे घुनोंका खाया हुआ ईख किसी कामका नहीं है, एक बीजके कामका है, सो उसको बोकर असारसे सार किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य-देह किसी कामका नहीं, परंतु परलोकका बीजकर असारको सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही श्रेष्ठ है । जैसे घुनसे खाये गये ईखको बोनेसे अनेक ईखोंका लाभ होता है, वैसे ही इस असार शरीरके आधारसे वीतराग परमानंद शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयकी भावनाके बलसे मोक्ष प्राप्त किया जाता है, और निश्चयरत्न-त्रयका साधक जो व्यवहाररत्नत्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है, तथा परम्परासे मोक्ष होता है । यह मनुष्य-शरीर परलोक सुधारनेके लिये होवे तभी सार है, नहीं तो सर्वथा असार है ॥ १४७ ॥

आगे देहको अशुचि अनित्य आदि दिखानेका छह दोहोंमें व्याख्यान करते हैं— [ **देहस्य** ] इस देहका [ **उद्वर्तय** ] उवटना करो, [ **म्रक्षय** ] तैलादिकका मर्दन करो, [ **चेष्टां कुरु** ] शृंगार आदिसे अनेक प्रकार सजाओ, [ **सुमृष्टाहारान्** ] अच्छे अच्छे मिष्ट आहार [ **देहि** ] देओ, लेकिन [ **सकलं** ] ये सब [ **निरर्थं गतः** ] यत्न व्यर्थ हैं, [ **यथा** ] जैसे [ **दुर्जने** ] दुर्जनोंका [ **उपकाराः** ] उपकार करना वृथा है । **भावार्थ**—जैसे दुर्जनपर

**स्थिरं मोक्षसौख्यं गृह्यते । सप्तधातुमयत्वेनाशुचिभूः तेनापि शुचिभूतं शुद्धात्मस्वरूपं गृह्यते निर्गुणेनापि केवलज्ञानादिगुणसमूहः साध्यत इति भावार्थः। तथा चोक्तम्— "अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं । काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा ॥"**

अथ—

**जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ ।**
**णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥ १४९ ॥**

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः ।
नरके निरन्तरं पूरितं किं क्रियते अनुरागः ॥ १४९ ॥

जेहउ इत्यादि । **जेहउ जज्जरु यथा जर्जरं शतजीर्णं णरयघरु नरकगृहं तेहउ जोइउ काउ तथा हे योगिन् कायः । यतः किम् । णरइ णिरंतरु पूरियउ नरके निरन्तरं पूरितम् । एवं ज्ञात्वा किम किज्जइ अणुराउ कथं क्रियते अनुरागो न कथमपीति । तद्यथा—यथा नरकगृहं शतजीर्णं तथा कायगृहमपि नवद्वारछिद्रितत्वात् शतजीर्णं, परमात्मा तु जन्मजरामरणादिच्छिद्रदोपरहितः । कायस्तु गूथमूत्रादिनरक-**

---

अनेक उपकार करो वे सब वृथा जाते हैं, दुर्जनसे कुछ फायदा नहीं, उसी तरह शरीरके अनेक यत्न करो, इसको अनेक तरहसे पोषण करो, परंतु यह अपना नहीं हो सकता। इसलिये यही सार, है कि इसको अधिक पुष्ट नहीं करना । कुछ थोड़ासा ग्रासादि देकर स्थिर करके मोक्ष साधन करना, सात धातुमयी यह अशुचि शरीर है, इससे पवित्र शुद्धात्मस्वरूपका आराधना करना । इस महा निर्गुण शरीरसे केवलज्ञानादि गुणोंका समूह साधना चाहिये । यह शरीर भोगके लिये नहीं है, इससे योगका साधनकर अविनाशी पदकी सिद्धि करनी । ऐसा कहा भी है, कि इस क्षणभंगुर शरीरसे स्थिरपद मोक्षकी सिद्धि करनी चाहिये, यह शरीर मलिन है, इससे निर्मल वीतरागकी सिद्धि करना, और यह शरीर ज्ञानादि गुणोंसे रहित है, इसके निमित्तसे सारभूत ज्ञानादि गुण सिद्ध करने योग्य हैं । इस शरीरसे तप संयमादिका साधन होता है, और तप संयमादि क्रियासे सारभूत गुणोंकी सिद्धि होती है । जिस क्रियासे ऐसे गुण सिद्ध हों, वह क्रिया क्यों नहीं करनी, अवश्य करनी चाहिये ॥ १४८ ॥

आगे शरीरको अशुचि दिखलाकर ममत्व छुड़ाते हैं—[ **हे योगिन्** ] हे योगी; [ **यथा** ] जैसा [ **जर्जरं** ] सैकड़ों छेदोंवाला [ **नरकगृहं** ] नरक-घर है, [ **तथा** ] वैसा यह [ **कायः** ] शरीर [ **नरके** ] मल-मूत्रादिसे [ **निरंतरं** ] हमेशा [ **पूरितं** ] भरा हुआ है । ऐसे शरीरसे [ **अनुरागः** ] प्रीति [ **किं क्रियते** ] कैसे की जावे ? किसी तरह भी यह प्रीतिके योग्य नहीं है । **भावार्थ**—जैसे नरकका घर अति जीर्ण जिसके सैकड़ों छिद्र हैं, वैसे यह

पूरितः, भगवान् शुद्धात्मा तु भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहित इति। अयमत्र भावार्थः। एवं देहात्मनोः भेदं ज्ञात्वा देहममत्वं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ १४९ ॥

अथ—

**दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ ति-हुयणि सयलइँ लेवि ।**
**एयहिँ देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरू मुणेवि ॥ १५० ॥**

दुःखानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।
एतैः देहः विनिर्मितः विधिना वैरं मत्वा ॥ १५० ॥

दुक्खइं इत्यादि । **दुक्खइं** दुःखानि **पावइं** पापानि **असुचियइं** अशुचिद्रव्याणि **तिहुयणि सयलइं लेवि** भुवनत्रयमध्ये समस्तानि गृहीत्वा **एयहिं देहु विणिम्मियउ** एतैर्देहो विनिर्मितः । केन कर्तृभूतेन । **विहिणा** विधिशब्दवाच्येन कर्मणा । कस्मादेवंभूतो देहः कृतः। **वइरू मुणेवि** वैरं मत्वेति । तथाहि । त्रिभुवनस्थदुःखैर्निर्मितत्वात् दुःखरूपोऽयं देहः, परमात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादनाकुलत्वलक्षणसुखस्वभावः । त्रिभुवनस्थपापैर्निर्मितत्वात् पापरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन पापरूपदेहाद्भिन्नत्वादत्यन्तपवित्रः ।

---

कायरूपी घर साक्षात् नरकका मन्दिर है, नव द्वारोंसे अशुचि वस्तु झरती है। और आत्माराम जन्म-मरणादि छिद्र आदि दोष रहित है, भगवान् शुद्धात्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्ममलसे रहित हैं, यह शरीर मल-मूत्रादि नरकसे भरा हुआ है। ऐसा शरीरका और जीवका भेद जानकर देहसे ममता छोड़के वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरके निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥ १४९ ॥

आगे फिर भी देहकी मलिनता दिखलाते हैं—[ **त्रिभुवने** ] तीन लोकमें [ **दुःखानि पापानि अशुचीनि** ] जितने दुःख हैं, पाप हैं, और अशुचि वस्तुयें हैं, [ **सकलानि** ] उन सबको [ **लात्वा** ] लेकर [ **एतैः** ] इन मिले हुओंसे [ **विधिना** ] विधाताने [ **वैरं** ] वैर [ **मत्वा** ] मानकर [ **देहः** ] शरीर [ **निर्मितः** ] बनाया है । **भावार्थ**—तीन लोकमें जितने दुःख हैं, उनसे यह देह रचा गया है, इससे दुःखरूप है, और आत्मद्रव्य व्यवहारनयकर देहमें स्थित हैं, तो भी निश्चयनयकर देहसे भिन्न निराकुलस्वरूप सुखरूप है, तीन लोकमें जितने पाप हैं, उन पापोंसे यह शरीर बनाया गया है, इसलिये यह देह पापरूप ही है, इससे पाप ही उत्पन्न होता है, और चिदानंद चिद्रूप जीव पदार्थ व्यवहारनयसे देहमें स्थित है, तो भी देहसे भिन्न अत्यंत पवित्र है, तीन जगत्में जितने अशुचि पदार्थ हैं, उनको इकट्ठेकर यह शरीर निर्माण किया है, इसलिये महा अशुचिरूप है, और आत्मा व्यवहारनयकर देहमें विराज-

त्रिभुवनस्थाशुचिद्रव्यैर्निर्मितत्वादशुचिरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहात्पृथग्भूतत्वादत्यन्तनिर्मल इति। अत्रैवं देहेन सह शुद्धात्मनो भेदं ज्ञात्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १५० ॥

अथ—

**जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।**
**णाणिय धम्मे रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥ १५१ ॥**

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः ।
ज्ञानिन् धर्मेण रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ॥ १५१ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **देहु घिणावणउ** देहो घृणया दुगुञ्छया सहितः । **लज्जहि किं ण रमंतु** दुगुञ्छारहितं परमात्मानं मुक्त्वा देहं रममाणो लज्जां किं न करोषि । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति । **णाणिय** हे विशिष्टभेदज्ञानिन् **धम्मि** निश्चयधर्मशब्दवाच्येन वीतरागचारित्रेण कृत्वा **रइ करहि** रतिं प्रीतिं कुरु । किं कुर्वन् सन् । **अप्पा** वीतरागसदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं **विमलु करंतु** आर्तरौद्रादिसमस्तविकल्पत्यागेन विमलं निर्मलं कुर्वन्निति तात्पर्यम् ॥ १५१ ॥

अथ—

**जोइय देहु परिच्चयहि देहु ण भल्लउ होइ ।**
**देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥ १५२ ॥**

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति ।
देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥ १५२ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **देहु परिच्चयहि** शुचिदेहान्नित्यानन्दैक-

---

मान है, तो भी देहसे जुदा परम पवित्र है । इस प्रकार देहका और जीवका अत्यंत भेद जानकर निरन्तर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ १५० ॥

आगे फिर भी देहको अपवित्र दिखलाते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **देहः** ] यह शरीर [ **घृणास्पदः** ] घिनावना है, [ **रममाणः** ] इस देहसे रमता हुआ तू [ **किं न लज्जसे** ] क्यों नहीं शरमाता ? [ **ज्ञानिन्** ] हे ज्ञानी; तू [ **आत्मानं** ] आत्माको [ **विमलं कुर्वन्** ] निर्मल करता हुआ [ **धर्मे** ] धर्मसे [ **रतिं** ] प्रीति [ **कुरु** ] कर । **भावार्थ**—हे जीव; तू सब विकल्प छोड़कर वीतरागचारित्ररूप निश्चयधर्ममें प्रीति कर । आर्त रौद्र आदि समस्त विकल्पोंको छोड़कर आत्माको निर्मल करता हुआ वीतराग भावोंसे प्रीति कर ॥ १५१ ॥

आगे देहसे स्नेहसे छुड़ाते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **देहं** ] इस शरीरसे [ **परि-**

स्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणं देहं परित्यज । कस्मात् । देहु ण भल्लउ होइ देहो भद्रः समीचीनो न भवति । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तरं ददाति । **देह-विभिण्णउ** देहविभिन्नं **णाणमउ** ज्ञानेन निर्वृत्तं केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयं **सो तुहुं अप्पा जोइ** तं पूर्वोक्तलक्षणमात्मानं त्वं कर्ता पश्येति । अयमत्र भावार्थः । "चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ । दुट्टो ण य एदि वसं लक्खण-मेयं तु किण्हस्स ॥" इति गाथाकथितलक्षणा कृष्णलेश्या, धनधान्यादितीव्रमूर्च्छा-विषयाकांक्षादिरूपा नीललेश्या, रणे मरणं प्रार्थयति स्तूयमानः संतोषं करोतीत्यादि-लक्षणा कापोतलेश्या च, एवं लेश्यात्रयप्रभृतिसमस्तविभावत्यागेन देहाद्भिन्नमात्मानं भावय इति ॥ १५२ ॥

अथ—

**दुक्खहँ कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।**
**जित्थु ण पावहिँ परमसुहु तित्थु कि संत वसंति ॥ १५३ ॥**

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि एतत् त्यजन्ति ।
यत्र न प्राप्नुवन्ति परमसुखं तत्र किं सन्तः वसन्ति ॥ १५३ ॥

---

त्यज ] प्रीति छोड़, क्योंकि [ **देहः** ] यह देह [ **भद्रः न भवति** ] अच्छा नहीं है, इसलिये [ **देहविभिन्नं** ] देहसे भिन्न [ **ज्ञानमयं** ] ज्ञानादि गुणमय [ **तं आत्मानं** ] ऐसे आत्माको [ **त्वं** ] तू [ **पश्य** ] देख। **भावार्थ**—नित्यानंद अखंड स्वभाव जो शुद्धात्मा उससे जुदा और दुःखका मूल तथा महान् अशुद्ध जो शरीर उससे भिन्न आत्माको पहचान, और कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंको आदि लेकर सब विभावभावोंको त्यागकर, निजस्वरूपका ध्यानकर। ऐसा कथन सुनकर शिष्यने पूछा, कि हे प्रभो; इन खोटी लेश्याओंका क्या स्वरूप है? तब श्रीगुरु कहते हैं—कृष्णलेश्याका धारक वह है, जो अधिक क्रोधी होवे, कभी वैर न छोड़े, उसका वैर पत्थरकी लकीरकी तरह हो, महा विषयी हो, परजीवोंकी हँसी उड़ानेमें जिसके शंका न हो, अपनी हँसी होनेका जिसको भय न हो, जिसका स्वभाव लज्जा रहित हो, दया-धर्मसे रहित हो, और अपनेसे बलवान्के वशमें हो, गरीबको सतानेवाला हो, ऐसा कृष्ण-लेश्यावालेका लक्षण कहा। नीललेश्यावालेके लक्षण कहते हैं, सो सुनो—जिसके धन धान्या-दिककी अति ममता हो, और महा विषयाभिलाषी हो, इन्द्रियोंके विषय सेवता हुआ तृप्त न हो। कापोतलेश्याका धारक रणमें मरना चाहता है, स्तुति करनेसे अति प्रसन्न होता है। ये तीनों कुलेश्याके लक्षण कहे गये हैं, इनको छोड़कर पवित्र भावोंसे देहसे जुदे जीवको जानकर अपने स्वरूपका ध्यान कर। यही कल्याणका कारण है ॥ १५२ ॥

**दुक्खहं** इत्यादि । **दुक्खहं कारणु** वीतरागतात्त्विकानन्दरूपात् शुद्धात्मसुखाद्विलक्षणस्य नारकादिदुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा । क्व । **मणि** मनसि । कम् । **देहु वि** देहमपि **एहु** इमं प्रत्यक्षीभूतं **चयंति** देहममत्वं शुद्धात्मनि स्थित्वा त्यजन्ति **जित्थु ण पावहिं** यत्र देहे न प्राप्नुवन्ति । किम् । **परमसुहु** पञ्चेन्द्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिसंपन्नं परमसुखं **तित्थु किं संत वसंति** तत्र देहे सन्तः सत्पुरुषाः किं वसन्ति शुद्धात्मसुखसंतोषं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वन्ति इति भावार्थः ॥१५३॥

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विति दर्शयति—

**अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।**
**पर सुहु वढ चिंतंताहँ हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ १५४ ॥**

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम् ।
परं सुखं वत्स चिन्तयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥ १५४ ॥

**अप्पायत्तउ** इत्यादि । **अप्पायत्तउ** अन्यद्रव्यनिरपेक्षत्वेनात्माधीनं **जं जि सुहु** यदेव शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नं सुखं **तेण जि करि संतोसु** तेनैव तदनुभवेनैव संतोषं कुरु

---

आगे फिर भी देहको दुःखका कारण दिखलाते हैं—[ **दुःखस्य कारणं** ] नरकादि दुःखका कारण [ **इमं देहमपि** ] इस देहको [ **मनसि** ] मनमें [ **मत्वा** ] जानकर ज्ञानीजीव [ **त्यजंति** ] इसका ममत्व छोड़ देते हैं, क्योंकि [ **यत्र** ] जिस देहमें [ **परमसुखं** ] उत्तम सुख [ **न प्राप्नुवंति** ] नहीं पाते, [ **तत्र** ] उसमें [ **संतः** ] सत्पुरुष [ **किं वसंति** ] कैसे रह सकते हैं ? **भावार्थ**—वीतराग परमानंदरूप जो आत्म-सुख उससे विपरीत नरकादिके दुःख, उनका कारण यह शरीर, उसको बुरा समझकर ज्ञानी जीव देहकी ममता छोड़ देते हैं, और शुद्धात्मस्वरूपका सेवन करते हैं, निजस्वरूपमें ठहरकर देहादि पदार्थोंमें प्रीति छोड़ देते हैं । इस देहमें कभी सुख नहीं पाते, सदा आधि व्याधिसे पीड़ित ही रहते हैं । पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित जो शुद्धात्मानुभूतिरूप परमसुख वह देहके ममत्व करनेसे कभी नहीं मिल सकता । महा दुःखके कारण इस शरीरमें सत्पुरुष कभी नहीं रह सकते । देहसे उदास होके संसारकी आशा छोड़ सुखका निवास जो सिद्धपद उसको प्राप्त होते हैं । और जो आत्म-भावनाको छोड़कर संतोषसे रहित होके देहादिकमें राग करते हैं, वे अनंत भव धारण करते हैं, संसारमें भटकते फिरते हैं ॥१५३॥

आगे यह उपदेश करते हैं, कि तू आत्म-सुखमें प्रीति कर—[ **वत्स** ] हे शिष्य; [ **यदेव** ] जो [ **आत्मायत्तं सुखं** ] परद्रव्यसे रहित आत्माधीन सुख है, [ **तेनैव** ] उसीमें

पर सुहु वढ चिंतताहं इन्द्रियाधीनं परसुखं चिन्तयतां वत्स मित्र हियइ ण फिट्टइ सोसु हृदये न नश्यति शोषोऽन्तर्दाह इति । अत्राध्यात्मरतिः स्वाधीना विच्छेद-विघ्नौघरहिता च, भोगरतिस्तु पराधीना वह्नेरिन्धनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवातृप्ति-करा च । एवं ज्ञात्वा भोगसुखं त्यक्त्वा "एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्च-मेदम्हि । एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सुक्खं ॥" इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्—"तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं । ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥"। अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिथ्यात्वविषयकषायादिबहिर्द्रव्ये निरालम्बनत्वे-नात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मम् ॥ १५४ ॥

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति—

**अप्पहँ णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ ।**
**इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ म बंधउ राउ ॥ १५५ ॥**

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः ।
इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बधान रागम् ॥ १५५ ॥

---

[ **संतोषं** ] संतोष [ **कुरु** ] कर, [ **परं सुखं** ] इन्द्रियाधीन सुखको [ **चिंतयतां** ] चिन्तवन करनेवालोंके [ **हृदये** ] चित्तका [ **शोषः** ] दाह [ **न नश्यति** ] नहीं मिटता । **भावार्थ**— आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता ह, इसलिये तू आत्माके अनुभवसे संतोष कर, भोगोंकी वांछा करनेसे चित्त शान्त नहीं होता । जो अध्यात्मकी प्रीति है, वह स्वाधीनता है, इसमें कोई विघ्न नहीं है, और भोगोंका अनुराग वह पराधीनता है । भोगोंको भोगते कभी तृप्ति नहीं होती । जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती, और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता है । ऐसा ही समयसारमें कहा है, कि हंस ( जीव ) तू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा लीन हो, और सदा इसीमें संतुष्ट हो । इसीसे तू तृप्त होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी । इस कथनसे अध्यात्म-सुखमें ठहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये, और काम-भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती । ऐसा कहा भी है, कि जैसे तृण काठ आदि ईंधनसे अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारों नदियोंसे लवणसमुद्र तृप्त नहीं होता, उसी तरह यह जीव काम भोगोंसे तृप्त नहीं होता । इसलिये विषय-सुखोंको छोड़कर अध्यात्म-सुखका सेवन करना चाहिये । आत्म-सुखका शब्दार्थ करते हैं—मिथ्यात्व विषय कषाय आदि बाह्य पदार्थोंका अवलम्बन ( सहारा ) छोड़ना और आत्मामें तल्लीन होना वह अध्यात्म है ॥ १५४ ॥

अप्पहं इत्यादि । **अप्पहं** शुद्धात्मनः **णाणु परिच्चयवि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं त्यक्त्वा **अण्णु ण अत्थि सहाउ** अन्यो ज्ञानादिभिन्नः स्वभावो नास्ति **इउ जाणेविणु** इदमात्मनः शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा **जोइयहु** योगिन् **परहं म बंधउ राउ** परस्मिन् शुद्धात्मनो विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुरु तस्मात् । अत्रात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा रागादिकं त्यक्त्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १५५ ॥

अथ स्वात्मोपलम्भनिमित्तं चित्तस्थिरीकरणरूपेण परमोपदेशं पञ्चकलेन दर्शयति—

**विसय-कसायहिं मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।**
**अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ १५६ ॥**

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यति यस्य ।
आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोऽपि तस्य ॥ १५६ ॥

विसय इत्यादि । **विसयकसायहिं मणसलिलु** ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्णसंसारसागरे निर्विषयकषायरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकषायमहावातैर्मनःप्रचुरसलिलं **णवि डहुलिज्जइ** नैव क्षुभ्यति **जासु** यस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य **अप्पा णिम्मलु होइ लहु** आत्मा रत्नविशेषोऽनादिकालरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमलपरिहारेण लघु शीघ्रं निर्मलो भवति । **वढ** वत्स । न केवलं निर्मलो भवति **पच्चक्खु वि** शुद्धात्मा परम इत्युच्यते तस्य परमस्य कला

---

आगे आत्माका ज्ञान स्वभाव दिखलाते हैं—[ **आत्मनः** ] आत्माका निजस्वभाव [ **ज्ञानं परित्यज्य** ] वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके सिवाय [ **अन्यः स्वभावः** ] दूसरा स्वभाव [ **न अस्ति** ] नहीं है, आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है, [ **इति ज्ञात्वा** ] ऐसा जानकर [ **योगिन्** ] हे योगी; [ **परस्मिन्** ] परवस्तुसे [ **रागं** ] प्रीति [ **मा बधान** ] मत बाँध । **भावार्थ**—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मत कर, आत्माका ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोड़के निरंतर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ १५५ ॥

आगे आत्माकी प्राप्तिके लिये चित्तको स्थिर करता. ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दिखलाते हैं—[ **यस्य** ] जिसका [ **मनःसलिलं** ] मनरूपी जल [ **विषयकषायैः** ] विषयकषायरूप प्रचंड पवनसे [ **नैव क्षुभ्यते** ] नहीं चलायमान होता है, [ **तस्य** ] उसी भव्य जीवकी [ **आत्मा** ] आत्मा [ **वत्स** ] हे बच्चे; [ **निर्मलो भवति** ] निर्मल होती है. और [ **लघु** ] शीघ्र ही [ **प्रत्यक्षोऽपि** ] प्रत्यक्ष हो जाती है । **भावार्थ**—ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूपी जलचर मगर-मच्छादि जलके जीव उनसे भरा जो संसार-सागर उसमें विषय कषायरूप प्रचंड पवन जो कि शुद्धात्म तत्त्वसे सदा पराङ्मुख है, उसी प्रचंड पवनसे जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके समान है, अनादिकालका

अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तया परमकलादृष्ट्या यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोऽपि स्वसंवेदनग्राह्योऽपि भवति। कस्य। तासु यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥ १५६ ॥

अथ—

**अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति।**
**सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥ १५७ ॥**

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति।
स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥ १५७ ॥

अप्पा इत्यादि। **अप्पा** अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा **परहं** ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनः **ण मेलविउ** न योजितः। किं कृत्वा। **मणु मारिवि** मिथ्यात्वविषयकषायादिविकल्पसमूहपरिणतं मनो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिशस्त्रेण मारयित्वा **सहस त्ति** झटिति **सो वढ जोएं किं करइ** स पुरुषः वत्स योगेन किं करोति। स कः। **जासु ण एही सत्ति** यस्येदृशी मनोमारणशक्तिर्नास्तीति तात्पर्यम् ॥ १५७ ॥

---

अज्ञानरूपी पातालमें पड़ा है, सो रागादि मलके छोड़नेसे शीघ्र ही निर्मल हो जाता है, हे बच्चे; आत्मा उन भव्य जीवोंका निर्मल होता है, और प्रत्यक्ष उनको आत्माका दर्शन होता है। परमकला जो आत्माकी अनुभूति वही हुई निश्चयदृष्टि उससे आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है। आत्मा स्वसंवेदनज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य है। जिसका मन विषयसे चंचल न हो, उसीको आत्माका दर्शन होता है ॥ १५६ ॥

आगे यह कहते हैं, कि जिसने शीघ्र ही मनको वशकर आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया, जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है, वह योगसे क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता—[ **सहसा मनः मारयित्वा** ] जिसने शीघ्र ही मनको वशमें करके [ **आत्मा** ] यह आत्मा [ **परस्य न मेलितः** ] परमात्मामें नहीं मिलाया, [ **वत्स** ] हे शिष्य; [ **यस्य** ] जिसकी [ **ईदृशी** ] ऐसी [ **शक्तिः** ] शक्ति [ **न** ] नहीं है, [ **सः** ] वह [ **योगेन** ] योगसे [ **किं करोति** ] क्या कर सकता है? **भावार्थ**—यह प्रत्यक्षरूप संसारीजीव विकल्प सहित है दशा जिसकी, उसको समस्त विकल्प-जाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मासे नहीं मिलाया। मिथ्यात्व विषय कषायादि विकल्पोंके समूहकर परिणत हुआ जो मन उसको वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शस्त्रसे शीघ्र ही मारकर आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया, वह योगी योगसे क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। जिसमें मन मारनेकी शक्ति नहीं है, वह योगी कैसा? योगी तो उसे कहते हैं, कि जो बड़ाई पूजा ( अपनी महिमा ) और लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्प-जालोंसे रहित निर्मल ज्ञान दर्शनमयी

अथ—

**अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिँ झाणु ।**
**वढ अण्णाण-वियंभियहँ कउ तहँ केवल-णाणु ॥ १५८ ॥**

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यद् ये ध्यायन्ति ध्यानम् ।
वत्स अज्ञानविजृम्भितानां कुतः तेषां केवलज्ञानम् ॥ १५८ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा** स्वशुद्धात्मानं **मेल्लिवि** मुक्त्वा । कथंभूतमात्मानम् । **णाणमउ** सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तं **अण्णु** अन्यद्बहिर्द्रव्यालम्बनं **जे** ये केचन **झायहिं** ध्यायन्ति। किम्। **झाणु** ध्यानं **वढ** वत्स मित्र **अण्णाणवियंभियहं** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणाज्ञानविजृम्भितानां परिणतानां **कउ तहं केवलणाणु** कथं तेषां केवलज्ञानं किंतु नैवेति । अत्र यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्त-स्थितिकरणार्थं विषयकषायरूपदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः ॥ १५८ ॥

अथ—

**सुण्णउँ पउँ झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ ।**
**समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ॥ १५९ ॥**

शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम् ।
समरसीभावं परेण सह पुण्यमपि पापं न येषाम् ॥ १५९ ॥

---

परमात्माको देखे जाने अनुभव करे । सो ऐसा मनके मारे विना नहीं हो सकता, यह निश्चय जानना ॥ १५७ ॥

आगे ज्ञानमयी आत्माको छोड़कर जो अन्य पदार्थका ध्यान करते हैं, वे अज्ञानी हैं, उनको केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है, ऐसा निरूपण करते हैं—[ **ज्ञानमयं** ] जो महा निर्मल केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप [ **आत्मानं** ] आत्मद्रव्यको [ **मुक्त्वा** ] छोड़कर [ **अन्यद्** ] जड़ पदार्थ परद्रव्य उनका [ **ये ध्यानं ध्यायंति** ] ध्यान लगाते हैं, [ **वत्स** ] हे वत्स; वे अज्ञानी हैं, [ **तेषां अज्ञानविजृंभितानां** ] उन शुद्धात्माके ज्ञानसे विमुख कुमति कुश्रुत कुअवधिरूप अज्ञानसे परिणत हुए जीवोंको [ **केवलज्ञानं कुतः** ] केवलज्ञानकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? कभी नहीं होसकती । **भावार्थ**—यद्यपि विकल्प सहित अवस्थामें शुभोपयोगियोंको चित्तकी स्थिरताके लिये और विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकने-के लिये जिनप्रतिमा तथा नमोकारमंत्रके अक्षर ध्यावने योग्य हैं, तो भी निश्चयध्यानके समय शुद्ध आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं ॥ १५८ ॥

सुण्णउं पउं इत्यादि । सुण्णउं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः शून्यं पउं वीतरागपरमानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी या सा परमकला तया भरितावस्थापदं निजशुद्धात्मस्वरूपं झायंताहं वीतरागत्रिगुप्तिसमाधिबलेन ध्यायतां वलि वलि जोइयडाहं श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयाभ्यन्तरगुणानुरागं प्रकटयन्ति, वलिं क्रियेऽहमिति परमयोगिनां प्रशंसां कुर्वन्ति । येषां किम् । समरसिभाउ वीतरागपरमाह्लादसुखेन परमसमरसीभावम् । केन सह । परेण सहु स्वसंवेद्यमान-परमात्मना सह । पुनरपि किं येषाम् । पुण्णु वि पाउ ण जाहं शुद्धबुद्धैकस्वभाव-परमात्मनो विलक्षणं पुण्यपापद्वयमिति न येषामित्यभिप्रायः ॥ १५९ ॥

अथ—

**उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।**
**वलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥ १६० ॥**

उद्वसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।
वलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ॥ १६० ॥

---

आगे शुभाशुभ विकल्पसे रहित जो निर्विकल्प ( शून्य ) ध्यान उसको जो ध्याते हैं, उन योगियोंकी मैं वलिहारी करता हूँ, ऐसा कहते हैं—[ **शून्यं पदं ध्यायतां** ] विकल्प रहित ब्रह्मपदको ध्यावनेवाले [ **योगिनां** ] योगियोंकी मैं [ **वलिं वलिं** ] वार वार मस्तक नमाकर पूजा करता हूँ, [ **येषां** ] जिन योगियोंके [ **परेण सह** ] अन्य पदार्थोंके साथ [ **समरसीभावं** ] समरसीभाव है, और [ **पुण्यं पापं अपि न** ] जिनके पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं हैं । **भावार्थ**—शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापार रहित जो वीतराग परमआनंदमयी सुखामृत-रसका आस्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परमकलाकर भरपूर जो ब्रह्मपद-शून्यपद-निज शुद्धात्मस्वरूप उसको ध्यानी राग रहित तीन गुप्ति-रूप समाधिके बलसे ध्यावते हैं, उन ध्यानी योगियोंकी मैं वार वार वलिहारी करता हूँ, ऐसे श्रीयोगींद्रदेव अपना अन्तरंगका धर्मानुराग प्रगट करते हैं, और परम योगीश्वरोंके परम स्वसं-वेदनज्ञान सहित महा समरसीभाव है । समरसीभावका लक्षण ऐसा है, कि जिनके इंद्र और कीट दोनों समान, चिंतामणिरत्न और कंकड़ दोनों समान हों । अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्म द्रव्य इन दोनोंका एकीभावरूप परिणमन वह समरसीभाव है, उसकर सहित हैं । जिनके पुण्य पाप दोनों ही नहीं हैं । ये दोनों शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मासे भिन्न हैं, सो जिन मुनियोंने दोनोंको हेय समझ लिया है, परमध्यानमें आरूढ़ हैं, उनकी मैं वार वार वलिहारी जाता हूँ ॥ १५९ ॥

उव्वस इत्यादि । उव्वस उद्वसान् शून्यान् । कान् । वीतरागतात्त्विकचिदानन्दोच्छलननिर्भरानन्दशुद्धात्मानुभूतिपरिणामान् परमानन्दनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेनेदानीं विशिष्टज्ञानकाले **वसिया करइ** तेनैव स्वसंवेदनज्ञानेन वसितान् भरितावस्थान् करोति **जो** यः परमयोगी **सुण्णु** निश्चयनयेन शुद्धचैतन्यनिश्चयप्राणस्य हिंसकत्वान्मिथ्यात्वविकल्पजालमेव निश्चयहिंसा तत्प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामान् स्वसंवेदनज्ञानलाभात्पूर्वं वसितानिदानीं शून्यान् करोतीति **बलि किज्जउं तसु जोइयहिं** बलिर्मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियेऽहमिति तस्य योगिनः । एवं श्रीयोगीन्द्रदेवाः गुणप्रशंसां कुर्वन्ति । पुनरपि किं यस्य योगिनः । **जासु ण** यस्य न । किम् । **पाउ ण पुण्णु** वीतरागशुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं न पुण्यपापद्वयमिति तात्पर्यम् ।। १६० ।।

अथैकसूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्त्वा च तमेव पूर्वसूत्रपञ्चकेनोक्तं निर्विकल्पसमाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पञ्चकलेन—

**तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ।**
**सो सामिय उवएसु कहि अण्णे देविं काइँ ।। १६१ ।।**

त्रुटयति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति ।
तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किम् ।। १६१ ।।

---

आगे फिर भी योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं—[ **यः** ] जो [ **उद्वसान्** ] ऊजड़ हैं, अर्थात् पहले कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामोंको [ **वसितान्** ] स्वसंवेदनज्ञानके बलसे बसाता है, अर्थात् अपने हृदयमें स्थापन करता है, और [ **यः** ] जो [ **वसितान्** ] पहलेके बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणाम हैं, उनको [ **शून्यान्** ] ऊजड़ करता है, उनको निकाल देता है, [ **तस्य योगिनः** ] उस योगीकी [ **अहं** ] मैं [ **बलिं** ] पूजा [ **कुर्वे** ] करता हूँ, [ **यस्य** ] जिसके [ **न पापं न पुण्यं** ] न तो पाप है और न पुण्य है, । **भावार्थ**—जो प्रगटरूप नहीं बसते हैं, अनादिकालके वीतराग चिदानंदस्वरूप शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग परिणाम उनको अब निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे बसता है, निज स्वादनरूप स्वाभाविक ज्ञानकर शुद्ध परिणामोंकी बस्ती निज घटरूपी नगरमें भरपूर करता है । और अनादिकालके जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चयप्राणोंके घातक ऐसे मिथ्यात्व रागादिरूप विकल्प-जाल हैं, उनको निज स्वरूप नगरसे निकाल देता है, उनको ऊजड़ कर देता है, ऐसे परमयोगीकी मैं बलिहारी हूँ. अर्थात् उसके मस्तकपर मैं अपनेको वारता हूँ । इस प्रकार श्रीयोगींद्रदेव परमयोगियोंकी प्रशंसा करते हैं । जिन योगियोंके वीतराग शुद्धात्मा तत्त्वसे विपरीत पुण्य पाप दोनों ही नहीं है ।।१६०।।

तुट्टइ इत्यादि । तुट्टइ नश्यति । कोऽसौ । **मोहु** निर्मोहशुद्धात्मद्रव्यप्रतिपक्षभूतो मोहः **तडित्ति** झटिति **जहिं** मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्परहिते यत्र परमात्मपदार्थे । पुनरपि किं यत्र । **मणु अत्थवणहं जाइ** निर्विकल्पात् शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतं नानाविकल्पजालरूपं मनो वास्तं गच्छति **सो सामिय उवएसु कहि** हे स्वामिन् तदुपदेशं कथयेति **प्रभाकरभट्टः** श्रीयोगीन्द्रदेवान् पृच्छति । **अण्णें देविं काइं** निर्दोषिपरमात्मनः परमाराध्यात्सकाशादन्येन देवेन किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १६१ ॥ इति **प्रभाकरभट्टप्रश्नसूत्रमेकं गतम्** ।

अथोत्तरम्—

**णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ ।**
**तुट्टइ मोहु तड त्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥ १६२ ॥**

नासाविनिर्गतः श्वासः अम्बरे यत्र विलीयते ।
त्रुट्यति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति ॥ १६२ ॥

**णासविणिग्गउ** इत्यादि । **णासविणिग्गउ** नासिकाविनिर्गतः **सासडा** उच्छ्वासः **अंबरि** मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते शून्ये अम्बरशब्दवाच्ये **जित्थु** यत्र तात्त्विकपरमानन्दभरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ **विलाइ** पूर्वोक्तः श्वासो विलयं गच्छति नासिकाद्वारं विहाय तालुरन्ध्रेण गच्छतीत्यर्थः । **तुट्टइ** त्रुट्यति

---

आगे एक दोहेमें शिष्यका प्रश्न और चार दोहोंमें प्रश्नका उत्तर देकर निर्विकल्पसमाधिरूप परम उपदेशको फिर भी विस्तारसे कहते हैं—[ **स्वामिन्** ] हे स्वामी; मुझे [ **तं उपदेशं** ] उस उपदेशको [ **कथय** ] कहो [ **यत्र** ] जिससे [ **मोहः** ] मोह [ **झटिति** ] शीघ्र [ **त्रुट्यति** ] छूट जावे, [ **मनः** ] और चंचल मन [ **अस्तमनं** ] स्थिरताको [ **याति** ] प्राप्त हो जावे, [ **अन्येन देवेन किं** ] दूसरे देवतोंसे क्या प्रयोजन है ? **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगींद्रदेवसे प्रश्न करते हैं, कि हे स्वामी; वह उपदेश कहो कि जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्यसे पराङ्मुख मोह शीघ्र जुदा हो जावे, अर्थात् मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्प-जालोंसे रहित जो परमात्मा पदार्थ उसमें मोह-जालका लेश भी न रहे, और निर्विकल्प शुद्धात्म भावनासे विपरीत नाना विकल्पजालरूपी चंचल मन वह अस्त हो जावे । हे स्वामी; निर्दोष परमाराध्य जो परमात्मा उससे अन्य जो मिथ्याती देव उनसे मेरा क्या मतलब है ? ऐसा शिष्यने श्रीगुरूसे प्रश्न किया उसका एक दोहा-सूत्र कहा ॥ १६१ ॥

आगे श्रीगुरु उत्तर देते हैं—[ **नासाविनिर्गतः श्वासः** ] नाकसे निकला जो श्वास वह [ **यत्र** ] जिस [ **अंबरे** ] निर्विकल्पसमाधिमें [ **विलीयते** ] मिल जावे, [ **तत्र** ] उसी जगह [ **मोहः** ] मोह [ **झटिति** ] शीघ्र [ **त्रुट्यति** ] नष्ट हो जाता है, [ **मनः** ] और मन

नश्यति । कोऽसौ । मोहु मोहोदयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः तड त्ति झटिति तहिं तत्र बहिर्बोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ मणु मनः पूर्वोक्तरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा अत्थवणहं जाइ अस्तं विनाशं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति । अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं क्षणमात्रं नासिकया तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वासनाशो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः । स च मोहकारणं न भवतीति न परकल्पितवायुः । किं च । कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किंतु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानीन्तनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥ १६२ ॥

---

[ **अस्तं याति** ] स्थिर हो जाता है । **भावार्थ**—नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं, वे अम्बर अर्थात् आकाशके समान निर्मल मिथ्यात्व विकल्प-जाल रहित शुद्ध भावोंमें विलीन हो जाते हैं, अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानंदकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर चित्त हो जाता है, तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है, नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवा रंध्ररूपी दशवें द्वारमें होके निकले, तब मोह टूटता है, उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जाल नाश हो जाते हैं, बाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोंका आधारभूत जो मन वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निजस्वभावमें मनकी चंचलता नहीं रहती । जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें होता है, तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अवांछीक वृत्तिसे तालुवाके बालकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें ( दशवें द्वारमें ) होकर बारीक निकलती है, नासाके छेदको छोड़कर तालुरंध्रमें ( छेदमें ) होकर निकलती है । और पातंजलिमतवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं, वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि वायुधारणा वांछापूर्वक होती है, और वांछा है, वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है, वांछाका कारण मोह है । वह संयमीके वायुका निरोध वांछापूर्वक नहीं होता है, स्वाभाविक ही होता है । जिनशासनमें ऐसा कहा है, कि कुंभक ( पवनको खेंचना ) पूरक ( पवनको थँभना ) रेचक ( पवनको निकालना ) ये तीन भेद प्राणायामके हैं, इसीको **वायुधारणा** कहते हैं । यह क्षणमात्र होती है, परंतु अभ्यासके वशसे घड़ी पहर दिवस आदितक भी होती है । उस वायुधारणाका फल ऐसा कहा है, कि देह आरोग्य होती है, देहके सब रोग मिट

अथ—

**मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु ।**
**केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु ॥ १६३ ॥**

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुट्यति श्वासोच्छ्वासः ।
केवलज्ञानमपि परिणमति अम्बरे येषां निवासः ॥ १६३ ॥

मोहु विलिज्जइ इत्यादि । **मोहु** मोहो ममत्वादिविकल्पजालं **विलिज्जइ** विलयं गच्छति **मणु मरइ** इहलोकपरलोकाशाप्रभृतिविकल्पजालरूपं मनो म्रियते **तुट्टइ** नश्यति । कोऽसौ । **सासुणिसासु** अनीहितवृत्त्या नासिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं तालुरन्ध्रेण गच्छति पुनरप्यन्तरं नासिकया कृत्वा निर्गच्छति पुनरपि रन्ध्रेणेत्युच्छ्वासनिःश्वासलक्षणो वायुः । पुनरपि किं भवति । **केवलणाणु वि परिणमइ** केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां किम् । **अंबरि जाहं णिवासु** रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालशून्यं अम्बरे अम्बरशब्दवाच्ये शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ येषां निवास इति । अयमत्र भावार्थः । अम्बरशब्देन

---

जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, परंतु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है, आत्माका स्वभाव नहीं है। शुद्धोपयोगियोंके सहज ही विना यत्नके मन भी रुक जाता है, और श्वास भी स्थिर हो जाते हैं। शुभोपयोगियोंके मनके रोकनेके लिये प्राणायामका अभ्यास है, मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नहीं है। जो आत्मस्वरूप है, वह केवल चेतनामयी ज्ञान दर्शनस्वरूप है, सो शुद्धोपयोगी तो स्वरूपमें अतिलीन हैं, और शुभोपयोगी कुछ एक मनकी चपलतासे आनंदघनमें अडोल अवस्थाको नहीं पाते, तबतक मनके वश करनेके लिये श्रीपंचपरमेष्ठीका ध्यान स्मरण करते हैं, ओंकारादि मंत्रोंका ध्यान करते हैं। और प्राणायामका अभ्यासकर मनको रोकके चिद्रूपमें लगाते हैं, जब वह लग गया, तब मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं। शुभोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है, पातंजलिमतकी तरह थोथी वायुधारणा नहीं है। जो वायुधारणासे ही शक्ति होवे, तो वायुधारणाके करनेवालोंको इस दुःषमकालमें मोक्ष क्यों न होवे? कभी नहीं होता। मोक्ष तो केवल स्वभावमयी है ॥ १६२ ॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं—[ **येषां** ] जिन मुनीश्वरोंका [**अंबरे**] परमसमाधिमें [ **निवासः** ] निवास है, उनका [ **मोहः** ] मोह [ **विलीयते** ] नाशको प्राप्त हो जाता है, [ **मनः** ] मन [ **म्रियते** ] मर जाता है, [ **श्वासोच्छ्वासः** ] श्वासोच्छ्वास [ **त्रुट्यति** ] रुक जाता है, [ **अपि** ] और [ **केवलज्ञानं** ] केवलज्ञान [ **परिणमति** ] उत्पन्न होता है। **भावार्थ**—दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि कल्पना-जाल सब विलय हो जाते हैं, इस लोक परलोक आदिकी वांछा आदि विकल्प-जालरूप मन स्थिर हो जाता है, और श्वासो-

शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविकल्पशून्यः परमसमाधिर्ग्राह्यः, वायुशब्देन च कुम्भकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किंतु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिबलेन दशमद्वारसंज्ञेन ब्रह्मरन्ध्रसंज्ञेन सूक्ष्माभिधानरूपेण च तालुरन्ध्रेण योऽसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र। यदुक्तं केनापि—"मणु मरइ पवणु जहिं खयहं जाइ। सव्वंगइ तिहुवणु तहिं जि ठाइ। मूढा अंतरालु परियाणहि। तुट्टइ मोहजालु जइ जाणहि॥"। अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनक्षयोऽपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः। अन्तरालशब्देन तु रागादिपरभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः॥ १६३॥

---

च्छ्वासरूप वायु रुक जाती है, श्वासोच्छ्वास अवांछीकपनेसे नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होकर निकलते हैं, तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं। इस प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन वश हो जाता है। चाहे जिस द्वारसे निकालो। केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है, कि जिन मुनियोंका राग द्वेष मोहरूप विकल्प-जालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमयी परमसमाधिमें निवास है। यहाँ अम्बर नाम आकाशका अर्थ नहीं समझना, किन्तु समस्त विषय-कषायरूप विकल्प-जालोंसे शून्य परम-समाधि लेना। और यहाँ वायु शब्दसे कुंभक पूरक रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना, किन्तु स्वयमेव अवांछीक वृत्तिपर निर्विकल्पसमाधिके बलसे ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालुवेका रंध्र कहते हैं, उसके द्वारा अवांछीक वृत्तिसे पवन निकलता है, वह लेना। ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नहीं होता है, विना ही यत्नके सहज ही पवन रुक जाता है, और मन भी अचल हो जाता है, ऐसा समाधिका प्रभाव है। ऐसी दूसरी जगह भी कहा है, कि जो मूढ़ है, वे तो अम्बरका अर्थ आकाशको जानते हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे अम्बरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं। सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मर जाता है, पवनका सहज ही विरोध होना है, और सब अंग तीन भुवनके समान हो जाता है। जो परमसमाधिको जाने, तो मोह टूट जावे। मनके विकल्पोंका मिटना वही मनका मरना है, और वही श्वासका रुकना है, जो कि सब द्वारोंसे रुककर दशवें द्वारमेंसे होकर निकले। तीन लोकका प्रकाशक आत्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थापित करता है। अंतराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंसे शून्यदशा लेना आकाशका अर्थ न लेना। आकाशके जाननेसे मोह-जाल नहीं मिटता, आत्मस्वरूपके जाननेसे मोह-जाल मिटता है। जो पातञ्जलि आदि परमतमेंमें शून्य-रूप समाधि कही है, वह अभिप्राय नहीं लेना, क्योंकि जब विभावोंकी शून्यता हो जावेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जायगा॥ १६३॥

अथ—

**जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु ।**
**तुट्टइ मोहु तड त्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥ १६४ ॥**

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।
त्रुटयति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥ १६४ ॥

जो इत्यादि । **जो** यो ध्याता पुरुषः **आयासइ मणु धरइ** यथा परद्रव्यसंबन्धरहितत्वेनाकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थोऽपि मिथ्यात्वरागादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पसमाधिराकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते । तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति । कथंभूतं मनः । **लोयालोयपमाणु** लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं धरति **तुट्टइ मोहु तड त्ति तसु** त्रुट्यति नश्यति । कोऽसौ । **मोहु** मोहः । कथम् । झटिति तस्य ध्यानात् । न केवलं मोहो नश्यति । **पावइ** प्राप्नोति । किम् । **परहं पवाणु** परस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रमाणम् । कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् । व्यवहारेण रूपग्रहणविषये चक्षुरिव सर्वगतः । यदि पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुषो अग्निस्पर्शदाहः प्राप्नोति न च तथा । तथात्मनोऽपि परकीयसुखदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा ।

---

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं—[ **यः** ] जो ध्यानी पुरुष [ **आकाशे** ] निर्विकल्पसमाधिमें [ **मनः** ] मन [ **धरति** ] स्थिर करता है, [ **तस्य** ] उसीका [ **मोहः** ] मोह [ **झटिति** ] शीघ्र [ **त्रुट्यति** ] टूट जाता है, और ज्ञान करके [ **परस्य प्रमाणं** ] लोकालोकप्रमाण आत्माको [ **प्राप्नोति** ] प्राप्त हो जाता है । **भावार्थ**—आकाश अर्थात् वीतराग चिदानंद स्वभाव अनंत गुणरूप और मिथ्यात्व रागादि परभाव रहित स्वरूप निर्विकल्पसमाधि यहाँ समझना । जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्योंसे भरा हुआ हैं, परंतु सबसे शून्य अपने स्वरूप है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियोंसे रहित है, शून्यरूप है, इसलिये आकाश शब्दका अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप लेना । व्यवहारनयकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है, और निश्चयनयकर अपने स्वरूपका प्रकाशक है । आत्माका केवलज्ञान लोकालोकको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण कहा जाता है, प्रदेशोंकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है । ज्ञानगुण लोकालोकमें व्याप्त है, परंतु परद्रव्योंसे भिन्न है । परवस्तुसे जो तन्मयी हो जावे, तो वस्तुका अभाव हो जावे । इसलिये यह निश्चय हुआ, कि ज्ञान गुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं, उसमें जो मन लगावे, तब जगत्से मोह दूर हो और परमात्माको पावे । व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है, इस-

निश्चयेन पुनर्लोकमात्रासंख्येयप्रदेशोऽपि सन् व्यवहारेण पुनः शरीरकृतोपसंहारविस्तारवशाद्विवक्षितभाजनस्थप्रदीपवत् देहमात्र इति भावार्थः ॥ १६४ ॥

अथ—

**देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।**
**अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥ १६५ ॥**

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनन्तः ।
अम्बरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टः निर्भ्रान्तिः ॥ १६५ ॥

**देहि वसंतु वि** इत्यादि । **देहि वसंतु वि** व्यवहारेण देहे वसन्नपि **णवि मुणिउ** नैव ज्ञातः । कोऽसौ । **अप्पा** निजशुद्धात्मा । किंविशिष्टः । **देउ** आराधनायोग्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वेन देवः परमाराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिकारणत्वादविनश्वरत्वादनन्तः । किं कृत्वा । **मणु धरिवि** मनो धृत्वा । क्व । **अंबरि** अम्बरशब्दवाच्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पसमाधौ । कथंभूते । **समरसि** वीतरागतात्त्विकमनोहरानन्दस्यन्दिनि समरसीभावे साध्ये । **सामिय** हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । किं ब्रूते । **णट्ठु णिभंतु** इयन्तं कालमित्थंभूतं परमात्मोपदेशमलभमानः सन् निर्भ्रान्तो नष्टोऽह-

---

लिये सब जगत्में हैं । जैसे व्यवहारनयकर नेत्र रूपी पदार्थको जानता है, परंतु उन पदार्थोंसे भिन्न है । जो निश्चयकर सर्वगत होवे, तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे, जो उसे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अग्निका दाह होना चाहिये, इस कारण तन्मयी नहीं है । उसी प्रकार आत्मा जो पदार्थोंको तन्मयी होके जाने, तो परके सुख दुःखसे तन्मयी होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मालूम होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है, और व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, और व्यवहारनयकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देहप्रमाण है, जैसा शरीर-धारण करे, वैसा प्रदेशोंका संकोच विस्तार हो जाता है ॥ १६४ ॥

आगे फिर भी शिष्य प्रश्न करता है—[ **स्वामिन्** ] हे स्वामी; [ **देहे वसन्नपि** ] व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी [ **आत्मा देवः** ] आराधने योग्य आत्मा [ **अनंतः** ] अनंत गुणोंका आधार [ **नैव मतः** ] मैंने अज्ञानतासे नहीं जाना । क्या करके [ **समरसे** ] समान भावरूप [ **अंबरे** ] निर्विकल्पसमाधिमें [ **मनः धृत्वा** ] मन लगा कर । इसलिये अबतक [ **नष्टो निर्भ्रांतः** ] निस्संदेह नष्ट हुआ । **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट पछताता हुआ श्रीयोगींद्रदेवसे विनती करता है, कि हे स्वामिन्; मैंने अबतक रागादि विभाव रहित निर्विकल्पसमाधिमें मन लगाकर आत्म-देव नहीं जाना, इसलिये इतने

मित्यभिप्रायः ॥ १६५ ॥ एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतम् ।

अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति—

**सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाउ ।**
**सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिँ जोइहिँ अणुराउ ॥ १६६ ॥**
**घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहहँ सारु ।**
**पुण्णु वि पाउ वि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥ १६७ ॥**

सकला अपि संगा न मुक्ताः नैव कृत उपशमभावः ।
शिवपदमार्गोऽपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥ १६६ ॥
घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधस्य सारम् ।
पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते संसारः ॥ १६७ ॥

**सयल वि** इत्यादि । **सयल वि** समस्ता अपि **संग** मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्ना आभ्यन्तराः क्षेत्रवास्त्वादिबहुभेदभिन्ना बाह्या अपि संगाः परिग्रहाः **ण मिल्लिया** न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतम् । **णवि किउ उवसमभाउ** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणो नैव कृतः उपशमभावः । पुनश्च किं न कृतम् । **सिवपयमग्गु वि मुणिउ णवि** "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥" इति वचनात् शिवशब्दवाच्यो योऽसौ मोक्षस्तस्य मार्गोऽपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः । स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे किम् । **जहिँ जोइहिँ अणुराउ** यत्र निश्चयमोक्षमार्गे परमयोगिनामनुरागस्तात्पर्यम् । न केवलं मोक्षमार्गोऽपि न ज्ञातः। **घोरु ण चिण्णउ तवचरणु** घोरं दुर्धरं परीषहोपसर्गजयरूपं नैव चीर्णं न कृतम् । किं तत् । अनशनादिद्वादश–

---

कालतक संसारमें भटका । निजस्वरूपकी प्राप्तिके विना मैं नष्ट हुआ । अब ऐसा उपदेश करें कि जिससे भ्रम मिट जावे ॥ १६५ ॥ इस प्रकार परमोपदेशके कथनकी मुख्यतासे दस दोहे कहे हैं ।

आगे परमोपदेश भाव सहित सब परिग्रहका त्याग करनेसे संसारका विच्छेद होता है, ऐसा दो दोहोंमें निश्चय करते हैं—[ **सकला अपि संगाः** ] सब परिग्रह भी [ **न मुक्ताः** ] नहीं छोड़े, [ **उपशमभावः नैव कृतः** ] समभाव भी नहीं किया [ **यत्र योगिनां अनुरागः** ] और जहाँ योगीश्वरोंका प्रेम है, ऐसा [ **शिवमार्गोऽपि** ] मोक्ष-पद भी [ **नैव मतः** ] नहीं जाना, [ **घोरं तपश्चरणं** ] महा दुर्धर तप [ **न चीर्णं** ] नहीं किया;

विधं तपश्चरणम्। यत्कथंभूतम्। **जं णियबोहहं सारु** यत्तपश्चरणं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतम्। पुनश्च किं न कृतम्। **पुण्णु वि पाउ वि** निश्चयनयेन शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयसदृशं पुण्यपापद्वयमपि **दड्ढु णवि** शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव। **किमु छिज्जइ संसारु** कथं छिद्यते संसार इति। अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निरन्तरं शुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १६६–६७ ॥

अथ दानपूजापञ्चपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति—

**दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।**
**पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु ॥ १६८ ॥**

दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजितः जिननाथः ।
पञ्च न वन्दिताः परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥ १६८ ॥

---

[ **यत्** ] जो कि [ **निजबोधेन सारं** ] आत्मज्ञानकर शोभायमान है, [ **पुण्यमपि पापमपि** ] और पुण्य तथा पाप ये दोनों [ **नैव दग्धं** ] नहीं भस्म किये, तो [ **संसारः** ] संसार [ **किं छिद्यते** ] कैसे छूट सकता है? **भावार्थ**—मिथ्यात्व (अतत्त्व श्रद्धान) राग ( प्रीतिभाव ) दोष ( बैरभाव ) वेद ( स्त्री पुरुष नपुंसक ) क्रोध मान माया लोभरूप चार कषाय, और हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि–ये चौदह अंतरंग परिग्रह, क्षेत्र ( ग्रामादिक ) वास्तु ( गृहादिक ) हिरण्य ( रुपया पैसा मुहर आदि ) सुवर्ण (गहने आदि) धन ( हाथी घोड़ा आदि ) धान्य ( अन्नादि ) दासी, दास, कुप्य ( वस्त्र तथा सुगंधादिक ), भांड ( वर्तन आदि ) ये दस तरहके बाहरके परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहके चौवीस भेद हुए, इनको नहीं छोड़ा। जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभादिमें समान भाव कभी नहीं किया, कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भी नहीं जाने। निजस्वरूपका श्रद्धान, निजस्वरूपका ज्ञान, और निजस्वरूपका आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका श्रद्धान, नव पदार्थोंका ज्ञान, और अशुभ क्रियाका त्यागरूप व्यवहाररत्नत्रय-ये दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं, इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्षका मार्ग है, और व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका मार्ग है। ये दोनों मैंने कभी नहीं जाने, संसारका ही मार्ग जाना। अनशनादि बारह प्रकारका तप नहीं किया, बाईस परीषह नहीं सहन कीं। तथा पुण्य सुवर्णकी बेड़ी, पाप लोहेकी बेड़ी ये दोनों बंधन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निसे भस्म नहीं किये। इन बातोंके बिना किये संसारका विच्छेद नहीं होता, संसारसे मुक्त होनेके ये ही कारण हैं। ऐसा व्याख्यान जानकर सदैव शुद्धात्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये ॥ १६६–१६७ ॥

दाणु इत्यादि । दाणु ण दिण्णउ आहाराभयभैषज्यशास्त्रभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तम् । केषाम् । मुणिवरहं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां ण वि पुज्जिउ जलधारया सह गन्धाक्षतपुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः । कोऽसौ । जिणणाहु देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः पंच ण वंदिय पञ्च न वन्दिताः। के ते । परमगुरु त्रिभुवनाधीशवन्द्यपदस्थिता अर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवन्द्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधवश्चेति पञ्च गुरवः, किमु होसइ सिवलाहु शिवशब्दवाच्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावन्दनादिकं न कृतम्, कथं शिवशब्दवाच्यमोक्षसुखस्य लाभो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दातव्यं पूजावन्दनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ १६८ ॥

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

**अद्धुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।**
**एमुइ लब्भइ परम-गइ णिच्चिंतिं ठियएहिँ ॥ १६९ ॥**

---

आगे दान पूजा और पंचपरमेष्ठीकी वंदना, आदि परम्परा मुक्तिका कारण जो श्रावकधर्म उसे कहते हैं—[ **दानं** ] आहारादि दान [ **मुनिवराणां** ] मुनीश्वर आदि पात्रोंको [ **न दत्तं** ] नहीं दिया, [ **जिननाथः** ] जिनेन्द्रभगवानको भी [ **नापि पूजितः** ] नहीं पूजा, [ **पंच परमगुरवः** ] अरहंत आदिक पाँचपरमेष्ठी [ **न वंदिताः** ] भी नहीं पूजे, तब [ **शिवलाभः** ] मोक्षकी प्राप्ति [ **किं भविष्यति** ] कैसे हो सकती है ? **भावार्थ**—आहार औषध, शास्त्र और अभयदान–ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं दिये, अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यती आदिक चार प्रकार संघ उनको चार प्रकारका दान भक्तिकर नहीं दिया, और भूखे जीवोंको करुणाभावसे दान नहीं दिया । इंद्र, नागेंद्र, नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकर पूर्ण जिननाथकी पूजा नहीं की, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलसे पूजा नहीं की, और तीन लोककर वंदने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँचपरमेष्ठियोंकी आराधना नहीं की । सो हे जीव; इन कार्योंके विना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय हैं । जिनपूजा, पंचपरमेष्ठीकी वंदना, और चार संघको चार प्रकार दान, इन विना मुक्ति नहीं हो सकती । ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंगमें कही गई जो दान पूजा वंदनादिककी विधि वही करनी योग्य है । शुभ विधिसे न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातारके अच्छे गुणोंको धारणकर विधिसे पात्रको देना, जिनराजकी पूजा करना, और पंचपरमेष्ठीकी वंदना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणके उपाय हैं ॥ १६८ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं आच्छादिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ॥ १६९ ॥

**अद्धुम्मीलियलोयणिहिं** अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां **जोउ किं** योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्याम् । **झंपियएहिं** झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । **एमुइ लब्भइ** एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते । **परमगइ** केवलज्ञानादिपरमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्षगतिः । कैः लभ्यते । **णिच्चिंतिं ठियएहिं** ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥१६९॥

अथ—

**जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुट्टइ संसारु ।**
**चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥ १७० ॥**

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुटयति संसारः ।
चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसचारम् ॥ १७० ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मिल्लहि** मुञ्चसि । काम् । चिन्तारहिताद्विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां **चिन्तां जइ** यदि चेत् **तो** ततश्चिन्ताभावात् । किं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । स कः । **संसारु** निःसंसारात् शुद्धात्मद्रव्याद् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालादिभेदभिन्नः पञ्चप्रकारः संसारः । यतः कारणात् । **चिंतासत्तउ जिणवरु वि** छद्मस्थावस्थायां शुभाशुभचिन्तासक्तो जिनवरोऽपि

---

आगे निश्चयसे चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है, ऐसा कहते हैं—[ **अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां** ] आधे उघड़े हुए नेत्रोंसे अथवा [ **झंपिताभ्यां** ] बंद हुए नेत्रोंसे [ **किं** ] क्या [ **योगः** ] ध्यानकी सिद्धि होती है, कभी नहीं । [**निश्चिंतं स्थितैः**] जो चिन्ता रहित एकाग्रमें स्थित हैं, उनको [ **एवमेव** ] इसी तरह [ **लभ्यते परमगतिः** ] स्वयमेव परमगति ( मोक्ष ) मिलती है । **भावार्थ**—ख्याति ( बड़ाई ) पूजा ( अपनी प्रतिष्ठा ) और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिन्ताओंसे रहित जो निश्चित पुरुष है, वे ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं, उन्हींके ध्यानकी सिद्धि है, और वे ही परमगतिके पात्र हैं ॥ १६९ ॥

आगे फिर भी चिन्ताका ही त्याग बतलाते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **यदि** ] जो तू [ **चिंतां मुंचसि** ] चिन्ताओंको छोड़ेगा [ **ततः** ] तो [ **संसारः** ] संसारका भ्रमण [ **त्रुट्यति** ] छूट जायगा, क्योंकि [ **चिंतासक्तः** ] चिन्तामें लगे हुए [ **जिनवरोऽपि** ] छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थंकरदेव भी [ **हंसचारं न लभते** ] परमात्माका आचरणरूप

लहइ ण लभते न । कम् । हंसाचारु संशयविभ्रमविमोहरहितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य आचारं रागादिरहितं शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालं त्यक्त्वापि चिन्तारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १७० ॥

अथ—

**जोइय दुम्मइ कवुण तुहुँ भव-कारणि ववहारि ।**
**बंभु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥ १७१ ॥**

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपञ्चैर्यद् रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥ १७१ ॥

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **दुम्मइ कवुण तुहुं** दुर्मतिः का तवेयं **भवकारणि ववहारि** भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्यात्प्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यत्। **पवंचहिं जो रहिउ** प्रपञ्चैर्मायापाखण्डैः यद्रहितम् । **सो जाणिवि** तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । पश्चात्किं कुरु। **मणु मारि** अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ॥१७१॥

---

शुद्ध भावोंको नहीं पाते । **भावार्थ**—हे योगी; निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदार्थसे पराङ्मुख जो चिंता-जाल उसे छोड़ेगा, तभी चिंताके अभावसे संसार भ्रमण टूटेगा । शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पाँच प्रकारके संसारसे तू मुक्त होगा । जबतक चिंतावान् है, तबतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरोंकी तो क्या बात है, जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जबतक कुछ शुभाशुभ चिन्ताकर सहित हैं, तबतक वे भी रागादि रहित शुद्धोपयोग परिणामोंको नहीं पा सकते ।संशय विमोह विभ्रम रहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्ज्वल परमात्माके शुद्ध भाव हैं, वे चिंताके विना छोड़े नहीं होते । तीर्थंकरदेव भी मुनि होके निश्चित व्रत धारण करते हैं, तभी परमहंस दशा पाते हैं, ऐसा व्याख्यान जानकर देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा आदि समस्त चिंता-जालको छोड़कर परम निश्चिंत हो, शुद्धात्मकी भावना करना योग्य है ॥ १७० ॥

आगे श्रीगुरु मुनियोंको उपदेश देते हैं, कि मनको मारकर परब्रह्मका ध्यान करो— [ **योगिन्** ] हे योगी; [ **तव का दुर्मतिः** ] तेरी क्या खोटी बुद्धि है, जो तू [ **भवकारणे व्यवहारे** ] संसारके कारण उद्यमरूप व्यवहार करता है । अब तू [ **प्रपंचैः रहितं** ] मायाजालरूप पाखंडोंसे रहित [ **यत् ब्रह्म** ] जो शुद्धात्मा है, [ **तत् ज्ञात्वा** ] उसको जानकर

अथ—

**सव्वहिँ रायहिँ छहिँ रसहिँ पंचहिँ रूवहिँ जंतु ।**
**चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु ॥ १७२ ॥**

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत् ।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥ १७२ ॥

सव्वहिं इत्यादि । झाहि ध्याय चिन्तय तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कम् । अप्पा स्वशुद्धात्मानम् । कथंभूतम् । देउ वीतरागपरमानन्दसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवम् । पुनरपि कथंभूतम् । अणंतु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वादनन्तसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तस्तमनन्तम् । किं कृत्वा पूर्वम् । चित्तु णिवारिवि चित्तं निवार्य व्यावृत्य । किं कुर्वन् सन् । जंतु गच्छत्परिणममानं सत् । कैः करणभूतैः । सव्वहिं रायहिं वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । छहिं रसहिं रसरहिताद्वीतरागसदानन्दैकरसपरिणतादात्मनो विपरीतैः गुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः । पुनरपि कैः । पंचहिं रूवहिं अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तश्वेतपीतपञ्चरूपैरिति तात्पर्यम् ॥ १७२ ॥

अथ येन स्वरूपेण चिन्त्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति--

**जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।**
**तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥ १७३ ॥**

---

[ **मनो मारय** ] विकल्प-जालरूपी मनको मार । **भावार्थ**—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभ विकल्प-जालरूप मनको मारो । मनके विना वश किये निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेक विकल्प-जालोंसे जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है, जब कि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥ १७१ ॥

आगे यही कहते हैं, कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो—हे प्रभाकर भट्ट; [ **त्वं** ] तू [ **सर्वैः रागैः** ] सब शुभाशुभ रागोंसे [ **षड्भिः रसैः** ] छहों रसोंसे [ **पंचभिः रसैः** ] पाँच रसोंसे [ **गच्छत् चित्तं** ] चलायमान चित्तको [ **निवार्य** ] रोककर [ **अनंतं** ] अनंतगुणवाले [ **आत्मानं देवं** ] आत्मदेवका [ **ध्याय** ] चिंतवन कर । **भावार्थ**—वीतराग परम आनंद सुखमें क्रीड़ा करनेवाले केवलज्ञानादि अनंतगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्र चित्त होकर ध्यान कर । क्या करके ? वीतराग शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभाशुभ राग, निजरससे विपरीत जो दधि, दुग्ध, तेल, घी, नोंन,

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनन्तः ।
तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः ॥ १७३ ॥

जेण इत्यादि । **तेण सरूविं परिणवइ** तेन स्वरूपेण परिणमति । कोऽसौ कर्ता । **अप्पा** आत्मा **एहु** एष प्रत्यक्षीभूतः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** वीतरागानाकुलत्वलक्षणानन्तसुखाद्यनन्तशक्तिपरिणतत्वादनन्तः । तेन केन । **जेण सरूविं झाइयइ** येन शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण ध्यायते चिन्त्यते । दृष्टान्तमाह । **जइ फलिहउमणि मंतु** यथा स्फटिकमणिः जपापुष्पाद्युपाधिपरिणतः गारुडादिमन्त्रो वेति । अत्र विशेषव्याख्यानं तु–"येन येन स्वरूपेण युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥" इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्यम् । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्त्यते तेन तेन परिणमतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मपदप्राप्त्यर्थिभिः समस्तरागादिविकल्पसमूहं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ॥ १७३ ॥

---

मिस्री, ये छह रस और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न काले, सफेद, हरे, पीले, लाल, पाँच-तरहके रूप–इनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर आत्मदेवकी आराधना कर ॥१७२॥

आगे आत्माको जिसरूपसे ध्यावो, उसीरूप परिणमता है, जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक दिया जाये, वैसा ही रंग भासता है, ऐसा कहते हैं—[**एषः**] यह प्रत्यक्षरूप [**अनंतः**] अविनाशी [**आत्मा**] आत्मा [**येन स्वरूपेण**] जिस स्वरूपसे [**ध्यायते**] ध्याया जाता है, [**तेन स्वरूपेण**] उसी स्वरूप [**परिणमति**] परिणमता है, [**यथा स्फटिकमणिः मंत्रः**] जैसे स्फटिकमणि और गारुड़ी आदि मंत्र हैं । **भावार्थ**—यह आत्मा शुभ अशुभ शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । जो अशुभोपयोगका ध्यान करे, तो पापरूप परिणवे, शुभोपयोगका ध्यान करे, तो पुण्यरूप परिणवे, और जो शुद्धोपयोगको ध्यावे, तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है। जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ, अर्थात् श्याम हरा पीला लालमेंसे जैसा लगाओ, उसी रूप स्फटिकमणि परिणमता है, हरे डंकसे हरा और लालसे लाल भासता है। उसी तरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है, उसीरूप भासता है । और गारुड़ी आदि मंत्रोंमेंसे गारुड़ीमंत्र गरुड़रूप भासता है, जिससे कि सर्प डर जाता है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है, कि जिस जिस रूपसे आत्मा परिणमता है, उस उस रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है, जैसे स्फटिकमणि उज्ज्वल है, उसके नीचे जैसा डंक लगाओ, वैसा ही भासता है । ऐसा जानकर आत्माका स्वरूप जानना चाहिये । जो शुद्धात्मपदकी प्राप्तिके चाहनेवाले हैं, उनको यही योग्य है, कि समस्त रागादिक विकल्पोंके समूहको छोड़कर आत्माके शुद्ध रूपको ध्यावें, और विकारोंपर दृष्टि न रक्खें ॥ १७३ ॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति—

**एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसेँ जायउ जप्पा।**
**जामइँ जाणइ अप्पेँ अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥**

एष यः आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः।
यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव देवः परमात्मा ॥ १७४ ॥

एहु इत्यादि। **एहु जु** एष यः प्रत्यक्षीभूतः **अप्पा** स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा। स कथंभूतः। **सो परमप्पा** शुद्धनिश्चयेनानन्तचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषिपरमात्मा **कम्मविसेसें जायउ जप्पा** व्यवहारनयेनानादिकर्मबन्धनविशेषेण स्वकीयबुद्धिदोषेण जात उत्पन्नः। कथंभूतो जातः। जाप्यः पराधीनः **जामइं जाणइ** यदा काले जानाति। केन कम्। **अप्पें अप्पा** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं **तामइं** तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले **सो जि** स एवात्मा **देउ** निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानुभवेन दीव्यति क्रीडतीति देवः परमाराध्यः। किंविशिष्टो देवः। **परमप्पा** शुद्धनिश्चयेन मुक्तिगतपरमात्मसमानः। अयमत्र भावार्थः। यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तीभविष्यतीति ॥ १७४ ॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

**जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।**
**जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥ १७५ ॥**

यः परमात्मा ज्ञानमयः स अहं देवः अनन्तः।
यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रान्तः ॥ १७५ ॥

---

आगे चतुष्पदछंदमें आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं—[ **एष यं आत्मा** ] यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदनज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा [ **स परमात्मा** ] वही शुद्ध निश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर [ **कर्मविशेषेण** ] अनादि कर्मबंधके विशेषसे [ **जाप्यः जातः** ] पराधीन हुआ दूसरेका जाप करता है, परंतु [ **यदा** ] जिस समय [ **आत्मना** ] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानकर [ **आत्मानं** ] अपनेको [ **जानाति** ] जानता है, [ **तदा** ] उस समय [ **स एव** ] यह आत्मा ही [ **परमात्मा** ] परमात्मा देव है। **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परम आनंद उसके अनुभवमें क्रीडा करनेसे देव कहा जाता है, यही आराधने योग्य है। जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनयकर भगवान् केवलीके समान है। ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपसे देहमें है, जो देहमें न होवे, तो केवलज्ञानके समय कैसे प्रगट होवे ॥ १७४ ॥

जो परमप्पा इत्यादि । जो परमप्पा यः कश्चित् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वोत्कृष्टानन्तज्ञानादिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमश्चासावात्मा च परमात्मा णाणमउ ज्ञानेन निर्वृत्तः ज्ञानमयः सो हउं यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृतस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः परमात्मा । कथंभूतः । देउ परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः । अणंतु अनन्तसुखादिगुणास्पदत्वादनन्तः । जो हउं सो परमप्पु योऽहं स्वदेहस्थो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः । परु परमगुणयोगात् पर उत्कृष्टः एहउ भावि इत्थंभूतं परमात्मानं भावय । हे प्रभाकरभट्ट । कथंभूतः सन् । णिभंतु भ्रान्तिरहितः संशयरहितः सन्निति । अत्र स्वदेहेऽपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन केवलज्ञानाद्युत्पत्तिबीजभूतां कारणसमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्त्वादिरूपां शुद्धात्मैकदेशव्यक्तिं लब्ध्वा सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १७५ ॥

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

**णिम्मल-फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ ।**
**अप्प-सहावहँ तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ॥ १७६ ॥**

---

आगे इसी अर्थको प्रगटपनेसे दृढ़ करते हैं—[ **यः परमात्मा** ] जो परमात्मा [ **ज्ञानमयः** ] ज्ञानस्वरूप है, [ **स अहं** ] वह मैं ही हूँ, जो कि [ **अनंतः देवः** ] अविनाशी देवस्वरूप हूँ, [ **य अहं** ] जो मैं हूँ, [ **स परः परमात्मा** ] वही उत्कृष्ट परमात्मा है, [ **इत्थं** ] इस प्रकार [ **निर्भ्रांतः** ] निस्संदेह [ **भावय** ] तू भावना कर । **भावार्थ**—जो कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनंतज्ञानादिरूप लक्ष्मीका निवास है, ज्ञानमयी है, वैसा ही मैं हूँ। यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ हूँ, तो भी निश्चयनयकर मेरे बंध मोक्ष नहीं है, जैसा भगवान्का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है। जो आत्मदेव महामुनियोंकर परम आराधने योग्य है, और अनंत सुख आदि गुणोंका निवास है । इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है, वैसा ही परमात्मा है । जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, और जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। **अहं** यह शब्द देहमें स्थित आत्माको कहता है। और **सः** यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मामें लगाना । जो परमात्मा वह मैं हूँ, और मैं हूँ सो परमात्मा-यही ध्यान हमेशा करना । वह परमात्मा परमगुणके संबंधसे उत्कृष्ट है । श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं, कि हे प्रभाकर भट्ट; तू सब विकल्पोंको छोड़कर केवल परमात्माका ध्यान कर । निस्संदेह होके इस देहमें शुद्धात्मा है, ऐसा निश्चय कर । मिथ्यात्वादि सब विभावोंकी उपशमताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार ( निज आत्मा ) उसीकी

निर्मलस्फटिकाद् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः ।
आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥ १७६ ॥

**भिण्णउ** भिन्नो भवति **जिय** हे जीव **जेम** यथा । कोऽसौ कर्ता । **परकियभाउ** जपापुष्पाद्युपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्सकाशात् । **णिम्मलफलिहहं** निर्मलस्फटिकात् **तेम** तथा **भिन्नं मुणि** मन्यस्व जानीहि । कम् **सयलु वि कम्मसहाउ** समस्तमपि भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मस्वभावम् कस्मात् । सकाशात् । **अप्पसहावहं** अनन्तज्ञानादिगुणस्वभावात् परमात्मन इति भावार्थः ॥ १७६ ॥

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां द्रढयति—

**जेम सहावि णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।**
**भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ॥ १७७ ॥**

यथा स्वभावेन निर्मलः स्फटिकः तथा स्वभावः ।
भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ॥ १७७ ॥

जेम इत्यादि । **जेम सहावि णिम्मलउ** यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोऽसौ । **फलिहउ** स्फटिकमणिः **तेम** तथा निर्मलो भवति । कोऽसौ कर्ता । **सहाउ** विशुद्धज्ञानरूपस्य परमात्मनः स्वभावः **भंतिए मइलु म मण्णि** पूर्वोक्तमात्मस्वभावं कमतापन्नं भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व **जिय** हे जीव । किं कृत्वा । **मइलउ देक्खवि** मलिनं दृष्ट्वा । कम् । **काउ** निर्मलशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मपदार्थाद्विलक्षणं कायमित्यभिप्रायः ॥ १७७ ॥

---

निरन्तर भावना करनी चाहिये । वीतराग सम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्माका एकदेश प्रगटपनेको पाकर सब तरहसे ज्ञानकी भावना योग्य है ॥ १७५ ॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे पुष्ट करते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **यथा** ] जैसे [ **परकृतभावः** ] नीचेके सब डंक [ **निर्मलस्फटिकात्** ] महा निर्मल स्फटिकमणिसे [ **भिन्नः** ] जुदे हैं, [ **तथा** ] उसी तरह [ **आत्मस्वभावात्** ] आत्मस्वभावसे [ **सकलमपि** ] सब [ **कर्मस्वभावं** ] शुभाशुभ कर्म [ **मन्यस्व** ] भिन्न जानो । **भावार्थ**—आत्मस्वभाव महा-निर्मल है, भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म ये सब जड़ हैं, आत्मा चिद्रूप है । अनंत ज्ञानादि गुणरूप जो चिदानंद उससे तू सकल प्रपंच भिन्न मान ॥ १७६ ॥

आगे देह और आत्मा जुदे जुदे हैं, यह भेद-भावना दृढ करते हैं—[ **यथा** ] जैसे [ **स्फटिकः** ] स्फटिकमणि [ **स्वभावेन** ] स्वभावसे [ **निर्मलः** ] निर्मल है, [ **तथा** ] उसी-तरह [ **स्वभावः** ] आत्मा ज्ञान दर्शनरूप निर्मल है । ऐसे आत्मस्वभावको [ **जीव** ] हे जीव; [ **कायं मलिनं** ] शरीरकी मलिनता [ **दृष्ट्वा** ] देखकर [ **भ्रांत्या** ] भ्रमसे [ **मलिनं** ]

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यक्तीकरोति चतुष्कलेन—

**रत्तेँ वत्थेँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।**
**देहिं रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ १७८ ॥**
**जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।**
**देहिं जिण्णि णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ १७९ ॥**
**वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।**
**णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ १८० ॥**
**भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।**
**देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ॥ १८१ ॥**

रक्तेन वस्त्रेन यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तम् ।
देहेन रक्तेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ १७८ ॥
जीर्णेन वस्त्रेण यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णम् ।
देहेन जीर्णेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ १७९ ॥
वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।
नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ १८० ॥
भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।
देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥ १८१ ॥

**यथा कोऽपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेऽपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेऽपि सति व्यवहारेण देहस्थमपि वीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । कोऽसौ । णाणि देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नम् । किम् । वत्थु जि**

---

मैला [ **मा मन्यस्व** ] मत मान । **भावार्थ**—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थसे भिन्न है, काय मैली है, आत्मा निर्मल है ॥ १७७ ॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टांतसे चार दोहोंमें प्रगट करते हैं—[ **यथा** ] जैसे [ **बुधः** ] कोई बुद्धिमान् पुरुष [ **रक्ते वस्त्रे** ] लाल वस्त्रसे [ **देहं रक्तं** ] शरीरको लाल [ **न मन्यते** ] नहीं मानता, [ **तथा** ] उसी तरह [ **ज्ञानी** ] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानी [ **देहे रक्ते** ] शरीरके लाल होनेसे [ **आत्मानं** ] आत्माको [ **रक्तं न मन्यते** ] लाल नहीं मानता । [ **यथा बुधः** ] जैसे कोई बुद्धिमान् [ **वस्त्रे जीर्णे** ] कपड़ेके जीर्ण ( पुराने ) होनेपर [ **देहं जीर्णं** ] शरीरको जीर्ण [ **न मन्यते** ] नहीं मानता,

वस्त्रमेव जेम यथा जिय हे जीव । कस्माद्भिन्नं मन्यते । देहहं स्वकीयदेहात् । दृष्टान्तमाह । मण्णइ मन्यते । कोऽसौ । णाणि देहात्मनोर्भेदज्ञानी तहं तथा भिन्नं मन्यते । कमपि । देहु वि देहमपि । कस्मात् । अप्पहं निश्चयेन देहविलक्षणाद् व्यवहारेण देहस्थात्सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावान्निजपरमात्मनः जाणि जानीहीति भावार्थः ॥ १७८-८१ ॥

अथ दुःखजनकदेहघातकं शत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति—

**इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइँ जेण जणेइ ।**
**सो परु जाणहि मित्तु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ॥ १८२ ॥**

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।
तं परं जानीहि मित्रं त्वं यः तनुमेतां हन्ति ॥ १८२ ॥

**रिउ** रिपुर्भवति । का । **इहु तणु** इयं तनुः कर्त्री **जीवड** हे जीव **तुज्झ** तव । कस्मात् । **दुक्खइं जेण जणेइ** येन कारणेन दुःखानि जनयति **सो परु** तं परजनं

---

[ **तथा ज्ञानी** ] उसी तरह ज्ञानी [ **देहे जीर्णे** ] शरीरके जीर्ण होनेसे [ **आत्मानं जीर्णं न मन्यते** ] आत्माको जीर्ण नहीं मानता, [ **यथा बुधः** ] जैसे कोई बुद्धिमान् [ **वस्त्रे प्रणष्टे** ] वस्त्रके नाश होनेसे [ **देहं नष्टं** ] देहका नाश [ **न मन्यते** ] नहीं मानता, [ **तथा ज्ञानी** ] उसी तरह ज्ञानी [ **देहे नष्टे** ] देहका नाश होनेसे [ **आत्मानं** ] आत्माका [ **नष्टं न मन्यते** ] नाश नहीं मानता, [ **जीव** ] हे जीव; [ **यथा ज्ञानी** ] जैसी ज्ञानी [ **देहाद् भिन्नं एव** ] देहसे भिन्न ही [ **वस्त्रं मन्यते** ] कपड़ेको मानता है, [ **तथा ज्ञानी** ] उसी तरह ज्ञानी [ **देहमपि** ] शरीरको भी [ **आत्मनः भिन्नं** ] आत्मासे जुदा [ **मन्यते** ] मानता है, ऐसा [ **जानीहि** ] तुम जानो । **भावार्थ**—जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासते हैं, परंतु शरीरसे वस्त्र जुदा है, उसी तरह आत्मा और शरीर मिले हुए दिखते हैं, परंतु जुदा है। शरीरकी रक्ततासे, जीर्णतासे, और विनाशसे आत्माकी रक्तता जीर्णता और विनाश नहीं होता। यह निस्संदेह जानो । यह आत्मा व्यवहारनयकर देहमें स्थित है, तो भी सहज शुद्ध परमानंदरूप निजस्वभावकर जुदा ही है, देहके सुख दुःख जीवमें नहीं है ॥ १७८-८१ ॥

आगे दुःख उत्पन्न करनेवाला शत्रुरूप यह देह है, उसको तू मित्र मत समझ, ऐसा कहते हैं—[ **जीव** ] हे जीव; [ **इयं तनुः** ] यह शरीर [ **तव रिपुः** ] तेरा शत्रु है, [ **येन** ] क्योंकि [ **दुःखानि** ] दुःखोंको [ **जनयति** ] उत्पन्न करता है, [ **यः** ] जो

**जाणहि** जानीहि । किम् । **मित्तु** परममित्रं **तुहुं** त्वं कर्ता । यः परः किं करोति । **जो तणु एहु हणेइ** यः कर्ता तनुमिमां प्रत्यक्षीभूतां हन्तीति । अत्र यदा वैरी देहविनाशं करोति तदा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृतसमरसीभावे स्थित्वा शरीरघातकस्योपरि यथा पाण्डवैः कौरवकुमारस्योपरि द्वेषो न कृतस्तथान्यतपोधनैरपि न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ १८२ ॥

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

**उदयहँ आणिवि कम्मु मइँ जं भुंजेवउ होइ ।**
**तं सइ आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ॥ १८३ ॥**

उदयमानीय कर्म मया यद् भोक्तव्यं भवति ।
तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ॥ १८३ ॥

**जं** यत् **भुंजेवउ होइ** भोक्तव्यं भवति । किं कृत्वा । **उदयहं आणिवि** विशिष्टात्मभावनाबलेनोदयमानीय । किम् । **कम्मु** चिरसंचितं कर्म । केन । **मइं** मया **तं** तत् पूर्वोक्तं कर्म **सइ आविउ** दुर्धरपरीषहोपसर्गवशेन स्वयमुदयमागतं सत् **खविउ मइं** निजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसास्वादद्रवीभूतेन परिणतेन मनसा क्षपितं मया **सो** स परं नियमेन **लाहु जि** लाभ एव **कोइ** कश्चिदपूर्व इति । अत्र

---

[ **इमां तनुं** ] इस शरीरका [ **हंति** ] घात करे, [ **तं** ] उसको [ **त्वं** ] तुम [ **परं मित्रं** ] परममित्र [ **जानीहि** ] जानो । **भावार्थ**—यह शरीर तेरा शत्रु होनेसे दुःख उत्पन्न करता है, इससे तू अनुराग मत कर और जो तेरे शरीरकी सेवा करता है, उससे भी राग मत कर, तथा जो तेरे शरीरका घात कर देवे, उसको शत्रु मत जान । जब कोई तेरे शरीरका विनाश करे, तब वीतराग चिदानंद ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो परम समरसीभाव, उसमें लीन होकर शरीरके घातकपर द्वेष मत कर । जैसे महा धर्मस्वरूप युधिष्ठिर पांडव आदि पाँचों भाइयोंने दुर्योधनादिपर द्वेष नहीं किया । उसी तरह सभी साधुओंका यही स्वभाव है, कि अपने शरीरका जो घात करे, उससे द्वेष नहीं करते, सबके मित्र ही रहते हैं ॥१८२॥

आगे पूर्वोपार्जित पापके उदयसे दुःख अवस्था आजावे उसमें अपना धीरपना आदि स्वभाव न छोड़े, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[ **यत्** ] जो [ **मया** ] मैं [ **कर्म** ] कर्मको [ **उदयं आनीय** ] उदयमें लाकर [ **भोक्तव्यं भवति** ] भोगने चाहता था, [ **तत्** ] वह कर्म [ **स्वयं आगतं** ] आप ही आगया, [ **मया क्षपितं** ] इससे मैं शांत चित्तसे फल सहनकर क्षय करूँ, [ **स कश्चित्** ] यह कोई [ **परं लाभः** ] महान् ही लाभ हुआ । **भावार्थ**—जो महामुनि मुक्तिके अधिकारी हैं, उदयमें वे नहीं आये हुए

केचन महापुरुषा दुर्धरानुष्ठानं कृत्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च कर्मोदयमानीय तमनुभवन्ति, अस्माकं पुनः स्वयमेवोदयागतमिति मत्वा संतोषः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥१८३॥

अथ इदानीं परुषवचनं सोढुं न याति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति—

**णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ।**
**तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ ॥ १८४ ॥**

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि सोढुं न याति।
ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ॥ १८४ ॥

**जइ** यदि चेत् **सहण ण जाइ** सोढुं न याति। क। **मणि** मनसि **जिय** हे मूढ जीव। किं कृत्वा। **सुणेवि** श्रुत्वा। किम् **णिट्ठुरवयणु** निष्ठुरं हृदयकर्णशूलवचनं **तो** तद्वचनश्रवणानन्तरं **लहु** शीघ्रं **भावहि** वीतरागपरमानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय। कम्। **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यनिजदेहस्थपरमात्मानम्। कथंभूतम्। **परु** परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात् परमुत्कृष्टं **जिं** येन परमात्मध्यानेन। किं भवति। **मणु**

---

कर्मोंको परम आत्म-ज्ञानकी भावनाके बलसे उदयमें लाकर उसका फल भोगकर शीघ्र निर्जरा कर देते हैं। और जो वे पूर्वकर्म विना उपायके सहज ही बाईस परीषह तथा उपसर्गके वशसे उदयमें आये हों, तो विषाद न करना बहुत लाभ समझना। मनमें यह मानना कि हम तो उदीरणासे इन कर्मोंको उदयमें लाकर क्षय करते, परंतु ये सहज ही उदयमें आये, यह तो बड़ा ही लाभ है। जैसे कोई बड़ा व्यापारी अपने ऊपरका कर्ज लोगोंका बुला बुलाके देता है, यदि कोई विना बुलाये सहज ही लेने आया हो, तो बड़ा ही लाभ है। उसी तरह कोई महापुरुष महान दुर्द्धर तप करके कर्मोंको उदयमें लाके क्षय करते हैं, लेकिन वे कर्म अपने स्वयमेव उदयमें आये हैं, तो इसके समान दूसरा क्या है, ऐसा संतोष धारणकर ज्ञानीजन उदय आये हुए कर्मोंको भोगते हैं, परंतु राग द्वेष नहीं करते ॥ १८३ ॥

आगे यह कहते हैं कि जो कोई कर्कश (कठोर) वचन कहे, और यह न कह सकता हो तो अपने कषायभाव रोकनेके लिये निर्विकल्प आत्म-तत्त्वकी भावना करनी चाहिये;— [ **जीव** ] हे जीव; [ **निष्ठुरवचनं श्रुत्वा** ] जो कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे, उसको सुनकर [ **यदि** ] जो [ **न सोढुं याति** ] न सह सके, [ **ततः** ] तो कषाय दूर करनेके लिये [ **परं ब्रह्म** ] परमानंदस्वरूप इस देहमें विराजमान परमब्रह्मको [ **मनसि** ] मनमें [ **लघु** ] शीघ्र [ **भावय** ] ध्यान करो। जो ब्रह्म अनंत ज्ञानादि

झत्ति विलाइ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखामृतास्वादेन मनो झटिति शीघ्रं विलयं याति द्रवीभूतं भवतीति भावार्थः ॥ १८४ ॥

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति—

**लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।**
**चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥ १८५ ॥**

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवान्तरे आयाति ।
आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ॥ १८५ ॥

लोउ इत्यादि । **विलक्खणु** षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणसदृशो न सर्वजीवराशिसदृशात् परमात्मतत्त्वाद्विलक्षणो विसदृशो भवति । केन । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदेन । कोऽसौ । **लोउ** लोको जनः । कथंभूतः सन् । **कम्मवसु** कर्मरहितशुद्धात्मानुभूतिभावनारहितेन यदुपार्जितं कर्म तस्य कर्मण अधीनः कर्मवशः । इत्थंभूतः सन् किं करोति । **इत्थु भवंतरि एइ** पञ्चप्रकारभवरहिताद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विसदृशे अस्मिन् भवान्तरे संसारे समायाति **चुज्जु कि** इदं किमाश्चर्यं किंतु नैव, **जइ इहु अप्पि ठिउ** यदि चेदयं जीवः स्वशुद्धात्मनि स्थितो भवति तर्हि **इत्थु जि भवि ण पडेइ** अत्रैव भवे न पततीति इदमप्याश्चर्यं न भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा संसारभयभीतेन भव्येन भवकारणमिथ्यात्वादि-

---

गुणोंका आधार है, सर्वोत्कृष्ट है, [ **येन** ] जिसके ध्यान करनेसे [ **मनः** ] मनका विकार [ **झटिति** ] शीघ्र ही [ **विलीयते** ] विलीन हो जाता है ॥ १८४ ॥

आगे जीवके कर्मके वशसे भिन्न भिन्न स्वरूप जाति-भेदसे होते हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—[ **विलक्षणः** ] सोलहवानीके सुवर्णकी तरह केवलज्ञानादि गुणकर समान जो परमात्म-तत्त्व उससे भिन्न जो [ **लोकः** ] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जाति-भेदरूप जीव-राशि वह [ **कर्मवशः** ] कर्मसे उत्पन्न है, अर्थात् जाति-भेद कर्मके निमित्तसे हुआ है, और वे कर्म आत्म-ज्ञानकी भावनासे रहित अज्ञानी जीवने उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंके अधीन जाति-भेद है, जबतक कर्मोंका उपार्जन है, तबतक [ **अत्र भवांतरे आयाति** ] इस संसारमें अनेक जाति धारण करता है, [ **अयं यदि** ] जो यह जीव [ **आत्मनि स्थितः** ] आत्मस्वरूपमें लगे, तो [ **अत्रैव भवे** ] इसी भवमें [ **न पतति** ] नहीं पड़े-भ्रमण नहीं करे, [ **किं आश्चर्यं** ] इसमें क्या आश्चर्य है, कुछ भी नहीं । **भावार्थ**—जबतक आत्मामें चित्त नहीं लगता, तबतक संसारमें भ्रमण करता है, अनेक भव धारण करता है, लेकिन जब यह आत्मदर्शी हुआ तब कर्मोंको नहीं उपार्जन करता, और भवमें भी नहीं भटकता । इसमें आश्चर्य नहीं है । संसार शरीर भोगोंसे उदास और जिसको भव-भ्रमणका भय उत्पन्न हो गया है, ऐसा भव्य जीव उसको मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग, इन पाँचों आस्रवोंको छोड़कर परमात्म-तत्त्वमें

पश्चास्रवान् मुक्त्वा द्रव्यभावास्रवरहिते परमात्मभावे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १८५ ॥

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

**अवगुण-गहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु ।**
**तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥ १८६ ॥**

अवगुणग्रहणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।
ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ॥ १८६ ॥

**जइ जीवहं संतोसु** यदि चेदज्ञानिजीवानां संतोषो भवति । केन । **अवगुणगहणइं** निर्दोषिपरमात्मनो विलक्षणा ये दोषा अवगुणास्तेषां ग्रहणेन । कथंभूतेन । **महुतणइं** मदीयेन **तो तहं सोक्खहं हेउ हउं** यतः कारणान्मदीयदोषग्रहणेन तेषां सुखं जातं ततस्तेषामहं सुखस्य हेतुर्जातः **इउ मण्णिवि चइ रोसु** केचन परोपकारनिरताः परेषां द्रव्यादिकं दत्त्वा सुखं कुर्वन्ति मया पुनर्द्रव्यादिकं मुक्त्वापि तेषां सुखं कृतमिति मत्वा रोषं त्यज । अथवा मदीया अनन्तज्ञानादिगुणा न गृहीतास्तैः किंतु दोषा एव गृहीता इति मत्वा च कोपं त्यज, अथवा ममैते दोषाः सन्ति सत्यमिदमस्य वचनं तथापि रोषं त्यज, अथवा ममैते दोषा न सन्ति तस्य वचनेन किमहं दोषी जातस्तथापि क्षमितव्यम्, अथवा परोक्षे दोषग्रहणं करोति न च प्रत्यक्षे समीचीनोऽसौ तथापि क्षमितव्यम्, अथवा वचनमात्रेणैव दोषग्रहणं करोति न च

---

सदैव भावना करनी चाहिये । जो इसके आत्म-भावना होवे तो भव-भ्रमण नहीं हो सकता ॥ १८५ ॥

आगे जो कोई अपने दोष ग्रहण करे तो उसपर क्रोध नहीं करना, क्षमा करना यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[ **मदीयेन अवगुणग्रहणेन** ] अज्ञानी जीवोंको परके दोष ग्रहण करनेसे हर्ष होता है, मेरे दोष ग्रहण करके [ **यदि जीवानां संतोषः** ] जिन जीवोंको हर्ष होता है, [ **ततः** ] तो मुझे यही लाभ है, कि [ **अहं** ] मैं [ **तेषां सुखस्य हेतुः** ] उनको सुखका कारण हुआ, [ **इति मत्वा** ] ऐसा मनमें विचारकर [ **रोषं त्यज** ] गुस्सा छोड़ो । **भावार्थ**—ज्ञानी गुस्सा नहीं करते, ऐसा विचारते हैं, कि जो कोई परका उपकार करनेवाले परजीवोंको द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं, मैंने कुछ द्रव्य नहीं दिया, उपकार नहीं किया, मेरे अवगुण ही से सुखी हो गये, तो इसके समान दूसरी क्या बात है ! ऐसा जानकर हे भव्य; तू रोष छोड़ । अथवा ऐसा विचारे, कि मेरे अनंत ज्ञानादि गुण तो उसने नहीं लिये, दोष लिये वो निस्संक लो । जैसे घरमें कोई चोर आया, और उसने रत्न सुवर्णादि नहीं लिये माटी पत्थर लिये तो लो, तुच्छ

शरीरबाधां करोति तथापि क्षमितव्यम्, अथवा शरीरबाधामेव करोति न च प्राणविनाशं तथापि क्षमितव्यम्, अथवा प्राणविनाशमेव करोति न च भेदाभेदरत्नत्रयभावनाविनाशं चेति मत्वा सर्वतात्पर्येण क्षमा कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १८६ ॥

अथ सर्वचिन्तां निषेधयति युग्मेन—

**जोइय चिंति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।**
**तिल-तुस-मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥ १८७ ॥**

योगिन् चिन्तय मा किमपि त्वं यदि भीतः दुःखस्य ।
तिलतुषमात्रमपि शल्यं वेदनां करोत्यवश्यम् ॥ १८७ ॥

**चिंति म** चिन्तां मा कार्षीः **किं पि तुहुं** कामपि त्वं **जोइय** हे योगिन् । यदि किम् । **जइ बीहउ** यदि बिभेषि । कस्य । **दुक्खस्स** वीतरागतात्त्विकानन्दैकरूपात् पारमार्थिकसुखात्प्रतिपक्षभूतस्य नारकादिदुःखस्य । यतः कारणात् तिल-

---

वस्तुके लेनेवालेपर क्या क्रोध करना, ऐसा जान रोष छोड़ना । अथवा ऐसा विचारे, कि जो यह दोष कहता है, वे सच कहता है, तो सत्यवादीसे क्या द्वेष करना । अथवा ये दोष मुझमें नहीं हुआ वह वृथा कहता है, तो उसके वृथा कहनेसे क्या मैं दोषी होगया, बिलकुल नहीं हुआ । ऐसा जानकर क्रोध छोड़ क्षमाभाव धारण करना चाहिये । अथवा यह विचारो कि वह मेरे मुँहके आगे नहीं कहता, लेकिन पीठ पीछे कहता है, सो पीठ पीछे तो राजाओंको भी बुरा कहते हैं, ऐसा जानकर उससे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मानभंग नहीं करता है, परोक्षकी बात क्या है । अथवा कदाचित कोई प्रत्यक्ष मुँह आगे दोष कहे, तो तू यह विचार कि वचनमात्रसे मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीरको तो बाधा नहीं करता, यह गुण है, ऐसा जान क्षमा ही कर । अथवा जो कोई शरीरको भी बाधा करे, तो तू ऐसा विचार, कि मेरे प्राण तो नहीं हरता, यह गुण है । जो कभी कोई पापी प्राण ही हर ले, तो यह विचार कि ये प्राण तो विनाशीक हैं, विनाशीक वस्तुके चले जानेकी क्या बात है । मेरा ज्ञानभाव अविनश्वर है, उसको तो कोई हर नहीं सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राण हर लिये हैं, परंतु भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाका विनाश नहीं किया । ऐसा जानकर सर्वथा क्षमा ही करना चाहिये ॥ १८६ ॥

आगे सब चिन्ताओंका निषेध करते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; [ **त्वं** ] तू [ **यदि** ] जो [ **दुःखस्य** ] वीतराग परम आनंदके शत्रु जो नरकादि चारों गतियोंके दुःख उनसे [ **भीतः** ] डर गया है, तो तू निश्चित होकर परलोकका साधन कर, इस लोककी [ **किमपि मा चिंतय** ] कुछ भी चिंता मत कर । क्योंकि [ **तिलतुषमात्रमपि शल्यं** ]

**तुसमित्तु वि सल्लडा** तिलतुपमात्रमपि शल्यं **वेयण करइ अवस्स** वेदनां बाधां करोत्यवश्यं नियमेन । अत्र चिन्तारहितात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणा या विषय-कषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या। काण्डादिशल्यमिव दुःखकारणत्वादिति भावार्थः १८७

किंच—

**मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।**
**जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥ १८८ ॥**

मोक्षं मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति ।
येन निबद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥ १८८ ॥

मोक्खु इत्यादि । **मोक्खु म चिंतहि** मोक्षचिन्तां मा कार्षीस्त्वं **जोइया** हे योगिन् । यतः कारणात् **मोक्खु ण चिंतिउ होइ** रागादिचिन्ताजालरहितः केवल-ज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिसहितो मोक्षः चिन्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति । **जेण णिबद्धउ जीवडउ** येन मिथ्यात्वरागादिचिन्ताजालोपार्जितेन कर्मणा बद्धो जीवः **सोइ** तदेव कर्म शुभाशुभविकल्पसमूहरहिते शुद्धात्मतत्त्वस्वरूपे स्थितानां परमयोगिनां

---

तिलके भूसे मात्र भी शल्य [ **वेदनां** ] मनको वेदना [ **अवश्यं करोति** ] निश्चयसे करती है । [ **भावार्थ** ]—चिन्ता रहित आत्म-ज्ञानसे उलटे जो विषय कषाय आदि विकल्प-जाल उनकी चिन्ता कुछ भी नहीं करना । यह चिन्ता दुःखका ही कारण है, जैसे बाण आदिकी तृणप्रमाण भी सलाई महा दुःखका कारण है, जब वह शल्य निकले, तभी सुख होता है ॥ १८७ ॥

आगे मोक्षकी भी चिन्ता नहीं करना, ऐसा कहते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; अन्य चिन्ताकी तो बात क्या रही, [ **मोक्षं मा चिंतय** ] मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, [ **मोक्षः** ] क्योंकि मोक्ष [ **चिंतितो न भवति** ] चिन्ता करनेसे नहीं होता, वांछाके त्यागसे ही होता है, रागादि चिन्ता-जालसे रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकी प्रगटता सहित जो मोक्ष है, वह चिंताके त्यागसे होता है । यही कहते हैं—[ **येन** ] जिन मिथ्यात्व-रागादि चिन्ता-जालोंसे उपार्जन किये कर्मोंसे [ **जीवः** ] यह जीव [ **निबद्धः** ] बँधा हुआ है, [ **तदेव** ] वे कर्म ही [ **मोक्षं** ] शुभाशुभ विकल्पके समूहसे रहित जो शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप उसमें लीन हुए परमयोगियोंको मोक्ष [ **करिष्यति** ] करेंगे । **भावार्थ**—यह चिन्ताका त्याग ही तुझको निस्संदेह मोक्ष करेगा । अनंत ज्ञानादि गुणोंकी प्रगटता वह मोक्ष है । यद्यपि विकल्प सहित जो प्रथम अवस्था उसमें विषय कषायादि खोटे ध्यानके निवारण करनेके लिये और मोक्ष-मार्गमें परिणाम दृढ़ करनेके लिये ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं, कि चतुर्गतिके दुःखोंका क्षय हो, अष्ट कर्मोंका क्षय हो, ज्ञानका लाभ हो, पंचमगतिमें

**मोक्खु करेसइ** अनन्तज्ञानादिगुणोपलम्भरूपं मोक्षं करिष्यतीति । अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषयकषायाद्यपध्यानवञ्चनार्थं मोक्षमार्गे भावनादृढीकरणार्थं च "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ती होउ मज्झं" इत्यादि भावना कर्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकाले न कर्तव्येति भावार्थः ॥ १८८ ॥

अथ चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कमन्तरस्थलं कथ्यते । तद्यथा—

**परम-समाहि-महा-सरहिँ जे बुड्डहिँ पइसेवि ।**
**अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ॥ १८९ ॥**

परमसमाधिमहासरसि ये मज्जन्ति प्रविश्य ।
आत्मा तिष्ठति विमलः तेषां भवमलानि यान्ति ऊढ्वा ॥ १८९ ॥

**जे बुड्डहिं** ये केचना पुरुषा मग्ना भवन्ति । क्व । **परमसमाहिमहासरहिं** परमसमाधिमहासरोवरे । किं कृत्वा मग्ना भवन्ति । **पइसेवि** प्रविश्य सर्वात्मप्रदेशैरवगाह्य **अप्पा थक्कइ** चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा तिष्ठति । कथंभूतः । **विमलु** द्रव्यकर्मनोकर्ममतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहितः **तहं** तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां **भवमल जंति** भवरहितात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणानि यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि गच्छन्ति । किं कृत्वा । **वहेवि** शुद्धपरिणामनीरप्रवाहेण ऊढ्वेति भावार्थः ॥ १८९ ॥

अथ—

**सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।**
**तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥ १९० ॥**

---

गमन हो, समाधि मरण हो, और जिनराजके गुणोंकी सम्पात्ति मुझको हो । यह भावना चौथे पाँचवें छठे गुणस्थानमें करने योग्य है, तो भी ऊपरके गुणस्थानोंमें वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय नहीं होती ॥ १८८ ॥

आगे चौवीस दोहोंके स्थलमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहते हैं—[ **ये** ] जो कोई महान् पुरुष [ **परमसमाधिमहासरसि** ] परमसमाधिरूप सरोवरमें [ **प्रविश्य** ] घुसकर [ **मज्जन्ति** ] मग्न होते हैं, उनके सब प्रदेश समाधिरसमें भीग जाते हैं, [ **आत्मा तिष्ठति** ] उन्हींके चिदानंद अखंड स्वभाव आत्माका ध्यान स्थिर होता है । जो कि आत्मा [ **विमलः** ] द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित महा निर्मल है, [ **तेषां** ] जो योगी परमसमाधिमें रत हैं, उन्हीं पुरुषोंके [ **भवमलानि** ] शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत अशुद्ध भावके कारण जो कर्म हैं, वे सब [ **वहित्वा यांति** ] शुद्धात्म परिणामरूप जो जलका प्रवाह उसमें बह जाते हैं । **भावार्थ**—जहाँ जलका प्रवाह आवे, वहाँ मल कैसे रह सकता है, कभी नहीं रहता ॥ १८९ ॥

सकलविकल्पानां यः विलयः (तं) परमसमाधिं भणन्ति ।
तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुञ्चन्ति ॥ १९० ॥

**भणंति** कथयन्ति । के ते । वीतरागसर्वज्ञाः कं भणन्ति । **परमसमाहि** वीतरागपरमसामायिकरूपं परमसमाधिकं **जो विलउ** यं विलयं विनाशम् । केषाम् । **सयलवियप्पहं** निर्विकल्पात्परमात्मस्वरूपात्प्रतिकूलानां समस्तविकल्पानां **तेण** तेन कारणेन **मेल्लंति** मुञ्चन्ति । के कर्तारः । **मुणि** परमाराध्यध्यानरतास्तपोधनाः । कान् मुञ्चन्ति । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितान् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतान् शुभाशुभभावान् परिणामान् । कतिसंख्योपेतान् । **सयल वि** समस्तानपि ॥ अयं भावार्थः । समस्तपरद्रव्याशारहितात् स्वशुद्धात्मस्वभावाद्विपरीता या आशापीहलोकपरलोकाशा यावत्तिष्ठति मनसि तावद् दुःखी जीव इति ज्ञात्वा सर्वपरद्रव्याशारहितशुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति । तथा चोक्तम्—" आसापिसायगहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्खं । आसा जाहं णियत्ता ताहं णियत्ताइं सयलदुक्खाइं " ॥ १९० ॥

अथ—

**घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।**
**परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥ १९१ ॥**

घोरं कुर्वन् अपि तपश्चरणं सकलान्यपि शास्त्राणि जानन् ।
परमसमाधिविवर्जितः नैव पश्यति शिवं शान्तम् ॥ १९१ ॥

---

आगे परमसमाधिका लक्षण कहते हैं—[ **यः** ] जो [ **सकलविकल्पानां** ] निर्विकल्प-परमात्मस्वरूपसे विपरीत रागादि समस्त विकल्पोंका [ **विलयः** ] नाश होना, उसको [ **परमसमाधिं भणंति** ] परमसमाधि कहते हैं, [ **तेन** ] इस परमसमाधिसे [ **मुनयः** ] मुनिराज [ **सकलानपि** ] सभी [ **शुभाशुभविकल्पान्** ] शुभ अशुभ भावोंको [ **मुंचंति** ] छोड़ देते हैं । **भावार्थ**—परम आराध्य जो आत्मस्वरूप उसके ध्यानमें लीन जो तपोधन वे शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उससे विपरीत जो अच्छे बुरे भाव उन सबको छोड़ देते हैं, समस्त परद्रव्यकी आशासे रहित जो निज शुद्धात्म स्वभाव उससे विपरीत जो इस लोक परलोककी आशा, वह जबतक मनमें स्थित है, तब-तक यह जीव दुःखी है । ऐसा जानकर सब परद्रव्यकी आशासे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उसकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन अन्य जगह भी है—आशारूप पिशाचसे घिरा हुआ यह जीव महान् भयंकर दुःख पाता है, जिन मुनियोंने आशा छोड़ी, उन्होंने सब दुःख दूर किये, क्योंकि दुःखका मूल आशा ही है ॥ १९० ॥

**करंतु वि** कुर्वाणोऽपि । किम् । **तवचरणु** समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं शुद्धात्मानुभूतिरहितं तपश्चरणम् । कथंभूतम् । **घोरु** घोरं दुर्धरं वृक्षमूलातापनादिरूपम् । न केवलं तपश्चरणं कुर्वन् । **सयल वि सत्थ मुणंतु** शास्त्रजनितविकल्पतात्पर्यरहितात् परमात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतानि सर्वशास्त्राण्यपि जानन् । इत्थंभूतोऽपि सन् **परमसमाहिविवज्जियउ** यदि चेद्रागादिविकल्परहितपरमसमाधिविवर्जितो भवति तर्हि **णवि देक्खइ** न पश्यति । कम् । **सिउ** शिवं शिवशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वदेहस्थमपि च परमात्मानम् । कथंभूतम् । **संतु** रागद्वेषमोहरहितत्वेन शान्तं परमोपशमरूपमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परंपरया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति । निर्विकल्पसमाधिरहिताः सन्तः आत्मरूपं न पश्यन्ति । तथा चोक्तम्—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम् । ध्यानहीना न पश्यन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥" ॥ १९१ ॥

---

आगे ऐसा कहते हैं, कि जो परमसमाधिके विना शुद्ध आत्माको नहीं देख सकता;—[ **घोरं तपश्चरणं कुर्वन् अपि** ] जो मुनि महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी और [ **सकलानि शास्त्राणि** ] सब शास्त्रोंको [ **जानन्** ] जानता हुआ भी [ **परमसमाधिविवर्जितः** ] जो परमसमाधिसे रहित है, वह [ **शांतं शिवं** ] शांतरूप शुद्धात्माको [ **नैव पश्यति** ] नहीं देख सकता । **भावार्थ**—तप उसे कहते हैं, कि जिसमें किसी वस्तुकी इच्छा न हो । सो इच्छाका अभाव तो हुआ नहीं परंतु कायक्लेश करता है, शीतकालमें नदीके तीर, ग्रीष्मकालमें पर्वतके शिखरपर, और वर्षाकालमें वृक्षकी मूलमें महान् दुर्धर तप करता है । केवल तप ही नहीं करता शास्त्र भी पढ़ता है । सकल शास्त्रोंके प्रबंधसे रहित जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप उससे रहित हुआ सीखता है, शास्त्रोंका रहस्य जानता है, परंतु परमसमाधिसे रहित है, अर्थात् रागादि विकल्पसे रहित समाधि जिसके प्रगट न हुई, तो वह परमसमाधिके विना तप करता हुआ और श्रुत पढ़ता हुआ भी निर्मल ज्ञान दर्शनरूप तथा इस देहमें विराजमान ऐसे निज परमात्माको नहीं देख सकता । जो आत्मस्वरूप राग द्वेष मोह रहित परमशांत है । परमसमाधिके विना तप और श्रुतसे भी शुद्धात्माको नहीं देख सकता । जो निज शुद्धात्माको उपादेय जानकर ज्ञानका साधक तप करता है, और ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय जो जैनशास्त्र उनको पढ़ता है, तो परम्परा मोक्षका साधक है । और जो आत्माके श्रद्धान विना कायक्लेशरूप तप ही करे, तथा शब्दरूप ही श्रुत पढ़े, तो मोक्षका कारण नहीं है, पुण्यबंधके कारण होते हैं । ऐसा ही परमानंदस्तोत्रमें कहा है, कि जो निर्विकल्प समाधि रहित जीव हैं, वे आत्मस्वरूपको नहीं देख सकते । ब्रह्मका रूप आनंद है, वह ब्रह्म

अथ—

**विसय-कसाय वि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति ।**
**ते परमप्पहँ जोइया णवि आराहय होंति ॥ १९२ ॥**

विषयकषायानपि निर्दल्य ये न समाधिं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ॥ १९२ ॥

**जे** ये केचन **ण करंति** न कुर्वन्ति । कम् । **समाहि** त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **णिद्दलिवि** निर्मूल्य । कानपि **विसयकसाय वि** निर्विषयकषायात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतान् विषयकषायानपि **ते णवि आराहय होंति** ते नैवाराधका भवन्ति **जोइया** हे योगिन् । कस्याराधका न भवन्ति । **परमप्पहं** निर्दोषिपरमात्मन इति । तथाहि । विषयकषायनिवृत्तिरूपं शुद्धात्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं, शुद्धात्मोपलब्धिरूपं तत्त्वविज्ञानं, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागरूपं नैर्ग्रन्थ्यं, निश्चिन्तात्मानुभूतिरूपा वशचित्तता, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबहिरङ्गसहकारिभूतं जितपरीषहत्वं चेति पञ्चैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—"वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं वशचित्तता । जितपरीषहत्वं च पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥" ॥ १९२ ॥

---

निज देहमें मौजूद है, परन्तु ध्यानसे रहित जीव ब्रह्मको नहीं देख सकते, जैसे जन्मका अंधा सूर्यको नहीं देख सकता है ॥ १९१ ॥

आगे विषय कषायोंका निषेध करते हैं—[ **ये** ] जो [ **विषयकषायानपि** ] समाधिको धारणकर विषय कषायोंको [ **निर्दल्य** ] मूलसे उखाड़कर [ **समाधिं** ] तीन गुप्तिरूप परमसमाधिको [ **न कुर्वंति** ] नहीं धारण करते, [ **ते** ] वे [ **योगिन्** ] हे योगी; [ **परमात्माराधकाः** ] परमात्माके आराधक [ **नैव भवंति** ] नहीं हैं । **भावार्थ**—ये विषय कषाय शुद्धात्मतत्त्वके शत्रु हैं, जो इनका नाश न करे, वह स्वरूपका आराधक कैसा ? स्वरूपको वही आराधता हैं, जिसके विषय कषायका प्रसंग न हो, सब दोषोंसे रहित जो निज परमात्मा उसकी आराधनाके घातक विषय कषायके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं है । विषय कषायकी निवृत्तिरूप शुद्धात्माकी अनुभूति वह वैराग्यसे ही देखी जाती है । इसलिये ध्यानका मुख्य कारण वैराग्य है । जब वैराग्य हो तब तत्त्वज्ञान निर्मल हो, सो वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्परमें मित्र हैं । ये ही ध्यानके कारण हैं, और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहके त्यागरूप निर्ग्रन्थपना वह ध्यानका कारण है । निश्चित आत्मानुभूति ही है स्वरूप जिसका ऐसे जो मनका वश होना, वह वीतराग निर्विकल्पसमाधिका सहकारी है, और बाईस परीषहोंका जीतना, वह भी ध्यानका कारण है । ये पाँच ध्यानके कारण जानकर ध्यान करना चाहिये । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि संसार शरीर-भोगोंसे विरक्तता, तत्त्वविज्ञान, सकल परिग्रहका त्याग,

अथ—

**परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।**
**ते भव-दुक्खइँ बहुविहइँ कालु अणंतु सहंति ॥ १९३ ॥**

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यान्ति ।
ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनन्तं सहन्ते ॥ १९३ ॥

**जे** ये केचन **मुणि** मुनयः **ण जंति** न गच्छन्ति । कं कर्मतापन्नम् । **परबंभु** परमब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं निजदेहस्थं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावं परमात्मस्वरूपम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **परमसमाहि धरेवि** वीतरागतात्त्विकचिदानन्दैकानुभूतिरूपं परमसमाधिं धृत्वा ते पूर्वोक्तशुद्धात्मभावनारहिताः पुरुषाः **सहंति** सहन्ते । कानि कर्मतापन्नानि । **भवदुक्खइं** वीतरागपरमाह्लादरूपात् पारमार्थिकसुखात् प्रतिपक्षभूतानि नरनारकादिभवदुःखानि । कतिसंख्योपेतानि । **बहुविहइं** शारीरमानसादिभेदेन बहुविधानि । कियन्तं कालम् । **कालु अणंतु** अनन्तकालपर्यन्तमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिसमस्तविभावत्यागेन भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १९३ ॥

अथ—

**जासु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति ।**
**परम-समाहि ण तासु मणि केवुलि एमु भणंति ॥ १९४ ॥**

---

मनका वश करना, और बाईस परीषहोंका जीतना—ये पाँच आत्म-ध्यानके कारण हैं ॥ १९२ ॥

आगे परमसमाधिकी महिमा कहते हैं—[ **ये मुनयः** ] जो कोई मुनि [**परमसमाधिं**] परमसमाधिको [ **धृत्वापि** ] धारण करके भी [ **परब्रह्म** ] निज देहमें ठहरे हुए केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप निज आत्माको [ **न यांति** ] नहीं जानते हैं, [ **ते** ] वे शुद्धात्मभावनासे रहित पुरुष [ **बहुविधानि** ] अनेक प्रकारके [ **भवदुःखानि** ] नारकादि भवदुःख आधि व्याधिरूप [ **अनंतं कालं** ] अनंतकालतक [ **सहंते** ] भोगते हैं । **भावार्थ**—मनके दुःखको आधि कहते हैं, और तनसंबंधी दुःखोंको व्याधि कहते हैं, नाना प्रकारके दुःखोंको अज्ञानी जीव भोगता है । ये दुःख वीतराग परम आह्लादरूप जो पारमार्थिक-सुख उससे विमुख हैं । यह जीव अनन्तकालतक निजस्वरूपके ज्ञान विना चारों गतियोंके नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है । ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्ममें स्थिर होके राग द्वेषादि समस्त विभावोंका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥ १९३ ॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि त्रुट्यन्ति ।
परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥ १९४ ॥

जासु इत्यादि । **जासु** यावत्कालं **णवि तुट्टंति** नैव नश्यन्ति । के कर्तारः । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभविकल्पजालरहितात् परमात्मद्रव्याद्विपरीताः शुभाशुभभावाः परिणामाः । कतिसंख्योपेता अपि । **सयल वि** समस्ता अपि **तासु ण** तावत्कालं न । कोऽसौ । **परमसमाहि** शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः । क्व । **मणि** रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि **केवलि एमु भणंति** केवलिनो वीतरागसर्वज्ञा एवं कथयन्तीति भावार्थः ॥ १९४ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रषट्केन प्रथममन्तरस्थलं गतम् ।

तदनन्तरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

**सयल-वियप्पहँ तुट्टाहँ सिव-पय-मग्गि वसंतु ।**
**कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥ १९५ ॥**

सकलविकल्पानां त्रुट्यतां शिवपदमार्गे वसन् ।
कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥ १९५ ॥

**हुइ** भवति । कोऽसौ । **अप्पा** आत्मा । कथंभूतो भवति । **अरहंतु** अरिर्मोहनीयं कर्म तस्य हननाद् रजसी ज्ञानदृगावरणे तयोरपि हननाद् रहस्यशब्देनान्तरायस्तदभावाच्च देवेन्द्रादिविनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति ।

---

आगे यह कहते हैं, कि जबतक इस जीवके शुभाशुभ भाव सब दूर न हों, तबतक परमसमाधि नहीं होसकती—[ **यावत्** ] जबतक [ **सकला अपि** ] समस्त [ **शुभाशुभभावाः** ] सकल विकल्प-जालसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ परिणाम [ **नैव त्रुट्यंति** ] दूर न हों–मिटें नहीं, [ **तावत्** ] तबतक [ **मनसि** ] रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्तमें [ **परमसमाधिः न** ] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं होसकती, [ **एवं** ] ऐसा [ **केवलिनः** ] केवलीभगवान् [ **भणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—शुभाशुभ विकल्प जब मिटें, तभी परमसमाधि होवे, ऐसी जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है ॥ १९४ ॥ इस प्रकार चौवीस दोहोंके महास्थलमें परमसमाधिके कथनरूप छह दोहोंका अंतरस्थल हुआ ।

आगे तीन दोहोंमें अरहंतपदका व्याख्यान करते हैं, अरहंतपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो–ये चारों अर्थ एकको ही सूचित करते हैं, अर्थात् चारों शब्दोंका अर्थ एक ही है—[ **कर्मचतुष्के विलयं गते** ]

कम्मचउक्कइ विलउ गइ घातिकर्मचतुष्के विलयं गते सति। किं कुर्वन् सन् पूर्वम्। सिवपयमग्गि वसंतु शिवशब्दवाच्यं यन्मोक्षपदं तस्य योऽसौ सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रत्रितयैकलक्षणो मार्गस्तस्मिन् वसन् सन्। केषां सताम्। सयलवियप्पहं तुट्टाहं समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तरागादिविकल्पविनाशादनन्तरं भवतीति भावार्थः॥

अथ—

**केवल-णाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु।**
**णियमेँ परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु॥ १९६॥**

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन्।
नियमेन परमानन्दमयः आत्मा भवति अर्हन्॥ १९६॥

**हुइ** भवति। कोऽसौ। **अप्पा** आत्मा। कथंभूतो भवति। **अरहंतु** पूर्वोक्त-लक्षणो अर्हन्। किं कुर्वन्। **लोयालोउ मुणंतु** क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन कालत्रय-विषयं लोकालोकं वस्तु वस्तुस्वरूपेण युगपत् जानन् सन्। केन। **केवलणाणिं** लोकालोकप्रकाशकसकलविमलकेवलज्ञानेन। कथम्। **अणवरउ** निरन्तरम्। किंवि-शिष्टो भवति भगवान्। **परमाणंदमउ** वीतरागपरमसमरसीभावलक्षणतात्त्विकपरमा-नन्दमयः। केन। **णियमें** निश्चयेन अत्र संदेहो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः॥ १९६॥

---

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी, और अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंके नाश होनेसे [ **आत्मा** ] यह जीव [ **अर्हन् भवति** ] अर्हंत होता है, अर्थात् जब घातियाकर्म विलय हो जाते हैं, तब अरहंतपद पाता है, देवेंद्रादिकर पूजाके योग्य हो वह अरहंत है, क्योंकि पूजायोग्यको ही अर्हंत कहते हैं। पहले तो महामुनि हुआ [ **शिवपदमार्गे वसन्** ] मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें ठहरता हुआ [ **सकलविकल्पानां** ] समस्त रागादि विकल्पोंका [ **त्रुट्यतां** ] नाश करता है, अर्थात् जब समस्त रागादि विकल्पोंका नाश हो जावे, तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है। केवलज्ञानीका नाम अर्हंत है, चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो। जब अरहंत हुआ, तब भावमोक्ष हुआ, पीछे चार अघातियाकर्मोंको नाशकर सिद्ध हो जाता है। सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं। यही मोक्ष होनेका उपाय है॥ १९५॥

अब केवलज्ञानकी ही महिमा कहते हैं—[ **केवलज्ञानेन** ] केवलज्ञानसे [ **लोका-लोकं** ] लोक अलोकको [ **अनवरतं** ] निरन्तर [ **जानन्** ] जानता हुआ [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **परमानंदमयः** ] परम आनंदमयी [ **आत्मा** ] यह आत्मा ही रत्नत्रयके प्रसा-दसे [ **अर्हन्** ] अरहंत [ **भवति** ] होता है। **भावार्थ**—समस्त लोकालोकको एक ही

अथ—

**जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।**
**सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ ॥ १९७ ॥**

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥ १९७ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः **जिणु** अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः । कथंभूतः । **केवलणाणमउ** केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः । **परमाणंदसहाउ** इन्द्रियविषयातीतः स्वात्मोत्थः रागादिविकल्परहितः परमानन्दस्वभावः **सो परमप्पउ** स पूर्वोक्तोऽर्हन्नेव परमात्मा **परमपरु** प्रकृष्टानन्तज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः संसारिभ्यः पर उत्कृष्टः इत्युच्यते परमश्चासौ परश्च परमपरः **सो** स पूर्वोक्तो वीतरागः सर्वज्ञः **जिय** हे जीव **अप्पसहाउ** आत्मस्वभाव इति । अत्र योऽसौ पूर्वोक्तभणितो भगवान् स एव संसारावस्थायां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण जिन इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां व्यक्ति-

---

समयमें केवलज्ञानसे जानता हुआ अरहंत कहलाता है । जिसका ज्ञान जाननेके क्रमसे रहित है । एक ही समयमें समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है, आगे पीछे नहीं जानता । सब क्षेत्र, सब काल, सब भावको निरंतर प्रत्यक्ष जानता है । जो केवलीभगवान् परम आनंदमयी हैं । वीतराग परमसमरसी भावरूप जो परम आनंद अतीन्द्रिय अविनाशी सुख वही जिसका लक्षण है । निश्चयसे ज्ञानानंदस्वरूप है, इसमें संदेह नहीं है ॥ १९६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि केवलज्ञान ही आत्माका निजस्वभाव है, और केवलीको ही परमात्मा कहते हैं—[ **यः जिनः** ] जो अनंत संसाररूपी वनके भ्रमणके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी बैरी उनका जीतनेवाला वह [ **केवलज्ञानमयः** ] केवलज्ञानादि अनंत गुणमयी है [ **परमानंदस्वभावः** ] और इंद्रिय विषयसे रहित आत्मीक रागादि विकल्पोंसे रहित परमानंद ही जिसका स्वभाव है, ऐसा जिनेश्वर केवलज्ञानमयी अरहंतदेव [ **सः** ] वही [ **परमात्मा** ] उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूप लक्ष्मीवाला आत्मा परमात्मा है । उसीको वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं, [ **जीव** ] हे जीव; वही [ **परमपरः** ] संसारियोंसे उत्कृष्ट है, ऐसा जो भगवान् वह तो व्यक्तिरूप है, और [ **स आत्मस्वभावः** ] वह आत्माका ही स्वभाव है । **भावार्थ**—संसार अवस्थामें निश्चयनयकर शक्तिरूप विराजमान है, इसलिये संसारीको शक्तिरूप जिन कहते हैं, और केवलीको व्यक्तिरूप कहते हैं । द्रव्यार्थिकनयकर जैसे भगवान् हैं, वैसे ही सब जीव हैं, इस तरह निश्चयनयकर जीवको परब्रह्म कहो, परमशिव कहो, जितने भगवान्के नाम हैं, उतने ही निश्चयनयकर विचारो तो

रूपेण च। तथैव च परमब्रह्मादिशब्दवाच्यः स एव तदग्रे स्वयमेव कथयति। निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोऽपि सर्वजीवस्वरूप इति भावार्थः। तथा चोक्तम्—"जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ। सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ॥" ॥१९७॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीयमन्तरस्थलं गतम्।

अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—

**सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिण्णु।**
**सो परमप्प-पयासु तुहुँ जोइय णियमेँ मण्णु॥ १९८॥**

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनः देवः विभिन्नः।
तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व॥ १९८॥

**सो** तं **परमप्पपयासु** परमात्मप्रकाशसंज्ञं **तुहुं** त्वं कर्ता **मण्णु** मन्यस्व जानीहि **जोइय** हे योगिन् **णियमें** निश्चयेन। स कः। **जो जिणु देउ** यो जिनदेवः। किंविशिष्टः। **विभिण्णु** विशेषेण भिन्नः। केभ्यः। **सयलहं कम्महं** रागादिरहितचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्माणि तेभ्यः। न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः। **दोसहं वि** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य परमात्मनो येऽनन्तज्ञानसुखादिगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोषास्तेभ्योऽपि भिन्न इत्यभिप्रायः॥ १९८॥

---

सब जीवोंके हैं, सभी जीव जिनसमान हैं, और जिनराज भी जीवोंके समान हैं, ऐसा जानना। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है। जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जाने, और जिनवरको जीव जाने, जो जीवोंकी जाति है, वही जिनवरकी जाति है, और जो जिनवरकी जाति है, वही जीवोंकी जाति है, ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें जातिभेद नहीं मानते, वे मोक्ष पाते हैं॥ १९७॥ इस प्रकार चौवीस दोहोंके महास्थलमें अरहंतदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें दूसरा अंतरस्थल कहा।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं—[ **सकलेभ्यः कर्मभ्यः** ] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंसे [ **दोषेभ्यः अपि** ] और सब क्षुधादि अठारह दोषोंसे [ **विभिन्नः** ] रहित [ **यः जिनदेवः** ] जो जिनेश्वरदेव हैं, [ **तं** ] उसको [ **योगिन् त्वं** ] हे योगी; तू [ **परमात्मप्रकाशं** ] परमात्मप्रकाश [ **नियमेन** ] निश्चयसे [ **मन्यस्व** ] मान। अर्थात् जो निर्दोष जिनेन्द्रदेव हैं, वही परमात्मप्रकाश हैं। **भावार्थ**—रागादि रहित चिदानंदस्वभाव परमात्मासे भिन्न जो सब कर्म वे ही संसारके मूल हैं। जगतके जीव तो कर्मोंकर सहित हैं, और भगवान् जिनराज इनसे मुक्त हैं, और सब दोषोंसे रहित हैं। वे दोष सब संसारी-जीवोंके लग रहे हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्माके अनंत

अथ—

**केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।**
**सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥ १९९ ॥**

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनन्तम् ।
स जिनदेवोऽपि परममुनिः परमप्रकाशं जानन् ॥ १९९ ॥

**सो जिणदेउ वि** स जिनदेवोऽपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । **परममुणि** परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । **मुणंतु** मन्यमानो जानन् सन् । कम् । **परमपयासु** परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्तं परमप्रकाशम् । स कः । **केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि** केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिचतुष्टयम् । **अणंतु** युगपदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तमिति भावार्थः ॥ १९९ ॥

**जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।**
**परम-पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु ॥ २०० ॥**

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।
परमप्रकाशः भणन्ति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥ २०० ॥

**भणंति** कथयन्ति । के ते **मुणि** मुनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणन्ति **परमपयासु** परमप्रकाशः । यः कथंभूतः । **जो परमप्पउ** यः परमात्मा । पुनरपि

---

ज्ञान सुखादि गुणोंके आच्छादक हैं । उन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मप्रकाश हैं, योगीश्वरोंके मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते हैं, कि हे योगिन्; तू निश्चयसे ऐसा ही मान यही सत्पुरुषोंका अभिप्राय है ॥ १९८ ॥

फिर भी इसी कथनको दृढ़ करते हैं—[ **केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं** ] केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य [ **यदेव अनंतं** ] ये अनंतचतुष्टय जिसके हों [ **स जिनदेवः** ] वही जिनदेव है, [ **परममुनिः** ] वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है । क्या करता संता । [ **परमप्रकाशं जानन्** ] उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवलज्ञान वही जिसके परमप्रकाश है, उससे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावको जानता हुआ परमप्रकाशक है । ये केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय एक ही समयमें अनंतद्रव्य, अनंतक्षेत्र, अनंतकाल और अनंतभावोंको जानते हैं, इसलिये अनंत हैं, अविनश्वर हैं, इनका अंत नहीं है, ऐसा जानना ॥ १९९ ॥

आगे जिनदेवके ही अनेक नाम हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—[ **यः** ] जिस [ **परमात्मा** ] परमात्माको [ **मुनयः** ] मुनि [ **परमपदः** ] परमपद [ **हरिः हरः ब्रह्मा अपि** ]

कथंभूतः। परमपउ परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्वभावः। किंविशिष्टः। हरि हरिसंज्ञः हरु महेश्वराभिधानः बंभु वि परमब्रह्माभिधानोऽपि बुद्धु बुद्धः सुगतसंज्ञः सो जिणदेउ स एव पूर्वोक्तः परमात्मा जिनदेवः। किंविशिष्टः। विसुद्धु समस्तरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध इति। अत्र य एव परमात्मप्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स एव परमपदः, स एव विष्णुसंज्ञः, स एवेश्वराभिधानः, स एव ब्रह्मशब्दवाच्यः, स एव सुगतशब्दाभिधेयः, स एव जिनेश्वरः, स एव विशुद्ध इत्याद्यष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो भवति। नानारुचीनां जनानां तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्नाराध्यः स्यादिति भावार्थः। तथा चोक्तम्— "नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वरम्" इत्यादि ॥ २०० ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमन्तरस्थलं गतम्।

तदनन्तरं सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति तद्यथा—

**झाणेँ कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु।**
**जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥ २०१ ॥**

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनन्तः।
जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥ २०१ ॥

पभणिउ प्रभणितः कथितः। केन कर्तृभूतेन। जिणवरदेवइं जिनवरदेवेन।

---

हरि महादेव ब्रह्मा [ **बुद्धः परमप्रकाशः भणंति** ] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं, [ **सः** ] वह [ **विशुद्धः जिनदेवः** ] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही है, उसीके ये सब नाम हैं। **भावार्थ**—प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानंद ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते हैं। वही विष्णु है, वही महादेव है, उसीका नाम परब्रह्म है, सबका ज्ञायक होनेसे बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता है। समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है, ऐसा जो अरहंतदेव वही परमात्म परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर, और वही विशुद्ध—इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है। नाना रुचिके धारक ये संसारी जीव वे नाना प्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं। ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं हैं। ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है—एक हजार आठ नामों सहित वह मोक्षपुरका स्वामी उसकी आराधना सब करते हैं। उसके अनंत नाम और अनंतरूप हैं। वास्तवमें नामसे रहित रूपसे रहित ऐसे भगवान् देवको हे प्राणियो; तुम आराधो ॥ २०० ॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें तीसरा अन्तरस्थल कहा।

आगे सिद्धस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—

कोऽसौ भणितः। **सिद्धु** सिद्धः। कथंभूतः। **महंतु** महापुरुषाराधितत्वात् केवलज्ञानादिमहागुणाधारत्वाच्च महान्। क एव। **सो जि** स एव। स कः यो़ऽसौ **मुक्कउ होइ** ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिर्मुक्तो रहितः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणसहितश्च **जिय** हे जीव। कथंभूतः। **अणंतु** न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य स भवत्यनन्तः। किं कृत्वा पूर्वं मुक्तो भवति। **कम्मक्खउ करिवि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावादात्मद्रव्याद्विलक्षणं यदार्तरौद्रध्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म तस्य क्षयः कर्मक्षयस्तं कृत्वा। केन। **झाणें** रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानलक्षणेन ध्यानेनेति तात्पर्यम् ॥ २०१ ॥

अथ—

**अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ।**
**तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥ २०२ ॥**

अन्यदपि बन्धुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसौख्यस्वभावः।
तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥ २०२ ॥

**अण्णु वि** इत्यादि। **अण्णु वि** अन्यदपि पुनरपि स पूर्वोक्तः सिद्धः। कथंभूतः। **बंधु वि** बन्धुरेव। कस्य। **तिहुयणहं** त्रिभुवनस्थभव्यजनस्य। पुनरपि किं-

---

[ **ध्यानेन** ] शुक्लध्यानसे [ **कर्मक्षयं** ] कर्मोंका क्षय [ **कृत्वा** ] करके [ **मुक्तः भवति** ] जो मुक्त होता है, [ **अनंतः** ] और अविनाशी है, [ **जीव** ] हे जीव; [ **स एव** ] उसे ही [ **जिनवरदेवेन** ] जिनवरदेवने [ **महान् सिद्धः प्रभणितः** ] सबसे महान् सिद्धभगवान् कहा है। **भावार्थ**—अरहंतपरमेष्ठी सकल सिद्धान्तोंके प्रकाशक हैं, वे सिद्ध परमात्माको सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं, जिसे सब संत पुरुष आराधते हैं। केवलज्ञानादि महान् अनंतगुणोंके धारण करनेसे वह महान् अर्थात् सबमें बड़े हैं। जो सिद्धभगवान् ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंसे रहित हैं, और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं। क्षायकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध—इन आठ गुणोंसे मंडित हैं, और जिसका अन्त नहीं ऐसा निरंजनदेव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत जो आर्त रौद्र खोटे ध्यान उनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभ कर्म उनका स्वसंवेदनज्ञानरूप शुक्लध्यानसे क्षय करके अक्षय पद पा लिया है। कैसा है शुक्लध्यान ? रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित परम निराकुलतारूप है। यही ध्यान मोक्षका मूल है, इसीसे अनन्त सिद्ध हुए और होंगे ॥ २०१ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंकी महिमा कहते हैं—[ **अन्यदपि** ] फिर वे सिद्धभगवान् [ **त्रिभुवनस्य** ] तीन लोकके प्राणियोंका [ **बंधुरपि** ] हित करने वाले हैं, [ **शाश्वतसुखस्वभावः** ] और जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है, और [ **तत्रैव** ] उसी शुद्ध क्षेत्रमें [ **लब्धस्वभावः** ] निजस्वभावको पाकर [ **जीव** ] हे जीव; [ **सकलमपि कालं** ] सदा

विशिष्टः । **सासयसुक्खसहाउ** रागादिरहिताव्याबाधशाश्वतसुखस्वभावः । एवं-गुणविशिष्टः सन् किं करोति स भगवान् । **तित्थु जि** तत्रैव मोक्षपदे **णिवसइ** निवसति । कथंभूतः सन् । **लद्धसहाउ** लब्धशुद्धात्मस्वभावः कियत्कालं निवसति । **सयलु वि** समस्तमप्यनन्तानन्तकालपर्यन्तं **जिय** हे जीव इति । अत्रानेन समस्तकाल-ग्रहणेन किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्ति मुक्तानां पुनरपि संसारे पतनं भवति तन्मतं निरस्तमिति भावार्थः ॥ २०२ ॥

अथ—

**जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख-विमुक्कु ।**
**केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥ २०३ ॥**

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।
केवलदर्शनज्ञानमयः नन्दति तत्रैव मुक्तः ॥ २०३ ॥

पुनरपि कथंभूतः स भगवान् । **जम्मणमरणविवज्जियउ** जन्ममरणवि-वर्जितः । पुनरपि किंविशिष्टः । **चउगइदुक्खविमुक्कु** सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं यच्चतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः । **केवलदंसणणाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवंगुणविशिष्टः सन्

---

काल [ **निवसति** ] निवास करते हैं, फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे । **भावार्थ**—सिद्धपरमेष्ठी तीनलोकके नाथ हैं, और जिनका भव्यजीव ध्यान करके भव-सागरसे पार होते हैं, इसलिये भव्योंके बंधु हैं, हितकारी हैं । जिनका रागादि रहित अव्याबाध अविनाशी सुख स्वभाव है । ऐसे अनन्त गुणरूप वे भगवान् उस मोक्ष पदमें सदा काल विराजते हैं । जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है । अनन्तकाल बीत गये, और अनन्तकाल आवेंगे, परंतु वे प्रभु सदाकाल सिद्धक्षेत्रमें वस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं, इसके कहनेका प्रयोजन यह है, कि जो कोई ऐसा कहते हैं, कि मुक्त-जीवोंका भी संसारमें पतन होता है, सो उनका कहना खंडित किया गया ॥ २०२ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं—[ **जन्ममरणविवर्जितः** ] वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित हैं, [ **चतुर्गतिदुःखविमुक्तः** ] चारों गतियोंके दुःखोंसे रहित हैं, [ **केवलदर्शनज्ञानमयः** ] और केवलदर्शन केवलज्ञानमयी हैं, ऐसे [ **मुक्तः** ] कर्म रहित हुए [ **तत्रैव** ] अनंतकालतक उसी सिद्धक्षेत्रमें [ **नंदति** ] अपने स्वभावमें आनंदरूप विराजते हैं । **भावार्थ**—सहज शुद्ध परमानंद एक अखंड स्वभाव-रूप जो आत्मसुख उससे विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे रहित हैं, जन्म-मरणरूप-रोगोंसे रहित हैं, अविनश्वरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है, कि किसीको पहले जानें, किसीको पीछे जानें, उनका केवलज्ञान और

किं करोति । **णंदइ** स्वकीयस्वाभाविकानन्तज्ञानादिगुणैः सह नन्दति वृद्धिं गच्छति । क्व । **तित्थु जि** तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किंविशिष्टः सन् । **मुक्कु** ज्ञानावरणाद्यष्ट-कर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्याबाधाद्यनन्तगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ २०३ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थ-मन्तरस्थलं गतम् ।

अथानन्तरं परमात्माप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तथाहि—

**जे परमप्प-पयासु मुणि भाविं भावहिँ सत्थु ।**
**मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिँ परमत्थु ॥ २०४ ॥**

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रम् ।
मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥ २०४ ॥

**भावहिं** भावयन्ति ध्यायन्ति । के । **मुणि** मुनयः **जे** ये केचन । किं भावयन्ति । **सत्थु** शास्त्रम् । **परमप्पपयासु** परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाश-संज्ञम् । केन भावयन्ति । **भाविं** समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वम् । **जिणेविणु** जित्वा । कम् । **मोहु** निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहम् । कतिसंख्योपेतम् । **सयलु** समस्तं निरवशेषं **जिय** हे जीवेति **ते** त एवंगुणविशिष्टा-

---

केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, और सब भावोंको जानता है । लोकालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, और अनंतवीर्य-मयी है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्धपरमेष्ठी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोकके शिखरपर विराज रहे हैं, जिसका कभी अंत नहीं, उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते हैं, केवलज्ञान दर्शनकर घट घटमें व्यापक हैं । सकल कर्मोपाधि रहित महा निरुपाधि निराबाधपना आदि दे अनंतगुणों सहित मोक्षमें आनंद विलास करते हैं ॥ २०३ ॥ इस तरह चौबीस दोहोंवाले महास्थलमें सिद्धपरमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताकर तीन दोहोंमें चौथा अंतरस्थल कहा ।

आगे तीन दोहोंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें लीन पुरुषोंके फलको दिखाते हुए व्याख्यान करते हैं—[ **ये मुनयः** ] जो मुनि [ **भावेन** ] भावोंसे [ **परमात्मप्रकाशं शास्त्रं** ] इस परमात्मप्रकाश नामा शास्त्रका [ **भावयंति** ] चिंतवन करते हैं, सदैव इसीका अभ्यास करते हैं, [ **जीव** ] हे जीव; [ **ते** ] वे [ **सकलं मोहं** ] समस्त मोहको [ **जित्वा** ] जीतकर [ **परमार्थं बुध्यंति** ] परमतत्त्वको जानते हैं । **भावार्थ**—जो कोई सब परिग्रहके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथको समस्त रागादि खोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर विचारते हैं, वे निर्मोह परमात्मतत्त्वसे विपरीत

स्तपोधनाः बुज्झहिं बुध्यन्ति । कम् । परमत्थु परमार्थशब्दवाच्यं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ २०४ ॥

अथ—

**अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिँ इहु परमप्प-पयासु ।**
**लोयालोय-पयास-यरु पावहिँ ते वि पयासु ॥ २०५ ॥**

अन्यदपि भक्त्या ये जानन्ति इमं परमात्मप्रकाशम् ।
लोकालोकप्रकाशकरं प्राप्नुवन्ति तेऽपि प्रकाशम् ॥ २०५ ॥

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते । **भत्तिए जे मुणहिं** भक्त्या ये मन्यन्ते जानन्ति । कम् । **परमप्पपयासु** इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशग्रन्थमर्थतस्तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं **पावहिं** प्राप्नुवन्ति **ते वि** तेऽपि । कम् । **पयासु** प्रकाशशब्दवाच्यं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशम् । **लोयालोयपयासयरु** अनन्तगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यम् ॥ २०५ ॥

अथ—

**जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।**
**तुट्टइ मोहु तडत्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति ॥ २०६ ॥**

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णन्ति ।
त्रुट्यति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवन्ति ॥ २०६ ॥

**लयंति** गृह्णन्ति **जे** ये विवेकिनः **णाउ** नाम । कस्य । **परमप्पपयासयहं**

---

जो मोहनामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं, मिथ्यात्व रागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानंद स्वभाव जो परमात्मा उसको अच्छी तरह जानते हैं ॥२०४॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं—[ **अन्यदपि** ] और भी कहते हैं, [ **ये** ] जो कोई भव्यजीव [ **भक्त्या** ] भक्तिसे [ **इमं परमात्मप्रकाशं** ] इस परमात्मप्रकाश शास्त्रको [**जानन्ति**] पढ़ें, सुनें, इसका अर्थ जानें, [ **तेऽपि** ] वे भी [ **लोकालोकप्रकाशकरं** ] लोकालोकको प्रकाशनेवाले [ **प्रकाशं** ] केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही पासकेंगे । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मतत्त्वका भी है, और इस ग्रंथका भी है, सो परमात्मप्रकाश ग्रंथके पढ़नेवाले दोनों ही को पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है, उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनंत गुण पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे तुरंत ही पावेंगे ॥ २०५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके पढ़नेका फल कहते हैं—[ **ये** ] जो कोई भव्यजीव [ **परमात्मप्रकाशस्य** ] व्यवहारनयसे परमात्माके प्रकाश करनेवाले इस ग्रंथका तथा निश्चय-

व्यवहारेण परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपस्य परमात्मपदार्थस्य । कथम् । **अणुदिणु** अनवरतम् । तेषां किं फलं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । कोऽसौ । **मोहु** निर्मोहात्मद्रव्याद्विलक्षणो मोहः **तड त्ति** झटिति **तहं** तेषाम् । न केवलं मोहो नश्यति । **तिहुयणणाह हवंति** तेन पूर्वोक्तेन निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वभावनाफलेन पूर्वं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषं लब्ध्वा पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा च केवलज्ञानमुत्पाद्य त्रिभुवननाथा भवन्तीति भावार्थः ॥ २०६ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशभावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

**जे भव-दुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिव्वाणु ।**
**इह परमप्प-पयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥ २०७ ॥**

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छन्ति निर्वाणम् ।
इहं परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥ २०७ ॥

**ते पर** त एव **जोग्ग वियाणु** योग्या भवन्तीति विजानीहि । कस्य । **इह परमप्पपयासयहं** व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य, परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य निर्दोषिपरमात्मनः । ते के । **जे बीहिया** ये भीताः । केषाम् । **भवदुक्खहं** रागादिविकल्परहितपरमाह्लादरूपशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिक-

---

नयसे केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मपदार्थका [ **अनुदिनं** ] सदैव [ **नाम गृह्णंति** ] नाम लेते हैं, सदा उसीका स्मरण करते हैं, [ **तेषां** ] उनका [ **मोहः** ] निर्मोह आत्मद्रव्यसे विलक्षण जो मोहनामा कर्म [ **झटिति त्रुट्यति** ] शीघ्र ही टूट जाता है, और वे [ **त्रिभुवननाथा भवंति** ] शुद्धात्म तत्त्वकी भावनाके फलसे पूर्व देवेंद्र चक्रवर्त्यादिकी महान् विभूति पाकर चक्रवर्तीपदको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञानको उत्पन्न कराके तीन भुवनके नाथ होते हैं, यह सारांश है ॥ २०६ ॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमात्मप्रकाशकी भावनाके फलके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें पाँचवाँ अंतरस्थल कहा ।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उसकी आराधनाके करनेवाले महापुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—

[ **ते परं** ] वे ही महापुरुष [ **अस्य परमात्मप्रकाशकस्य** ] इस परमात्मप्रकाश ग्रंथके अभ्यास करनेके [ **योग्याः विजानीहि** ] योग्य जानो, [ **ये** ] जो [ **भवदुःखेभ्यः** ] चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे [**भीताः**] डर गये हैं, और [**निर्वाणं पदं**] मोक्षपदको [**इच्छंति**] चाहते हैं ।

सुखविलक्षणानां नारकादिभवदुःखानाम् । पुनरपि किं कुर्वन्ति । जे इच्छहिं ये इच्छन्ति । किम् । पउ पदं स्थानम् । णिव्वाणु निर्वृतिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाण-शब्दवाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥ २०७ ॥

अथ—

**जे परमप्पहँ भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।**
**ते परमप्प-पयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति ॥ २०८ ॥**

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयान् न येऽपि रमन्ते ।
ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥ २०८ ॥

**हवंति** भवन्ति **जोग्ग** योग्याः । के ते । **मुणिवर** मुनिप्रधानाः । के । **ते** ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवन्ति । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशसंज्ञ-ग्रन्थस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । **जे परमप्पहं भत्तियर** ये परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वन्ति ये । **विसय ण जे विरमंति** निर्विषयपरमात्मतत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानन्दसुखरसास्वाद-तृप्ताः सन्तः सुलभान्मनोहरानपि विषयान्न रमन्त इत्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥

अथ—

**णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।**
**सो परमप्प-पयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ ॥ २०९ ॥**

---

**भावार्थ**—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथकी और निश्चयनयकर निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावनाके योग्य वे ही हैं, जो रागादि विकल्प रहित परम आनंदरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अविनश्वर सुखसे विपरीत जो नरकादि संसारके दुःख उनसे डर गये हैं, जिनको चतुर्गतिके भ्रमणका डर है, और जो सिद्धपरमेष्ठीके निवास मोक्षपदको चाहते हैं ॥ २०७ ॥

आगे फिर भी उन्हीं पुरुषोंकी महिमा कहते हैं—[ **ये** ] जो [ **परमात्मनः भक्तिपराः** ] परमात्माकी भक्ति करनेवाले [ **ये** ] जो मुनि [ **विषयान् न अपि विरमंति** ] विषय-कषायोंमें नहीं रमते हैं, [ **ते मुनिवराः** ] वे ही मुनीश्वर [ **परमात्मप्रकाशस्य योग्याः** ] परमात्मप्रकाशके अभ्यासके योग्य [ **भवंति** ] हैं । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर परमात्मा-प्रकाश नामका ग्रंथ और निश्चयनयकर निजशुद्धात्मस्वरूप परमात्मा उसकी भक्तिमें जो तत्पर हैं, वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन किया जो अतीन्द्रिय परमानंदसुख उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नहीं रमते हैं । जिनको मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं, तो भी वे उनमें नहीं रमते ॥ २०८ ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।
तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणन्ति ये योगिनः ॥ २०९ ॥

**भणंति** कथयंति **जि जोइ** ये परमयोगिनः । कं भणन्ति । **जोग्गु** योग्यम् । कस्य । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशाभिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणन्ति । **सो** तम् । तं कम् । **जो जणु एहउ कोइ** यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । **णाण-वियक्खणु** स्वसंवेदनज्ञानविचक्षणः । पुनरपि कथंभूतः । **सुद्धमणु** परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहस्वरूपसमस्तविकल्पजालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥ २०९ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमन्तरस्थलं गतम् ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनन्तरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

**लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप्प-पयासु ।**
**कुणइ सुहावइँ भावियउ चउ-गइ-दुक्ख-विणासु ॥ २१० ॥**

लक्षणछन्दोविवर्जितः एष परमात्मप्रकाशः ।
करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशम् ॥ २१० ॥

**लक्खण** इत्यादि । **लक्खणछंदविवज्जियउ** लक्षणछन्दोविवर्जितोऽयम् । अयं कः । **एहु परमप्पपयासु** एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति ।

---

आगे फिर भी यही कथन करते हैं—[ **यः जनः** ] जो प्राणी [ **ज्ञानविचक्षणः** ] स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण ( बुद्धिमान ) हैं, और [ **शुद्धमनाः** ] जिसका मन परमात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो राग द्वेष मोहरूप समस्त विकल्प-जाल उनके त्यागसे शुद्ध है, [ **कश्चिदपि ईदृशः** ] ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो, [ **तं** ] उसे [ **ये योगिनः** ] जो योगीश्वर हैं, वे [ **परमात्मप्रकाशस्य योग्यं** ] परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य [ **भणंति** ] कहते हैं । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर यह परमात्मप्रकाशनामा द्रव्यसूत्र और निश्चयनयकर शुद्धात्मस्वभावसूत्रके आराधनेको वे ही पुरुष योग्य हैं, जो कि आत्म-ज्ञानके प्रभावसे महा प्रवीण हैं, और जिनके मिथ्यात्व राग द्वेषादि मलकर रहित शुद्ध भाव हैं, ऐसे पुरुषोंके सिवाय दूसरा कोई भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नहीं है ॥ २०९ ॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें आराधक पुरुषके लक्षण तीन दोहोंमें कहके छट्ठा अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

आगे शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इस तरह तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—[ **एष परमात्मप्रकाशः** ] यह परमात्माप्रकाश [ **सुभावेन भावितः** ] शुद्ध भावोंकर भाया हुआ [ **चतुर्गतिदुःख-**

**कुणइ** करोति। कम्। **चउगइदुक्खविणासु** चतुर्गतिदुःखविनाशम्। कथंभूतः सन्। **भावियउ** भावितः। केन। **सुहावइं** शुद्धभावेनेति। तथाहि। यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रन्थः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकछन्दसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः, तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यशुद्धात्मस्वरूपापेक्षया लक्षणछन्दोविवर्जितः। एवंभूतः सन्नयं किं करोति। शुद्धभावनया भावितः सन् शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्परहितपरमानन्दैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः॥ २१० ॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्धत्यं परिहरति—

**इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।**
**भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु॥ २११ ॥**

अत्र न ग्राह्यः पण्डितैः गुणो दोषोऽपि पुनरुक्तः।
भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम्॥ २११ ॥

इत्थु इत्यादि। **इत्थु** अत्र ग्रन्थे **ण लेवउ** न ग्राह्यः। कैः। **पंडियहिं** पण्डितैर्विवेकिभिः। कोऽसौ। **गुणदोसु वि** गुणो दोषोऽपि। कथंभूतः। **पुणरुत्तु** पुनरुक्तः। कस्मान्न ग्राह्यः। यतः **मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु** मया पुनः पुनः प्रोक्तम्। किं तत्। वीतरागपरमात्मतत्त्वम्। किमर्थम्। **भट्टपभायरकारणइं** प्रभाकरभट्ट-

---

**विनाशं** ] चारों गतिके दुःखोंका विनाश [ **करोति** ] करता है। जो परमात्मप्रकाश [ **लक्षणछंदोविवर्जितः** ] यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छंदोंकर सहित है, और अनेक लक्षणोंकर सहित है, तो भी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप वह लक्षण और छंदोंकर रहित है। **भावार्थ**—शुभ लक्षण और प्रबंध ये दोनों परमात्मामें नहीं हैं। परमात्मा शुभाशुभ लक्षणोंकर रहित है, और जिसके कोई प्रबंध नहीं, अनंतरूप है, उपयोग-लक्षणमय परमानंद लक्षणस्वरूप है, सो भावोंसे उसको आराधो, वही चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करने वाला है। शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छंदोंसे रहित है, इनसे भिन्न निज लक्षणमयी है, और यह परमात्मप्रकाशनामा अध्यात्म-ग्रंथ यद्यपि दोहेके छंदरूप है, और प्राकृत लक्षणरूप है, परंतु इसमें स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यता है, छंद अलंकारादिकी मुख्यता नहीं है॥ २१० ॥

आगे श्रीयोगींद्रदेव उद्धतपनेका त्याग दिखलाते हैं—[ **अत्र** ] श्रीयोगींद्रदेव कहते हैं, अहो भव्यजीवो; इस ग्रंथमें [ **पुनरुक्तः** ] पुनरुक्तका [ **गुणो दोषोऽपि** ] दोष भी [ **पंडितैः** ] आप पंडितजन [ **न ग्राह्यः** ] ग्रहण नहीं करें, और कवि-कलाका गुण भी न लें, क्योंकि [ **मया** ] मैंने [ **भट्टप्रभाकरकारणेन** ] **प्रभाकरभट्टके** संबोधनेके लिये **पुनः पुनरपि प्रोक्तं** ] वीतराग परमानंदरूप परमात्म-तत्त्वका कथन वार वार किया है।

निमित्तेनेति । अत्र भावनाग्रन्थे **समाधिशतकादिवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति** इति । तदपि कस्मादिति चेत् । अर्थं पुनःपुनश्चिन्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रभाकरभट्टव्याजेन समस्तजनानां सुखबोधार्थं बहिरन्तःपरमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मतत्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥ २११ ॥

अथ—

**जं मइ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।**
**तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थ ॥ २१२ ॥**

यन्मया किमपि विजल्पितं युक्तायुक्तमपि अत्र ।
तद् वरज्ञानिनः क्षाम्यन्तु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥ २१२ ॥

जं इत्यादि । **जं मइं किं पि विजंपियउ** यन्मया किमपि जल्पितम् । किं जल्पितम् । **जुत्ताजुत्तु वि** शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तायुक्तमपि **इत्थु** अत्र परमात्मप्रकाशभिधानग्रन्थे **खमंतु** क्षमां कुर्वन्तु । किं तत् । पूर्वोक्तदूषणम् । के । **वरणाणि** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानयुक्ता विशिष्टज्ञानिनः । कस्य । **महु** मम योगीन्द्रदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये ज्ञानिनः । **जे बुज्झहिँ** ये केचन बुध्यन्ते जानन्ति । कम् । **परमत्थु** रागादिदोषरहितमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसहितं च परमार्थशब्दवाच्यं

---

**भावार्थ**—इस शुद्धात्म-भावनाके ग्रंथमें पुनरुक्तका दोष नहीं लगता । **समाधितंत्र** ग्रंथकी तरह इस ग्रंथमें भी बार बार शुद्ध स्वरूपका ही कथन किया है, बारम्बार उसी अर्थका चिंतवन है, ऐसा जानकर इसका रहस्य (अभिप्राय) बार बार चिंतवना । प्रभाकरभट्टकी मुख्यताकर समस्त जीवोंको सुखसे प्रतिबोध होनेके लिये इस ग्रंथमें बार बार बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माका कथन किया है, ऐसा जानना ॥ २११ ॥

आगे श्रीयोगीन्द्राचार्य ज्ञानीजनोंसे प्रार्थना करते हैं, कि मैंने जो किसी जगह छंद अलंकारादिमें युक्त अयुक्त कहा हो, तो उसे पंडितजन परमार्थके जाननेवाले मुझपर क्षमा करें—[ **अत्र** ] इस ग्रंथमें [ **यत्** ] जो [ **मया** ] मैंने [ **किमपि** ] कुछ भी [ **युक्तायुक्तमपि जल्पितं** ] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे, तो [ **तत्** ] उसे [ **ये वरज्ञानिनः** ] जो महान् ज्ञानके धारक [ **परमार्थं** ] परम अर्थको [ **बुध्यंते** ] जानते हैं, वे पंडितजन [ **मम क्षाम्यंतु** ] मेरे ऊपर क्षमा करें । **भावार्थ**—मेरी छद्मस्थकी बुद्धि है, जो कदाचित् मैंने शब्दमें, अर्थमें, तथा छंद अलंकारमें, अयुक्त कहा हो, वह मेरा दोष क्षमा करो, सुधार लो , जो विवेकी परम अर्थको अच्छी तरह जानते हैं, वे मुझपर कृपा करो, मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महामुनियोंसे की । जो महामुनि अपने शुद्ध स्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनंतदर्शन,

शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ २१२ ॥ इति सूत्रत्रयेण सप्तममन्तरस्थलं गतम् । एवं सप्तभिरन्तरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति—

**जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते**
**जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व-देहीण देहे ।**
**जं तत्तं दिव्व-देहं ति-हुवण-गुरुगं सिज्झए संत-जीवे**
**तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ॥ २१३ ॥**

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते
यत् तत्त्वं देहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ।
यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे
तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥ २१३ ॥

**पावए सो** प्राप्नोति स हि स्फुटम् । काम् । **सिद्धिं** मुक्तिम् । यस्य किम् । **जस्स णियमणे फुरइ** यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापन्नम् । **तं तत्तं** तत्तत्त्वम् । कथंभूतम् । **सुद्धं** रागादिरहितम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । **जं तत्तं णाणरूवं** यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपम् । पुनरपि किंविशिष्टं यत् । **णिच्च झायंति** नित्यं ध्यायन्ति । क्व । **चित्ते** मनसि । के ध्यायन्ति । **परममुणिगणा** परममुनिसमूहाः । पुनरपि किंविशिष्टं यत् । **जं तत्तं देहचत्तं** यत्परमात्मतत्त्वं देहत्यक्तं देहाद्भिन्नम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । **णिवसइ** निवसति । क्व । **भुवणे सव्वदेहीण देहे** त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यत् । **जं तत्तं दिव्वदेहं** यत् शुद्धात्म-

---

अनंतसुख अनंतवीर्यकर सहित हैं, ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते हैं, जानते हैं, और अनुभवते हैं, वे ही इस ग्रंथके सुननेके योग्य हैं, और सुधरनेके योग्य हैं ॥ २१२ ॥ इस प्रकार तीन दोहोंमें सातवाँ अंतरस्थल कहा । इस तरह चौवीस दोहोंका महास्थल पूर्ण हुआ ।

आगे एक स्रग्धरा नामके छंदमें फिर भी इस ग्रंथके पढ़नेका फल कहते हैं—[ **तत्** ] वह [ **तत्त्वं** ] निज आत्म-तत्त्व [ **यस्य निजमनसि** ] जिसके मनमें [ **स्फुरति** ] प्रकाशमान हो जाता है, [ **स हि** ] वह ही साधु [ **सिद्धिं प्राप्नोति** ] सिद्धिको पाता है । कैसा है, वह तत्त्व ? जो कि [ **शुद्धं** ] रागादि मल रहित है, [ **ज्ञानरूपं** ] और ज्ञानरूप है, जिसको [ **परममुनिगणाः** ] परममुनीश्वर [ **नित्यं** ] सदा [ **चित्ते ध्यायंति** ] अपने चित्तमें ध्याते हैं, [ **यत् तत्त्वं** ] जो तत्त्व [ **भुवने** ] इस लोकमें [ **सर्वदेहिनां देहे** ] सब प्राणियोंके शरीरमें [ **निवसति** ] मौजूद है, [ **देहत्यक्तं** ] और आप देहसे रहित है, [ **यत् तत्त्वं** ] जो तत्त्व [ **दिव्यदेहं** ] केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देहको धारण

तत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरम् । शरीरमिति कोऽर्थः । स्वरूपम् । पुनश्च कीदृशं यत् । तिहुयणगुरुगं अव्याबाधानन्तसुखादिगुणेन त्रिभुवनादपि गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकम् । पुनरपि किंरूपं यत् । सिज्झए सिद्ध्यति निष्पत्तिं याति। क्व । संतजीवे ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशान्तजीवस्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥ २१३ ॥

अथ ग्रन्थस्यावसाने मङ्गलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति—

**परम-पय-गयाणं भासओ दिव्व-काओ**
**मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ ।**
**विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए**
**जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥ २१४ ॥**

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः
मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके
जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोऽपि बोधः ॥ २१४ ॥

**जयउ** सर्वोत्कर्षेण वृद्धिं गच्छतु । कोऽसौ । **दिव्वकाओ** परमौदारिकशरीराभिधानदिव्यकायस्तदाधारो भगवान् । कथंभूतः । **भासओ** दिवाकरसहस्रादप्यधिकतेजस्त्वाद्भासकः प्रकाशकः । केषां कायः । **परमपयगयाणं** परमानन्तज्ञानादिगुणास्पदं यदर्हत्पदं तत्र गतानाम् । न केवलं दिव्यकायो जयतु । **दिव्वजोओ** द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः ।

करता है, [ **त्रिभुवनगुरुकं** ] तीन भुवनमें श्रेष्ठ है, [ **शांतजीवे सिध्यति** ] जिसको आराधकर शांतपरिणामी संतपुरुष सिद्धपद पाते हैं। **भावार्थ**—ऐसा वह चैतन्यतत्त्व जिसके चित्तमें प्रगट हुआ है, वही साधु सिद्धिको पाता है। अव्याबाध अनंतसुख आदि गुणोंकर वह तत्त्व तीन लोकका गुरु है, संतपुरुषोंके ही हृदयमें वह तत्त्व सिद्ध होता है। कैसे हैं संत ? जो अपनी बड़ाई, अपनी प्रतिष्ठा और लाभादि समस्त मनोरथों और विकल्पजालोंसे रहित हैं, जिन्होंने अपना स्वरूप परमशांतभावरूप पा लिया है ॥ २१३ ॥

आगे ग्रंथके अन्तमंगलके लिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं—[ **दिव्यकायः** ] जिसका ज्ञान आनंदरूप शरीर है, अथवा [ **परमपदगतानां भासकः** ] अरहंतपदको प्राप्त हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिकशरीर है, ऐसा परमात्मतत्त्व [ **जयतु** ] सर्वोत्कर्षपनेसे वृद्धिको प्राप्त होवे। जो परमौदारिकशरीर ऐसा है, कि जिसका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक है, अर्थात् सकल प्रकाशी है। जो परमपदको प्राप्त हुए केवली हैं, उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है [ **मुनिवराणां** ] और जो महामुनि हैं, उनके [ **मनसि** ] मनमें

**मोक्खदो** मोक्षप्रदायकः । क्व जयतु । **मणसि** मनसि । केषाम् । **मुणिवराणं** मुनिपुङ्गवानाम् । न केवलं योगो जयतु । **केवलो को वि बोहो** केवलज्ञानाभिधानः कोऽप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । **सिवसरूवो** शिवशब्दवाच्यं यदनन्तसुखं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । **दुल्लहो जो हु लोए** दुर्लभो दुष्प्राप्यः यः स्फुटम् । क्व । लोके । केषां दुर्लभः । **विसयसुहरयाणं** विषयसुखातीतपरमात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखास्वादरहितत्वेन पञ्चेन्द्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥ २१४ ॥

इति 'परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति' इत्याद्येकाशीतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, तदनन्तरं 'परमसमाहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं महास्थलं, तदनन्तरं वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन सप्ताधिकसूत्रशतेन द्वितीयमहाधिकारे चूलिका गतेति ॥ एवमत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थे प्रथमस्तावत् 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि त्रयोविंशत्यधिकसूत्रशतेन प्रक्षेपकत्रयसहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनन्तरं चतुर्दशाधिकशतद्वयेन प्रक्षेपकपञ्चकसहितेन द्वितीयोऽपि महाधिकारो गतः । एवं पञ्चाधिकचत्वारिंशत्सहितशतत्रयप्रमितश्रीयोगीन्द्रदेवविरचितदोहकसूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ॥

---

[ **दिव्ययोगः** ] द्वितीय शुक्लध्यानरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप भास रहा है, [ **मोक्षदः** ] और मोक्षका देनेवाला है । [ **केवलः कोऽपि बोधः** ] जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति [ **शिवस्वरूपः** ] सदा कल्याणरूप है । [ **लोके** ] लोकमें [ **विषयसुखरतानां** ] शिवस्वरूप अनंत परमात्माकी भावनासे उत्पन्न जो परमानंद अतीन्द्रियसुख उससे विपरीत जो पाँच इन्द्रियोंके विषय उनमें जो आसक्त हैं, उनको [ **यः हि** ] जो परमात्मतत्त्व [ **दुर्लभः** ] महा दुर्लभ है । **भावार्थ**—इस लोकमें विषयी जीव जिसको नहीं पा सकते, ऐसा वह परमात्मतत्त्व जयवंत होवे ॥ २१४ ॥

इस प्रकार **परमात्मप्रकाश** ग्रंथमें पहले ' जे जाया झाणग्गियए ' इत्यादि एकसौ तेवीस दोहे तीन प्रक्षेपकों सहित ऐसे १२६ दोहोंमें पहला अधिकार समाप्त हुआ । एकसौ चौदह ११४ दोहे तथा ५ प्रक्षेपक सहित ११९ दोहोंमें दूसरा महाधिकार कहा । और ' परु जाणंतुवि ' इत्यादि एकसौ सात १०७ दोहोंमें तीसरा महाधिकार कहा । प्रक्षेपक और अंतके दो छंद उन सहित तीनसौ पैंतालीस ३४५ दोहोंमें परमात्मप्रकाशका व्याख्यान **ब्रह्मदेवकृत टीका सहित** समाप्त हुआ ।

---

## [ टीकाकारस्यान्तिमकथनम् ]

अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृतः, वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम् । किं च परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोः तेन कारणेन लिङ्गवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति ।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निजनिरञ्जनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेष-

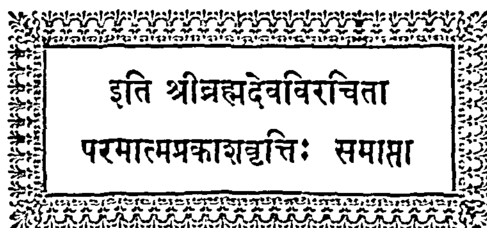
---

## टीकाकारका अंतिम कथन ।

इस ग्रंथमें बहुधा पदोंकी संधि नहीं की, और वचन भी जुदे जुदे सुखसे समझनेके-लिये रक्खे गये हैं, समझनेके लिये कठिन संस्कृत नहीं रक्खी, इसलिये यहाँ लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषणके दोष न लेना। जो पंडितजन विशेषज्ञ हैं, वे ऐसा समझें, कि यह ग्रंथ बालबुद्धियोंके समझानेके लिये सुगम किया है । इस परमात्मप्रकाशकी टीकाका व्याख्यान जानकर भव्यजीवोंको ऐसा विचार करना चाहिये, कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानंद निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमयी निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप आनंदानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायोंसे गम्य नहीं हूँ । निर्विकल्प निजानंद ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, पूर्ण हूँ । राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ पाँचों इंद्रियोंके विषय व्यापार, मन वचन काय, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म, ख्याति पूजा लाभ, देखे सुने और अनुभवे भोगोंकी वांछारूप निदानबंध, माया मिथ्या ये तीन शल्यें इत्यादि विभाव परिणामोंसे रहित सब प्रपंचोंसे रहित मैं हूँ । तीन लोक तीन कालमें, मन वचन कायकर, कृत कारित अनुमोदनाकर, शुद्ध निश्चयनयसे मैं आत्माराम ऐसा हूँ । तथा सभी जीव ऐसे हैं । ऐसी सदैव भावना करनी चाहिये । अब टीकाकारके अंतके श्लोकका अर्थ कहते हैं:—युधिष्टिर राजाको आदि लेकर पाँच भाई पांडव और श्रीरामचंद्र तथा अन्य भी विवेकी राजा हैं, उनसे अत्यंत भक्तिकर यह जिनशासन पूजनीक है, जिसको सुर नाग भी पूजते हैं, ऐसा श्रीजिनभाषित

मोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेऽपि जीवाः, इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ ग्रन्थसंख्या ॥ ४००० ॥

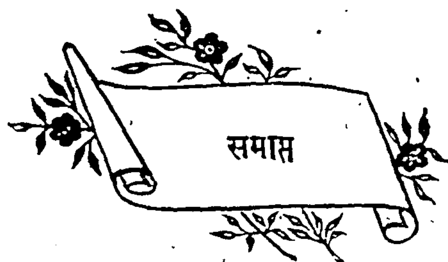
पंडवरामहिं णरवरहिं पुज्जिउ भत्तिभरेण ।
सिरिसासणु जिणभासियउ णंदउ सुक्खसएहिं ॥ १ ॥
[ पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितं भक्तिभरेण ।
श्रीशासनं जिनभाषितं नन्दतु सुखशतैः ॥ १ ॥ ]




---

शासन सैकड़ों सुखोंके वृद्धिको प्राप्त होवे । यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान प्रभाकरभट्टके संबोधनेके लिये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया, उसपर **श्रीब्रह्मदेवने** संस्कृतटीका की । श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टके समझानेके लिये तीनसौ पैंतालीस दोहे रचे, उसपर श्रीब्रह्मदेवने संस्कृतटीका पाँच हजार चार ५००४ प्रमाण की । और उसपर दौलतरामने भाषावचनिकाके श्लोक अड़सठिसौ नव्वै ६८९० संख्याप्रमाण बनाये ।

इस प्रकार **श्रीयोगींद्राचार्य**विरचित परमात्मप्रकाशकी
पं० **दौलतराम**कृत **भाषाटीका** समाप्त हुई ।



# Paramātma-prakāśa : Variant Readings

In noting the following variants apparent scribal errors are ignored. A few typical forms of nasals are noted. In the case of readings from Kannaḍa Mss. *ḷ* for *l*, *bb* for *vv*, *khkh* for *kkh* are practically ignored; the distinction between long and short vowels and between *d* and *dh*, which is not shown in Kannaḍa Mss., is correctly shown here. There are two ways of preparing a Ms. : first, a scribe may directly copy from a Ms., and secondly, some one may dictate and the scribe may go on writing. In the first, there would be errors due to orthographical confusion etc.; and in the second, due to auditory confusion etc. Some of the variants might be explained in the light of these two sources of errors. If I have given readings more than necessary, I hope, I have erred on the safer side. For the description of Mss. see pp. 77-85 of the Introduction.

BOOK I.

1. TKM झाणग्गिये ; ATKM ° णाणमया ; B misses this dōhā and gives in its place the opening maṅgala verse चिदानन्दैक etc. which is numbered as 1; C numbers the same maṅgala verse as 1 and this dōhā as 2.

2. This dōhā is wanting in TKM; A ते हउं वंदउं, होसहि, °णाणमया.

3. Wanting in TKM: AB °महग्गियइं for महग्गियएं.

4. Wanting in TKM; AC णाणें; the concluding portion of the Sanskrit commentary on dōhā 4 runs thus in A : तानपि कथंभूतान् । लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानेन त्रिभुवनगुरुकान् लोकालोकनं परमात्मस्वरूपावलोकनं निश्चयेन पुद्गलादिपदार्थानवलोकनं व्यवहारनयेन केवलज्ञानप्रकाशेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः, ततस्तन्निर्वाणमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः । In view of this passage I have slightly improved on the original passage.

प० प्र० ४५–४६

5. Wanting in TKM; A लोयालोय, while in the Com. ° लोउ; C वसंति; AC णियंति, while in the Com. of A णियंता. The portion of the commentary after णियंत runs thus in A : आत्मनि वसन्तोऽपि लोकालोकं समस्तमेपप्रत्यक्षीभूतं तथा षड्द्रव्यस्वरूपं विमलं निर्मलं अवलोकयन्तः निश्चयन्तः तिष्ठन्ति । इदानीं विशेषः । The MS. A has some differences here and there in the Sanskrit commentary as compared with the text of the commentary originally printed. As most of them are verbal disagreements, I have ignored them concentrating my attention more on the Apabhraṃśa text.

6. Wanting in TKM; A वंदउ; B भत्तियइं.

7. Wanting in TKM; C परमाणंदहं.

8. Wanting in TKM.

9. Wanting in TKM.

10. Wanting in TKM.

11. Wanting in TKM; AB भाविं.

12. TKM लहुं; A मिल्लहिं, TKM मेल्लवि; B सण्णाणिं, TKM सण्णाणे; KM णाणमओ.

13. C मूढ; TKM मूढविलक्खणु बम्हु.

14. A °विभिण्णउं, C देहहु भिण्णउ; B णाणमउं, KM णाणमओ; TKM णिएहि, but in the commentary of K it is repeated as णिएइ; T पंडिय; TKM सोज्जि.

15. M णाणमओ; B °विमुक्किं, TKM विमुक्के; A मिल्लिवि; C दव्वु तुहुं, TKM दव्वु.

16. Wanting in TKM.

17. TKM संत, मुणिज्जसु; M भाओ.

18. TKM परु; C सिव for सिउ.

19. C वण्ण; AC गंध; B जंमणु; TK पासु for फासु.

20. Wanting in TKM.

21. K misses the text of this dōhā, but it is, however, explained in the commentary; TM हरुसु; M विसाओ; A इक्क वि, C इक्कु वि; TM सोज्जि and भावि for भाउ.

22. Wanting in TKM; C देउ for देउं.

23. C वियहि, TKM वेयहि; C alone मुणहिं for मुणहु. which is accepted by all other Mss.

24. TKM सोक्ख (written as ° ख्ख), ° वीरिय जो; TKM सोज्जि for जो जि.

25. BC लक्खणिहिं; C णिवसहिं; TK परमपये, M ° पए; B ° लोयहो, C जो तिहिं लोयह; with AB I have corrected the old reading सेउ to झेउ, C reads उेउ but is corrected as झेउ, TK छेउ (the Kannada gloss translates it as शिखराग्र) M has something like देउ which may stand for धेउ.

26. AB सिद्धिहिं; T तेह मुणिवसइ; TKB बम्हु; BC म for मं.

27. AB जिं दिट्ठिं, TKM जें दिट्ठे...लहुं; AC जाणहिं.

28. Wanting in TKM; B परि for परिं.

29. Wanting in TKM; A देहादेहहि, वसइं.

30. Wanting in TKM; BC भावि for भणमि.

31. Wanting in TKM; C मोत्तिरहिउ चिम्मेत्तु.

32. Wanting in TKM; C वेल्डी, संसारिण.

33. TKM देहादेउळे जो वसयि, B देउलि; A देउं अणाइं.

34. A णियमिं, TKM णियमे; TKM जोज्जि for जो जि; ABC देहिं; TKM जोज्जि for जो वि, and सोज्जि for सो जि.

35. TKM समभावे; BC जोइहिं, TKM जोइह.

36. TKM देहे, जोज्जि and सोज्जि for जो जि and सो जि; C confuses the first pāda of 36 and 37, and loses dōhā No. 37.

37. TKM जोज्जि and सोज्जि; in the Mss. TKM जो जि and सो जि are uniformly written as जोज्जि and सोज्जि, so hereafter these variants will not be noted.

38. Wanting in TKM; BC एक्कु; AB भुवणि, C भुवणु; AC पइबिंबियउ, B पय°; AB अणाइं.

39. A जोइयविंदहं, B ° विंदहि, TKM बिंदहिं; BC कारणु.

40. TM विहिं, K विहि; C लिंगत्तइ°; TK °परमंडियउ.

41. Wanting in TKM; C अब्भंतरु, AC जगु अब्भंतरि; hereafter many pages in B are rubbed and the letters cannot be read.

42. TKM देहे, जो for जं; C °तवेणु विण सो परमप्प.

43. Wanting in TKM; C संजुवहि.

44. Wanting in TKM; A देह, C देहे; C इंदियगाउ.

45. A पंचहं for the last पंचहिं.

46. TKM परमत्थे, मुणइ तुहुं for जाणि तुंहुं, मणे ; A मिल्लहिं, TKM मेल्लवि, in the commentary of Brahmadēva and in A as well मिल्लहिं, so it is retained there.

46*1. TKM have an additional dōhā which runs thus:

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ सो पेक्खु ।
अंतुबहुंतु वि जंपु चइ होउण तुहुं णिरवेक्खु ॥

Kannada gloss reads पेच्छइ for पेक्खइ; in T जंपु appears like जप्पु and °बहुंतु like बहुत्तु ; वि and जंपु I have read separate following the Kannada gloss, which takes अंतुबहुंतु वि and translates as *amtaramga-bahiramga rūpamappa*. K reads होऊण तुहु.

47. Wanting in TKM; AC णेया-भाविं ; C जिम्व for जिम, णाणबलेवि.

48. C कम्मइ ; T जणिंतिहिं ; TKM ण... हरिउ हि for हरिउ णवि.

49. TKM read second line, first pāda, thus : कम्मु णिजो ( or is it कम्मुणि जो ? ) ण कया वि पुणु ; C कम्मु ण जो वि कया etc.

50. TKM केइ for कि वि and के वि ; C सव्वु गउ.

51. C जड वि वियाणु ; C सुण्णु वि जाण, TKM विजाणि.

52. TKM कम्मुविवज्जिउ केवळणाणें ; AC लोयालोय वि; TKM सव्वगु वुज्झइ तेण.

53. T जे...परिट्ठियहं ; C ते for तिं, T तें...वियाणि, but K वियाणु.

54. C सुद्ध जिउ ; K खिण्णइ, M खिणइ for खिरइ ; C पमाण ; C बुज्झहि, TKM बोल्लिहिं.

55. TKM कम्मइ बहुविहइं, बुज्झइ for बुमइ.

56. ACTKM अप्पिं; AC दव्वसहाविं, TKM दव्वसहावे; TKM पज्जइ for पज्जउ; C कोइ, M सोइ for होइ.

57. AC परियाणहिं; TKM दव्व; C पज्जइजुत्तु; C सहभुय; TKM गुणं, पज्जय वुत्तु.

58. TKM बुज्झइ दव्वु जिय (for तुहुं), पुण for पुणु; C पुणु for तणु.

59. A कम्मुं...जिया; C कम्मिं, TKM कम्मे.

60. AC ववहारिं, TKM ववहारे; AC बहु-विहभाविं, TKM °भावे परिणमइ; TKM तेहि वि धम्माहम्मु for तेण जि etc.; C धम्माहम्मु.

61. TKM ते पुण जीवह; T अट्ठ हि for अट्ठ वि; TKM जेहि वि.

62. TKM रंगियहिं, C रंजियहं; TKM जेय-णुगा, C अणुआ; TM °पएसहि, K °पयेसहि, in the commentary of Brahmadēva °पए सिहिं; TK कम्मु for कम्म.

63. C विभाउ, TKM सयलु विभाउ; TKM जीवह कम्मे.

64. TK दुक्ख वि सोक्ख वि, M दुक्ख वि सोक्खु वि, C दुक्ख वि सुक्ख वि; C देषइ for देखइ.

65. Wanting in TKM; no readings in others.

65*1. Wanting in BCTKM.

66. Wanting in TKM; C जोइ for एइ; A reads in the comm. अणुहरइं, जाइं and एइं.

67. B णियमिं; there is a misprint that °मे shd. have been nasalised; TKM पमाणइ जोइ.

68. TM अण वि उप्पज्जइं; A उप्पज्जइं; C एम for एउं.

69. TKM रोउ वि लिंगु वि वण्णु, णियमे, सण्णु ( for सण्ण ).

70. TKM देहह; C gives only the first pāda of this dōhā.

71. KM देहहि पेच्छवि, AB पिक्खिवि; TKM जीउ for जीव; T वम्ह, KM वम्हु.

[In TKM here come five dōhās which in our text occupy the numbers II, 148; II, 149; II, 150; II, 151; II, 182. Their various readings are noted under those numbers.]

72. A भावहिँ...पावहिँ; C जँ पावहि, TKM जं पावहि.

73. Wanting in TKM; C केरउ for केरा.

74. AC मिल्लवि, TKM मेल्लवि; TKM परावउ for परायउ.

75. TKM अट्ठहे कम्महे (sometimes हे looks like हि), सयळहि दोसहि, जाणि for भावि.

76. TKM अप्पे, C अप्पइं for अप्पिं; TKM BC सम्माइट्ठि; TKM कम्महिं.

77. KM मिच्छाइट्ठि T °यिट्ठि; TM बहुविहु कम्माडा, but T has the same reading adopted in our Text; for जें AB जिं, C जिणि and TK चिरु.

78. TKM गुरुवइ; BC अप्पहि for उप्पहि; TKM पाडइ ताइ.

79. AC मिच्छत्तिं; TKM परिणमइ; TKM भावाडा.

80. Wanting in TKM; C सावलउ.

81. Wanting in TKM; A मूढ.

82. TKM वुड्ढ [ड्ढ] उ; BCTKM रूवडउ; K खमणउ, ABC खवणउं; TKM वुद्दउ [वुद्धउ] for वंदउ; C मूढ विमण्णइ सव्वु.

83. C मायाजाल; KM मूढु विमण्णइ सव्वु (T has a corrupt reading).

84. BCTKM कारणु; C विसइ; TKM मिच्छाइट्ठि; TKM एत्थु for इत्थु; BC काइ for काइं.

85. A जिम्व जिम्व, C जिम जिम, TKM जेव जेव; for तिमु too the readings are similar in these Mss.; A णियमिं.

86 KM गउरउ; अप्पा सुहुमु ण for सुहुमु वि; ABC णाणिं for जाणें (in the text it should be read as nasalised); Brahmadēva has an additional reading णाणिउ जाणइ जोइं in the last pāda.

87. TK बम्हणु; TKM परिसु णपुंसणु; AC णाणइं मुणइ.

88. TKM बुद्धउ for वंदउ, खमणु, गुरुउ, लिंगउ, सोइ for जोइ.

89. T सिस्सि, C सीसु; TM भेइ, K भेउ for होइ.

90. TKM कोइ ण वि for देउ etc.; C कइ वि for कहिं वि; TKM णाणिउ णाणे जोइ as the last pāda.

91. Wanting in TKM; A तरुणउं.

92. Wanting in TKM; AC मिल्लिवि.

93. No various readings in Mss., but Brahmadēva notes some alternative readings: सासयमुक्खपहुं, सासयसुक्खपउ.

94. TKM मेल्लवि.

95. TKM जाइ for जाहि; C चिंतवहि for चिंति तुहुं.

96. TKM अणु सव्वउ ववहारु; C जोइया.

97. TKM किं अण्णे बहुएण; A इक, TKM एक्कु.

98. B तवयरणु, TKM सत्थुपुराणे तउच्चरणु; TKM मोक्खु जि करइ किं तासु for the last pāda.

99. Wanting in TKM; B अप्पि for अप्पें; C विंबउ...वसंति.

100. Wanting in TKM; C अप्पि सहावि; Brahmadēva notes on alternative reading दीसइ अप्पसहाउ लहु.

101. C जिम्व, TM जेव (K जेउ) अंबरे.

102. TKM जळे for जलि, णिम्मळे...जेव; BC अप्पइं, TKM अप्पए णिम्मळे; A लोयालोय, TKM लोयालोय वि तेव.

103. TKM वियाणिजइ; B जिं अप्पिं, TKM जें अप्पे, it is a printer's mistake in the text that जे and अप्पे are not nasalised; TKM सो णिउ अप्पा मुणहि तुहुं.

104. Wanting in TKM; B किं अण्णिं; अण्णे in the text should be nasalised.

105. Read पएसहिं nasalised; TKM जीवपएसहि तेत्थडउ, ABC तित्तडउ, Brahmadēva has an alternative reading जीवपएसहिं देहसमु; C णाणिं, BC पमाणु, TKM णाणे गयणपमाणु.

106. Wanting in TKM, and no readings in others.

107. TKM परु, मुणहि तुहुं for जाणि etc., मेल्लवि; read णाणे nasalised.

108. Wanting in TKM; C मुणेइ and लहेइ.

109. TKM ते बम्हु परु; C तव for तिं, TKM ते सोइ; Brahmadēva has an alternative reading पर for परु.

110. Wanting in TKM.

111. TKM बुज्झइ for बुचइ, C परि बुचइ; TKM तेत्थु, जीवह वि.

112. TKM have no nasal signs; C परदव्वु for °बंधु; TKM लहेइ and करेइ, परु बम्हु, दव्वे.

113. B अण्णु for भिण्णु, BTK पोग्गल, C पोग्गलु.

114. TK कोइ करइ णियअप्पए अणुराउ; TKM अग्गिकणिं जेव, C जिव.

115. TKM मेल्लवि सयल; BC णिवेसिवि; C देव.

116. TKM पावइ, C पावइ झण; TKM मेल्लवि, AC मिल्लिवि.

117. BCTKM अणंतु सुहु; TKM देविहि कोडि.

118. Wanting in TKM; C सिव for सिउ.

119. Wanting in TKM; C णिम्मलइ, रसिव.

120. TKM रंगीयहियवडये (ए?) दप्पणे मइलए, बिंबु जेव, जाणु; C एहू for एहउ.

121. Wanting in TKM; B परियारि, C पडिहारि for पडियारि.

122. TKM णियमणे णिम्मले, जेव for जिम, तुहु एहउ.

123. BC देउलि...सिलइ; TKM लेप्पइ, अखउ णिरामउ...संतिउ समचित्ते.

123*2. Wanting in TKM; B समरसहूयाइ.

123*3. Wanting in TKM.

## BOOK II.

1. Wanting in TKM; C सोक्खहं for मोक्खह; B मुक्खहु for second मोक्खहं, जिम for जें.

2. TKM मोक्खु जि मोक्खु; C विआणिउ.

3. TKM have no nasal signs, उत्तिमु; C अण्णि for अण्णें.

4. TKM उत्तिमु; Brahmadēva's reading सोवि; TKM वचइ; C परलोउ.

5. Wanting in TKM; B ता for तो; C अच्छहिं बंधणहिं; B पसुव वि, C पसुवि वि.

6. Wanting in TKM; C सिर उप्परि.

7. TKM उत्तिमु...मोक्खु, C उत्तमसुक्ख; TKM सेवइ.

8. A बम्हु; C जिणवरहं; TKM परमाणिरंजणु मोक्खु.

9. TKM तिहुवणे; BC सुक्खहं; TKM मोक्खु.

10. BC मुक्खु; TKM कम्मकलंके.

11. ATKM अणंतु सुहु; TKM मोक्खु फलु.

12. BC मुक्खहं; C हेउ वर; TKM णिच्छउ एहउ जुत्तु.

13. BC पिच्छइ, TKM पस्सइ; CTKM अप्पे, Brahmadēva अप्पइं.

14. Wanting in TKM; A बुल्झइ, जिं for जें.

15. Wanting in CTKM.

16. Wanting in BTKM; C तिहुयणि भरिया जेहिं....णाणिय

17. TKM अचेयणु अण्णु, पोग्गल, काल सहिया भिण्णु; ABC कालिं.

18. TKM °विहीणउ, णियमे.

19. TKM पोग्गल, धम्माहम्मु वि गइठिदिहि, A गइठिएहिं; Ms. A has no commentary on 18–19, but the same added in a different hand on the marginal space.

20. TKM change the order of 20 and 21. TKM दव्वइ सयलुदरिट्ठियइं, Brahmadēva उवरि; BC णियमिं; TKM एहु for एउ.

21. C वट्टणु; TKM एहु for एउ, जेव तसु अणुवह,

22. TKM पोग्गलु, मुणेहि दुहुं. Read °पएसहिं.

23. TKM पोग्गलु, परिहरवि पभणइ णाणपवीणु, AB णाणिपवीण.

24. TKMBC धम्माहम्मु; TKM एज्जि, गयण, पोग्गल°; Brahmadēva has another reading पुग्गलु तिविहु पएसु.

25. TKMBC लोयायासु, TKM धरेइ ठिया, एत्थु जए,

26. TKM देहियहिं, C देहियइं; TKM णियणिउ, सहंतु BC सहंति. Read तैं.

27. TKM णादु for मुणिवि, एउ for एहु, मग्गे; C होइवि.

28. B णियमइं; TKM मुणि for सुणि; BC जिं.

29. TKM जो and सो for जं and तं, मुणिज्जइ.

30. TKM मण्णइ; C चरण.

31. TKM मेल्लवि, तासु जि.

32. TKM रयणत्तयाणिम्मलउ, णिउ अप्पा.

33. TKM जे अणुदिणु, तं परु for ते पर; C णिव्वाणि.

34. C जीवहु; TKM सयळविसेसु.

35. BC दंसणु पुव्वु; C मुणंति.

36. C दुक्ख वि सुक्ख; TKM सोक्खु, झाणे, बुज्झइ for बुज्झइ.

37. TKM बेण्णि...सहंति, मणे; C तेणि for तेण.

38. C जित्तउ, TKM जेत्तिउ, अप्पसरूवे.

39. C पुरिकिउ, TKM कम्म पुराइउ and पइसु for पेसु.

40. C णहु for णवि, एम for एउ; TKM णिच्छउ for जिणवरु.

41. TKM जाव हि and ताव हि, AB जाम्वइ, C तावइ; TKM वसगयउ; C होइ for सोइ.

42. TKM मणे; TKMC मेल्लहि.

43. TKM मणे, समभावे, एत्थु (C also), जगे, अप्पसहावे.

44. Wanting in TKM.

45. C दोस; TKM मेल्लवि.

46. Some Dēvanāgarī Mss. hesitate between जि and वि; BTKM हवेप्पिणु, CTKM एक्कलउ.

46*1. Wanting in TKM; BC भणिवि for मणिवि.

47. CTKM मुएविणु, केत्थु; TKM लहेसहि.

48. C कारणि; TKM भावसमु.

49. Wanting in TKM.

50. Wanting in TKM; C बंधहु हेउ for विसयहं जेण.

51. Wanting in TKM.

52. Wanting in TKM; Brahmadēva has an alternative reading for the 2nd line भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहं अप्पसहाउ.

53. A णिरु for णिउ; TKM मोहे...जिउ, लोइ for दोइ.

54. ABC सिद्धिहि कारणि; TKM मुणवि for भणिवि.

55. B जीव सम; C दोवि, TKM बेइ; TKM मोहे.

56. TKM जणेइ for जणिवि; BC सिवगइ.

57. TKM रज्जुइ...लहुं.

58. TM णियदंसणे, सहेसि for लहेसि ( B लहीसि ); TKM मं for मा; BTKM करीसि.

59. AC सुक्खु; TKMB तैं; B करंताहं, TKM करेंताइं.

60. Wanting in BC; TKM अइमोहो अइमोहेण वि.

63. A पावि....मिस्सिं;TK पुण्णे सुरवर होइ; T and K have the second line thus: माणुसु मिस्से मुणहि (K मुणिहि) जिय दोहि विमुक्कउ जोइ।

64. ABC पडिकवणु; T and M करहि करावहि अणुमणुहि.

65. C interchanges the places of 64 and 65; T णाणिहे, Brahmadēva णाणिहु; C एउ for एहु; TKM मेल्लवि.

66. TKM वंदणु णिंदणु पडिकमणु; C पडिकवउ, B पडिकम्वउ.

67. TM दंसणणाणु; C कम्मह खउ.

68. TKM लेउ for लेहु.

69. TKM सिद्धिहि केरउ पंथडउ, B सिद्धिहि केरउ पंथा; TKM कह for किम.

70. Wanting in TKM; C भावहि for भावइ; BC केमइ.

71. TKM धम्मु परु असुहइ; A असुहिं.

72. TKM दाणे...परु; BC दाणें.

73. TM एहु, K येहु, B एउ for इउं; TKM णाणे मोक्खु नि (णि) भंतु; C भंतु for भंति.

74. Wanting in TKM; B बहुयइं सलिलविलोलियइं. TKM have an additional dōhā: भव्वाभव्वह etc.

75. AC जि for वि.

76. Wanting in TKM.

77. T, K, and M change the order of 77 and 78; TKM मेल्लवि, विसयहि; C जाणंतहु.

78. TKM चित्ते, C चित्त; TKM जं for जें; B तह काचिं; TK को गण्णु.

79. C, T, K and M interchange 79 and 80; BC मोहिं जो जि कम्मु जणेइ.

80. B ण हि for णवि

81. A अणुमित्तु वि; TKMB मणे; TKM जाव ण मेल्लवि...ताव; BC मुंचइ.

82. TKM ताव...जाव; BC मुचइ; TKM एहु for इहु.

83. TKM देहे वसंतउ, C देह वसंतु.

84. Wanting in TKM; C तेण विवोहणु जासु.

85. T तित्थे भमंताह; B and C have अक्खरडा etc. between 84 and 85.

86. Wanting in TKM; C मुणिवरहिं.

87. Wanting in TKM; C दोहि वि, AB दोहिमि.

88. A चिल्लाचिल्ली, TKM चेल्लाचेल्लियपोत्थियहिं; T दूसइ for तूसइ; B मिल्लइ for लज्जइ.

89. TKM गुंडियहिं; AB चिल्लाचिल्लियएहिं.

90. TKM सिरु लुंचुवि, सयलु वि, परिहरइ.

91. A लिंति; TKM छड्डि for छड्डि, तेज्जि. for ते जि.

92. C किंत्तिहं; BCTKM कारणेण; TKM सिव (उ) मग्गु; TKMC खीलालग्गवि.

93. TKM जोज्जि for जो जि, गंथहि गरुवइ तत्थु; C णउ for णवि.

94. TKM जीया सयलु वि बम्ह...विजाणइ.

95. TKM परमप्पयहं for रयणत्तयहं; A कहिमि for कहिवि.

96. TKM तिहुवणे; BC केवलणाणइ, TKM केवलणाणे; TKM पुणु for फुडु; B इक्कु.

97. TKM सयलु (everywhere); C णाणमइ.

98. TKM तहिं for तहं, मणे for माणि.

99. Wanting in TKM: B बम्हहं.

100. TKM रायद्दोस बे; A परिहरेवि, TKM परिहरवि; TKM जे समु जीवु, समभावपरिट्ठिया.

101. TKM देहिहिं भेयइ भेउ तहिं णाणि कि मण्णइ सोज्जि.

102. Wanting in TKM; C दंसणणाणचरित्तु.

103. TKM विहिवसे, C विहिवसि: TKM तेत्थडा for तित्तडा.

104. Wanting in B: C अंसेन वि एउ, णाणेउ for जाणेइ.

105. A इक्क, TKM भवसायरे जिव णाव.

106. TKM भेउ वि; C तहिं, TKM तहुं for तहं.

107. TKM करि मं; B एक्किं देविं, TKM एके देवे जे; TKM एउ for एहु.

108. TKM परसंगहि.

109. TKM ते सह मकरि, चिंतासायरे परिपडहि अप्पु; A सहो for सहु.

110. TKM भल्लाहि वि णासंते; BC खलेण and घणेण.

111. TKM भल्ला.

111*2. Wanting in TKM BC; Brahmadēva वीभत्थं ( च्छं ? )

111*3. Wanting in TKMBC; A तवहं फलं.

111*4. Wanting in TKM.

112. TKM रूवे, सद्दे...पासहि, ABC फासइ; TKM किव तहिं संतु रमंति for किम अणुराउ करंति.

113. C सयल जग दुक्ख.

114. Wanting in TKM; C पिक्ख.

115. Wanting in TKM; C परिचयइ, भल्ला.

116. Wanting in TKM; C दुक्ख and पिक्ख.

117. BC सउरिसा; TKM चोद्दहदहकम्मे पडिया; Brahmadēva वोदह.

118. TKM छड्डुवि बहुविहरज्जु. ( A also ); TKM भिक्खु भरोडा काइं जिय करहि ण अप्पण कज्जु ।

119. TKM संसारे; A णिद्दलेवि, TKM णिद्दलवि; AB पावहि for वचहि; TKM अणंतु for महंतु.

120. TKM अणुमेत्त वि, सहणु ण सक्कइ लोउ, कम्मइ करहि जि ताइ.

121. TKM दंदे ( धंधे ? ), अजाणु.

122. TKM जोणिहि लक्खहि, BC जोणिहि लक्खइं; TKM ताण ण वोहु महंतु ( last foot ).

123. TKM जिय मं जाणहि; C जाणिहि; TKM आगमे.

124. C मोक्ख, TKM मोक्खु; TKM चिंतेतु ता परु चिंतहि, पाविय णेहु महंतु.

125. C कारणिण, K कारणेण.

126. TKM मारवि चूरवि, अवसे जीव लहेसि.

127. AB अभयपदाणिं; TKM भावहि for रुचइ.

128. Wanting in TKM; C मा for मं.

129. Wanting in TKM; A जीवे जंतें.

130. AC सत्थ गुरु.

131. TKM मेल्लवि बम्हु परु भुवण वि; C वरु for परु; TKM पुहुइविणिम्मिउ...वुज्झ.

132. TKM अत्थवणे, कारणे वड्ढ, घणे जोव्वणे.

133. TKM णरए पडणउ तेण.

134. Wanting in TKM; after this B and C have an additional verse विसयहं etc.

135. Wanting in TKM, C तवचरणु.

136. Wanting in TKM: C असेस वि.

137. Wanting in TKM; A संठवणु, BC वलि वलि तित्थु जि जाइ.

137*5. Wanting in TKMB.

138. Wanting in TKM; C अप्पा खंधि.

139. Wanting in TKM: Brahmadēva जो for जु, C दइवेणु.

140. Wanting in TKM.

141. In TKM this comes after 143; BC अवसइं मोक्ख.

142. Wanting in TKM; BC एहु for इहु.

143. TKM जीवे वेण्णि ण पत्ताइं सिउ संगउ सम्मत्तु; C जिणसामिउ; Brahmadēva सिवसंगमु सम्मत्तु.

144. Wanting in TKM; C पास कियंतिं; BC णीसंदेहु.

145. Wanting in TKM; C तिह अप्पणउ कि.

146. Wanting in TKM.

147. Wanting in TKM.

148. TKM चोब्बालि चेइ; TKM सयलु वि देहे णिरत्थ गय जिव दुज्जण उवयारु. C also दुज्जणउवयारु.

149. TKM किव किज्जइ तहिं राउ.

150. TKM तिहुवणे.

151. TKM लज्जइ; C धम्मइ, Brahmadēva धम्मि; TKM मुणंतु for करंतु.

152. Wanting in TKM; B भल्ला.

153. Wanting in TKM; C पावइ.

154. Wanting in TKM.

155. Wanting in TKM.

156. C विसयकसायहं; TK मणु सलिलु, डहुणिज्जइ, जि तासु.

157. Wanting in TKM; B मोलाविउ, C परहु ण मेलिविउ.

158. Wanting in TKM; C झावहि.

159. Wanting in TKM; C सुहु for सहु.

160 Wanting in TKM; C जोइयहं.

161. Wanting in TKM; C जिहं for जहिं, B अत्थवणहो. Read अण्णे॑.

162. Wanting in TKM; B अत्थवणहो.

163. Wanting in TKM; B जाहिं for जाहं.

164. Wanting in TKM.

165. Wanting in TKM; C धरवि.

166. TKM मेल्लिया, last pāda किव होसइ सिवलाहु.

167. Wanting in B; TKM जेण ण संचिउ तवचरणु, किव तुट्टइ संसारु (last foot).

168. Wanting in TKM.

169. C झंपिउ एउ; TKM एवहि for एमुइ, णिच्चिंतें.

170. TKM मेल्लहि चिंतु जइ ता, सव्वजगु for जिणवरु वि.

171. TKM कवणु तुहुं भवकारणे ववहारु; A कवण; TKMC जाणवि.

172. In TKM हिं is represented by इ in this verse, and the last line is अप्पा परसु मुणंतु.

174. TKM जावहि जाणिउ...तावहि; C जाणे for जाणइ.

175. C जो हं for जो हउं, TKM पर for परु, णिरुत्तु for णिभंतु.

176. TKM जेव, पराकिउ, तेव.

177. TKM जेव and तेव; BTKM सहावें; A दिक्खिवि, TKM देक्खुवि.

178. Wanting in TKM.

179. Wanting in TKM.

180. Wanting in TKM; A जेम्व for जेम.

181. Wanting in TKM.

182. TKM एहु, B एउ C इउ for इहु.

183. TKM आणवि, तं जइ आयउ; C वि for जि.

184. TKM णिट्ठुरवयणइं सुणवि, मणु सहणु; B णिट्ठुरु; C जउ for जिं; TKM झडिदि for झत्ति.

185. Wanting in TKM; C विअक्खणु, BC एत्थु, चोज्जु.

186. TKM °गहणहि महुणहं, एउ मण्णवि चइ दोसु.

187. TKM किंचि for किं पि, भीहहि, ° मेत्तु वि.

188. C करीसइ; TKM सोवि.

189. C ° सरिहिं; TKM पविसेवि, तहिं for तहं.

190. TKM भावडउ, सयलु वि.

191. B तवयरणु; TKM सयलु वि सत्थु पढंतु; TKM देक्खइ, C देपइ.

192. TKM णिद्दलवि.

193. TKM परवग्गु.

194. AB जाम्व, एम्व (for एमु); TKM जाव, °भावडउ, केवलि एहु.

195. TKM तुट्टाहिं, °मग्गे; C चउक्कर, TKM चउक्के विलउ गए; ATKM होइ.

196. TKM ° णाणे, C णाणइं; C णिदणइं; TKM होइ.

197. Wanting in TKM; BC परमाणंद-मउ केवलणाणसहाउ. After this C has an additional verse which is the same as the one quoted in the Com. on this verse.

198. TKM सयलहिं कम्महिं दोसहिं; A जिण-देउ; C णियमिं.

199. BC °दंसणणाणु; TKM सुहुं वीरिय जोव्जि.

200. Wanting in TKM.

201. AC झाणिं; TKM कम्मह खउ करिवि, जिणवरदेवें, भणियउ for पभणिउ.

202. TKM अंतु वि गंतुवि,° सोक्ख; C सासइ for सासय; TKM तेत्थु जि.

203. TKM णंदउ तेत्थु विमुक्कु.

204. TKM भावे भावइ सत्थु; C भावइ; TKM वुज्झइ.

205. Wanting in TKM; C एहु for इहु; A पाम्वहि.

206. Wanting in TKM; C तिहं for तहं.

207. Wanting in TKM.

208. Wanting in TKM; C विसइ ण.

209. Wanting in TKM; C भणंतु वि.

210. Wanting in TKM.

211. Wanting in TKM.

212. Wanting in TKM; C जं मइ किं पि ण जंपियउ; BC वियत्थु for वि इत्थु.

213. A दिव्वदेहे; AC गुरुवं; B गुरवं; B सो हु.

214. TKM कोइ for को वि.



# परमात्मप्रकाशदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची

Here is an alphabetical Index of all the Dōhās of P.-prakāśa. References to Books-&-Dōhās and also to pages are given. All those Dōhās, for which page references are not given as they are absent in Brahmadēva's Text, will be found on p. 5 of the English Introduction.



# संस्कृतटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

| पृष्ठाङ्काः | | |
|---|---|---|
| २६८ | रागादीणमणुप्पां[10] | |
| १८३ | लोकव्यवहारे ? | |
| २०० | वरं नरकवासोऽपि | |
| ३७९ | विसयहं कारणि | |
| २२६ | वीरा वैरग्गपरा | |
| ३३१ | वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं | |
| २७, ३१० | शिवं परमकल्याणं | [ ?, आप्तस्वरूप २४ ]. |
| १०१ | षोडशतीर्थंकराणां | बृहदाराधनाशास्त्र. |
| २३५ | सग्गो तवेण | [ कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत २३ ]. |
| २०२ | सत्यं वाचि | [ गुणभद्र, आत्मानुशासन २१८ ]. |
| ८२ | सद्दव्वरओ | कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत [ १४ ]. |
| २११ | सद्दृष्टिज्ञान | [ समन्तभद्र, रत्नकरण्ड ३; रामसेन, तत्त्वानुशासन ५१ ]. |
| १९० | सपरं बाधासहियं | [ कुन्दकुन्द, प्रवचनसार १–७६ ]. |
| १२४ | समसत्तुबंधुवग्गो | [ कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ३–४१ ]. |
| ६७ | समत्तणाणदंसण | [ कुन्दकुन्द, प्राकृत सिद्धभक्ति २० ]. |
| १३९ | सम्मद्दंसण | [ नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह ३९ ]. |
| ६ | सव्वे सुद्धा | [ नेमिचन्द्र, ] द्रव्यसंग्रह [ १३ ]. |
| १७७ | साम्यमेवादराद्भाव्यं | [ पद्मनन्दि, पञ्चविंशति... ]. |
| २६३ | सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः | [ पूज्यपाद, सिद्धभक्ति १ ]. |
| २१० | सुद्धस्स य सामण्णं | [ कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ३–७४ ]. |
| २६९ | स्वयमेवात्मना[11] | |
| १४५ | हस्ते चिन्तामणिः | |
| १२३ | हावो मुखविकारः | |
| १९२ | हिंसानृत | [ उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र ७-१ ]. |

१ देखो अनगारधर्मामृतटीका पृ. २६२. २ देखो यशस्तिलक ५–२५१. ३ देखो अनगारध.टीका पृ. ४०३. ४ देखो षट्प्राभृतटीका पृ. ३४२. ५ देखो नीतिवाक्यामृत ३१–३१. ६ देखो षट्प्राभृतटीका पृ. २३६. ७ देखो ज्ञानार्णव पृ. ९३. ८ देखो अमृताशीति ६७. ९ देखो ज्ञानार्णव पृ. ४१५. १० देखो जयधवला पृ. १३ आराकी प्रति. ११ देखो सर्वार्थसिद्धि ७-१३.





# श्रीमद्-योगीन्दुदेव-विरचितः

# योगसारः

## हिन्दीभाषानुवादसहितः ।

णिम्मल-झाण-परिट्ठया कम्म-कलंक डहेवि ।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥
[ निर्मलध्यानप्रतिष्ठिताः कर्मकलङ्कं दग्ध्वा ।
आत्मा लब्धः येन परः तान् परमात्मनः नत्वा ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ- °परिट्ठिया.

अर्थ—जो निर्मल ध्यानमें स्थित हैं, और जिन्होंने कर्म-मलको भस्म कर परमात्म-पदको प्राप्त कर लिया है, उन परमात्माओंको नमस्कार करके—॥ १ ॥

घाइ-चउक्कहँ किउ विलउ णंत-चउक्कु पदिट्ठु ।
तहँ जिणइंदहँ पय णविवि अक्खमि कव्वु सु-इट्ठु ॥ २ ॥
[ ( येन ) घातिचतुष्कस्य कृतः विलयः अनन्तचतुष्कं प्रदर्शितम् ।
तस्य जिनेन्द्रस्य पादौ नत्वा आख्यामि काव्यं सुदिष्टम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-चउक्क. २) प-ताह, व-तहि. ३) प-सुइट्ठ.

अर्थ—जिसने चार घातिया कर्मोंका नाश कर अनन्तचतुष्टयको प्रकट किया है, उस जिनेन्द्रके चरणोंको नमस्कार कर, यहाँ अभीष्ट काव्यको कहता हूँ ॥ २ ॥

संसारहँ भय-भीयहँ मोक्खहँ लालसयाहँ ।
अप्पा-संबोहण-कयइ कय दोहा एक्कमणाहँ ॥ ३ ॥
[ संसारस्य भयभीतानां मोक्षस्य लालसकानाम् ।
आत्मसंबोधनकृते कृताः दोहाः एकमनसाम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अपय-भयभीतहं, व-भयभीयाहं. २) झ-लालसियाहं ३) अझ-अप्पा कयइ संबोहण, पय-संबोहणकयइं. ४) वझ-दोहा एक्कमणाह. ५) अप-एकमणाहं.

अर्थ—जो संसारसे भयभीत हैं और मोक्षके लिये जिनकी लालसा है, उनके संबोधनके लिये एकाग्र चित्तसे मैंने इन दोहोंकी रचना की है ॥ ३ ॥

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु जि अणंतु ।
मिच्छा-दंसण-मोहियउ णवि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥ ४ ॥

अर्थ—जो परमात्माको समझता है और जो परभावका त्याग करता है, उसे पंडित-आत्मा ( अन्तरात्मा ) समझो। वह जीव संसारको छोड़ देता है ॥ ८ ॥

**णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु[1] बुद्धु सिव संतु ।**
**सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ[2] जाणि णिभंतु ॥ ९ ॥**

[ निर्मलः निष्कलः शुद्धः जिनः विष्णुः बुद्धः शिवः शान्तः ।
स परमात्मा जिनभणितः एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) ब–किण्हु. २) अ–एहो, झ–एहवउ.

अर्थ—जो निर्मल, निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव और शान्त हैं, उसे जिन-भगवान्ने परमात्मा कहा है—इसमें कुछ भी भ्रान्ति न करनी चाहिये ॥ ९ ॥

**देहादिउ[1] जे परि कहियाँ[2] तेँ[3] अप्पाणु मुणेइ ।**
**सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसारु भमेइ ॥ १० ॥**

[ देहादयः ये परे कथिताः तान् आत्मानं जानाति ।
स बहिरात्मा जिनभणितः पुनः संसारं भ्रमति ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–देहादिक जो. २) ब–पर कहिय. ३) प–णं.

अर्थ—देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, उन पदार्थोंको ही जो आत्मा समझता है, उसे जिनभगवान्ने बहिरात्मा कहा है। वह जीव संसारमें फिर फिरसे परिभ्रमण करता है ॥ १० ॥

**देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु[1] ण होहिँ ।**
**इउ जाणेविणु[2] जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहि ॥ ११ ॥**

[ देहादयः ये परे कथिताः ते आत्मा न भवन्ति ।
इति ज्ञात्वा जीव त्वं आत्मा आत्मानं जानीहि ॥ ]

पाठान्तर—१)अप–अप्पणा. २) पझ–जाणिविण (°पिण).

अर्थ—देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं होते—यह जानकर, हे जीव ! तू आत्माको आत्मा पहिचान ॥ ११ ॥

**अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तो[1] णिव्वाणु लहेहि ।**
**पर अप्पा जइ[2] मुणहि[3] तुहुँ तो संसार भमेहि[4] ॥ १२ ॥**

[ आत्मन् आत्मानं यदि जानासि ततः निर्वाणं लभसे ।
परं आत्मानं यदि जानासि त्वं ततः संसारं भ्रमसि ॥ ]

पाठान्तर—१) ब–तौ (तउ ?). २) अ–जो, झ–जउ. ३) पझ–मुणिहि. ४) अप–संसारमुणेहि.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू आत्माको आत्मा समझेगा, तो निर्वाण प्राप्त करेगा। तथा यदि तू पर पदार्थोंको आत्मा मानेगा, तो तू संसारमें परिभ्रमण करेगा ॥ १२ ॥

**इच्छा-रहियउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि ।**
**तो लहु पावहि[2] परम-गई फुडु संसारु ण एहि[3] ॥ १३ ॥**

[ इच्छारहितः तपः करोपि आत्मन् आत्मानं जानासि ।
ततः लघु प्राप्नोपि परमगतिं स्फुटं संसारं न आयासि ॥ ]

पाठान्तर—१) अ-रहिओ, पझ-रहिउ. २) अ-पहु पावइ,पझ-पावइ. ३) व-लहु संसारु मुएहि.

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे और आत्माको समझे, तो तू शीघ्र ही परमगतिको पा जाय, और तू निश्चयसे फिर संसारमें न आवे ॥ १३ ॥

**परिणामेँ[1] बंधु जि कहिउ मोक्ख वि[2] तह जि वियाणि[3] ।**
**इउ जाणेविणु[4] जीवँ[5] तुहुँ तहभाव हु[6] परियाणि ॥ १४ ॥**

[ परिणामेन बन्धः एव कथितः मोक्षः अपि तथा एव विजानीहि ।
इति ज्ञात्वा जीव त्वं तथाभावान् खलु परिजानीहि ॥ ]

पाठान्तर—१) पव-परिणामि, अ-परिणाम बंधु ज कहियो. २) अपझ-जि. ३) अपझ-वियाण. ४) झ-जाणेविण. ५) पझ-जीउ. ६) अप-तहि भावह, व-तहु भाव हु, झ-तह भाव हि.

अर्थ—परिणामसे ही जीवको बंध कहा है और परिणामसे ही मोक्ष कहा है—यह समझकर, हे जीव ! तू निश्चयसे उन भावोंको जान ॥ १४ ॥

**अह पुणु अप्पा णवि[1] मुणहि पुण्णु जि करहि असेस[2] ।**
**तो वि ण[3] पावहि[4] सिद्धि-सुहु पुणु[5] संसारु भमेस[6] ॥ १५ ॥**

[ अथ पुनरात्मानं नैव जानासि पुण्यं एव करोपि अशेषम् ।
ततः अपि न प्राप्नोपि सिद्धिसुखं पुनः संसारं भ्रमसि ॥ ]

पाठान्तर—१) झ-अप्पाणु वि. २) वझ-असेसु. ३) अपवझ-वि णु. ४) पावहु. ५) व-फुडु. ६) वझ-भमेसु.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू आत्माको नहीं जानेगा और सब पुण्य ही पुण्य करता रहेगा, तो भी तू सिद्धिसुखको नहीं पा सकता, किन्तु पुनः पुनः संसारमें ही भ्रमण करेगा ॥ १५ ॥

**अप्पा-दंसणु एक्कु[1] परु अण्णु ण किं पि वियाणि ।**
**मोक्खहँ कारण जोइया[2] णिच्छइँ एहउ जाणि[3] ॥ १६ ॥**

[ आत्मदर्शनं एकं परं अन्यत् न किमपि विजानीहि ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् निश्चयेन एतत् जानीहि ॥ ]

पाठान्तर—१) व-इक्कु. २) अझ-जोईया. ३) अपझ-णिच्छय एहो जाणि.

अर्थ—हे योगिन् ! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं, यह तू निश्चय समझ ॥ १६ ॥

**मग्गण-गुण-ठाणइ कहिया विवहारेण वि दिट्ठि[1] ।**
**णिच्छय-णइँ अप्पा मुणहि[2] जिम पावहु परमेट्ठि[3] ॥ १७ ॥**

[ मार्गणगुणस्थानानि कथितानि व्यवहारेण अपि दृष्टिः ।
निश्चयनयेन आत्मानं जानीहि यथा प्राप्नोपि परमेष्ठिनम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व-ववहारेण हु दिट्ठ. २) प-मुणिहि, व-मुणहु. ३ व-परमेट्ठ.

अर्थ—मार्गणा और गुणस्थानका व्यवहारसे ही उपदेश किया गया है। निश्चयनयसे तो तू आत्माको ही ( सब कुछ ) समझ; जिससे तू परमेष्ठीपदको प्राप्त कर सके ॥ १७ ॥

**गिहि-वावार-परिट्ठियाँ[1] हेयाहेउ मुणंति।**
**अणुदिणु झायहिँ देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १८ ॥**

[ गृहिव्यापारप्रतिष्ठिताः हेयाहेयं जानन्ति।
अनुदिनं ध्यायन्ति देवं जिनं लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-परट्ठिया.

अर्थ—जो गृहस्थीके धंधेमें रहते हुए भी हेयाहेयको समझते हैं और जिनभगवान्का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाणको पाते हैं ॥ १८ ॥

**जिणु सुमिरहु[1] जिणु चिंतवहु जिणु[2] झायहु सुमणेण।**
**सो[3] झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥ १९ ॥**

[ जिनं स्मरत जिनं चिन्तयत जिनं ध्यायत सुमनसा।
तं ध्यायतां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ]

पाठान्तर—१) व-समरहु. २) अपझ-जिण. ३) व-जे.

अर्थ—शुद्ध मनसे जिनका स्मरण करो, जिनका चिन्तवन करो, और जिनका ध्यान करो; उनका ध्यान करनेसे एक क्षणभरमें परमपद प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

**सुद्धप्पा अरु[1] जिणवरहँ भेउ[2] म किं पि वियाणि।**
**मोक्खहँ कारणे[3] जोइया णिच्छइँ एउ विजाणि ॥ २० ॥**

[ शुद्धात्मनां च जिनवराणां भेदं मा किमपि विजानीहि।
मोक्षस्य कारणे योगिन् निश्चयेन एतद् विजानीहि ॥ ]

पाठान्तर—१) व-अहु (?). २) अ-भेद. ३) व-कारणि, अझ-कारणिं.

अर्थ—हे योगिन्! मोक्ष प्राप्त करनेमें शुद्धात्मा और जिनभगवान्में कुछ भी भेद न समझो—यह निश्चय मानो ॥ २० ॥

**जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहँ[1] सारु।**
**इउ जाणेविणु जोइयहो[2] छंडहु[3] मायाचारु ॥ २१ ॥**

[ यः जिनः स आत्मा ( इति ) जानीत एष सिद्धान्तस्य सारः।
इति ज्ञात्वा योगिनः त्यजत मायाचारम् ॥ ]

पाठान्तर—१) पझ-सिद्धंतहु. २) अपझ-जोइहु. ३) व-छंडउ.

अर्थ—जो जिनभगवान् है वही आत्मा है—यही सिद्धांतका सार समझो। इसे समझकर, हे योगीजनो! मायाचारको छोड़ो ॥ २१ ॥

**जो परमप्पा[1] सो जि हउँ[2] जो हउँ[3] सो परमप्पु।**
**इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥**

[ यः परमात्मा स एव अहं यः अहं स परमात्मा ।
इति ज्ञात्वा योगिन् अन्यत् मा कुरुत विकल्पम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–परअप्पा. २) अ–हुं. ३) अपद्म–जोईया.

**अर्थ**—जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है—यह समझकर, हे योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो ॥ २२ ॥

**सुद्ध-पएसहँ पूरियउं लोयायास-पमाणु ।**
**सो अप्पा अणुदिणु मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥ २३ ॥**

[ शुद्धप्रदेशानां पूरितः लोकाकाशप्रमाणः ।
स आत्मा (इति) अनुदिनं जानीत प्राप्नुत लघु निर्वाणम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–पूरीयो. २) व–सो अप्पा मुणि जीव तुहुं. ३) व–पावहि.

**अर्थ**—जो शुद्ध प्रदेशोंसे पूर्ण लोकाकाश-प्रमाण है, उसे सदा आत्मा समझो, और शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करो ॥ २३ ॥

**णिच्छइँ[1] लोय-पमाणु मुणि ववहारें सुसरीरु ।**
**एहउँ अप्प-सहाउ मुणि लहु पावहिँ भव-तीरु ॥ २४ ॥**

[ निश्चयेन लोकप्रमाणः (इति) जानीहि व्यवहारेण स्वशरीरः ।
एनं आत्मस्वभावं जानीहि लघु प्राप्नोषि भवतीरम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–णिच्छय. २) अप–लोइपमाणु. ३) अ–एहो. ४) अपद्म–पावहु.

**अर्थ**—जो आत्मस्वभावको निश्चयनयसे लोक-प्रमाण, और व्यवहारनयसे स्वशरीर-प्रमाण समझता है, वह शीघ्र ही संसारसे पार हो जाता है ॥ २४ ॥

**चउरासी[1]-लक्खहिँ फिरिउँ कालु अणाइ अणंतु ।**
**पर सम्मत्तु ण लद्धु जिय एहउँ जाणि णिभंतु ॥ २५ ॥**

[ चतुरशीतिलक्षेषु भ्रामितः कालं अनादि अनन्तम् ।
परं सम्यक्त्वं न लब्धं जीव एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–चोरासी. २) अपद्म–लक्खह. ३) अ–फिरियो. ४) अ–एहो.

**अर्थ**—यह जीव अनादि अनन्तकालतक चौरासी लाख योनियोंमें भटका है, परन्तु इसने सम्यक्त्व नहीं पाया—हे जीव! यह निस्सन्देह समझ ॥ २५ ॥

**सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवल-णाण-सहाउ ।**
**सो अप्पा अणुदिणुं मुणहु जइ चाहहु सिव-लाहु ॥ २६ ॥**

[ शुद्धः सचेतनः बुद्धः जिनः केवलज्ञानस्वभावः ।
स आत्मा (इति) अनुदिनं जानीत यदि इच्छत शिवलाभम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–निसदिण. २) व–चाहहि, अ–जो चाहहु.

**अर्थ**—यदि मोक्ष पानेकी इच्छा करते हो, तो निरन्तर ही आत्माको शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन, और केवलज्ञान-स्वभावमय समझो ॥ २६ ॥

जामँ ण भावहिँ जीव तुहुँ णिम्मल अप्प-सहाउ ।
ताम ण लब्भइ सिव-गमणु जहिँ भावइँ तहि जाउ ॥ २७ ॥
[ यावत् न भावयसि जीव त्वं निर्मलं आत्मस्वभावम् ।
तावत् न लभ्यते शिवगमनं यत्र भाव्यते तत्र यात ॥ ]

पाठान्तर—१) अपज्ञ–जाव. २) अपज्ञ–भावहु. ३) अज्ञ–भावहु, प–भावहि.

अर्थ—हे जीव ! जबतक तू निर्मल आत्मस्वभावकी भावना नहीं करता, तबतक मोक्ष नहीं पा सकता । अब जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा ॥ २७ ॥

जो तइलोयहँ झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु ।
णिच्छय-णइँ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ २८ ॥
[ यः त्रिलोकस्य ध्येयः जिनः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ।
निश्चयनयेन एवं भणितः एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–अप्पाणु×वुत्तु. २) अ–णिच्छइणइ एमई भणियो, प–णिच्छइणइ एमइ भणिउ, झ–णिच्छइणए इम भणिउ. ३) अ–एहो जाणि, झ–एहो जाण.

अर्थ—जो तीनों लोकोंके ध्येय जिनभगवान् हैं, निश्चयसे उन्हें ही आत्मा कहा है—यह कथन निश्चयनयसे है । इसमें भ्रांति न करनी चाहिये ॥ २८ ॥

वय-तव-संजम-मूल-गुण मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु ।
जाव ण जाणइँ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ २९ ॥
[ व्रततपःसंयममूलगुणाः मूढानां मोक्षः ( इति ) न उक्तः ।
यावत् न ज्ञायते एकः परः शुद्धः भावः पवित्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) अझ–संयय. २) झ–जाणै.

अर्थ—जबतक एक परम शुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता, तबतक मूढ़ लोगोंके जो व्रत, तप, संयम और मूलगुण हैं, उन्हें मोक्ष ( का कारण ) नहीं कहा जाता ॥ २९ ॥

जइँ णिम्मल अप्पा मुणइँ वय-संजम-संजुत्तु ।
तो लहु पावइँ सिद्धि-सुह इउ जिणणाहहँ उत्तु ॥ ३० ॥
[ यदि निर्मलं आत्मानं जानाति व्रतसंयमसंयुक्तः ।
तर्हि लघु प्राप्नोति सिद्धिसुखं इति जिननाथस्य उक्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) झ–जो. २) अपझ–मुणई. ३) अ–तो लहु पावै.

अर्थ—जिनेन्द्रदेवका कथन है कि यदि व्रत और संयमसे युक्त होकर जीव निर्मल आत्माको पहिचानता है, तो वह शीघ्र ही सिद्धि-सुखको पाता है ॥ ३० ॥

वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु ।
जांव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ३१ ॥

[ व्रतं तपः संयमः शीलं जीव एतानि सर्वाणि अकृतार्थानि ।
यावत् न ज्ञायते एकः परः शुद्धः भावः पवित्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–वयतवसंजमु सीलु, घ–वउ तवसंजमसीलु, झ–वउ तउ संजम सील. २) अ–ए सव्वै, व–एउ सव्वुइ. ३) घ–जहि लब्भइ सिवपंथु.

अर्थ—जबतक जीवको एक परम शुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता, तबतक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते ॥ ३१ ॥

पुण्णिं[1] पावइ सग्ग जिउ पावएँ[2] णरय-णिवासु ।
बे छंडिवि[3] अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिववासु ॥ ३२ ॥

[ पुण्येन प्राप्नोति स्वर्गं जीवः पापेन नरकनिवासम् ॥
द्वे त्यक्त्वा आत्मानं जानाति ततः लभते शिववासम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–पुण्णई, झ–पुण्णइ. २) अप–पावयें, घ–पावै, झ–पावय. ३) झ–छंडेवि.

अर्थ—पुण्यसे जीव स्वर्ग पाता है, और पापसे नरकमें जाता है । जो इन दोनोंको ( पुण्य और पापको ) छोड़कर आत्माको जानता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

वउ तउ संजमु सील जियां[1] इउँ[2] सव्वइँ ववहारु ।
मोक्खहँ कारणु एक्कु मुणि जो तइलोयहँ[3] सारु ॥ ३३ ॥

[ व्रतं तपः संयमः शीलं जीव इति सर्वाणि व्यवहारः ।
मोक्षस्य कारणं एकं जानीहि यः त्रिलोकस्य सारः ॥ ]

पाठान्तर—१) अव–जिय. २) झ–इय. ३) अपझ–तइलोयहु.

अर्थ—व्रत, तप, संयम और शील ये सब व्यवहारसे ही माने जाते हैं । मोक्षका कारण तो एक ही समझना चाहिये, और वही तीनों लोकोंका सार है ॥ ३३ ॥

अप्पा अप्पइँ[1] जो मुणइ जो परभाउ[2] चएइ ।
सो पावइ सिवपुरि-गमणु जिणवरु एमँ[3] भणेइ ॥ ३४ ॥

[ आत्मानं आत्मना यः जानाति यः परभावं त्यजति ।
स प्राप्नोति शिवपुरीगमनं जिनवरः एवं भणति ॥ ]

पाठान्तर—१) व–अप्पे. २) वझ–परभाव. ३) अपझ–एउ.

अर्थ—जो आत्माको आत्मभावसे जानता है और जो परभावको छोड़ देता है, वह शिवपुरीको जाता है—ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ३४ ॥

छह दव्वइँ[1] जे जिण-कहिया णव पयत्थ जे तत्त ।
विवहारेंण[2] य उत्तिया ते जाणियहि पयत्तँ[3] ॥ ३५ ॥

[ षड् द्रव्याणि ये जिनकथिताः नव पदार्थाः यानि तत्त्वानि ॥
व्यवहारेण च उक्तानि तानि जानीहि प्रयतः ( सन् ) ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–दव्व, पझ–दव्वह. २) व–ववहारें जिणउत्तिया, ३) अ–जाणीयहि एयत्थ, प–जाणीयहि पयत्थ, झ–पयत्थु.

अर्थ—जिनभगवान्‌ने जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, और (सात) तत्त्व कहे हैं, वे व्यवहारनयसे कहे हैं, उनका प्रयत्नशील होकर ज्ञान प्राप्त करो ॥ ३५ ॥

**सव्व अचेयणं जाणि जिय एक्क सचेयणु सारु ।**
**जो जाणेविणु परम-मुणि लहु पावइ भवपारु ॥ ३६ ॥**

[ सर्वं अचेतनं जानीहि जीव एकः सचेतनः सारः ।
यं ज्ञात्वा परममुनिः लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥ ]

पाठान्तर—१) झ–अचेयणि. २) ब–पावहि.

अर्थ—जितने भी पदार्थ हैं वे सब अचेतन हैं; चेतन तो केवल एक जीव ही है, और वही सारभूत है। उसको जानकर परममुनि शीघ्र ही संसारसे पार होता है ॥ ३६ ॥

**जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु ।**
**जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावइ भवपारु ॥ ३७ ॥**

[ यदि निर्मलं आत्मानं जानासि त्यक्त्वा सर्वं व्यवहारम् ।
जिनस्वामी एवं भणति लघु प्राप्यते भवपारः ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–एवई, प–एवइ, झ–सामीऊ एव. २) अपझ–पावहु.

अर्थ—सर्व व्यवहारको त्याग कर यदि तू निर्मल आत्माको जानेगा, तो तू संसारसे शीघ्र ही पार होगा—ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ ३७ ॥

**जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ ।**
**मोक्खहँ कारण एउ भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ ॥ ३८ ॥**

[ जीवाजीवयोः भेदं यः जानाति तेन ज्ञातम् ।
मोक्षस्य कारणं एतत् भण्यते योगिन् योगिभिः भणितम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–दोहरा ॥, झ–दोहा सोरठा. २) अप–जाणै ते, झ–जाणइ ते. ३) ब–कारणु एह.

अर्थ—जो जीवाजीवके भेदको जानता है, वही (सब कुछ) जानता है; तथा हे योगिन्! इसीको योगीजनोंने मोक्षका कारण कहा है ॥ ३८ ॥

**केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ ।**
**जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ ॥ ३९ ॥**

[ केवलज्ञानस्वभावः स आत्मा (इति) जानीहि जीव त्वम् ।
यदि इच्छसि शिवलाभं भण्यते योगिन् योगिभिः भणितम् ॥ ]

पाठान्तर—१) ब–केवलणाणु सहाउ.

अर्थ—हे जीव! यदि तू मोक्ष पानेकी इच्छा करता है, तो तू केवलज्ञान-स्वभाव आत्माको पहिचान, ऐसा योगियोंने कहा है ॥ ३९ ॥

**को(?) सुसमाहि करउ को अंचउ छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ ।**
**हल सहि कलहु केण समाणउ जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥ ४० ॥**

प० प्र० ४७–४८

[ कः (अपि) सुसमाधिं करोतु कः अर्चयतु स्पर्शास्पर्शं कृत्वा कः वञ्चयतु ।
मैत्रीं सह कलहं केन समानयतु यत्र कुत्र पश्यतु तत्र आत्मा ॥ ]

पाठान्तर—१) झ–चौपइ ।. २) अपवझ–का सुसमाहि. ३) अपझ–कलहि. ४) व–सझाणउ. ५) पवझ–जहिं जहिं. ६) अप–जोवहु.

अर्थ—कौन तो समाधि करे, कौन अर्चन-पूजन करे, कौन स्पर्शास्पर्श करके वंचना करे, कौन किसके साथ मैत्री करे, और कौन किसके साथ कलह करे—जहाँ कहीं देखो वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होती है ॥ ४० ॥

ताम[1] कुतित्थइँ परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।
गुरुहु पसाएँ[3] जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइँ[4] ॥ ४१ ॥

[ तावत् कुतीर्थानि परिभ्रमति धूर्तत्वं तावत् करोति ।
गुरोः प्रसादेन यावत् नैव आत्मदेवं जानाति ॥ ]

पाठान्तर—१) झ–दोहा ।. २) अपझ–तामु ( अन्यत्र ताम ). ३) व–पसायहि. ४) अपझ–देहहं ( देहहिं ! ) देउ मुणेइ.

अर्थ—जबतक जीव गुरु-प्रसादसे आत्मदेवको नहीं जानता, तभीतक वह कुतीर्थोंमें भ्रमण करता है, और तभीतक वह धूर्तता करता ह ॥ ४१ ॥

तित्थहिँ[1] देवलि देउ णवि[2] इम सुइकेवलि-वुत्तु[3] ।
देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥ ४२ ॥

[ तीर्थेषु देवालये देवः नैव एवं श्रुतकेवल्युक्तम् ।
देहदेवालये देवः जिनः एतत् जानीहि निश्चितम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अपव–तित्थहँ. २) व–देउ जि णवि. ३) व–इउ सुइकेवली.

अर्थ—श्रुतकेवलीने कहा है कि तीर्थोंमें देवालयोंमें देव नहीं हैं, जिनदेव तो देह-देवालयमें विराजमान हैं—इसे निश्चित समझो ॥ ४२ ॥

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिँ[1] णिएइ ।
हासउ महु पडिहाइ इहु[2] सिद्धे भिक्खँ[3] भमेइ ॥ ४३ ॥

[ देहदेवालये देवः जिनः जनः देवालयेषु (तं) पश्यति ।
हास्यं मम प्रतिभाति इह सिद्धे (सति) भिक्षां भ्रमति ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–जिणि देवालेहि णएइ, प–जिणि देवलिहि णएइ, झ–जिणदेवलिहि णएंई. २) अ–परिहाइ हु, पझ–परिहोइ इहु. ३) अ–भक्ख, व–सिद्धा-भिक्ख, झ–सिद्धाभिक्ख.

अर्थ—जिनदेव देह-देवालयमें विराजमान हैं; परन्तु जीव ( ईंट पत्थरोंके ) देवालयोंमें उनके दर्शन करता है—यह मुझे कितना हास्यास्पद माळूम होता है । यह बात ऐसी ही है, जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जानेपर भिक्षाके लिये भ्रमण करे ॥ ४३ ॥

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलिं[1] लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि[2] समचित्ति ॥ ४४ ॥

[ मूढ देवालये देवः नैव नैव शिलायां लेप्ये चित्रे ।
देहदेवालये देवः जिनः तं बुध्यस्व समचित्ते ॥ ]

पाठान्तर—१) अपव-सिल. २) अपझ-बु (उ) ज्झइ.

अर्थ—हे मूढ ! देव किसी देवालयमें विराजमान नहीं हैं, इसी तरह किसी पत्थर, लेप अथवा चित्रमें भी देव विराजमान नहीं । जिनदेव तो देह-देवालयमें रहते हैं—इस बातको तू समचित्तसे समझ ॥ ४४ ॥

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि[1] कोइ भणेइ ।
देहा-देउलि[2] जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥ ४५ ॥

[ तीर्थे देवकुले देवः जिनः (इति) सर्वः अपि कश्चित् भणति ।
देहदेवकुले यः जानाति स बुधः कः अपि भवति ॥ ]

पाठान्तर—१) व-सोव्वुइ (?). २) प-देहादेवल, व-देहादेवालि.

अर्थ—सब कोई कहते हैं कि जिनदेव तीर्थमें और देवालयमें विद्यमान हैं। परन्तु जो जिनदेवको देह-देवालयमें विराजमान समझता है ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है ॥ ४५ ॥

जइ जर-मरण-करालियउ[1] तो[2] जिय धम्म करेहि ।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥ ४६ ॥

[ यदि जरामरणकरालितः तर्हि जीव धर्मं कुरु ।
धर्मरसायनं पिब त्वं यथा अजरामरः भवसि ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-करालियो, झ-करालिओ. २) अ-तौ, झ-तउ.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू जरा मरणसे भयभीत है तो धर्म कर, धर्मरसायनका पान कर; जिससे तू अजर अमर हो सके ॥ ४६ ॥

धम्मु ण पढियइँ[1] होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ[2] ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु[3] ण मत्था-लुंचियइँ ॥ ४७ ॥

[ धर्मः न पठितेन भवति धर्मः न पुस्तकपिच्छाभ्याम् ।
धर्मः न मठप्रवेशेन धर्मः न मस्तकलुञ्चितेन ॥ ]

पाठान्तर—१) पझ-पढिया. २) प-पीछियइ, झ-पिछियइ. ३) अपव-पुस्तकेषु द्वितीयचतुर्थपादयोः ' धम्मु ' इति नास्ति ।.

अर्थ—पढ लेनेसे धर्म नहीं होता; पुस्तक और पिच्छीसे भी धर्म नहीं होता; किसी मठमें रहनेसे भी धर्म नहीं है; तथा केशलोंच करनेसे भी धर्म नहीं कहा जाता ॥ ४७ ॥

राय-रोस बे परिहरिवि[1] जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ[2] जो पंचम-गइ णेइ[3] ॥ ४८ ॥

[ रागरोषौ द्वौ परिहृत्य यः आत्मनि वसति ।
स धर्मः अपि जिनोक्तः यः पञ्चमगतिं नयति ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-परिहरइ. २) अपझ-उत्तिओ. ३) अपझ-देइ.

अर्थ—जो राग और द्वेष दोनोंको छोड़कर निज आत्मामें वास करना है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचमगति ( मोक्ष ) को ले जाता है ॥ ४८ ॥

**आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेई ।**
**मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥ ४९ ॥**

[ आयुः गलति नैव मनः (मानः ?) गलति नैव आशा खलु गलति ।
मोहः स्फुरति नैव आत्महितं एवं संसारं भ्रमति ॥ ]

पाठान्तर—१) व–गलेहु.

अर्थ—आयु गल जाती है, पर मन नहीं गलता, और न आशा ही है गलती। मोह स्फुरित होता है, परन्तु आत्महितका स्फुरण नहीं होता—इस तरह जीव संसारमें भ्रमण किया करता है ॥ ४९ ॥

**जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ ।**
**जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ५० ॥**

[ यथा मनः विषयाणां रमते तथा यदि आत्मानं जानाति ।
योगी भणति भो योगिनः लघु निर्वाणं लभ्यते ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–रमै. २) झ–तिम जे. ३) अपझ–जोइउ भणइ रे जोइहु.

अर्थ—जिस तरह मन विषयोंमें रमण करता है, उस तरह यदि वह आत्माको जाननेमें रमण करे, तो हे योगिजनो ! योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाय ॥५०॥

**जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ बुज्झि सरीरु ।**
**अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु ॥ ५१ ॥**

[ यथा जर्जरं नरकगृहं तथा बुध्यस्व शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं लघु प्राप्नोपि भवतीरम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–भावहु.

अर्थ—हे जीव, जैसे नरकवास सैकड़ों छिद्रोंसे जर्जरित ह, उसी तरह शरीरको भी ( मल मूत्र आदिसे ) जर्जरित समझ। अतएव निर्मल आत्माकी भावना कर, तो शीघ्र ही संसारसे पार होगा ॥ ५१ ॥

**धंधइ पडियउ सयलं जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।**
**तहिँ कारणि एं जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥ ५२ ॥**

[ धान्धे (?) पतिताः सकलाः जगति नैव आत्मानं खलु जानन्ति ।
तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥ ]

पाठान्तर—१) व–सयलु. २) प–तिहि कारणिए, अझ–तिहि कारणए.

अर्थ—सब लोग संसारमें अपने अपने धंधेमें फँस हुए हैं, और अपनी आत्माको नहीं पहिचानते। निश्चयसे इसी कारण ये जीव निर्वाणको नहीं पाते, यह स्पष्ट है ॥ ५२ ॥

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।
तहिँ कारणि एँ जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥ ५३ ॥

[ शास्त्रं पठन्तः ते अपि जडाः आत्मानं ये न जानन्ति ॥
तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥]

पाठान्तर—१) अ–तिहिं कारणए, प–तिहि कारणि, झ–तिह कारणए.

अर्थ—जो शास्त्रोंको तो पढ़ लेते हैं, परन्तु आत्माको नहीं जानते, वे लोग भी जड़ ही हैं। तथा निश्चयसे इसी कारण ये जीव निर्वाणको नहीं पाते यह स्पष्ट है ॥ ५३ ॥

मणु-इंदिहि वि छोडियइ (?) बुहु पुच्छियइ ण कोइ ।
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ॥ ५४ ॥

[ मनइन्द्रियेभ्यः अपि मुच्यते बुधः पृच्छयते न कः अपि ।
रागस्य प्रसरः निवार्यते सहजः उत्पद्यते स अपि ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–छोड्यइ, व–छोहियइ. २) पव–सहजि.

अर्थ—यदि पण्डित, मन और इन्द्रियोंसे छुटकारा पा जाय, तो उसे किसीसे कुछ पूँछनेकी ज़रूरत नहीं। यदि रागका प्रवाह रुक जाय, तो वह (आत्मभाव) सहज ही उत्पन्न हो जाता है ॥ ५४ ॥

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्णु वि सहु ववहारु ।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारु ॥ ५५ ॥

[ पुद्गलः अन्यः एव अन्यः जीवः अन्यः अपि सर्वः व्यवहारः ।
त्यज अपि पुद्गलं गृहाण जीवं लघु प्राप्नोपि भवपारम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–अणु जियउ, प–अणु जीउ. २) अपझ–पावहु.

अर्थ—पुद्गल भिन्न है और जीव भिन्न है, तथा अन्य सब व्यवहार भिन्न है। अतएव पुद्गलको छोड़ और जीवको ग्रहण कर—इससे तू शीघ्र ही संसारसे पार होगा ॥ ५५ ॥

जे णवि मण्णहिँ जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति ।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुचंति ॥ ५६ ॥

[ ये नैव मन्यन्ते जीवं स्फुटं ये नैव जीवं जानन्ति ।
ते जिननाथस्य उक्त्या न तु (नैव?) संसारात् मुच्यन्ते ॥ ]

पाठान्तर—१) अवझ–मणहि. २) व–णउ णिव्वाणु लहंति. ३) व–मुच्चंति.

अर्थ—जो जीवको स्पष्टरूपसे न समझते हैं, और जो उसे न पहिचानते हैं, वे संसारसे कभी छुटकारा नहीं पाते—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ५६ ॥

रयण दीउ दिणयर दहिउ दुध्दु घीव पाहाणु ।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥ ५७ ॥

[ रत्नं दीपः दिनकरः दधि दुग्धं घृतं पाषाणः ।
सुवर्णं रूप्यं स्फटिकं अग्निः नव दृष्टान्तान् जानीहि ॥ ]

पाठान्तर—१) अपक्ष-दियउ. २) अपव-धाउ. ३) प-सेणा,क्ष-सुण्ण. ४) अ-रूव, पक्ष-रूप. ५) व-जाणि.

अर्थ—रत्न, दीप, सूर्य, दही दूध घी, पाषाण, सोना, चांदी, स्फटिकमणि, और अग्नि ये (जीवके) नौ दृष्टान्त जानने चाहिये ॥ ५७ ॥

देहादिउँ जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु ।
सो लहु पावइ (?) बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥ ५८ ॥
[ देहादिकं यः परं जानाति यथा शून्यं आकाशम् ।
स लघु प्राप्नोति ब्रह्म परं केवलं करोति प्रकाशम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अपक्ष-देहादिक. २) अपवक्ष-पावहि.

अर्थ—जो शून्य आकाशकी तरह देह आदिको पर समझता है, वह शीघ्र ही परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है, और वह केवल प्रकाश करता है ॥ ५८ ॥

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउँ अप्पा वुत्तु ।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंतु ॥ ५९ ॥
[ यादृक् शुद्धं आकाशं जीव तादृशः आत्मा उक्तः ।
आकाशं अपि जडं जानीहि जीव आत्मानं चैतन्यवन्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-तेहो.

अर्थ—हे जीव ! जैसे आकाश शुद्ध है वैसे ही आत्मा भी शुद्ध कही गई है। दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश जड़ है और आत्मा चैतन्यलक्षणसे युक्त है ॥ ५९ ॥

णासग्गिँ[1] अब्भिंतरहँ जे जोवहिँ असरीरु ।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिँ[2] पिवहिँ[3] ण जणणी-खीरु ॥६०॥
[ नासाग्रेण अभ्यन्तरे (?) ये पश्यन्ति अशरीरम् ।
लज्जाकरे जन्मनि न संभवन्ति पिबन्ति न जननीक्षीरम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-णासगि. २) अपक्ष-जम्म ण संभवइ. ३) व-पियहि.

अर्थ—जो नासिकापर दृष्टि रखकर अभ्यंतरमें अशरीरको (आत्माको) देखते हैं, वे इस लज्जाजनक जन्मको फिरसे धारण नहीं करते, और वे माताके दूधका पान नहीं करते ॥६०॥

असरीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि ।
मिच्छा-मोहु[1] परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि[2] ॥ ६१ ॥
[ अशरीरं अपि सु(स-)शरीरं जानीहि इदं शरीरं जडं जानीहि ।
मिथ्यामोहं परित्यज मूर्तिं निजां अपि न मन्यस्व ॥ ]

पाठान्तर—१) व-मिच्छामोहि. २) अपवक्ष-विणिमाणि.

अर्थ—अशरीर (आत्मा)को ही सुन्दर शरीर समझो, और इस शरीरको जड़ मानो; मिथ्यामोहका त्याग करो और अपने शरीरको भी अपना मत मानो ॥ ६१ ॥

अप्पइँ[1] अप्पु मुणंतयहँ किं णेहा फलु होइ ।
केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुक्खु लहेइ ॥ ६२ ॥

[ आत्मना आत्मानं जानतां किं न इह फलं भवति ।
केवलज्ञानं अपि परिणमति शाश्वतसुखं लभ्यते ॥ ]

पाठान्तर—१) अपक्ष–अप्पय.

अर्थ—आत्माको आत्मासे जाननेमें यहाँ कौनसा फल नहीं मिलता ? और तो क्या इससे केवलज्ञान भी हो जाता है, और जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

**जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।**
**केवल-णाण-सरूवं लइ (लहि?) ते संसारु मुचंति ॥ ६३ ॥**

[ ये परभावं त्यक्त्वा मुनयः आत्मना आत्मानं जानन्ति ।
केवलज्ञानस्वरूपं लात्वा (लब्ध्वा ?) ते संसारं मुञ्चन्ति ॥ ]

पाठान्तर—१) व–सरुवि.

अर्थ—जो मुनि परभावका त्याग कर अपनी आत्मासे अपनी आत्माको पहिचानते हैं, वे केवलज्ञान प्राप्त कर संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

**धण्णा ते भयवंत वुह जे परभाव चयंति ।**
**लोयालोय-पयासयरु अप्पा विमल मुणंति ॥ ६४ ॥**

[ धन्याः ते भगवन्तः बुधाः ये परभावं त्यजन्ति ।
लोकालोकप्रकाशकरं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥ ]

पाठान्तर—१) व–धम्मा. २) व–अप्पा अप्पु.

अर्थ—उन भगवान् पण्डितोंको धन्य हैं, जो परभावका त्याग करते हैं, और जो लोकालोक-प्रकाशक निर्मल आत्माको जानते हैं ॥ ६४ ॥

**सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ ।**
**सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ ॥ ६५ ॥**

[ सागारः अपि अनगारः कः अपि यः आत्मनि वसति ।
स लघु प्राप्नोति सिद्धिसुखं जिनवरः एवं भणति ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–णागारु वि. २) प–सिद्धसुहु.

अर्थ—गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मामें वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धिसुखको पाता है, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है ॥ ६५ ॥

**विरला जाणहिँ तत्तु वुहं विरला णिसुणहिँ तत्तु ।**
**विरला झायहिँ तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु ॥ ६६ ॥**

[ विरलाः जानन्ति तत्त्वं बुधाः विरलाः निशृण्वन्ति तत्त्वम् ।
विरलाः ध्यायन्ति तत्त्वं जीव विरलाः धारयन्ति तत्त्वम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–जाणइहिं. २) अपक्ष–हुहु. ३) अपक्ष–णिसुणहु.

अर्थ—विरले पण्डित लोग ही तत्त्वोंको समझते हैं, विरले ही तत्त्वोंको श्रवण करते हैं, विरले ही तत्त्वोंका ध्यान करते हैं, और विरले जीव ही तत्त्वोंको धारण करते हैं ॥ ६६ ॥

**इहु परियण ण हु महुतणउ इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ ।**
**इम चिंततहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ॥ ६७ ॥**

[ एष परिजनः न खलु मदीयः एष सुखदुःखयोः हेतुः ।
एवं चिन्तयतां किं क्रियते लघु संसारस्य छेदः ॥ ]

पाठान्तर—१) अज्ञ–महतणो. प–महजणो. २) व–इउ चिंततउ किं करय.

अर्थ—यह कुटुम्ब परिवार निश्चयसे मेरा नहीं है, यह मात्र सुखदुःखका ही हेतु है—इस प्रकार विचार करनेसे शीघ्र ही संसारका नाश किया जा सकता है ॥ ६७ ॥

**इंद-फणिंद-णरिंदय वि[1] जीवहँ सरणु ण होंति ।**
**असरणु जाणिवि[2] मुणि-धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥ ६८ ॥**

[ इन्द्रफणीन्द्रनरेन्द्राः अपि जीवानां शरणं न भवन्ति ।
अशरणं ज्ञात्वा मुनिधवलाः आत्मना आत्मानं जानन्ति ॥ ]

पाठान्तर—१) अज्ञ–णरिंद ण वि. प–णरिंद वि. २) अप–जाणवि.

अर्थ—इन्द्र, फणीन्द्र और नरेन्द्र भी जीवोंको शरणभूत नहीं हो सकते; इस तरह अपनेको शरणरहित जानकर उत्तम मुनि निज आत्मासे निज आत्माको जानते हैं ॥ ६८ ॥

**इक्क उपज्जइ[1] मरइ कु वि[2] दुहु सुहु भुंजइ इक्कु ।**
**णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तहँ[3] णिव्वाणहँ इक्कु ॥ ६९ ॥**

[ एकः उत्पद्यते म्रियते एकः अपि दुःखं सुखं भुनक्ति एकः ।
नरकेभ्यः याति अपि एकः जीवः तथा निर्वाणाय एकः ॥ ]

पाठान्तर—१) व–उप्पजउ. २) अ–इक्क मरइ इक्क वि, प–मरइ इक्क वि, व–मरइक्क वि. ३) व–तहिं.

अर्थ—जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है और वह अकेला ही सुखदुःखका उपभोग करता है। वह नरकमें भी अकेला ही जाता है और निर्वाणको भी वह अकेला ही प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

**एक्कुलउं[1] जइ जाइसिहि[2] तो परभाव चएहि ।**
**अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्खँ[3] लहेहि ॥ ७० ॥**

[ एकाकी यदि यास्यसि तर्हि परभावं त्यज ।
आत्मानं ध्यायस्व ज्ञानमयं लघु शिवसुखं लभसे ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–इक्कलउ, झ–इक्कलउ. २) प–जइसहि. ३) पवझ–सिवसुख.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू अकेला ही है तो परभावका त्याग कर और आत्माका ध्यान कर, जिससे तू शीघ्र ही ज्ञानमय मोक्षसुखको प्राप्त कर सके ॥ ७० ॥

**जो पाउ वि सो पाउ मुणि[1] सव्वु इ को वि[2] मुणेइ ।**
**जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुहँ[3] (?) को वि हवेइ ॥७१॥**

[ यत् पापं अपि तत् पापं जानाति (?) सर्वः इति कः अपि जानाति ।
यः पुण्यं अपि पापं इति भणति स बुधः कः अपि भवति ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–भणि. २) अपझ–सव्वु (सच्चु) इक्को वि. ३) अपवझ–बहु.

**अर्थ**—जो पाप है उसको जो पाप जानता है, यह तो सब कोई जानता है। परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है, ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है ॥ ७१ ॥

**जह लोहम्मियं णियडं बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।**
**जे सुहु असुह परिच्चयहिँ ते वि हवंति हु णाणि ॥७२॥**

[ यथा लोहमयं निगडं बुध तथा सुवर्णमयं जानीहि।
ये शुभं अशुभं परित्यजन्ति ते अपि भवन्ति खलु ज्ञानिनः ॥ ]

पाठान्तर—१) अ–लोहम्मय. २) ब–णिलय ( णियल? ). ३) अपभ्र–सो सुह. ४) अपभ्र–हवंति ण.

**अर्थ**—हे पण्डित! जैसे लोहेकी साँकलको तू साँकल समझता है उसी तरह तू सोनेकी साँकलको भी साँकल ही समझ। जो शुभ अशुभ दोनों भावोंका परित्याग कर देते हैं, निश्चयसे वे ही ज्ञानी होते हैं ॥ ७२ ॥

**जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुँ णिग्गंथु।**
**जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥ ७३ ॥**

[ यदा मनः निर्ग्रन्थः जीव तदा त्वं निर्ग्रन्थः।
यदा त्वं निर्ग्रन्थः जीव ततः लभ्यते शिवपन्थाः ॥ ]

पाठान्तर—अपभ्र–तौ.

**अर्थ**—हे जीव! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ हो गया तो तू भी निर्ग्रन्थ हो गया; और जब तू निर्ग्रन्थ हो गया, तो उससे मोक्षमार्ग मिल जाता है ॥ ७३ ॥

**जं वडमज्झहँ बीउं फुडु बीयहं वडु वि हु जाणु।**
**तं देहहँ देउ वि मुणहिं जो तइलोय-पहाणु ॥ ७४ ॥**

[ यद् वटमध्ये बीजं स्फुटं बीजे वटं अपि खलु जानीहि।
तं देहे देवं अपि जानीहि यः त्रिलोकप्रधानः ॥ ]

पाठान्तर—१) अपभ्र–बीज. २) अपभ्र–वट विह. ३) अप–देउ मुणहि.

**अर्थ**—जैसे बड़के वृक्षमें बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही बीजमें भी वटवृक्ष रहता है। इसी तरह देहमें भी उस देवको विराजमान समझो, जो तीनों लोकोंमें मुख्य है ॥७४॥

**जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु।**
**मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ७५ ॥**

[ यः जिनः स अहं स एव अहं एतद् भावय निर्भ्रान्तम्।
मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) ब–णिरु.

**अर्थ**—जो जिनदेव है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—इसकी भ्रान्तिरहित होकर भावना कर। हे योगिन्! मोक्षका कारण कोई अन्य मन्त्र तन्त्र नहीं है ॥ ७५ ॥

**बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।**
**चउगुण-सहियउ सो मुणह एयहँ लक्खण जाहँ ॥ ७६ ॥**

[ द्वित्रिचतुःपञ्चापि नवानां सप्तानां षट् पञ्चानाम् ।
चतुर्गुणसहितं तं जानीहि एतानि लक्षणानि यस्य ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-सहियो. २) अप-एहो, ज्ञ-एहउ.

अर्थ—दो, तीन, चार, पाँच, नौ, सात, छह, पाँच, और चार गुण, ये ( परमात्माके ) लक्षण समझने चाहिये ॥ ७६ ॥

**वे छंडिवि[1] वे-गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ[2] ।**
**जिणु सामिउ एमइँ[3] भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ[4] ॥ ७७ ॥**

[ द्वौ त्यक्त्वा द्विगुणसहितः यः आत्मनि वसति ।
जिनः स्वामी एवं भणति लघु निर्वाणं लभते ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-छंडवि. २) अपज्ञ-विसेइ. ३) अपज्ञ-जिणसामी एवं. ४) व-लहेहि.

अर्थ—जो दोका ( राग द्वेष ) परित्याग कर, दो गुणोंसे ( सम्यग्ज्ञान दर्शन ) युक्त होकर आत्मामें निवास करता है, वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान्ने कहा है ॥७७॥

**तिहिँ रहियउ[1] तिहिँ गुण-सहिउ जो अप्पाणिँ[2] वसेइ ।**
**सो सासय-सुहँ[3]-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥ ७८ ॥**

[ त्रिभिः रहितः त्रिभिः गुणसहितः यः आत्मनि वसति ।
स शाश्वतसुखभाजनं अपि जिनवरः एवं भणति ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-रहियो, ज्ञ-रहिउ तिह. २) व-अप्पाण. ३) व-सुहु भायणु.

अर्थ—जो तीनसे ( राग द्वेष मोह ) रहित होकर तीन गुणोंसे ( सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ) युक्त होता हुआ आत्मामें निवास करता है, वह शाश्वत सुखका पात्र होता है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ७८ ॥

**चउ-कसाय-सण्णा-रहिउ चउ-गुण-सहियउ[1] वुत्तु ।**
**सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु[2] होहि पवित्तु ॥ ७९ ॥**

[ चतुःकषायसंज्ञारहितः चतुर्गुणसहितः उक्तः ।
स आत्मा (इति) जानीहि जीव त्वं यथा परः भवसि पवित्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-सहियो, ज्ञ-सहिउ. २) अपज्ञ-पर.

अर्थ—हे जीव ! जो चार कषायों और चार संज्ञासे रहित होकर चार गुणोंसे ( अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ) सहित होता है, उसे तू आत्मा समझ; जिससे तू परम पवित्र हो सके ॥ ७९ ॥

**वे-पंचहँ रहियउ मुणहि वे-पंचहँ संजुत्तु ।**
**वे-पंचहँ जो[1] गुणसहिउ सो अप्पा णिरु[2] वुत्तु ॥ ८० ॥**

[ द्विपञ्चानां (-पञ्चभिः?) रहितः(इति) जानीहि द्विपञ्चानां संयुक्तः ।
द्विपञ्चानां यः गुणसहितः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ॥ ]

पाठान्तर—१) अपज्ञ-सो. २) अपज्ञ-णर.

अर्थ—जो दससे रहित, दससे सहित और दस गुणोंसे सहित है, उसे निश्चयसे आत्मा कहा है ॥ ८० ॥

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु[1] सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि[2] ॥ ८१ ॥

[ आत्मानं दर्शनं ज्ञानं जानीहि आत्मानं चरणं विजानीहि ।
आत्मानं संयमं शीलं तपः आत्मानं प्रत्याख्यानम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अझ–संयम. २) अ–पचकोणु, व–पचप्पाणु, प–पच्चक्खाण, झ–पचखाणि.

अर्थ—आत्माको ही दर्शन और ज्ञान समझो; आत्मा ही चारित्र है, और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्माको ही मानो ॥ ८१ ॥

जो परियाणइ अप्प परु सो[1] परु चयइ[2] णिभंतु ।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल-णाणिं[3] उत्तु ॥ ८२ ॥

[ यः परिजानाति आत्मानं स परं त्यजति निर्भ्रान्तम् ।
तत् सन्न्यासं जानीहि त्वं केवलज्ञानिना उक्तं ॥ ]

पाठान्तर—१) व–जो. २) अपझ–चयहि. ३) अपझ–केवलणाणिय.

अर्थ—जो निजको और परको जान लेता है वह भ्रान्तिरहित होकर परका त्याग कर देता है। हे जीव! तू उसे ही सन्यास समझ—ऐसा केवलज्ञानीने कहा है ॥ ८२ ॥

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु[1] पवित्तु[2] ।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ८३[3] ॥

[ रत्नत्रयसंयुक्तः जीवः उत्तमं तीर्थं पवित्रम् ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) व–उत्तम तित्थ. २) अपझ–पउत्तु. ३) अपझ–८४.

अर्थ—हे योगिन्! रत्नत्रययुक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है, और वही मोक्षका कारण है। अन्य कुछ मन्त्र तन्त्र मोक्षका कारण नहीं ॥ ८३ ॥

दंसणु जं[1] पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु[2] ।
पुणु पुणु अप्पा भावियए[3] सो चारित्त पवित्तु ॥ ८४[4] ॥

[ दर्शनं यत् प्रेक्ष्यते बुधः ( बोधः ) आत्मा विमलः महान् ।
पुनः पुनर् आत्मा भाव्यते तत् चारित्रं पवित्रम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–जहि. २) व–एहु णिभंतु. ३) अप–भाविज्जइ, व–[illegible], झ–[illegible]. ४) अझ–८३.

अर्थ—जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है, जो निर्मल महान् आत्मा है वह ज्ञान है, तथा आत्माकी जो पुनः पुनः भावना की जाती है वह पवित्र चारित्र है ॥ ८४ ॥

जहिं[1] अप्पा तहिं[2] सयल-गुण केवलि[3] एम भणंति ।
तिहिं[4] कारणएँ[5] जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति ॥ ८५ ॥

[ यत्र आत्मा तत्र सकलगुणाः केवलिनः एवं भणन्ति ।
तेन (?) कारणेन योगिनः स्फुटं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥ ]

[ द्वित्रिचतुःपञ्चापि नवानां सप्तानां षट् पञ्चानाम् ।
चतुर्गुणसहितं तं जानीहि एतानि लक्षणानि यस्य ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-सहियो. २) अप-एहो, झ-एहउ.

अर्थ—दो, तीन, चार, पाँच, नौ, सात, छह, पाँच, और चार गुण, ये ( परमात्माके ) लक्षण समझने चाहिये ॥ ७६ ॥

**बे छंडिवि[1] बे-गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ[2] ।**
**जिणु सामिउ एमइँ[3] भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ[4] ॥ ७७ ॥**

[ द्वौ त्यक्त्वा द्विगुणसहितः यः आत्मनि वसति ।
जिनः स्वामी एवं भणति लघु निर्वाणं लभते ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-छंडवि. २) अपझ-विसइ. ३) अपझ-जिणसामी एवं. ४) व-लहहि.

अर्थ—जो दोका ( राग द्वेष ) परित्याग कर, दो गुणोंसे ( सम्यग्ज्ञान दर्शन ) युक्त होकर आत्मामें निवास करता है, वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान्‌ने कहा है ॥७७॥

**तिहिँ रहियउ[1] तिहिँ गुण-सहिउ जो अप्पाणि[2] वसेइ ।**
**सो सासय-सुहँ[3]-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥ ७८ ॥**

[ त्रिभिः रहितः त्रिभिः गुणसहितः यः आत्मनि वसति ।
स शाश्वतसुखभाजनं अपि जिनवरः एवं भणति ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-रहियो, झ-रहिउ तिह. २) व-अप्पाण. ३) व-सुहु भायणु.

अर्थ—जो तीनसे ( राग द्वेष मोह ) रहित होकर तीन गुणोंसे ( सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ) युक्त होता हुआ आत्मामें निवास करता है, वह शाश्वत सुखका पात्र होता है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ७८ ॥

**चउ-कसाय-सण्णा-रहिउ चउ-गुण-सहियउ[1] वुत्तु ।**
**सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु[2] होहि पवित्तु ॥ ७९ ॥**

[ चतुःकषायसंज्ञारहितः चतुर्गुणसहितः उक्तः ।
स आत्मा (इति) जानीहि जीव त्वं यथा परः भवसि पवित्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) अप-सहियो, झ-सहिउ. २) अपझ-पर.

अर्थ—हे जीव ! जो चार कषायों और चार संज्ञासे रहित होकर चार गुणोंसे ( अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ) सहित होता है, उसे तू आत्मा समझ; जिससे तू परम पवित्र हो सके ॥ ७९ ॥

**बे-पंचहँ रहियउ मुणहि बे-पंचहँ संजुत्तु ।**
**बे-पंचहँ जो[1] गुणसहिउ सो अप्पा णिरु[2] वुत्तु ॥ ८० ॥**

[ द्विपञ्चानां (-पञ्चभिः?) रहितः(इति) जानीहि द्विपञ्चानां संयुक्तः ।
द्विपञ्चानां यः गुणसहितः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-सो. २) अपझ-णर.

अर्थ—जो दससे रहित, दससे सहित और दस गुणोंसे सहित है, उसे निश्चयसे आत्मा कहा है ॥ ८० ॥

**अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।**
**अप्पा संजमु[1] सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि[2] ॥ ८१ ॥**

[ आत्मानं दर्शनं ज्ञानं जानीहि आत्मानं चरणं विजानीहि।
आत्मानं संयमं शीलं तपः आत्मानं प्रत्याख्यानम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अझ-संयम. २) अ-पच्चकोणु, व-पच्चप्पाणु, प-पच्चक्खाण, झ-पचखाणि.

अर्थ—आत्माको ही दर्शन और ज्ञान समझो; आत्मा ही चारित्र है, और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्माको ही मानो ॥ ८१ ॥

**जो परियाणइ अप्प परु सो[1] परु चयइ[2] णिभंतु।**
**सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल-णाणिं[3] उत्तु ॥ ८२ ॥**

[ यः परिजानाति आत्मानं स परं त्यजति निर्भ्रान्तम्।
तत् सन्न्यासं जानीहि त्वं केवलज्ञानिना उक्तं ॥ ]

पाठान्तर—१) व-जो. २) अपझ-चयहि. ३) अपझ-केवलणाणिय.

अर्थ—जो निजको और परको जान लेता है वह भ्रान्तिरहित होकर परका त्याग कर देता है। हे जीव ! तू उसे ही सन्यास समझ—ऐसा केवलज्ञानीने कहा है ॥ ८२ ॥

**रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु[1] तित्थु[2] पवित्तु।**
**मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ८३[3] ॥**

[ रत्नत्रयसंयुक्तः जीवः उत्तमं तीर्थं पवित्रम्।
मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) व-उत्तम तित्थ. २) अपझ-पउत्तु. ३) अपझ-८४.

अर्थ—हे योगिन् ! रत्नत्रययुक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है, और वही मोक्षका कारण है। अन्य कुछ मन्त्र तन्त्र मोक्षका कारण नहीं ॥ ८३ ॥

**दंसणु जं[1] पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु[2]।**
**पुणु पुणु अप्पा भावियए[3] सो चारित्त पवित्तु ॥ ८४[4] ॥**

[ दर्शनं यत् प्रेक्ष्यते बुधः ( बोधः ) आत्मा विमलः महान्।
पुनः पुनर् आत्मा भाव्यते तत् चारित्रं पवित्रम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व-जहिं. २) व-एहु णिभंतु. ३) अप-भावियइए, व-झाइयइ, झ-भावियइ. ४) अझ-८३.

अर्थ—जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है, जो निर्मल महान् आत्मा है वह ज्ञान है, तथा आत्माकी जो पुनः पुनः भावना की जाती है वह पवित्र चारित्र है ॥ ८४ ॥

**जहिँ अप्पा तहिँ[1] सयल-गुण केवलि[2] एम भणंति।**
**तिहिँ कारणएँ[3] जोई फुडु अप्पा विमलु मुणंति ॥ ८५ ॥**

[ यत्र आत्मा तत्र सकलगुणाः केवलिनः एवं भणन्ति।
तेन (?) कारणेन योगिनः स्फुटं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–तिहि. २) अझ–केवल. ३) व–तहि कारणिए. ४) अपझ–जीव.

अर्थ—जहाँ आत्मा है वहाँ समस्त गुण हैं—ऐसा केवलियोंने कहा है। इसलिये योगी लोग निश्चयसे निर्मल आत्माको पहिचानते हैं ॥ ८५ ॥

**एक्कलउ[1] इंदिय-रहियउ[2] मण-वय-काय-ति-सुद्धि[3] ।**
**अप्पा अप्पु मुणेहि[4] तुहुँ लहु पावहि[5] सिव-सिद्धि[6] ॥ ८६ ॥**

**[ एकाकी इन्द्रियरहितः मनोवाक्कायत्रिशुद्ध्या ।**
**आत्मन् आत्मानं जानीहि त्वं लघु प्राप्नोषि शिवसिद्धिम् ॥ ]**

पाठान्तर—१) अपझ–इक्कलउ. २) वझ–रहिउ. ३) व–सूधि. ४) अपझ–मुणेइ. ५) अपझ–पावहु. ६) अपझ–सुद्धि.

अर्थ—हे आत्मन्! तू एकाकी, इन्द्रियरहित और मन वचन कायकी शुद्धिसे आत्माको जान; उससे तू शीघ्र ही मोक्षसिद्धिको प्राप्त करेगी ॥ ८६ ॥

**जइ बद्धउ[1] मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि[2] णिभंतु ।**
**सहज-सरूवइ[3] जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ॥ ८७ ॥**

**[ यदि बद्धं मुक्तं मन्यसे ततः बध्यसे निर्भ्रान्तम् ।**
**सहजस्वरूपे यदि रमसे ततः प्राप्नोषि शिवं शान्तम् ॥ ]**

पाठान्तर—१)अपझ–बद्धो. २) व–बंधिहि. ३) व–सरूवि. ४) अ–रमइहि, पवझ–रमइ.

अर्थ—यदि तू बद्धको मुक्त समझेगा तो निश्चयसे तू बँधेगा । तथा यदि तू सहज-स्वरूपमें रमण करेगा तो शान्त निर्वाणको पावेगा ॥ ८७ ॥

**सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गइ-गमणु ण होइ ।**
**जइ जाइ वि[1] तो दोसु णवि पुव्व-क्किउ[2] खवणेइ[3] ॥ ८८ ॥**

**[ सम्यग्दृष्टिजीवस्य दुर्गतिगमनं न भवति ।**
**यदि याति अपि तर्हि (ततः?) दोषः नैव पूर्वकृतं क्षपयति ॥ ]**

पाठान्तर—१) व–जाइसि. २) व–पुव्वुकिउ, झ–पुव्वकियउ. ३) अपझ–खउणेइ.

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कुगतियोंमें नहीं जाता । यदि कदाचित् वह जाता भी है तो इसमें सम्यक्त्वका दोष नहीं । इससे वह पूर्वकृत कर्मका ही क्षय करता है ॥ ८८ ॥

**अप्प-सरूवहँ (-सरूवइ?) जो[1] रमइ छंडिवि सहु ववहारु ।**
**सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ[3] भवपारु ॥ ८९ ॥**

**[ आत्मस्वरूपे यः रमते त्यक्त्वा सर्वं व्यवहारम् ।**
**स सम्यग्दृष्टिः भवति लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥ ]**

पाठान्तर—१) अपझ–जइ. २) अपझ–छंडवि. ३) अपझ–पावहु, व–पावहि.

अर्थ—जो सर्व व्यवहारको छोड़कर आत्मस्वरूपमें रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव है, और वह शीघ्र ही संसारसे पार हो जाता है ॥ ८९ ॥

**जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु ।**
**केवल-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु ॥ ९०[2] ॥**

[ यः सम्यक्त्वप्रधानः बुधः स त्रिलोकप्रधानः ।
केवलज्ञानमपि लघु लभते शाश्वतसौख्यनिधानम् ॥ ]

पाठान्तर—१) व–सासइ सुक्ल होइ (?). २) अपझ–९१.

अर्थ—जिसके सम्यक्त्वका प्राधान्य है वही पण्डित है और वही त्रिलोकमें प्रधान है। वह जीव शाश्वत सुखके निधान केवलज्ञानको भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ ९० ॥

**अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ जहि अप्पा थिरु ठाइ[1] ।**
**सो कम्मेहिँ ण बंधियउ[2] संचिय-पुव्व[3] विलाइ ॥ ९१[4] ॥**

[ अजरः अमरः गुणगणनिलयः यत्र आत्मा स्थिरः तिष्ठति ।
स कर्मभिः न बद्धः संचितपूर्वं विलीयते ॥ ]

पाठान्तर—१) व–थिर हाइ, झ–थिर थाइ. २) अ–ण वि बंधियउ, झ–कम्महिं ण वि बंधियउ, व–ण परिणमइ ३) व–संचउ पुव्व. ४) अपझ–९०.

अर्थ—जहाँ अजर अमर तथा गुणोंकी आगारभूत आत्मा स्थिर हो जाती है, वहाँ जीव कर्मोंसे बद्ध नहीं होता, और वहाँ पूर्वमें संचित किये हुए कर्मोंका ही नाश होता है ॥ ९१ ॥

**जह सलिलेण ण लिप्पियइ[1] कमलणि-पत्त कया वि[2] ।**
**तह कम्मेहिँ[3] ण लिप्पियइ[4] जइ रइ[5] अप्प-सहावि ॥ ९२ ॥**

[ यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं कदा अपि ।
तथा कर्मभिः न लिप्यते यदि रतिः आत्मस्वभावे ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–लिप्पयइ, झ–लिप्पइ. २) अपझ–कहा वि. ३) अपझ–कम्मेण. ४) अप–लिप्पयइ, झ–लिप्पइ. ५) अपझ–जह रहइ, व–जह.

अर्थ—जिस तरह कमलिनीका पत्र कभी भी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी तरह यदि आत्मस्वभावमें रति हो, तो जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ९२ ॥

**जो सम-सुक्ख-णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ ।**
**कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ[1] ॥ ९३ ॥**

[ यः शमसौख्यनिलीनः बुधः पुनः पुनः आत्मानं जानाति ।
कर्मक्षयं कृत्वा स अपि स्फुटं लघु निर्वाणं लभते ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–लहेवि.

अर्थ—जो शम और सुखमें लीन हुआ पण्डित बारबार आत्माको जानता है, वह निश्चय ही कर्मोंका क्षयकर शीघ्र ही निर्वाण पाता है ॥ ९३ ॥

**पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु[1] ।**
**जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ[2] णिम्मल-तेय-फुरंतु[3] ॥ ९४ ॥**

[ पुरुषाकारप्रमाणः जीव आत्मा एष पवित्रः ।
दृश्यते गुणगणनिलयः निर्मलतेजःस्फुरन् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–य बंधु, व–पउत्तु. २) अपझ–गुणणिम्मलउ. ३) अपझ–फुरंति.

अर्थ—हे जीव! पुरुषाकार यह आत्मा पवित्र है, यह गुणोंकी राशि है और यह निर्मल तेजको स्फुरित करती हुई दिखाई देती है ॥ ९४ ॥

**जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्नु ।**
**सो जाणइ सत्थइँ सयलँ[1] सासय-सुक्खहँ लीणु ॥ ९५ ॥**

[ यः आत्मानं शुद्धं अपि जानाति अशुचिशरीरविभिन्नम् ।
स जानाति शास्त्राणि सकलानि शाश्वतसौख्ये(?) लीनः ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-सत्थ य सयलु.

अर्थ—जो शुद्ध आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न समझता है, वह शाश्वत सुखमें लीन होकर समस्त शास्त्रोंको जान जाता है ॥ ९५ ॥

**जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउ[1] चएइ[2] ।**
**सो जाणउ[3] सत्थइँ सयलँ[4] ण हु सिवसुक्खु लहेइ[5] ॥ ९६ ॥**

[ यः नैव जानाति आत्मानं परं नैव परभावं त्यजति ।
स जानातु शास्त्राणि सकलानि न खलु शिवसौख्यं लभते ॥ ]

पाठान्तर—१) व-परभाव. २) अप-चएवि, झ-चेहेवि. ३) व-जाणइ. ४) अपझ-सत्थ य सयलु. ५) अपझ-लहेवि.

अर्थ—जो न तो परमात्माको जानता है, और न परभावका त्याग ही करता है, वह भले ही समस्त शास्त्रोंको जान जाय, परन्तु वह मोक्षसुखको प्राप्त नहीं करता ॥ ९६ ॥

**वज्जिय सयल-वियप्पइँ[1] परम-समाहि लहंति ।**
**जं विंदहिँ[2] साणंदु क वि[3] सो सिव-सुक्ख भणंति ॥ ९७ ॥**

[ वर्जितं सकलविकल्पेन परमसमाधिं लभन्ते ।
यद् विन्दन्ति सानन्दं किं अपि तत् शिवसौख्यं भणन्ति ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ-वियप्पह. २) अ-विदवि, प-विदादि, झ-वेददि. ३) अ-साणंद क्कुवि, प-साणंद कु वि, झ-साणंद फुड.

अर्थ—जो समस्त विकल्पोंसे रहित होकर परम समाधिको प्राप्त करते हैं, वे आनन्दका अनुभव करते हैं, वह मोक्षसुख कहा जाता है ॥ ९७ ॥

**जो पिंडत्थु पयत्थु बुहे[1] रूवत्थु वि जिण-उत्तु ।**
**रूवातीतु मुणेहि[2] लहु जिम परु होहि पवित्तु ॥ ९८ ॥**

[ यत् पिण्डस्थं पदस्थं बुध रूपस्थं अपि जिनोक्तम् ।
रूपातीतं जानीहि लघु यथा परः भवसि पवित्रः ॥ ]

पाठान्तर—१) प-बुहा, ब-बहु. २) अपझ-मुणेहु.

अर्थ—हे बुध ! जिनभगवान्‌के कहे हुए पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको समझ; जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो सके ॥ ९८ ॥

**सव्वे जीवा णाणमया[1] जो सम-भाव मुणेइ ।**
**सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥ ९९ ॥**

[ सर्वे जीवाः ज्ञानमयाः (इति) यः समभावः ज्ञायते ।
तत् सामायिकं जानीहि स्फुटं जिनवरः एवं भणति ॥ ]

पाठान्तर—१) झ–अरिहंतु. २) अप–सो उज्झाउ वि, झ–सो उज्झावो.

अर्थ—निश्चयनयसे आत्मा ही अर्हत् है, वही निश्चयसे सिद्ध है, और वही आचार्य है, और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

**सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु ।**
**सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥ १०५ ॥**

[ स शिवः शङ्करः विष्णुः स स रुद्रः अपि स बुद्धः ।
स जिनः ईश्वरः ब्रह्मा स स अनन्तः स सिद्धः ॥ ]

पाठान्तर—१) अपझ–फुडु.

अर्थ—वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिये ॥१०५॥

**एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ ।**
**देहहँ मज्झहिँ सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ॥ १०६ ॥**

[ एवं हि लक्षणलक्षितः यः परः निष्कलः देवः
देहस्य मध्ये स वसति तयोः न विद्यते भेदः ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–एयहि, झ–एहि य. २) व–लक्खणि. ३) व–देहहिं मज्झिहिं. ४) व–किज्जइ.

अर्थ—इन लक्षणोंसे युक्त परम निष्कल देव जो देहमें निवास करता है, उसमें और आत्मामें कोई भी भेद नहीं है ॥ १०६ ॥

**जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिँ जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।**
**अप्पा-दंसणिँ ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥ १०७ ॥**

[ ये सिद्धाः ये सेत्स्यन्ति ये सिध्यन्ति जिनोक्तम् ।
आत्मदर्शनेन ते अपि स्फुटं एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥ ]

पाठान्तर—१) अप–सिज्झहहिं, झ–सिज्झसिहिं. २) अपझ–दंसण. ३) अपझ–एहो.

अर्थ—जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्यमें होंगे और वर्त्तमानमें होते हैं, वे सब निश्चयसे आत्मदर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं—यह भ्रान्तिरहित समझो ॥ १०७ ॥

**संसारह भय-भीयएण जोगिचंदे-मुणिएण ।**
**अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥ १०८ ॥**

[ संसारस्य भयभीतेन योगिचन्द्रमुनिना ।
आत्मसंबोधनाय कृतानि दोहकानि एकमनसा ॥ ]

पाठान्तर—१) व–संसारूभयभीतेन, झ–भयभीवएह. २) अप–जोगचंद, व–योगचंद. ३) व–कव्वमिसेण.

अर्थ—संसारके दुःखोंसे भयभीत ऐसे योगीन्द्रदेव मुनिने आत्मसंबोधनके लिये एकाग्रमनसे इन दोहोंकी रचना की है ॥ १०८ ॥

---

# योगसारदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची

RĀYACHANDRA JAINA ŚĀSTRAMĀLĀ, BOMBAY.

# PRAVACANASĀRA

(Prākrit Text, Two Sk. Commentaries and a Hindī Ṭīkā).

EDITED WITH A CRITICAL INTRODUCTION

*By*

Professor A. N. Upadhye

---

## Select Opinions and Reviews :

Dr. W. SCHUBRING, Hamburg University, Germany :

'You are to be congratulated to have finished a great work... I do not hesitate to say that thanks to your labour a remarkable advancement of science can be recorded.'

Dr. M. WINTERNITZ, Prague University :

'Excellent edition and translation of Kundakundācārya's Pravacanasāra with the extremely valuable Introduction.'

Dr. A. BERRIEDALE KEITH, Edinburgh University :

'This is of course a most valuable edition and your discussion of the philosophy of the text will be of permanent value to all students of Indian philosophical development.'

Dr. S. K. CHATTERJI, Calcutta University :

'Your Introduction is full and detailed, and I agree with what you say about the personality of the author as well as the nature of the Prakrit. This is a very painstaking and erudite piece of work done in a very fine style.'

Prof. M. HIRIYANNA, Mysore University :

'Variorum edition of Pravacanasāra. I am much impressed by its thoroughness... I have no doubt that the book will be of great use to all students of Indian thought.'

Dr. B. L. ATREYA, Benares Hindu University :

'It is indeed a masterly essay on Śrī Kundakundācārya and his work Pravacanasāra, which no student of Jaina Literature and philosophy can afford to neglect. I am very much impressed by your vast information and deep insight.'

Prof. HIRALAL JAIN, King Edward College, Amraoti :

'Your Introduction is a splendid piece of scholarship. One can now say that Kundakunda has been studied critically, and a definite lead has been given as to the way the Prakrit Jaina works ought to be studied.'

Dr. R. SHAMASHASTRY, Mysore :

'It is a learned contribution on the language and philosophy of the text.'

Mahā-Mahopādhyāya R. NARASIMHACHARYA, Bangalore :

'Almost every page bears abundant testimony to your vast erudition and deep research.... exhibit a rare scholarship and a thorough grasp of the subject.'

*Journal of the Royal Asiatic Society* :

'Professor Upadhye gives us not merely a very careful account of Kundakunda and his works in general and the Pravacanasāra in particular, but also a most valuable summary of certain of the Jain metaphysical doctrines (pp. lxii-xcv). His most interesting contribution is perhaps his conclusion that the similarities of Jainism, Buddhism, and the Sāṃkhya philosophy point to the existence of a great Magadhan indigenous religion which flourished before the advent of the Aryans ; to the commingling of the streams of Aryan and indigenous religion at the close of the Brāhmaṇa period we owe, on the one hand, the Ātmavidyā of the Upaniṣads, and the tenets of Jainism and Buddhism on the other.'

*Journal of the University of Bombay* :

'.... the edition is an excellent one and is bound to be extremely helpful in the study Śrī Kundakunda and his Pravacanasāra on account of the wealth of information which it contains and the thought-provoking observations of the editor, which show his deep study and patient research.'

*Indian Culture*, Calcutta :

'These are all very useful things and the edition has been so planned as to suit the requirements of the Hindi-knowing public, the orthodox pandit as well as the modern scholar.'

*Journal of The American O. Society* :

'The introductory essay is very elaborate and deals with all aspects of Kundakunda's life and works.'

*Journal of Indian History, Madras* :

'We welcome this important publication not only as giving us a reliable text and valuable commentaries as also a translation, but as giving in an elaborate critical Introduction, running through more than 125 pages, a vast mass of information relating to the work as a Jaina classic and of the history of Jainism itself.'

*The Journal of Oriental Research*, Madras :

'We have great pleasure in commending this valuable edition to the scholars and students of Indian philosophy.'

---

# INDISPENSABLE TO ORIENTAL SCHOLARS

## PUBLICATIONS OF THE RĀYACHANDRA JAINA ŚĀSTRAMĀLĀ, BOMBAY

---

1. *Puruṣārtha-siddhyupāya* of Amṛtacandra (c. A.D. 10th century), an important work on Jaina ethics : Sanskrit text with Hindī translation and exposition by Pt. NATHURAM PREMI, 4th ed., Royal 8vo. 8+116. Price Rs. 1-4-0.

2. *Pañcāstikāya* of Kundakunda (c. beginning of the Christian era), a concise exposition of Jaina cosmology, physics and other kindred topics : Prākrit text, Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Hindī exposition of Pannālāla, ed. by Pt. MANOHARLAL, 2nd ed., Royal 8vo, pp. 6+256+4, Price Rs. 2.

3. *Jñānārṇava* of Śubhacandra, a lucid discussion about meditation and morals : Sanskrit text with a Hindī translation by Pt. PANNALAL and a note on the author by Pt. PREMI, 3rd ed., Royal 8vo pp. 16-448, Price Rs. 4.

4. *Saptabhaṅgī-taraṅgiṇī* of Vimaladāsa, a systematic exposition of Syādvāda or the Jaina theory of seven-fold predication : Sanskrit text with the Hindī translation of Pt. THAKURAPRASAD, 2nd ed., Royal 8vo pp. 8-94, Price Re. 1.

5. *Bṛhad-Dravyasaṁgraha* of Nemicandra, Jaina dogmatics systematised : Prākrit text with Brahmadeva's Sanskrit commentary and Hindī exposition of Pt. JAVAHARLAL, 2nd ed., Royal 8vo pp. 14+218+6, Price Rs. 2-4.

6. *Gommaṭasāra* (Karmakāṇḍa) of Nemicandra, a detailed sketch of the technical details of the Karma doctrine of Jainism : Prākrit text, Sanskrit Chāyā and Hindī translation of Pt. MANOHARALAL, 2nd ed., Royal 8vo pp. 24+304, Price Rs. 2-8.

7. *Gommaṭasāra* (Jīvakāṇḍa) of Nemicandra, a masterly exposition on the spiritual evolution of Ātman : Prākrit text, Sanskrit Chāyā and Hindī translation by Pt. KHUBCHANDA, 2nd ed., Royal 8vo pp. 16+274+10, Price Rs. 2-8.

8. *Labdhisāra* of Nemicandra (with Kṣapaṇasāra), a supplementary discussion about Karma doctrine : Prākrit text and Sanskrit Chāyā and Hindī translation of Pt. MANOHARLAL, Royal 8vo pp. 12+176, Price Rs. 1-8.

9. *Pravacanasāra* of Kundakunda, an authoritative work on Jaina ontology, epistemology etc. : Prākrit text, the Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Jayasena, Hindī exposition of Pāṇḍe Hemarāja, English translation and a critical elaborate Introduction etc. by Prof. A.N. UPADHYE, New ed., Royal 8vo pp. 16+132+376+64, Price Rs. 5.

10. *Paramātma-prakāśa* of Yogīndudeva, An Apabhraṁśa work on Jaina Mysticism : Apabhraṁśa text with various readings, Sanskrit commentary of Brahmadeva and Hindī expostion of Daulatarāma, with critical Introduction in English by Prof. A. N. UPADHYE, New ed., Royal 8vo pp. above 500, Price Rs. 4-8-0.

11. *Samayasāra* of Kundakunda, an exposition of Jaina idea of self-realization : Prākrit text, Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Jayasena and Hindī commentary of Jayacandrajī, Royal 8vo pp. 12+576, Price Rs. 4-8.

*Dravyānuyoga-tarkaṇā* of Bhoja, enlightening discussion about Substance, Attribute and Modification and also about the Nayas : Sanskrit text and commentary with a Hindī translation of Pt. THAKURAPRASAD, Royal 8vo pp. 18+240, Price Rs. 2. It is out of print.

13. *Syādvādamañjarī*, Hemacandra's Sanskrit text and Malliṣeṇas commentary, a standard work on Jaina Nyāya, with a lucid Hindī translation and many useful indices by Pt. JAGADISHACHANDRA, New ed., Royal 8vo pp. 34+448+52, Price Rs. 4-8.

14. *Sabhāṣya-Tattvārthādhigama sūtra*, the most authoritative work on Jaina dogmatics : Sūtras, Umāsvāti's Sanskrit commentary and Hindī commentary of Pt. KHUBCHANDA, New ed., Royal 8vo pp. 24+472, Price Rs. 3.

15. *Puṣpamālā, Mokṣamālā and Bhāvanābodha* of Shrīmad Rājachandra : Hindī translation by Pt. JAGADISHCHANDRA, Royal 8vo pp. 120, Price As. 12.

16. *Upadeśachāyā and Ātmasiddhi* of Shrīmad Rājachandra : Hindī translation by Pt. JAGADISHCHANDRA, Royal 8vo pp. 94, Price As. 8.

17. *Yogasāra* of Jōindu, critical Apabhraṁśa Text and Chāyā by Prof. A. N. UPADHYE and Hindī Translation by Pt. JAGADISCHANDRA, Price As. 4.

18. *Yogīndu, his Paramātmaprakāśa and other Works* : A critical Essay by Prof. A. N. UPADHYE, pp. 92, Price Re. 1.

19. *Śrīmad Rājachandra*, Life and works of Rājachandra in Gujarati, with a foreword by Mahatma GANDHI, with 5 portraits, Royal 4to pp. 825, in two vols., Price Rs. 10. Its Hindi translation is also in the press. It is to be out shortly.

20. *Bhāvanābodha* of Rājachandra in Gujarātī, useful for students, Price As. 4.

---

The Publishers have endeavoured their best to make these publications useful, authoritative and attractive. It will be seen that they are selling several publications almost at cost price to promote the studies of Jainism and Jaina literature which occupy such an important position in the study of Indian culture.

Address :

Manilal Revashankar Jagajivan Jhaveri
Rayachandra Jaina Sastramala
Jhaveri Bazar, Bombay 2
India

# रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका नया प्रकाशन

## परमात्मप्रकाश और योगसार

[जैनरहस्यवादी और अध्यात्मवेत्ता श्रीयोगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश दोहे उनकी संस्कृतच्छाया, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका, स्व० पं० दौलतरामजीकृत भाषाटीका, प्रो० उपाध्यायकी ९२ पृष्ठकी अंग्रेजी भूमिका, उसका हिन्दीसार, विभिन्न पाठभेद, अनुक्रमणिकायें, और हिन्दी-अनुवादसहित 'योगसार']

**सम्पादक और संशोधक**–पं० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम. ए.

अर्द्धमागधी प्रोफेसर राजाराम कालेज, कोल्हापुर।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और अमूल्य रत्न है। आधुनिक हिन्दी मराठी गुजराती आदि भाषायें इसी अपभ्रंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः भाषा-शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए यह बड़े कामकी वस्तु है। भाषा-साहित्यके नामी विद्वान् प्रो० उपाध्यायजीने अनेक प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसका संशोधन सम्पादन करके सोनेमें सुगंधकी कहावत चरितार्थ की है। पहले संस्करणसे यह संस्करण बहुत विस्तृत और शुद्ध है। इसकी भूमिका तो एक नई वस्तु है–ज्ञानकी खानि है। इसमें परमात्मप्रकाशका विषय, भाषा, व्याकरण, ग्रन्थकारका चरित, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका परिचय, टीकाकार और उनका परिचय, बड़ी छान-बीनसे किया गया है। अंग्रेजी भूमिकाका हिन्दीसार पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है।

ग्रन्थमें योगीन्दुदेवने तत्कालीन जनसाधारणकी भाषामें बड़ी ही सरल किन्तु प्रभावोत्पादक शैलीमें परमात्माके स्वरूपका व्याख्यान किया है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माका लक्षण, परमात्माके रूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका लक्षण, परमात्माके स्वरूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका मुख्य लक्षण, शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-भ्रमणका रुकना, द्रव्य-गुण-पर्यायकी अपेक्षासे आत्माका स्वरूप, भेदविज्ञानकी मुख्यतासे आत्माका स्वरूप, अभेद-रत्नत्रयका स्वरूप, शुद्धोपयोगकी मुख्यता, इन्द्रियलम्पट जीवोंका विनाश, सम्यक्त्वकी दुर्लभता, चित्त स्थिर करनेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, दान पूजादिक श्रावकधर्मपरम्परासे मोक्षके कारणोंका विवेचन, परमसमाधि वर्णन, परमात्मप्रकाशका फल आदि सैकड़ों ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन है। समाधि-मार्गका अपूर्व ग्रन्थ है। इसकी हिन्दीटीका भी बड़ी सरल और विस्तृत है। मामूली पढ़ा लिखा भी आसानीसे समझ सकता है। ऐसी उत्तम पद्धतिसे सम्पादित ग्रन्थ आपने अभीतक न देखा होगा। ग्रन्थराज स्वदेशी कागजपर बड़ी सुन्दरता और शुद्धतासे छपाया गया है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर मज़बूत जिल्द कपड़ेकी बँधी हुई हैं। पृष्ठसंख्या ५५०, मूल्य केवल ४॥) है।

## योगसार

यह श्रीयोगीन्दुदेवकी अमर रचना है, इसमें मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृतछाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका है। १०८ दोहोंके छोटेसे ग्रंथमें आध्यात्मिक गूढ़वादके तत्त्वोंका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षका सोपान है। इसका सम्पादन और संशोधन प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायने किया है। पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने सरल हिन्दीटीका लिखी है। इसकी बहुत अच्छे मोटे कागजपर सुन्दरतापूर्वक थोड़ीसी प्रतियाँ छपाई हैं। पृष्ठसंख्या २८, मूल्य सिर्फ ।) है। परमात्मप्रकाशके अंतमें यह ग्रंथ है। उसीमेंसे जुदा निकाला है।

## YOGĪNDU, HIS PARAMĀTMAPRAKĀŚA AND OTHER WORKS अर्थात् योगीन्दुदेव और उनकी रचनायें

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायका बड़ी गवेषणासे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अंग्रेजी ग्रंथ है। पृष्ठसंख्या १०८, मूल्य १) है। इसका हिन्दीसार पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है जो जुदा मूल्य ।) में मिलेगा। ये दोनों अंश परमात्मप्रकाशके प्रारंभमें हैं, उसीमेंसे जुदा निकाले गये हैं।

## उपदेशछाया और आत्मसिद्धि

श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रंथका हिन्दीअनुवाद.

अनुवादकर्त्ता—पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०

**उपदेशछाया**में मुख्य चर्चा आत्मार्थके संबंधमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं? बारह उपांगोंका सार, मोहगर्भित दुःखगर्भित ज्ञान, दो घड़ीमें केवलज्ञान, आत्मा एक है या अनेक, सरागसंयमकी परिभाषा, माया किस तरह भुला देती है, कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन, आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

**आत्मसिद्धि** श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रंथ लोगोंका इतना पसंद आया कि इसके अंग्रेजी मराठीमें अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्त्ता है, वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंकी १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका विस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रंथका विषय बहुत ही जटिल और गहन है किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोधगम्य और उपयोगी हो गया है। पुस्तक क्या है संसारतप्त लोगोंके लिए परमौषध है। प्रारंभमें ग्रन्थकर्त्ताका सुन्दर चित्र और संक्षिप्त चरित भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

## पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध

श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

**पुष्पमालामें** सभी अवस्थावालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जापमालाकी तरह १०८ दाने ( वचन ) गूँथे हैं।

**मोक्षमालाकी** रचना शतावधानी कवि रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक बड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमें जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग-मार्गमें आबाल वृद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझें, इसी उद्देशसे श्रीमद्ने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सद्देव, सद्धर्म, सद्गुरुतत्त्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्संग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुबल, सुदर्शन, कपिलमुनि, अनुपमक्षमा, तत्त्वावबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। गुजरातीकी हिन्दी अर्थ सहित अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रंथको स्याद्वाद-तत्त्व-बोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

**भावनाबोध** वैराग्य इस ग्रंथका मुख्य विषय है, किस तरह कषाय-मल दूर हो, इसमें उसीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जर आदि बारह भावनाओंका स्वरूप, भिखारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनत्कुमार, मृगापुत्र, पुंडरीक, वज्रस्वामी, दृढ़प्रहारी, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारंभमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १३०, मूल्य सिर्फ ।।।) है।

## श्रीमद् राजचन्द्र

श्रीमद्के गुजराती ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे किया है। इसमें श्रीमद् रायचन्द्रजीके प्राप्त समस्त ग्रंथों, लेखों और पत्रोंका बढ़ियाँ संग्रह है। पुष्पमाला, मोक्षमाला, भावनाबोध, उपदेशछाया, और आत्मसिद्धि इसी ग्रन्थके अंश हैं, जो इसमेंसे पृथक् भी निकाले हैं। तत्त्वज्ञानका महान् ग्रन्थ है। सद्ज्ञानका अभ्यास करनेवालेंके लिये तो कल्पवृक्ष है। श्रीमद्ने अपने जीवनमें जो हजारों ग्रन्थोंका अध्ययन और मनन किया था, उसका सार इसमें कूट कूट कर भरा है, ज्ञानका खजाना है। इसके ९०० पृष्ठ तो छप चुके हैं। विस्तृत भूमिका जिसे पं० जी बड़े परिश्रमसे लिख रहे हैं, अभी छपना बाकी है। दिवालीतक छप जायगी, मूल्य भी बहुत कम लागतमात्र रखा जायगा। ग्राहक-श्रेणीमें अभीसे अपना नाम दर्ज करा लीजिये।

# पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ

**प्रवचनसार**—[ श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत मूल, अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्यकृत संस्कृतटीकाद्वय, पांडे हेमराजजीकृत हिन्दीटीका, प्रोफेसर उपाध्यायकृत अंग्रेजी अनुवाद, १२५ पृष्ठोंकी अति विस्तृत अंग्रेजी भूमिका, विभिन्न पाठ-भेदोंकी और ग्रन्थकी अनुक्रमणिका आदि अलंकारों सहित संपादित। ]

सम्पादक—**पं० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय** एम०ए०, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर

यह अध्यात्मशास्त्रके प्रधान आचार्यप्रवर श्रीकुन्दकुन्दका ग्रन्थ है, केवल इतना ही आत्मज्ञानके इच्छुक मुमुक्षु पाठकोंको आकर्षित करनेके लिए काफी है। यह जैनागमका सार है। इसमें ज्ञानाधिकार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, और चारित्राधिकार ऐसे तीन बड़े बड़े अधिकार हैं। इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन है, अर्थात् और सब विषयोंको गौण करके प्रधानतः आत्माका ही विशेष वर्णन है। इस ग्रन्थका एक संस्करण पहले निकल चुका है। इस नये संस्करणको प्रोफेसर उपाध्यायजीने बहुतसी पुरानी सामग्रीके आधारसे संशोधित किया है, और उसमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका जीवनचरित, समय, उनकी अन्य रचनाओं, टीकाओं, भाषा, दार्शनिकता आदिपर गहरा विवेचन किया है। इसकी अंग्रेजी भूमिका भाषाशास्त्र और दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए ज्ञानकी खान है, और धैर्ययुक्त परिश्रम और गहरी खोजका एक नमूना है। इस भूमिकापर **बम्बई विश्वविद्यालयने २५०) पुरस्कार दिया है,** और इसे अपने एम्० ए० के पाठयक्रममें रखा है। इस ग्रन्थकी छपाई स्वदेशी कागजपर निर्णयसागर प्रेसमें बहुत ही सुन्दर हुई है। पृष्ठसंख्या ६००, ऊपर कपड़ेकी मजबूत और सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य सिर्फ ५) है।

**स्याद्वादमञ्जरी**—कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकी श्रीमल्लिषेणसूरिकृत विस्तृत संस्कृतटीका स्याद्वादमंजरीके नामसे प्रसिद्ध है। इसी टीकाका पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए० कृत सरल और विस्तृत हिन्दीअनुवाद है। मल्लिषेणसूरिने इस ग्रन्थमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, और चार्वाक नामके छह दर्शनोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मार्मिक भाषामें प्रतिपादनपूर्वक खण्डन करके सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवाले स्याद्वाददर्शनका प्रौढ़ युक्तियोंद्वारा मण्डन किया है। दर्शनशास्त्रके अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा इस ग्रंथकी यह एक असाधारण विशेषता है कि इसमें दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंका भी अत्यन्त सरल, मनोरंजक और प्रसाद गुणसे युक्त भाषामें प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथके संपादन और अनुवादकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। अनुवादक महोदयने स्याद्वादमंजरीमें आये हुए विषयोंका वर्गीकरण करनेके साथ कठिन विषयोंको, वादी प्रतिवादीके रूपमें शंका समाधान उपस्थित करके, प्रत्येक श्लोकके अन्तमें उसका भावार्थ देकर समझाया है, और इस तरह ग्रंथको संस्कृत और हिन्दीकी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे समलंकृत बनाया है। सम्पादक महोदयने जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध

परिशिष्ट नामके आठ परिशिष्टोंद्वारा इस ग्रंथको और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इन परिशिष्टोंमें छह दर्शनोंके मूल सिद्धांतोंका नये दृष्टिकोणसे विवेचन किया गया है, और साथ ही इनमें दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है। इस ग्रंथके आरंभमें ग्रंथ और ग्रंथकारका परिचय देते हुए, 'स्याद्वादका जैनदर्शनमें स्थान' यह शीर्षक देकर, स्याद्वादका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। स्याद्वादमंजरीके अतिरिक्त इस संस्करणमें हेमचन्द्राचार्यकी अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका भी हिन्दीअनुवाद सहित दी गई है। इस ग्रंथके प्राक्कथन-लेखक हिन्दूविश्वविद्यालयके दर्शनाध्यापक श्रीमान् पं० भिक्खनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट हैं। अन्तमें आठ परिशिष्ट, तथा तेरह अनुक्रमणिकायें हैं।

यह ग्रंथ हिन्दूयूनिवर्सिटी काशीके एम० ए० के कोर्समें, और कलकत्तायूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें नियत है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी है। पृष्ठसंख्या ५३६ है, मूल्य भी सिर्फ ४॥) है

**सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र**—अर्थात् **अर्हत्प्रवचनसंग्रह मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्रका संस्कृतभाष्य और उसकी प्रामाणिक भाषाटीका।**

**श्रीउमास्वातिकृत** मूल **सूत्र स्वोपज्ञभाष्य, ( संस्कृतटीका )** और विद्यावारिधि पं० **खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत भाषाटीका** सहित। जैनियोंका यह परममाननीय ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्यने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं। सिद्धान्तरूपी सागरको मथके गागर ( घड़े ) में भर देनेका कार्य अपूर्व कुशलतासे किया है। ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसका निरूपण इसमें न हो। इस ग्रन्थको जैनसाहित्यका जीवात्मा कहना चाहिए। गहनसे गहन विषयका प्रतिपादन स्पष्टताके साथ इसके सूत्रोंमें स्वामीजीने किया है। इस ग्रंथपर आचार्योंने अनेक भाष्य—संस्कृत टीकायें रची हैं। प्रचलित हिन्दीमें कोई विशद और सरल टीका नहीं थी, जिसमें तत्त्वोंका वर्णन स्पष्टताके साथ आधुनिक शैलीसे हो। इसी कमीकी पूर्तिके लिये यह टीका छपाई गई है। **मुख्य मुख्य टीकाकारोंके ग्रंथोंका अध्ययन करके उनके आधारसे यह भाषाटीका तैयार की गई है।** विषयको स्पष्ट करनेके लिये स्थान स्थानपर अनेक उद्धरण दिये हैं। **जो बातें आपको सैकड़ों ग्रंथोंके स्वाध्यायसे न मालूम होंगी, वे इस अकेलेसे मालूम हो जायँगी।** विद्यार्थियोंको, विद्वानोंको, और मुमुक्षुओंको इसका अध्ययन पठन-पाठन स्वाध्याय करके लाभ उठाना चाहिए। यह ग्रन्थ कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें है। ग्रंथारंभमें विस्तृत **विषयसूची** है, जिसे ग्रंथका सार ही समझिये। इसमें **दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक** और **वर्णानुसारी सूत्रोंकी सूची** भी है, जिससे बड़ी सरलता और सुभीतेसे पता लग जाता है कि कौन विषय और सूत्र कौनसे पृष्ठमें है। ग्रंथराज स्वदेशी कागजपर बड़ी शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। इतनी सब विशेषतायें होते हुए भी बड़े आकारके ४७६+२४=५०० पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य लागतमात्र **तीन रुपया** है, जो ग्रंथको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम रखा है, जिससे सर्वसाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीविरचित मूल और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सान्वय सरल भाषाटीका सहित। इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ़ रहस्योंका वर्णन है। अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णित हैं उतना और कहीं नहीं है। तीन बार छपकर बिक चुका है, इस कारण चौथी बार छपाया गया है। न्योछावर सजिल्दकी १।)

**पञ्चास्तिकाय**—*श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल, तथा श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका,* जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत अन्वय अर्थ भावार्थ सहित भाषाटीका। इसकी भाषाटीका स्वर्गीय पांडे हेमराजजीकी भाषाटीकाके अनुसार नवीन सरल भाषामें परिवर्तित की गई है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचों द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है। तथा काल द्रव्यका भी संक्षेपमें वर्णन किया गया है। बम्बईयूनिवर्सिटीके बी० ए० के कोर्समें है। दूसरी बार छपी है। मूल्य सजिल्दका २)

**ज्ञानार्णव**—*श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल और स्व० पं० जयचन्दजीकी पुरानी भाषा*वचनिकाके आधारसे पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी भाषाटीका सहित। योगशास्त्र संबंधी यह अपूर्व ग्रंथ है। इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी विस्तृत है। तीसरी बार छपा है। प्रारंभमें ग्रंथकर्त्ताका शिक्षाप्रद ऐतिहासिक जीवनचरित है। मूल्य सजिल्दका ४)

**सप्तभंगीतरंगिणी**—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और पं० ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत भाषाटीका। यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें ग्रंथकर्त्ताने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये। दूसरी बार सुन्दरतापूर्वक छपी है। न्यो० १)

**बृहद्द्रव्यसंग्रह**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० जवाहारलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया गया है। दूसरी बार छपी है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य २।)

**गोम्मटसार कर्मकाण्ड**—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित। इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे किया गया है, जिसकी वचनद्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है। देखनेसे ही मालूम हो सकता है। जो कुछ संसारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के संबन्धसे है, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिये यह ग्रंथ रत्न अपूर्व सूर्यके समान है। दूसरी बार पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा संशोधित हो करके छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

**गोम्मटसार जीवकाण्ड**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें और पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा बालबोधिनी भाषाटीका सहित। इसमें गुण-

स्थानोंका वर्णन, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा, उपयोग, अन्तर्भाव, आलाप आदि अनेक अधिकार हैं। सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन करनेवाला यह अपूर्व ग्रंथ है। दूसरी वार संशोधित होकर छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

**लब्धिसार**—( क्षपणासार गर्भित ) श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दी भाषाटीका सहित। यह ग्रंथ गोम्मटसारका परिशिष्ट है। इसमें मोक्षके मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेमें सहायक क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण इन पाँच लब्धियोंका वर्णन है। मूल्य सजिल्दका १॥)

**समयसार**—भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति, और श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति, ऐसी दो संस्कृतटीकायें, और स्व० पं० जयचन्द्रजीकी टीकाके आधारसे लिखी हुई प्रचलित भाषामें हिन्दीटीका। यह ग्रंथ सुन्दरता पूर्वक छपा है। इसमें जीवाजीव, कर्तृकर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धज्ञान ऐसे ९ अधिकार हैं। यह जैनधर्मका असली स्वरूप निश्चयनयसे दिखानेवाला अपूर्व अध्यात्म-ग्रंथ है। यह ग्रंथ बम्बईविश्वविद्यालयके एम० ए० के कोर्समें नियत हैं। कपड़ेकी जिल्द बँधे हुए ६०० पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य सिर्फ ४॥) है।

## गुजराती ग्रंथ

**श्रीमद्राजचन्द्र**—आ पुस्तकमां श्रीमद्राजचन्द्रनी हयातीमां तेओश्रीने जुदे जुदे प्रसंगे मुमुक्षुभाईओ, सज्जनों अने मुनिश्रीओ वगैरे तरफथी भिन्न भिन्न विषयों प्रत्ये पुछेला सवालोना जवाबना पत्रोना संग्रह तथा बाल्यावस्थामां रचेला **भावनाबोध, मोक्षमाला, आत्मसिद्धि** ग्रंथोंनो संग्रह छे, श्रीमद्नी सोळ वर्ष पहेलानी वयथी देहोत्सर्ग पर्यन्तना विचारोना आ भव्य ग्रंथमां संग्रह छे, जैनतत्त्वज्ञानको महान ग्रंथ छे, जैनतत्त्वज्ञाननो उंडो अभ्यास समजवा माटे आ ग्रंथ खास उपयोगी छे, बीजी आवृत्ति संशोधनपूर्वक बहार पाडी छे. अने तेनी अंदर श्रीमद्नां अप्रगट लखाणो पण दाखल करवामां आव्या छे. ग्रंथारंभमां **महात्मा गांधी**जीए लखेली महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना छे। आ पुस्तक सारामां सारा कागळ ऊपर सुप्रसिद्ध **निर्णयसागर प्रेसनी** अन्दर खास तैयार करावेला **देवनागरी**मां छपाव्युं छे. सुन्दर बाईंडिंगथी सुशोभित छे. दरेक ग्रन्थभण्डार, लाईब्रेरीमां राखवा योग्य छे, तेमज साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओने खास वांचवा लायक अने मनन करवा योग्य आ महान ग्रन्थ छे. रॉयल चार पेजी साइजना ८२५ पृष्ठवाला दळदार ग्रन्थना मूल्य फक्त ५ पाँच रुपया, लागतमात्र थी अर्धा राखेला छे। ५ चित्र छे।

**भावनाबोध**—आ ग्रंथना कर्त्ता उक्त महापुरुषज छे, वैराग्य ए आ ग्रंथनो मुख्य विषय छे, पात्रता पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रंथमां उत्तम साधन छे, आत्मगवेषीओने आ ग्रंथ आनंदोल्लास आपनार छे, आ ग्रंथनी पण आ त्रीजी आवृत्ति छे, आ बन्ने ग्रंथों खास करीने प्रभावना करवा सारू अने पाठशाला, ज्ञानशाला, तेमज स्कूलोमां विद्यार्थियोने विद्याभ्यास करवामाटे अति उत्तम छे, अने तेथी सर्व कोई लाभ लई सके, ते माटे गुजराती भाषामां अने बालबोध टाईपमां छपावेलुं छे। मूल्य सजिल्दनुं फक्त चार आना

**रिपोर्ट**—प. प्र. मं. नी. सं. १९७२ थी. सं. १९९० सुधीनो रिपोर्ट मफत मलशे जे भाईओने जोइये, ते मंगावी लेशो।

# निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर **श्रीरायचन्द्र**जीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशोविजय आदि महान् आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल**की स्थापना की थी, जिसके द्वारा उक्त कविराजके स्मरणार्थ **श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** निकल रही है। इस ग्रंथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथ प्रकट किये गये हैं जो तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहे हैं। भविष्यमें और भी उपयोगी ग्रन्थ छपाये जायँगे। कई तैयार कराये भी जा रहे हैं।

उभय पक्षके महात्माओंद्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके अभिप्राय विज्ञ पाठकोंको विदित हों, इसके लिये इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। इसीलिये आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक वनकर वे अपनी चललक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण **जैनसिद्धान्त-ग्रन्थों**को पठन-पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें, अर्थात् प्रत्येक मन्दिर, सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैनतत्त्वज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य नहीं हो सकता, इसलिए अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ बटावें। पाठकगण जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसंपादकोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थके लिये नहीं है, केवल परोपकारके वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके वास्ते लगा दिया जाता है। हमारे सभी ग्रन्थ बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने विषयके विद्वानोंद्वारा हिन्दी टीका करवाके अच्छे कागज़पर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत कम अर्थात् **लागतके** लगभग रखा जाता है। उत्तमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई ग्रन्थोंके तीन तीन चार चार संस्करण हो गये हैं।

**नोट**—रायचन्द्रशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवालोंको बहुत किफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सहायता भेजने और ग्रंथोंके मिलनेका पता—

निवेदक —ऑ० व्यवस्थापक—

**श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल ( श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ).**

खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं० २

न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस, ६ केलेवाड़ी, गिरगाँव, बम्बई।

अथ—

**जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तव-हलं महा-विउलं ।**
**तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥ १११*३ ॥**

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलम् ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥ १११*३ ॥

**जइ इच्छसि** यदि इच्छसि **भो साधो** द्वादशविधतपःफलम् । कथंभूतम् । महद्विपुलं स्वर्गापवर्गरूपं **ततः** कारणात् वीतरागनिजानन्दैकसुखरसास्वादानुभवेन तृप्तो भूत्वा मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं वर्जय इति तात्पर्यम् ॥ १११*३ ॥

उक्तं च—

**जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।**
**ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥ १११*४ ॥**

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।
ते मुनयः भोजनगृध्राः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ॥ १११*४ ॥

जे इत्यादि । **जे सरसिं संतुट्ठमण** ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः **विरसि कसाउ वहंति** विरसे विरसाहारे सति कषायं वहन्ति कुर्वन्ति **ते** ते पूर्वोक्ताः **मुणि** मुनयस्तपोधनाः **भोयणघार गणि** भोजनविषये गृध्रसदृशान्

---

साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रतका साधन शरीर है, तथा शरीरका साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाला आहारादि चार प्रकारका दान उसको श्रावक भक्तिसे देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक योगीश्वर महातपोधन आहारको ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते हैं । राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभावके शत्रु हैं, यह सारांश हुआ ॥ १११*२ ॥

आगे फिर भी भोजनकी लालसाको त्याग कराते हैं—[ **भो साधो** ] हे योगी; [ **यदि** ] जो तू [ **द्वादशविधतपःफलं** ] बारह प्रकार तपका फल [ **महद्विपुलं** ] बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष [ **इच्छसि** ] चाहता है, [ **ततः** ] तो वीतराग निजानंद एक सुखरसका आस्वाद उसके अनुभवसे तृप्त हुआ [ **मनोवचनयोः** ] मन वचनं और [ **काये** ] कायसे [**भोजनगृद्धिं**] भोजनकी लोलुपताको [**विवर्जयस्व**] त्याग कर दे । यह सारांश है ॥१११*३॥

और भी कहा है—[ **ये** ] जो योगी [ **सरसेन** ] स्वादिष्ट आहारसे [ **संतुष्टमनसः** ] हर्षित होते हैं, और [ **विरसे** ] नीरस आहारमें [ **कषायं** ] क्रोधादि कषाय [ **वहंति** करते हैं, [ **ते मुनयः** ] वे मुनि [ **भोजने गृध्राः** ] भोजनके विषयमें गृद्धपक्षीके समान हैं,

गणय मन्यस्व जानीहि। इत्थंभूताः सन्तः णवि परमत्थु मुणंति नैव परमार्थं मन्यन्ते जानन्तीति। अयमत्र भावार्थः। गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते। कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति। शुद्धोपयोग रमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति॥ १११*४॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

**रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति।**
**अलि-उल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति॥ ११२॥**

रूपे पतङ्गाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति।
अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति॥ ११२॥

रूवि इत्यादि। रूपे समासक्ताः पतङ्गाः शब्दे मृगा गजाः स्पर्शैः गन्धेनालि-

---

ऐसा तू [ **गणय** ] समझ। वे [ **परमार्थं** ] परमतत्त्वको [ **नैव मन्यंते** ] नहीं समझते हैं। **भावार्थ**—जो कोई वीतरागके मार्गसे विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहारसे खुश होते हैं, कभी किसीके घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मनमें हर्ष करें, आहारके देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं। यदि किसीके घर रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थको बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजनके लोलुपी हैं। गृद्धपक्षीके समान हैं। ऐसे लोलुपी यती देहमें अनुरागी होते हैं, परमात्म-पदार्थको नहीं जानते। गृहस्थोंके तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं। जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परासे मोक्ष पावे। क्योंकि श्रावकका दानादिक ही परमधर्म है। वह ऐसे हैं, कि ये गृहस्थ-लोग हमेशा विषय कषायके आधीन हैं, इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है, अर्थात् गृहस्थोंके शुभोपयोगकी ही मुख्यता है। और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या। श्रावकका तो यही बड़ा धरम है, जो कि यती, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे। और यतीका यही धर्म है, अन्न जलादिमें राग न करे, और मान अपमानमें समताभाव रक्खे। गृहस्थके घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले। जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे। दूध दही घी मिष्टान्न इनमें इच्छा न करे। यही जिनमार्गमें यतीकी रीति है॥ १११*४॥

आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिके अभावमें जो विषयी जीव पाँच इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, उनका अकाज ( विनाश ) होता है, ऐसा दिखलाते हैं—[ **रूपे** ] रूपमें लीन हुए

कुलानि मत्स्या रसासक्ता नश्यन्ति यतः कारणात् ततः कारणात्कथं तेषु विषयेष्वनुरागं कुर्वन्तीति । तथाहि । पञ्चेन्द्रियविषयाकांक्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानविकल्पै रहितः शून्यः स्पर्शनादीन्द्रियकषायातीतनिर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपानिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकः शुद्धोपयोगस्वभावो योऽसावेवंभूतः कारणसमयसारः तद्भावनारहिता जीवाः पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषवशीकृता नश्यन्तीति ज्ञात्वा कथं तत्रासक्तिं गच्छन्ति ते विवेकिन इति । अत्र पतङ्गादय एकैकविषयासक्ता नष्टाः, ये तु पञ्चेन्द्रियविषयमोहितास्ते विशेषेण नश्यन्तीति भावार्थः ॥ ११२ ॥

---

[ **पतंगाः** ] पतंग जीव दीपकमें जलकर मर जाते हैं, [ **शब्दे** ] शब्द विषयमें लीन [ **मृगाः** ] हिरण व्याधके बाणोंसे मारे जाते हैं, [ **गजाः** ] हाथी [ **स्पर्शैः** ] स्पर्श विषयके कारण गड्ढेमें पड़कर बाँधे जाते हैं, [ **गंधेन** ] सुगंधकी लोलुपतासे [ **अलिकुलानि** ] भौंरे काँटोंमें या कमलमें दबकर प्राण छोड़ देते हैं, और [ **रसे** ] रसके लोभी [ **मत्स्याः** ] मच्छ [ **नश्यंति** ] धीवरके जालमें पड़कर मारे जाते हैं । एक एक विषय कषायकर आसक्त हुए जीव नाशको प्राप्त होते ह, तो पंचेन्द्रीका कहना ही क्या है? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयोंमें [ **किं** ] क्यों [ **अनुरागं** ] प्रीति [ **कुर्वंति** ] करते हैं ? कभी नहीं करते । **भावार्थ**— पंचेन्द्रियके विषयोंकी इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान वे ही हुए विकल्प, उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख-अमृत, उसके रसके स्वादकर पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार, उसका उत्पन्न करनेवाला जो शुद्धोपयोगरूप कारणसमयसार, उसकी भावनासे रहित संसारीजीव विषयोंके अनुरागी पाँच इन्द्रियोंके लोलुपी भव भवमें नाश पाते हैं । ऐसा जानकर इन विषयोंमें विवेकी कैसे रागको प्राप्त होवें ? कभी विषयाभिलाषी नहीं होते । पतंगादिक एक एक विषयमें लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें मोहित हैं, वे वीतराग चिदानंदस्वभाव परमात्मतत्त्व उसको न सेवते हुए, न जानते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्गको वांछते, कुमार्गकी रुचि रखते हुए नरकादि गतिमें घानीमें पिलना, करोंतसे विदरना, और शूलीपर चढ़ना इत्यादि अनेक दुःखोंको देहादिककी प्रीतिसे भोगते हैं । ये अज्ञानी जीव वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिसे परान्मुख हैं, जिनके चित्त चंचल हैं, कभी निश्चल चित्तकर निजरूपको नहीं ध्यावते हैं । और जो पुरुष स्नेहसे रहित हैं, वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें लीन हैं, वे ही लीलामात्रमें संसारको तैर जाते हैं ॥ ११२ ॥

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति—

**जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।**
**लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११३ ॥**

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥ ११३ ॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मात् । लोभो भद्रः समीचीनो न भवति । लोभासक्तं समस्तं जगद् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोभकषायविपरीतात् परमात्मस्वभावाद्विपरीतं लोभं त्यज हे **प्रभाकरभट्ट** । यतः कारणात् निर्लोभपरमात्मभावनारहिता जीवा दुःखमुपभुञ्जानास्तिष्ठन्तीति तात्पर्यम् ॥ ११३ ॥

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति —

**तलि अहिरणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु ।**
**लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु ॥ ११४ ॥**

तले अधिकरणं उपरि घनपातनं संदशकलुञ्चनम् ।
लोहं लगित्वा हुतवहस्य पश्य पतन्तं त्रोटनम् ॥ ११४ ॥

तले अधस्तनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघातपातनं तथैव संडसकसंज्ञेनोपकरणेन लुञ्चनमाकर्षणम् । केन । लोहपिण्डनिमित्तेन । कस्य । हुतभुजोऽग्नेः त्रोटनं खण्डनं पश्येति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिण्डसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्या

---

आगे लोभकषायका दोष कहते हैं—[ **योगिन्** ] हे योगी; तू [ **लोभं** ] लोभको [ **परित्यज** ] छोड़, [ **लोभः** ] यह लोभ [ **भद्रो न भवति** ] अच्छा नहीं है, क्योंकि [ **लोभासक्तं** ] लोभमें फँसे हुए [ **सकलं जगत्** ] सम्पूर्ण जगत्‌को [ **दुःखं सहमानं** ] दुःख सहते हुए [ **पश्य** ] देख । **भावार्थ**—लोभकषायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उससे विपरीत जो इसभव परभवका लोभ, धन धान्यादिका लोभ उसे तू छोड़ । क्योंकि लोभी जीव भव भवमें दुःख भोगते हैं, ऐसा तू देख रहा है ॥ ११३ ॥

आगे लोभकषायके दोषको दृष्टांतसे पुष्ट करते हैं—[ **लोहं लगित्वा** ] जैसे लोहेका सम्बन्ध पाकर [ **हुतवहं** ] अग्नि [**तले**] नीचे रक्खे हुए [ **अधिकरणे उपरि** ] अहरन (निहाई) के ऊपर [ **घनपातनं** ] घनकी चोट, [ **संदशकलुंचनं** ] संडासीसे खेंचना, [ **पतंतं त्रोटनं** ] चोट लगनेसे टूटना, इत्यादि दुःखोंको सहती है, ऐसा [ **पश्य** ] देख । **भावार्थ**—लोहेकी संगतिसे लोकप्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है, यदि लोहेका सम्बन्ध न करे, तो इतने दुःख क्यों भोगे, अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिंडके सम्बन्धसे दुःख भोगती है, उसी